पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला
: १५ :

सम्पादक
डा० मोहनलाल मेहता

उत्तराध्ययन-सूत्र : एक परिशीलन

लेखक
डा० सुदर्शनलाल जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०, आचार्य (जैनदर्शन, साहित्य व प्राकृत)

प्रकाशक
सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
अ मृ त स र

प्राप्ति-स्थान
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वा रा ण सी – ५

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

प्रकाशक :
सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
गुरु बाजार
अमृतसर

प्राप्ति-स्थान :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी–५

मुद्रक :
अरुण प्रेस
बी० १७/२, तिलभाण्डेश्वर
वाराणसी–१

प्रकाशन-वर्ष :
सन् १९७०

मूल्य :
पचीस रुपये

श्रद्धेय गुरुवर्य

डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य

को

सादर समर्पित



स्वर्गीय ला० लद्दा मल जी जैन (लाहौर वाले)



स्वर्गीय सेठ नाथालाल एम० पारख (बम्बई)

परिचय

जैन आगम-साहित्य में उत्तराध्ययन का विशेष स्थान है। दिगम्बर-साहित्य में भी इसका सादर उल्लेख है। इस सूत्र का परिशीलन डा० सुदर्शनलाल जैन ने लिखा है। डा० जैन को सेठ नाथालाल एम० पारख के नाम पर उनके परिवार द्वारा प्रदत्त रिसर्च स्कोलरशिप प्रदान की गई थी।

ग्रन्थ के प्रास्ताविक में उत्तराध्ययन के कालादि का विचार किया गया है। अंत में उपसंहार भी लिखा है। हर एक प्रकरण के अन्त में सुगम सरल अनुशीलन भी है।

विश्व अनादि है। उसी प्रकार अनन्त भी है। वह सदैव से है और रहेगा। किसी ईश्वर या कर्ता ने उसे बनाया नहीं है। वह स्वयंभू है। उसमें ऐसे तत्त्व मौजूद हैं जिनके कारण वह स्वचालित यन्त्र की तरह निरन्तर चलता रहता है। जितना हमें प्रतीत होता है विश्व उतना ही सच्चा और ठोस है। नि.सन्देह उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है परन्तु उसका सर्वथा नाश नहीं होता है।

सूत्र में संसार की असारता, नश्वरता, भ्रम-रूपता आदि सब आध्यात्मिक दृष्टि से कहे गये हैं।

सोना, तांबा, लोहा, गन्धक आदि धातुएं विश्व में दूसरे पदार्थों से मिश्रित रूप में मिलती हैं, उसी प्रकार प्राणी भी दो पदार्थों—जीव (चेतन) और अजीव (अचेतन) के मिश्रित रूप में उपलब्ध होते हैं। सबसे अधिक विकसित प्राणी मनुष्य ने यही पाया कि एक अदृष्ट तत्त्व जब शरीर से निकल जाता है तो शेष शरीर निरर्थक और व्यर्थ हो जाता है। वह फेंक देने के सिवाय और किसी काम का नहीं रहता। उसी अदृष्ट द्रव्य की विद्यमानता में शरीर मनुष्य या प्राणी था। उस चेतन तत्त्व के निकल जाने से उसने

मरण का भी अनुभव किया। फलतः उस प्राणदाता तत्त्व को ढूंढ निकालने का विचार मनुष्य के मन में उत्पन्न हुआ। जैन तत्त्ववेत्ताओं ने आत्मा (जीव) को स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में स्थिर किया। यह तत्त्व हर प्राणी में मूलतः एक ही प्रकार का—समान गुणों वाला प्रतीत हुआ। हर प्राणी के जीव के साथ दूसरे द्रव्य का जो सम्बन्ध रहा हुआ था उसके कारण बाहरी फर्क सामने आता रहा। वह दूसरा द्रव्य रूपी अचेतन पुद्गल है। उसके लक्षण हैं शब्द, अन्धकार, प्रकाश, कान्ति, छाया, आतप, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और आकार। वायु, जल, आग और पृथ्वी भी पुद्गल हैं। वर्तमान विज्ञान के Matter और Energy भी पुद्गल हैं। रागद्वेष के कारण मनुष्य और अन्य प्राणियों द्वारा किये गये अच्छे-बुरे कर्म भी पुद्गल हैं।

मिश्रित धातुओं को अमल या शुद्ध रूप में लाने के लिए अनेक विधियों और साधनो से विशुद्ध करते हैं। उसी प्रकार मनुष्य के जीव तत्त्व को मिश्रित अजीव तत्त्व से अलग या स्वतन्त्र रूप में लाने के लिए अर्थात् मुक्त करने के लिए विधिपूर्वक प्रयत्न जरूरी है। उत्तराध्ययन सूत्र का यह विषय है। इस ग्रन्थ के निर्माता ने उस विषय का सरल, स्वाभाविक भाषा मे सुन्दर वर्णन किया है। डा० रघुवीर के शब्दों मे जैन तत्त्ववेत्ताओ ने Godless Spirituality (निरीश्वर अध्यात्मवाद) का विकास किया है। प्राणी मात्र से मैत्री का व्यवहार करना उसका निश्चित मत है। परस्पर मैत्री कर सकने का आधार उन्होने स्वय पर संयम रखना बताया है। उसी आचार के विकास का सर्वप्रथम नियम अहिंसा से आरम्भ किया गया है।

जीव किस प्रकार अजीव से पृथक् किया जा सकता है, उन साधारण और विशेष उपायों का साध्वाचार के दो प्रकरणों और रत्नत्रय में विस्तृत निर्देश है। इनके अलावा मुक्ति और उसकी अलौकिकता की चर्चा भी ग्रन्थ में है।

इस प्रकाशन का खर्च श्री मुनिलाल और भाई लोकनाथ ने अपने पिता श्री लाला लद्दामल की पुण्यस्मृति में किया है।

लालाजी लाहौर के प्रतिष्ठित नौलखा ओसवाल वंश के थे। उनका जन्म वि० स० १६३४ में हुआ था। पिता का नाम लाला धर्मचन्द और माता का नाम भगवान देवी था। पाच वर्ष की आयु में मा का और चौदह वर्ष में पहुँचते-पहुँचते पिता का साया सिर से सदा के लिए उठ गया। परिवार का भार नन्हीं उमर में सिर आ पड़ा। आपने साबुन देशी के बनाने का धन्धा शुरू किया। इस व्यापार में बड़ी सफलता प्राप्त हुई। धर्माचरण में आप दृढ निष्ठावान रहे। आपके विशाल दिल ने किसी प्रार्थी को निराश नही लौटाया। ज्ञान, ध्यान, सेवा और पर-सहायता के कामों में आप अपने धन का सदुपयोग करते रहे। जीवन नित्य-नियम से व्यतीत होता रहा।

जब देश का विभाजन हुआ तो अन्य हिन्दू-सिक्खों की भाति लालाजी ने विस्तृत विशाल कारोबार को छोड पजाब को जो पाकिस्तान के हिस्से आया था त्याग कर शेष बचे भारत मे शरण ली। दिल्ली में आकर उन्होंने पहले का व्यवसाय ही आरम्भ किया। उनके परिवार ने उस व्यवसाय को खूब उन्नत किया है। नये कारखाने भी लगाये हैं। उनके डिपो पर साबुन खरीदने वालों की भीड़ लगी रहती है। वि० स० २०१२ में आपका देहावसान हो गया था। उसके २१ दिन पूर्व ही उन्होंने सांसारिक मोह त्यागने का यत्न आरम्भ किया था और स्वात्म शुद्धि के लिए ध्यान में लग गये थे।

सेठ नाथालाल एम० पारख का, जिनकी पुण्यस्मृति में डा० जैन को रिसर्च स्कोलरशिप प्रदान की गई थी, सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

सौराष्ट्र राज्यान्तर्गत जेतपुर नामक स्थान मे सन् १६०६ में श्री नाथालाल पारख का जन्म हुआ था। पाच वर्ष की अवस्था में ही उनके पिताजी का देहान्त हो गया। फलतः उनके लालन-पालन का भार उनकी माता पर आ पड़ा तथा उन्हें १२ वर्ष की अवस्था में ही चावल की मिल में काम करने के लिए रगून जाना पड़ा। वहां से लौटने पर वे बम्बई में एक बोतल-व्यापारी की

दुकान में लिपिक के रूप में नियुक्त हुए। इसके बाद उन्होंने स्वयं अपना व्यापार करने का निश्चय किया और घर-घर से खाली बोतलों का संग्रह करने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। बाद में उनका एक प्रमुख जर्मन-कम्पनी से सम्पर्क हुआ और उन्होंने जर्मन-लेबल भारत मे बेचना प्रारम्भ किया। अपने अनुकूल अनुभव से प्रोत्साहित होकर उन्होंने छोटे लेबल उत्पादन करने का अपना एक छोटा-सा प्रेस शुरू किया जो अन्त में देश के एक बृहत्तम लेबल-उद्योग के रूप मे परिणत हुआ।

तब श्री पारखजी सामाजिक गतिविधियो में भाग लेने लगे और अपनी योग्यता के अनुसार उन्होने दो दर्जन से अधिक सामाजिक, धार्मिक और शैक्षणिक सस्थाओं के ट्रस्टी, अध्यक्ष अथवा मत्री पद को सुशोभित किया। वे जन्मभूमि-समूह के समाचार पत्रों के स्वामी सौराष्ट्र-ट्रस्ट के ट्रस्टी भी रहे।

कांग्रेस से विशेष सम्बन्ध होने के कारण श्री पारखजी बम्बई प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी की स्मारिका-समिति तथा वित्त-समिति के अध्यक्ष बने। वे विधान परिषद् के सदस्य थे और पुनः १९६४ मे निर्विरोध चुने गए। उनकी प्रशसनीय सेवा से प्रभावित होकर सरकार ने उन्हे 'जस्टिस ऑफ पीस' की उपाधि प्रदान की, जिसके गौरव की रक्षा श्री पारखजी ने अन्त समय तक की।

प्रकाशक

प्रकाशकीय

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के नाथालाल पारख शोध-छात्र डा० सुदर्शनलाल जैन का उत्तराध्ययन-सूत्र : एक परिशीलन नामक प्रस्तुत प्रबन्ध सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति द्वारा प्रकाशित पांचवां शोध-ग्रन्थ है। डा० सुदर्शनलाल जैन समिति के छठे सफल शोध-छात्र हैं। इनके बाद समिति के पांच अन्य शोध-छात्रों ने अब तक सफलता प्राप्त की है। वर्तमान में सात शोध-छात्र विभिन्न जैन विषयों पर पी-एच० डी० की उपाधि के लिए प्रबन्ध लिखने में संलग्न हैं।

प्रकृत प्रबन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जैन आगम-ग्रन्थ उत्तराध्ययन-सूत्र का सर्वाङ्गीण समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उत्तराध्ययन प्राकृत वाङ्मय का एक उत्कृष्ट धार्मिक काव्य-ग्रन्थ है। इसमें प्रधानतया मुनियों के आचार-विचार के साथ जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों की चर्चा की गई है।

उत्तराध्ययन-सूत्र का अनेक आचार्यों एवं विद्वानों ने अनेक रूपो मे अध्ययन एवं विवेचन किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध इस श्रृंखला में विशिष्ट स्थान प्राप्त करेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस ग्रन्थ के अध्ययन से उत्तराध्ययन का हार्द सरलता से समझ में आ सकेगा।

समिति पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के अध्यक्ष डा० मोहनलाल मेहता के प्रति कृतज्ञ है जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ का पर्याप्त परिश्रमपूर्वक सम्पादन किया है। यह ग्रन्थ स्वर्गीय लाला लद्दामलजी जैन की पुण्यस्मृति में प्रकाशित किया जा रहा है। समिति इस प्रकाशन से सम्बन्धित सब महानुभावों का आभार मानती है।

हरजसराय जैन
मन्त्री

प्राक्कथन

एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद मेरी उत्कट अभिलाषा शोधकार्य की ओर देखकर परम पूज्य डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, अध्यक्ष, संस्कृत-पालि विभाग (काशी विश्वविद्यालय), ने मुझे जैन आगम-साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ उत्तराध्ययन-सूत्र पर शोध-कार्य करने का सुझाव दिया तथा अपने निर्देशन में अनुमति भी दी।

ग्रन्थ का अध्ययन करने के बाद मैंने अनुभव किया कि इस ग्रन्थ पर अन्य जैन आगम-ग्रन्थों की अपेक्षा विपुल व्याख्यात्मक साहित्य मौजूद होने पर भी इसका वैज्ञानिक एवं समालोचनात्मक अध्ययन बहुत ही आवश्यक और समयोपयोगी है। यद्यपि शार्पेन्टियर, याकोबी, विन्टरनित्स आदि पाश्चात्य विद्वानों ने इसके साहित्यिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि पहलुओं के महत्त्व की ओर संकेत किया परन्तु ग्रन्थ के अन्तरङ्ग विषय का सर्वाङ्गीण समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया। मेरे शोधकार्य के पूर्ण हो जाने के एक वर्ष बाद आचार्य तुलसीकृत 'उत्तराध्ययन-सूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन' प्रकाशित हुआ। देखने पर ज्ञात हुआ कि तुलसीकृत प्रबन्ध से प्रस्तुत प्रबन्ध सर्वथा भिन्न प्रकार का है। प्रस्तुत प्रबन्ध में मूल ग्रन्थ के विषय को सरल व सुबोध शैली में प्रस्तुत किया गया है जबकि आचार्य तुलसीकृत प्रबन्ध में मूल व टीका-ग्रन्थों आदि का मिश्रण हो जाने से उत्तराध्ययन का मूल विषय गौण हो गया है। इस कारण प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रकाशन की आवश्यकता पूर्ववत् ही बनी रही।

प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रास्ताविक और आठ प्रकरणों के अतिरिक्त चार परिशिष्ट हैं। प्रबन्ध के अन्त में सहायक ग्रन्थ-सूची, अनुक्रमणिका, तालिकाएँ एवं वृत्तचित्र दिए गए हैं। प्रत्येक प्रकरण के अन्त में समालोचनात्मक अनुशीलन दिया गया है। अन्तिम प्रकरण में समस्त प्रबन्ध का परिशीलनात्मक उपसंहार प्रस्तुत किया गया

है। इसीलिए प्रस्तुत प्रबन्ध का नाम 'उत्तराध्ययन-सूत्र : एक परिशीलन' रखा गया है। आचार्य तुलसीकृत प्रबन्ध से इस प्रबन्ध का पार्थक्य बतलाने के लिए भी यह नाम रखना उचित समझा गया।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रास्ताविक में जैन आगम-साहित्य में उत्तराध्ययन का स्थान, विषय-परिचय, रचनाकाल, नामकरण का कारण, भाषा-शैली, महत्त्व तथा टीका-साहित्य के साथ विविध संस्करणों की सूची दी गई है। इसके बाद प्रथम प्रकरण में विश्व की भौगोलिक रचना, सृष्टि तत्त्व और द्रव्य के स्वरूप का निरूपण किया गया है। द्वितीय प्रकरण मे ससार की दुःखरूपता और उसके कारणों का विचार करते हुए कर्म-सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। तृतीय प्रकरण में मुक्ति-मार्ग का वर्णन करते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय का विचार किया गया है। चौथे प्रकरण में ग्रन्थ के मुख्य प्रतिपाद्य विषय साधुओं के सामान्य सदाचार का और पाचवें प्रकरण में साधुओं के विशेष सदाचार (तप) का वर्णन किया गया है। छठे प्रकरण में सम्पूर्ण साधना की प्रतिफलरूप 'मुक्ति' का तथा सातवें प्रकरण में समाज और संस्कृति का विवेचन किया गया है। आठवें प्रकरण में ग्रन्थ की उपयोगिता का वर्णन करते हुए सम्पूर्ण प्रबन्ध का परिशीलनात्मक सिंहावलोकन किया गया है।

चार परिशिष्टों में से प्रथम परिशिष्ट मे कथा-संवाद दिए गए हैं। द्वितीय परिशिष्ट में ग्रन्थोल्लिखित राजा आदि महापुरुषों का परिचय दिया गया है। तृतीय परिशिष्ट में साध्वाचार-सम्बन्धी कुछ अवशिष्ट तथ्यों को दर्शाया गया है। चतुर्थ परिशिष्ट में ग्रन्थोल्लिखित देशो व नगरों का परिचय दिया गया है।

इस तरह सम्पूर्ण प्रबन्ध को मूलग्रन्थ का अनुसरण करते हुए सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध यद्यपि २० मार्च, १९६७ को पूर्ण हो चुका था परन्तु पी-एच० डी० की उपाधि मिलने तथा प्रकाशन-कार्य में तीन वर्ष का

विलम्ब हुआ। इस बीच मैंने अपने प्रबन्ध को यथासंभव पुनः परिमार्जित व परिवर्धित किया। आज इसे छपे रूप में विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस तरह यद्यपि इस प्रबन्ध को सर्वाङ्गीण सुन्दर बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है फिर भी मानव की शक्तियाँ सीमित होने के कारण वह पूर्णता का दावा नहीं कर सकता। यदि इससे पाठकों का थोड़ा-सा भी लाभ हो सका तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

अन्त में उन सभी सज्जनों के प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मुझे प्रोत्साहित किया। इसके साथ ही साथ मैं उन सभी ग्रन्थों, ग्रन्थकारों व ग्रन्थसम्पादकों आदि का भी आभारी हूँ जिनसे प्रस्तुत प्रबन्ध में सहायता मिली है। सर्वप्रथम मैं श्रद्धेय पूज्य गुरुवर्य डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य का आभारी हूँ जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय व निर्देशन आदि देकर इस प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत करने के योग्य बनाया। इसके बाद पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के अध्यक्ष डा० मोहनलाल मेहता का आभारी हूँ जिन्होंने प्रस्तुत प्रबन्ध के संपादन में बहुमूल्य योगदान दिया। इसके बाद में पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान तथा स्याद्वाद महाविद्यालय व वहाँ के सभी पदाधिकारियों का आभारी हूँ जहाँ से मुझे प्रबन्ध-लेखन के काल में हर प्रकार की (आर्थिक, पुस्तकीय व आवासीय) सुविधाएँ प्राप्त हुईं। पं० दलसुख मालवणिया तथा डा० नथमल टाटिया का भी आभारी हूँ जिन्होंने प्रस्तुत प्रबन्ध का परीक्षण करके अपने बहुमूल्य सुझाव दिए।

वाराणसी
१-८-७०

सुदर्शनलाल जैन
प्राध्यापक—संस्कृत-पालि विभाग
काशी विश्वविद्यालय

संकेत-सूची

उ० = उत्तराध्ययन

उ० आ० टी० = उत्तराध्ययन-आत्माराम-टीका

उ० घा० टी० = उत्तराध्ययन-घासीलाल-टीका

उ० तु० = उत्तराध्ययन-आचार्य तुलसी

उ० नि० = उत्तराध्ययन-निर्युक्ति

उ० ने० टी० = उत्तराध्ययन-नेमिचन्द्र-टीका

उ० शा० = उत्तराध्ययन-शार्पेन्टियर

उ० समी० = उत्तराध्ययन: एक समीक्षात्मक अध्ययन

के० लि० जै० = हिस्ट्री आफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स

कै० जै० = जैनधर्म—कैलाशचन्द्र

गो० जी० = गोम्मटसार-जीवकाण्ड

जै० ध० = देखिए—कै० जै०

जै० भा० स० = जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज

जै० सा० इ० पू० = जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका

जै० सा० बृ० इ० = जैन साहित्य का बृहद् इतिहास

डा० जै० = डॉक्ट्रिन ऑफ दी जैन्स

तर्क सं० = तर्कसंग्रह

त० सू० = तत्त्वार्थसूत्र

द० उ० = दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन (आचार्य तुलसी)

पृ० = पृष्ठ

परि० = परिशिष्ट

पा० टि०=पाद-टिप्पण

पा० यो०=पातञ्जल-योगदर्शन

प्रा० सा० इ० = प्राकृत साहित्य का इतिहास

बौ० द०=बौद्ध-दर्शन

भा० द० ब०=भारतीय-दर्शन—बलदेव

भा० द० रा० = भारतीय-दर्शन—राधाकृष्णन्

भा० सं० जै०
भा० सं० जै० यो० } =भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान

महा० ना० = महाभारत की नामानुक्रमणिका

समवा० = समवायाङ्गसूत्र

सां० का०=साङ्ख्यकारिका

से० बु० ई०=सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट—भाग ४५

स्था० सू०=स्थानाङ्गसूत्र

हि० इ० लि०=हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर—भाग २

हि० के० लि० जै०=देखिए—के० लि० जै०

★

प्रस्तुत ग्रन्थ में

प्रास्ताविक

प्रकरण १

प्रकरण २

प्रकरण ५

प्रकरण ६

प्रकरण ७

प्रकरण ८

परिशिष्ट १

परिशिष्ट २

परिशिष्ट ३

परिशिष्ट ४

★

जैन आगमों में उत्तराध्ययन-सूत्र

उत्तराध्ययन-सूत्र अर्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध एक जैन आगम-ग्रन्थ है। भगवान् महावीर (ई० पू० ६ ठी शताब्दी) के जिन उपदेशों को उनके शिष्यों ने सूत्रग्रन्थों के रूप में निबद्ध किया वे ग्रन्थ 'आगम' या 'श्रुत' के नाम से प्रसिद्ध हैं।[1] इन ग्रन्थों में जो भगवान् महावीर के साक्षात् प्रधान शिष्यों (गणधरों) द्वारा रचित हैं वे अंगप्रविष्ट (अंग) कहलाते हैं और शेष जो उत्तरवर्ती श्रुतज्ञ शिष्यों द्वारा रचित है वे अगबाह्य (अनंग)।[2] इनमें साक्षात् महावीर के शिष्यों द्वारा रचित होने के कारण अंग ग्रन्थों की प्रधानता है। इन्हें बौद्ध त्रिपिटक की तरह 'गणिपिटक'[3] तथा ब्राह्मणों के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों की तरह 'वेद'[4] कहा गया है। इनकी संख्या १२ नियत होने से

१. प्राचीन काल मे इसे 'श्रुत' कहते थे और श्रुतज्ञानी को 'श्रुतकेवली'। वर्तमान मे आगम शब्द अधिक प्रचलित है। देखिए, जै० सा० बृ० इ०, भाग १, प्रस्तावना, पृ० ३१.

२. ...तं जहा—अंगपविट्ठं, अंगबाहिरं च। से किं तं अंगबाहिरं ? अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा—आवस्सयं च आवस्सयवइरित्तं च।

—नंदी, सूत्र ४३,

यद् गणधरशिष्यप्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं सक्षिप्ताङ्गार्थवचनविन्यासं तदङ्गबाह्यम्।

—तत्त्वार्थवार्तिक, १.२०.१३.

३. दुवालसंगे गणिपिडगे

—समवा०, सूत्र १ तथा १३६.

४. दुवालसंगं वा प्रवचनं वेदो

—प्रा० सा० इ०, पृ० ४४.

इन्हें 'द्वादशाङ्ग'[१] भी कहा जाता है। इस तरह अर्थरूप में ये सभी अग-ग्रन्थ महावीर-प्रणीत ही हैं परन्तु शब्दरूप मे गणधर-प्रणीत हैं।[२]

इनके अतिरिक्त जो अङ्गबाह्य आगम-ग्रन्थ हैं वे प्राचीन परम्परानुसार प्रथमतः दो भागों में विभक्त है—आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त।[३] आवश्यक में छः ग्रन्थ थे[४] जो आजकल एक आवश्यक-सूत्र में ही सन्निविष्ट हैं। आवश्यक-व्यतिरिक्त के पुनः कालिक और उत्कालिक—ये दो भेद किए गये हैं और प्रत्येक के कई प्रकार हैं। जिनका अध्ययन किसी निश्चित समय (दिन व रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहर) में किया जाता है उन्हे 'कालिक' और जिनका अध्ययन तदतिरिक्त समय मे किया जाता है उन्हे 'उत्कालिक' कहते है। उत्तराध्ययन आदि कालिक श्रुत है तथा दशवैकालिक आदि उत्कालिक।[५]

---

१. वही, बारह अंग—आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग, समवायाग, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत और दृष्टिवाद।

२. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ ॥
—आवश्यक-निर्युक्ति, गाथा १९२

३. देखिए—पृ० १, पा० टि० २.

४. वही; आवश्यक के छः नाम ये हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान।

५. यदिहनिशाप्रथमपश्चिमपौरुषीद्वय एव पठयते तत्कालेन निर्वृत्तं कालिकं—उत्तराध्ययनादि। यत्पुनः कालवेलावर्जं पठ्यते तदूर्ध्वं कालिकादित्युत्कालिकम्—दशवैकालिकादीति।
—स्था० सू० ७१ अभयवृत्ति। नंदी, सूत्र ४३, ४७ में इसकी विस्तृत सूची दी गई है।

तदङ्गबाह्यमनेकविधम्—कालिकमुत्कालिकमित्येवमादिविकल्पात्। स्वाध्यायकाले नियतकालं कालिकम्। अनियतकालमुत्कालिकम्। तद्भेदा उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधाः।
—तत्त्वार्थवार्तिक, १.२०.१४.

इस तरह यह कालिक और उत्कालिक का भेद सिर्फ अंगबाह्य आवश्यक-व्यतिरिक्त ग्रन्थो में है। परवर्ती काल में दृष्टिवाद को छोड़कर शेष ग्यारह अंग-ग्रन्थों को भी कालिक में गिनाया है।[1] दृष्टिवाद के विषय में स्पष्ट कथन नहीं मिलता है कि वह कालिक है अथवा उत्कालिक। परन्तु ग्यारह अगरूप कालिक श्रुत के ही साथ कहीं-कहीं दृष्टिवाद को भी गिनाया है।[2] इसका कारण यही प्रतीत होता है कि दृष्टिवाद का उच्छेद हो गया था। अतः इसके प्रति उपेक्षा होना स्वाभाविक है। दिगम्बर-परम्परा में सिर्फ अंगबाह्य ग्रन्थों को ही कालिक और उत्कालिक में विभक्त किया है, अग ग्रन्थों को नही।[3]

इस तरह आगम-साहित्य के प्राचीन विभाजन के अनुसार उत्तराध्ययन-सूत्र अगबाह्य आवश्यक-व्यतिरिक्त कालिक श्रुत का एक भेद है।

वर्तमान परम्परा में अगबाह्य का विभाजन भिन्न प्रकार से किया जाता है। प्राचीन आगम-ग्रन्थो में इस प्रकार का विभाजन नहीं मिलता है। जहां तक ज्ञात है, इस विभाजन का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख श्री भावप्रभसूरि (१८ वी शताब्दी) द्वारा विरचित

---

१ इहैकादशाङ्गरूप सर्वमपि श्रुत कालग्रहणादिविधिनाऽधीयत इति कालिकमुच्यते।

- विशेषावश्यकभाष्य—मलधारी टीका, गाथा २२९४; विशेष- जै० सा० इ० पू०, पृ० ५७६–५७८.

२. कालियसुअ दिट्ठीवाए य

—आवश्यकनिर्युक्ति, ७६४;

एक्कारस अंगाइं पइण्णगं दिट्ठिवाओ य।

– उ० २८ २३;

उत्तराध्ययन मे अन्यत्र द्वादशाङ्ग ('बारसंगविऊ बुद्धे' उ० २३.७; 'दुवालसंगं जिणक्खायं' उ० २४.३) तथा अङ्ग और अङ्गबाह्यसूत्र ('जो सुत्तमहिज्जन्तो''' 'अंगेण बहिरेण व' उ० २८.२१) के रूप मे भी उल्लेख मिलता है।

३ देखिए—पृ० २, पा० टि० ५.

जैनधर्मवरस्तोत्र (श्लोक ३०) की स्वोपज्ञ टीका में मिलता है।[1] तदनुसार विभाजन-क्रम निम्नोक्त है :

---

१. अथ उत्तराध्ययन १ आवश्यक २ पिण्डनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति ३ दशवैकालिक ४ इति चत्वारिमूलसूत्राणि।...... गाथा—

इक्कारस अंगाइं बारस उवंगाइ दस पयन्नाइं।
छ छेय मूल चउरो नदी अणुयोग पणयाला॥

—जैनधर्मवरस्तोत्र-स्वोपज्ञ टीका, पृ० ९४

इस प्राकृत गाथा के उद्धृत करने तथा आगम ग्रन्थो के स्पष्ट विभाजन से प्रतीत होता है कि इसके पहले भी इस प्रकार का विभाजन हो चुका था। आ० तुलसी ने द० उ०—भूमिका, पृ० ६,९ पर समयसुन्दर (वि० सं० १६७२) कृत सामाचारीशतक का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसमे दशवैकालिक, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और उत्तराध्ययन को मूलसूत्र माना है। प्रभावक-चरित (वि० सं० १३३४) मे भी अङ्ग, उपाङ्ग, मूल और छेद के भेद से आगमो के प्राचीन विभाजन का उल्लेख मिलता है—

ततश्चतुर्विधः कार्योऽनुयोगोऽतः परं मया।
ततोऽङ्गोपाङ्गमूलाख्यग्रन्थच्छेदकृतागमः॥

—आर्यरक्षितप्रबन्ध, श्लो० २४१.

प्रभावक-चरित के इस उल्लेख से यह सिद्ध नही होता है कि कौन-कौन मे ग्रन्थ किस-किस विभाग में थे ? परन्तु ऐसा विभाजन पहले मे मौजूद था जिसको आर्यरक्षित ने ४ अनुयोगो मे विभक्त किया।

भद्रबाहु (द्वितीय) की आवश्यकनिर्युक्ति (वि० सं० ६ ठी शता०) मे कल्पादि को छेदसूत्रो मे परिगणित करने से इस प्रकार के विभाजन की ओर अधिक प्राचीनता का पता चलता है—

जं च महाकप्पसुयं जाणि य सेसाणि छेयसुत्ताणि......।

—आवश्यकनिर्युक्ति, गा० ७७८.

तथा देखिए—विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २२९५.

आगम
- अंग (१२)
- अंगबाह्य
  - उपाङ्ग[1] (१२)
  - मूलसूत्र (४)
  - छेदसूत्र[2] (६)
  - अविभाजित (नंदी और अनुयोग) (२)
  - प्रकीर्णक[3] (१०)

इस तरह सामान्यतया ४६ आगम ग्रन्थ माने जाते हैं उनमें बारहवें अंग दृष्टिवाद का उच्छेद मान लेने पर ४५ आगम-ग्रन्थों की परम्परा है।[4]

---

१ बारह उपाग ये हैं—औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूला और वृष्णिदशा। अन्तिम पांच को निरयावलिया भी कहते हैं। इनका अंगो के साथ वस्तुतः कोई सम्बन्ध नही है फिर भी इन्हें रूढि से उपाग कहा जाता है। सिर्फ पाँच निरयावलियो की उपाग संज्ञा मिलनी है।

– देखिए–जै० सा० बृ० इ०, भाग २, पृ० ७–८

२. छः छेदसूत्र ये है—निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, आचारदशा या दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प तथा पचकल्प या जीतकल्प। इनमे साधु-धर्म का पालन करते समय लगे हुए दोषो की प्रायश्चित्त विधि का वर्णन है। अतः ये छेदसूत्र कहलाते हैं।

३. यद्यपि नंदी (सूत्र ४३) मे कालिकश्रुत को तथा उत्तराध्ययन मे (देखिए–पृ० ३, पा० टि० २) अंगातिरिक्त को प्रकीर्णक कहा है परन्तु वर्तमान मे इनकी संख्या १० नियत है—चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, सस्तारक, तंडुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रत्याख्यान तथा वीरस्तव। इन नामों मे कुछ सम्प्रदायगत अन्तर भी हैं।

४. श्वेताम्बर स्थानकवासी इनमे से ३२ तथा कुछ मूर्तिपूजक श्वेताम्बर ८४ आगम मानते हैं।

—देखिए–प्रा० सा० इ०, पृ० ३३–३४ फुटनोट।

दिगम्बर-परम्परा में इस प्रकार का विभाजन नहीं मिलता है। वहाँ प्रथमतः अंग और अगबाह्य ऐसे दो भेद किए गए हैं, फिर अग के १२ और अगबाह्य के १४ भेद किए हैं।[1] इस तरह दिगम्बर-परम्परा में २६ आगमों की मान्यता है। परन्तु उनकी मान्यता है कि दृष्टिवाद के अश विशेष के आधार पर लिखे गये षट्खण्डागम और कषायप्राभृत[2] को छोड़कर शेष अंग और अगबाह्य आगम विच्छिन्न हो गये हैं, जबकि श्वेताम्बर-परम्परा मे दृष्टिवाद का विच्छेद हुआ है और शेष आगम अविच्छिन्न हैं। दिगम्बर-परम्परा मे अगबाह्य के जो १४ भेद हैं, वे निम्नोक्त है :

१. सामायिक, २. चतुर्विशतिस्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृतिकर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १०. कल्पाकल्प ११. महाकल्प, १२. पुडरीक, १३ महापुण्डरीक और १४ निषिद्धिका।

इनमे आदि के छः भेद क्रमश छः आवश्यकरूप है तथा अन्त के छः भेदो का समावेश श्वेताम्बर-सम्मत कल्प, व्यवहार और निशीथ नामक छेद-सूत्रों मे माना जाता है। शेष दो—दशवैकालिक और उत्तराध्ययन महत्त्वपूर्ण मूलसूत्र है।[3]

इस तरह इस वर्तमानकालिक प्रचलित परम्परा मे उत्तराध्ययन को अगबाह्य मूलसूत्र के भेदो में गिनाया जाता है। परन्तु उत्तराध्ययन को मूलसूत्र क्यों कहा जाता है ? इस पर विचार करने के पूर्व मूलसूत्रों पर दृष्टि डालना आवश्यक है।

मूलसूत्र :

सामान्यतया मूलसूत्रो की संख्या चार मानी जाती है परन्तु कुछ विद्वान् उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक इन्ही तीनों की

---

१. धवलाटीका—षट्खण्डागम, पुस्तक १, पृ० ९६; गो० जी०, गाथा ३६६–४६७.

२ ये दोनों ग्रन्थ अंग के १२ भेदों मे से दृष्टिवाद के अन्तर्गत आते हैं। देखिए—षट्खण्डागम, भूमिका, पृ० ७१.

३. देखिए—भा० सं० जै० यो०, पृ० ५४; जै० सा० इ० पू०, पृ० ६७६.

गणना मूलसूत्रों में करते हैं।[1] विन्टरनित्स आदि विद्वान् चौथा मूलसूत्र पिण्डनिर्युक्ति को मानते हैं।[2] परन्तु कुछ दशवैकालिक और पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर ओघनिर्युक्ति और पाक्षिकसूत्र को मूलसूत्र मानते हैं तथा कुछ पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को छेदसूत्रों में भी गिनाते हैं।[3] स्थानकवासी (श्वेताम्बर) दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नंदी और अनुयोगद्वार इन चार को मूलसूत्र मानते हैं। परन्तु ८४ आगम माननेवाले आवश्यक के साथ पाँच मूलसूत्र मानते हैं।[4] प्रो० कापडिया ने दशवैकालिक की दो चूलिकाएँ भी मूलसूत्रों में गिनाई हैं।[5] इस तरह मूलसूत्रों की संख्या और नामों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है फिर भी उत्तराध्ययन के मूलसूत्र होने मे किसी को संदेह नहीं है तथा क्रम में अन्तर होने पर भी प्रायः सभी उत्तराध्ययन को प्रथम मूलसूत्र मानते हैं।[6]

---

१. जै० सा० बृ० इ०, भाग–२, पृ० १४३–१४४.
२. हि० इ० लि०, भाग–२, पृ० ४२६; जै० सा० बृ० इ०, भाग–१, प्रस्तावना, पृ० २८.
३. हि० इ० लि०, भाग–२, पृ० ४३०.
४. प्रा० सा० इ०, पृ० ३३, फुटनोट।
५. हि० के० लि० जै०, पृ० ४८
६. मूलसूत्रों की संख्या व क्रम के विषय मे विभिन्न मत :—

	विद्वान्	संख्या	क्रम
१.	भावप्रभसूरि	४	उत्तराध्ययन, आवश्यक, पिण्डनिर्युक्ति-ओघनिर्युक्ति तथा दशवैकालिक।
२.	समयसुन्दर	४	दशवैकालिक, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति और उत्तराध्ययन। —उद्धृत द० उ०, भूमिका, पृ० ६
३.	स्थानकवासी और तेरापन्थी श्वेताम्बर	४	उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार।
४	कुछ मूर्तिपूजक श्वेताम्बर	५	उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, नंदी और अनुयोगद्वार।

संख्या, नाम और क्रम की तरह 'मूलसूत्र' का अर्थ भी विवादास्पद है। ये मूलसूत्र क्यों कहे जाते है? इस विषय में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न तर्क उपस्थित किए हैं क्योंकि प्राचीन कोई भी ऐसा स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है जिसमें इसका अर्थ स्पष्ट किया गया हो। मूलसूत्रों के नामों में अन्तर होने से भी इसका स्पष्ट कथन कर सकना सम्भव नहीं है। 'मूलसूत्र' शब्द के अर्थ पर विचार

५.	प्रो० वेबर और प्रो० बूह्लर	३	उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक।
६.	डॉ० शारपेन्टियर, डॉ० विन्टरनित्स और डॉ० गेरिनो	४	उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और पिण्डनिर्युक्ति।
७.	प्रो० शुब्रिंग	५	उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति।
८.	प्रो० हीरालाल कापडिया	६	आवश्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, दशवैकालिक चूलिकाएँ, पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति।
९.	डॉ० जगदीशचन्द्र, पं० दलसुख मालवणिया और डॉ० मोहनलाल मेहता	४	उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक और पिण्डनिर्युक्ति, अथवा उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और पिण्डनिर्युक्ति-ओघनिर्युक्ति।
१०.	आचार्य तुलसी	२	दशवैकालिक और उत्तराध्ययन।

—विशेष के लिए देखिए—जै० सा० बृ० इ०, भाग २, पृ० १४४; जै० सा० बृ० इ०, भाग १, प्रस्तावना, पृ० २८, हि० के० लि० जै०, पृ० ४४–४८; प्रा० सा० इ०, पृ० १५; द० उ० भूमिका, पृ० ७–८.

करने के पूर्व आवश्यक है कि सभी मान्य मूलसूत्रों का प्रथमतः संक्षिप्त परिचय दिया जाय।

१. **उत्तराध्ययन**—यह एक धार्मिक श्रमण काव्य-ग्रन्थ है। इसमें नवदीक्षित साधुओं के सामान्य आचार-विचार आदि का वर्णन किया गया है। कहीं-कहीं जैनदर्शन के सामान्य मूलभूत सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। इसका विशेष विचार आगे किया जाएगा। २. **दशवैकालिक**—यह भी उत्तराध्ययन की ही तरह आचारधर्म का प्रतिपादक धार्मिक श्रमण-काव्य है। इसमें विनय, नीति, उपदेश और सुभाषितों की प्रचुरता है। कुछ अध्ययन और गाथाएँ उत्तराध्ययन और आचाराङ्ग से साम्य रखती हैं।[1] इसके रचयिता शय्यंभव (ई० पू० ४५२-४२९) हैं। भद्रबाहु की निर्युक्ति के अनुसार इसका चौथा अध्ययन आत्मप्रवाद पूर्व[2] से, पाँचवां कर्मप्रवाद पूर्व से, सातवा सत्यप्रवाद पूर्व से और बाकी के प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व के तीसरे अधिकार (वस्तु) से लिए गए हैं।[3] कालान्तर में इस पर विपुल टीकासाहित्य लिखा गया। भाषा और विषय की दृष्टि से यह भी उत्तराध्ययन की तरह प्राचीन और महत्त्व-पूर्ण है। ३. **आवश्यक**—नंदीसूत्र के वर्गीकरण के अनुसार पहले यह छ: स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप मे था। परन्तु अब यह एक ही ग्रन्थ के रूप में विद्यमान है। इसमें साधु की छः नित्यक्रियाओं (आवश्यकों) का वर्णन किया गया है। इस पर भी कालान्तर में विपुल टीका-साहित्य लिखा गया। ४. **पिण्डनिर्युक्ति**—यह दशवैकालिक सूत्र के 'पिण्डैषणा' नामक ५वें अध्ययन पर लिखी गई भद्रबाहु की रचना है। विस्तार एवं महत्त्व के कारण इसे पृथक् ग्रन्थ के रूप में माना

---

१. जै० सा० बृ० इ०, भाग-२, पृ० १८१; हि० के० लि० जै०, पृ० १५६.

२. प्राचीन काल में समस्त श्रुतज्ञान १४ पूर्व-ग्रन्थों मे अन्तर्निहित था। उनके नाम इस प्रकार हैं–उत्पाद, अग्रायणी, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, समयप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, अवन्ध्य, प्राणावाय, क्रियाविशाल और बिन्दुसार।

३ दशवैकालिक-निर्युक्ति, गाथा १६-१७.

जाता है। पिण्ड का अर्थ है–भोजन। इसमें साधु के भोजन-विषयक सिद्धान्त की चर्चा की गई है। इसमें वर्णित साधु के भोजन-सम्बन्धी नियमों से कई महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। **५. ओघनिर्युक्ति**–ओघ का अर्थ है—सामान्य। इसमें साधु के सामान्य आचार-विचार का ही दृष्टान्तशैली मे वर्णन है। इसमें श्रमणसंघ के इतिहास की झलक मिलती है। बीच-बीच में कथाएँ भी हैं। यह भी पिण्डानिर्युक्ति की तरह भद्रबाहु की ही रचना है। **६-७ नदी और अनुयोगद्वार** - ये दोनों ग्रन्थ आगमो के लिए परिशिष्ट का काम करते हैं। अत इन्हे चूलिकासूत्र कहा जाता है। आगमों के अध्ययन के लिए ये प्राथमिक भूमिका का भी कार्य करते है। नदी मे विशेषकर ज्ञान की चर्चा की गई है और अनुयोगद्वार मे मूलभूत सिद्धान्तो और पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण किया गया है। नदी' दूष्यगणि के शिष्य देववाचक की तथा 'अनुयोगद्वार' आर्यरक्षित की कृति है। ये महावीर-निर्वाण के बहुत बाद में लिखी गई थी। **८ पाक्षिकसूत्र** इसमे साधु के पाक्षिक प्रतिक्रमण (आवश्यक का एक भेद) का वर्णन किया गया है। **९. दशवैकालिक-चूलिकाएँ** ये वास्तव मे दशवैकालिक के ही अश के रूप में है। अत. इन्हे पृथक् गिनाना उचित नहीं है। इनमे ससार के प्रति राग-भावना का त्याग तथा साधुओं को मद्य-मास आदि के त्याग का उपदेश देकर कर्तव्य-कर्म करने का उपदेश दिया गया है।

इस तरह इन सभाव्य मूलसूत्रो का सक्षिप्त परिचय देखने से मूलसूत्र शब्द का अर्थ यद्यपि स्पष्ट नही होता है फिर भी अन्य अगबाह्य ग्रन्थो की अपेक्षा इनमे मूलरूपता, प्रामाणिकता और उपयोगिता को ध्यान मे रखा गया है। वास्तव मे उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और आवश्यक[१] को मूलसूत्र मानना उपयुक्त है क्योंकि ये प्राचीन भी है तथा साधु-जीवन के मूलभूत सिद्धान्तो का प्रामाणिक प्रति-

१. आचार्य तुलसी का यह कथन (द० उ०, भूमिका, पृ० ७) कि अङ्गबाह्य आगम ग्रन्थो के आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त इन दो विभागो मे आवश्यक का अपना स्वतन्त्र व महत्त्वपूर्ण स्थान होने से 'आवश्यक' को मूलसूत्रो की सख्या मे सम्मिलित करने का कोई हेतु प्रस्तुत नहीं है - ठीक प्रतीत नही होता क्योंकि वर्तमान परम्परा मे जो अङ्गबाह्य

पादन भी करते हैं। अन्य ग्रन्थों को जो मूलसूत्रों में गिना जाने लगा है वह या तो उनके महत्त्व को प्रकट करने के कारण या मूल आगम-ग्रन्थों से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण है। जैसे—पिण्ड-निर्युक्ति दशवैकालिक से और ओघनिर्युक्ति आवश्यकनिर्युक्ति से सम्बन्धित होने से, पाक्षिकसूत्र आवश्यक का ही एक अंग होने से, दशवैकालिकचूलिकाएँ दशवैकालिक के ही अंशरूप होने से तथा नंदी और अनुयोगद्वार के समस्त आगमग्रन्थों की विश्लेषणरूप भूमिका होने से इन्हें मूलसूत्रों के साथ जोड़ा गया है। इस तथ्य की पुष्टि के पूर्व मूलसूत्र के विषय में विभिन्न विद्वानों के मतों का पर्यवेक्षण आवश्यक है।

१. जार्ल शार्पेन्टियर ने महावीर के शब्द होने से इन्हें मूल-सूत्र कहा है।[1] परन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि महावीर के शब्द होने के नाते आचारांग आदि को ही मूल संज्ञा दी जा सकती है, अंगबाह्य को नहीं। इसके अतिरिक्त अंग और अंगबाह्य

ग्रन्थों को छेदसूत्र, मूलसूत्र, प्रकीर्णक आदि भागों में बाँटा जाता है उनमें से आवश्यक को किस विभाग में रखा जाएगा? आवश्यक के महत्त्वपूर्ण होने के कारण मूलसूत्र में ही रखना उचित है। अन्य विभागों में रखा नहीं जा सकता। अतः या तो इसे मूलसूत्र विभाग में ही रखा जाए या फिर अन्य प्रकार से विभाग की कल्पना की जाए। आचार्य तुलसी ने (द० उ०, भूमिका, पृ० ६) मूलसूत्र कहे जाने के कारण का बतलाते हुए लिखा है—'आचार की जानकारी के लिए आचारांग मूलभूत था, वैसे ही दशवैकालिक भी आचारज्ञान के लिए मूलभूत बन गया। संभव है, आदि में पढ़े जाने के कारण तथा मुनि की अनेक मूलभूत प्रवृत्तियों के उद्बोधक होने के कारण इन्हे मूलसूत्र की संज्ञा दी गई।' इससे भी स्पष्ट है कि 'आवश्यक' मुनि की आवश्यक क्रिया का प्रतिपादक होने के नाते क्यों नहीं मूलसूत्र कहा जाएगा?

1. . . Mūla in the sense of 'original text', and perhaps not so much in opposition to the later abridgments and commentaries as merely to denote the actual words of Mahāvīra himself

—उ० शा०, भूमिका, पृ० ३२

सभी ग्रन्थों का सम्बन्ध अर्थतः महावीर के वचनों से है। दशवैकालिकसूत्र शय्यंभव की रचना होने तथा पिण्डनिर्युक्ति आदि भी बाद की रचनाएँ होने से उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। यह कथन कुछ अंशों में उत्तराध्ययन एवं आवश्यक की अपेक्षा से ठीक है। मालूम पड़ता है कि शार्पेन्टियर के इस कथन का आधार उत्तराध्ययन की अन्तिम गाथा रही है जिसमें बतलाया है कि भगवान् महावीर उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों का वर्णन करके परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये।[1] इसी तरह 'समय गोयम मा पमायए',[2] 'सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं'[3] आदि[4] सूत्रस्थल रहे है। डा० गेरिनो[5] एवं प्रो० पटवर्धन का भी यही मत है।[6]

२. प्रो० विन्टरनित्स[7] ने मूल शब्द का अर्थ टीकाओं के आधारभूत 'मूलग्रन्थ' के रूप मे किया है। इसका तात्पर्य है कि इन

१. इय पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धीयसंवुडे।
—उ० ३६. २६६.

२ उ १० १-३६.

३. उ. १६.१ (गद्य)।

४. उ. २९.१ (प्रारम्भिक गद्य); .२.१ (गद्य), ४६ आदि।

5. Guerinot (La Religion, Djaina, P. 79) translates Mūla-sūtra by "trates originaux."
— के. लि. जै., पृ. ४२.

6. 'Thus the term Mūla-sūtra would mean "the original text" i. e. 'the text containing the original words of Mahāvīra (as received directly from his mouth)
— दी दशवैकालिक सूत्र . ए स्टडी, पृ० १६.

7. Why these texts are called "root-sūtras" is not quite clear. Generally the word mūla is used in the sense of "fundamental text" in contra-distinction to the commentary. Now as there are old and important commentaries in existence precisely in the case of these texts, they were probably termed "Mūla-texts"
—हि. इ. लि., भाग २, पृ. ४६६, पाद-टिप्पणी १.

सूत्र ग्रन्थों के ऊपर महत्त्वपूर्ण प्राचीन टीकाएं उपलब्ध हैं। अतः इन टीकाओं से मूल ग्रन्थ का पार्थक्य बतलाने के लिए ही 'मूलसूत्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु यह कथन ठीक प्रतीत नहीं होता है क्योंकि केवल टीकाओं से भेद बतलाने के लिए ही मूल शब्द का प्रयोग नहीं है। पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति भी तो वास्तव में टीकाएं ही हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थों पर भी टीकाए लिखी गईं फिर उन्हें क्यों नही मूलसूत्र कहा गया ? अनेक टीकाओं का लिखा जाना उनकी प्रसिद्धि, उपयोगिता एवं प्रामाणिकता का परिचायक है। वेबर भी मूलसूत्र शब्द का अर्थ सूत्र से अतिरिक्त कुछ नही मानते।[१]

३. डा० शुब्रिंग ने प्रारम्भिक साधु-जीवन के मूलभूत नियमों के प्रतिपादक होने के कारण इन्हे मूलसूत्र कहा है।[२] प्रो० एच० आर० कापड़िया[३], डा० नेमिचन्द्र शास्त्री[४], आचार्य तुलसी[५] आदि विद्वान् कुछ सशोधन के साथ इसी सिद्धान्त के पक्ष मे है। बहुत कुछ अशो मे यह कथन उचित भी प्रतीत होता है।

इन विभिन्न मतो को देखने तथा मूलाचार, मूलाराधना आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त 'मूल' शब्द का अर्थ देखने से पता चलता है कि मूल का अर्थ है—बीजरूपता। उत्तराध्ययन आदि

---

१. देखिए-जै० सा० इ० पू०, पृ० ७०१.

2. ......This designation seems to mean that these four works are intended to serve the Jain monks and nuns in the beginning (मूल) of their career.

—दसवेयालिय-सुत्त, भूमिका, पृ० ३ (उद्धृत-के० लि० जै०, पृ० ४२).

3. "My personal view is the same as one expressed by Prof. Schubring and mentioned on P. 42.

—के० लि० जै०, पृ० ४३.

४. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १९२.

५. द० उ०, भूमिका, पृ० १.

मूलसूत्रों मे अंगग्रन्थों में निहित सिद्धान्त एवं आचार का बीजरूप से वर्णन किया गया है जिनका अध्ययन करने पर अन्य सूत्रग्रन्थों को समझना सहज हो जाता है। अतः इनका अध्ययन अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा पहले किया जाता था।[1] ये सरल तथा नवदीक्षित साधुओं के लिए प्रारम्भिक अभ्यासावस्था में सिद्धान्त एवं आचार का ज्ञान कराने के लिए उपयोगी हैं। इस तरह मूलसूत्र से तात्पर्य है जो नवदीक्षित साधुओं के लिए प्रारम्भिक अभ्यास की अवस्था में साधुजीवन के मूलभूत आचार एवं सिद्धान्त का सरल ढंग से स्पष्ट ज्ञान कराएं। यहाँ पर यह ध्यान रखना जरूरी है कि यह 'मूलसूत्र' का विचार अगबाह्य ग्रन्थों की अपेक्षा से है क्योकि अगप्रविष्ट सभी ग्रन्थ गणधर-प्रणीत होने से मूल-ग्रन्थ ही है। मूलरूपता एव प्राचीनता की दृष्टि से अगबाह्य ग्रंथों में तीन ही मूलसूत्र हैं। अन्य पिण्डनिर्युक्ति आदि रचनाएँ अपने महत्त्व के कारण मूलसूत्रों मे गिनी जाती है।

उत्तराध्ययन-सूत्र का परिचय :

उत्तराध्ययन मे ३६ अध्ययन (अध्याय) हैं जिनमे सामान्यरूप से साधु के आचार एव तत्त्वज्ञान का सरल एव सुबोध शैली में वर्णन किया गया है। समवायाग सूत्र के ३६वे समवाय में उत्तराध्ययन के जिन ३६ अध्ययनों के नाम मिलते हैं उनसे वर्तमान उत्तराध्ययन के अध्ययन कुछ भिन्न हैं।[2] नामों मे सामान्य अन्तर परिलक्षित होने पर भी विषय की दृष्टि से कोई अन्तर प्रतीत नहीं

१. आयारस्स उ उवरिं, उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्वं तु।
दसवेयालिय उवरिं, इयाणि किं ते न होति उ॥

—व्यवहारभाष्य, उद्देशक ३, गाथा १७६.

विशेषश्चायं यथा—शय्यम्भवं यावदेषक्रम, तदाऽऽरतस्तु दशवैकालिकोत्तरकाल पठ्यन्त इति।

—उ० बृहद्वृत्ति, पत्र ५.

२. उत्तराध्ययन-निर्युक्ति और समवायाग के अनुसार उत्तराध्ययन के नामादि विषयक साम्य-वैषम्य :

होता है क्योंकि दोनों प्रकार के नामों के साथ विषयगत संगति ठीक बैठ जाती है। इन ३६ अध्ययनों के नामादि इस प्रकार है :

	अध्ययन नाम (उ.नि. के अनुसार)	अध्ययन नाम समवायांग के अनुसार	सूत्र-संख्या (आत्माराम टीका के अनुसार) पद्य + गद्य		विषयवस्तु (उ.नि. के अनुसार)
१.	विणयसुयं	विणयसुयं	४८	—	विनय
२.	परीसह	परीसह	४६	+ ३	प्राप्त कष्ट-सहन का विधान
३.	चउरंगिज्जं	चाउरंगिज्जं	२०	—	चार दुर्लभ अंगों का प्रतिपादन
४	असंखय	असंखय	१३	—	प्रमाद और अप्रमाद का कथन
५.	अकाममरणं	अकाममरणिज्ज	३२	—	मरणविभक्ति (अकाम और सकाममरण)
६.	नियंठ (खुड्डागनियंठ)	पुरिमविज्जा	१७	+ १	विद्या और आचरण
७.	ओरब्भं	उरब्भिज्जं	३०	—	रसलोलुपता का त्याग
८.	काविलिज्जं	काविलिज्ज	२०	—	अलोभ
९.	णमिपव्वज्जा	नमिपव्वज्जा	६२	—	निष्प्रकम्प भाव
१०.	दुमपत्तयं	दुमपत्तय	३७	—	अनुशासन
११.	बहुसुयपुज्जं	बहुसुयपूजा	३२	—	बहुश्रुत की पूजा
१२.	हरिएस	हरिएसिज्जं	४७	—	तप का ऐश्वर्य
१३.	चित्तसंभूइ	चित्तसंभूयं	३५	--	निदान (भोगाभिलाषा)
१४.	उसुआरिज्जं	उसुकारिज्जं	५३	—	अनिदान
१५.	सभिक्खु	सभिक्खुगं	१६		भिक्षु के गुण
१६.	समाहिठाणं	समाहिठाणाइं	१७	+ १० (उ. सु. १२)	ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ

१. विनयश्रुत—इसमें ४८ गाथाएँ (पद्य) हैं, जिनमें विनय-धर्म का वर्णन किया गया है। प्रसंगवश विनीत एवं अविनीत शिष्यों के गुणदोषादि के वर्णन के साथ गुरु के कर्त्तव्यों का भी वर्णन किया गया है। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध जानने के लिए यह अध्ययन बहुत ही उपयोगी है। दशवैकालिक का नौवाँ अध्ययन भी विनयविषयक है।

१७.	पावसमणिज्जं	पावसमणिज्जं	२१	—	पापवर्जन
१८.	संजईज्जं	सजइज्जं	५४ (उ. तु. ५३)	—	भोग व ऋद्धि का परित्याग
१९.	मियचारिया	मियचारिता	९९ (उ.शा. ९८) (उ.तु. ९८)	—	अपरिकर्म (अपनी परि-चर्या न करना)
२०.	नियठिज्ज (महानियठ)	अणाहपव्वज्जा	६०	—	अनाथता
२१.	समुद्धपालिज्जं	समुद्दपालिज्जं	२४	—	विचित्र चर्या (आचरण)
२२.	रहनेमीयं	रहनेमिज्जं	५१ (उ.शा. ४९) (उ. तु. ४९)	—	आचरण का स्थिरीकरण
२३.	केसिगोयमिज्ज	गोयमकेसिज्ज	८९	—	धर्म (चतुर्याम-पचयामरूप) का स्थिरीकरण
२४	समिइओ (पवयणमाया)	समितीओ	२७	—	समितियाँ (गुप्तियों के साथ)
२५.	जन्नइज्जं	जन्नतिज्जं	४५ (उ. तु. ४३)	—	ब्राह्मण के गुण
२६.	सामायारी	समायारी	५३ (उ. तु. ५२)	—	सामाचारी
२७.	खलुंकिज्ज	खलुंकिज्जं	१७	—	अशठता
२८.	मुक्खगई	मोक्खमग्गगई	३६	—	मोक्षमार्ग
२९.	अप्पमाओ (सम्मत्तपरक्कमं)	अप्पमाओ	—	७४	अप्रमाद

२. **परीषह**—साधु के संयमी जीवन में आनेवाली प्रमुख २२ बाधाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रत्येक का दो-दो पद्यों में वर्णन किया गया है। प्रारम्भ में भूमिका-रूप कुछ गद्यखण्ड है और अन्त में उपसंहारात्मक पद्य।

३. **चतुरङ्गीय**—बीस गाथाओं में मोक्ष के साधनभूत चार दुर्लभ अंगों का प्रतिपादन किया गया है। प्रसंगवश कर्मों की विचित्रता तथा देवों के अमरत्व का खण्डन भी किया गया है।

४. **असंस्कृत**—तेरह गाथाओं में संसार की क्षणभङ्गुरता का प्रतिपादन करके भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त रहने का उपदेश दिया गया है। इसमें जीवन के असंस्कृतरूप (नश्वरता) का चित्रण होने से इसका नाम असस्कृत पड़ा है। यह सबसे छोटा अध्ययन है।

५. **अकाममरण**—इसमें बत्तीस गाथाएँ हैं जिनमें धार्मिक और अधार्मिक की मृत्यु का वर्णन किया गया है। धर्महीन सामान्य व्यक्तियो की मृत्यु को अकाममरण और धार्मिक व्यक्तियों की मृत्यु को सकाममरण, समाधिमरण, पण्डितमरण आदि नामों से कहा गया है। सामान्य व्यक्तियों के मरण के आधार पर इसका नाम अकाममरण रखा गया है।

६ **क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय**—इसमें १७ गाथाओं के साथ अन्त में थोड़ा-सा गद्य-खण्ड है। विद्वान् कौन है ? मूर्ख कौन है ? इसका

३०.	तव	तवोमग्गो	३७	तपस्या
३१.	चरण	चरणविही	२१	चारित्र
३२.	पमायठाणं	पमायठाणाइं	१११	प्रमादस्थान
३३.	कम्मप्पयडी	कम्मपयडी	२५	कर्म
३४.	लेसा	लेसज्झयणं	६१	लेश्या
३५.	अणगारमग्गे	अणगारमग्गे	२१	भिक्षु के गुण
३६.	जीवाजीवविभत्ती	जीवाजीववि-भत्ती	२६६ (उ.गा. २६७) (उ. तु. २६८)	जीव-अजीव का विवेचन

—देखिए-उ. नि., गाथा १३-२६, २३६, ४२५, ४५८, ५०३; समवा. ३६वाँ समवाय।

परिचय देकर जैन साधु के सामान्य आचार-विचार का वर्णन किया गया है। अतः इसका नाम क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय (जैनसाधु) रखा गया है। समवायांग में इसका नाम जो 'पुरुषविद्या' मिलता है उसका आधार इस अध्ययन की पहली गाथा (जावंतविज्जापुरिसा०) है।

७. **एलय** (उरभ्रीय) –एलय और उरभ्र का अर्थ है—बकरा। प्रारम्भ में अतिथि के भोज के लिए स्वामी के द्वारा पाले जानेवाले बकरे आदि के दृष्टान्त से संसारासक्त जीवों की दुर्दशा का चित्रण किया गया है। इसके बाद धर्माचरण से होने वाले शुभ फल का वर्णन किया गया है। बकरे के दृष्टान्त की प्रमुखता होने से इस अध्ययन का नाम एलय रखा गया है। इसमें ३० गाथाएँ हैं।

८. **काविलीय**—इसके प्ररूपक कपिलऋषि[1] हैं अतः इसका नाम काविलीय रखा गया है। इसमें बीस गाथाओं द्वारा दुर्गति से बचने के लिए लोभत्याग का उपदेश दिया गया है।

९. **नमिप्रव्रज्या**—इसमें ६२ गाथाएँ हैं। इसमें प्रव्रज्या के लिए अभिनिष्क्रमण करनेवाले राजर्षि नमि का ब्राह्मणवेशधारी इन्द्र के साथ आध्यात्मिक संवाद वर्णित है जिसमें प्रव्रज्या के समय उठने वाले सामान्य व्यक्ति के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सुन्दर चित्रण किया गया है। इस संवाद में ब्राह्मणवेषधारी इन्द्र मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का प्रतिनिधित्व करते हुए प्रश्न करते हैं और प्रव्रज्याभिलाषी राजर्षि नमि उत्तर देते हुए उन मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का समाधान करते हैं। इस प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व प्रायः सभी प्रव्रजितों के हृदय में उठना स्वाभाविक है। नमि की प्रव्रज्या का वर्णन होने से इसका नाम नमिप्रव्रज्या रखा गया है।

१०. **द्रुमपत्रक**—इसमें सैंतीस गाथाएँ हैं। प्रारम्भ में वृक्ष के पीले पत्ते के दृष्टान्त द्वारा जीवन की क्षणभङ्गुरता का प्रतिपादन है अतः इस अध्ययन का नाम द्रुमपत्रक रखा गया है। इसमें गौतम को लक्ष्य करके साधु को अप्रमत्त रहने का उपदेश दिया गया है।

---

१. इइ एस धम्मे अक्खाए कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं।

—उ० ८.२०.

प्रत्येक गाथा के अन्त में 'समयं गोयम मा पमायए' तथा अन्तिम गाथा में 'सिद्धि गइं गए गोयमे' पद आया है।

११. **बहुश्रुत-पूजा**—इसमें ३२ गाथाएँ हैं जिनमें शास्त्रज्ञ व्यक्ति (बहुश्रुत) की प्रशंसा की गई है। प्रारम्भ में विनय अध्ययन की तरह विनीत और अविनीत शिष्यों के गुण-दोषादि का वर्णन किया गया है। विनीत को बहुश्रुत और अविनीत को अबहुश्रुत कहा है।

१२. **हरिकेशीय**—इसमें ४७ गाथाएँ हैं जिनमें चाण्डाल जैसी नीच जाति में उत्पन्न हरिकेशिबल मुनि के उदात्त चरित्र का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त हरिकेशिबल और ब्राह्मणों के मध्य हुए संवाद में कर्मणा जातिवाद की स्थापना, तप का प्रकर्ष तथा अहिंसा-यज्ञ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।

१३. **चित्तसंभूतीय**—इसमें चित्त और संभूत नाम के दो भाइयों के छः जन्मों की पूर्व-कथा का संकेत है। पुण्य-कर्म के निदान-बन्ध के कारण भोगासक्त संभूत के जीव (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती) का पतन तथा संयमी चित्तमुनि का उत्थान बतलाकर जीवों को धर्माभिमुख होने तथा उसके फल की अभिलाषा (निदान) न करने का उपदेश दिया गया है। इसमें यह भी बतलाया गया है कि साधु-धर्म का पालन न कर सकने पर व्यक्ति को गृहस्थ-धर्म का पालन अवश्य करना चाहिए। इसमें ३५ गाथाएँ हैं।

१४. **इषुकारीय**—त्रिपन गाथाओं में इषुकार नगर के ६ जीवों के अभिनिष्क्रमण का वैराग्योत्पादक वर्णन होने से इसका नाम इषुकारीय रखा गया है। इसमें पति-पत्नी तथा पिता-पुत्र के बीच होनेवाले संवाद दार्शनिक विषयों से सम्बन्धित होकर भी प्रभावोत्पादक हैं।

१५. **सभिक्षु**—इसकी सोलह गाथाओं में साधुओं के सामान्य गुणों का वर्णन है। प्रत्येक गाथा के अन्त में 'स भिक्खू' पद आया है। अतः इस अध्ययन का नाम 'सभिक्षु' रखा गया है। दशवैकालिक के १०वें अध्ययन का भी नाम 'सभिक्षु' है।

१६. **ब्रह्मचर्य-समाधिस्थान**—इसकी सत्रह गाथाओं में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए १० बातों का त्याग आवश्यक बतलाया है। ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रकट करने वाले इस अध्ययन को गद्य तथा पद्य में पुनरावृत्त किया गया है।

१७. **पापश्रमणीय**—इसमें पथभ्रष्ट श्रमण (साधु) का वर्णन होने से इसका नाम पापश्रमणीय रखा गया है। इसकी २१ गाथाओं में से तीसरी गाथा से लेकर उन्नीसवी गाथा पर्यन्त प्रत्येक गाथा के अन्त में 'पावसमणि त्ति वुच्चई' पद आया है।

१८. **संजय**[१]—इसमें ५४ गाथाएँ हैं जिनमें राजर्षि संजय की दीक्षा लेने का वर्णन है। प्रसंगवश कई राजाओं आदि का उल्लेख है जिन्होने साधुधर्म में दीक्षित होकर मुक्ति प्राप्त की थी।

१९. **मृगापुत्रीय**—इसमें ९९ गाथाएँ हैं जिनमें मृगापुत्र की वैराग्यसम्बन्धी कथा के साथ मृगापुत्र और उसके माता-पिता के बीच होनेवाला संवाद बहुत ही सुन्दर है। इसमें साधु के आचार के प्रतिपादन के साथ प्रसंगवश नारकीय कष्टों का भी वर्णन है। मृगचर्या के दृष्टान्त द्वारा भिक्षाचर्या का वर्णन होने से सभवत: समवायांग में इसका नाम 'मृगचर्या' दिया गया हो जो बाद में मृगापुत्र की प्रधानता के कारण मृगापुत्रीय कर दिया गया हो।

२०. **महानिर्ग्रन्थीय**—इसमें ६० गाथाएँ हैं। इसमें अनाथी मुनि और राजा श्रेणिक के बीच सनाथ और अनाथविषयक संवाद बड़ा ही रोचक है। अनाथी मुनि की प्रव्रज्या की घटना का विशेष-रूप से वर्णन होने के कारण समवायांग मे सभवत: अनाथप्रव्रज्या नाम दिया गया हो। प्रकृत-ग्रन्थ में जो महानिर्ग्रन्थीय नाम मिलता

---

१. कुछ टीकाकारों ने इस अध्ययन का संस्कृत नाम 'संयतीय' लिखा है जबकि प्राकृत मे 'सजइज्जं' नाम है। संजय राजा का वर्णन होने से 'संजय' नाम ही ठीक प्रतीत होता है। याकोबी तथा निर्युक्तिकार की भी यही मान्यता है।

—देखिए—से० बु० ई०, भाग—४५, पृ० ८०; उ० नि०, गाथा ३९४.

है उसका संकेत इस अध्ययन की दो गाथाओं में मिलता है।[1] महानिर्ग्रन्थ का अर्थ है—सर्वविरत साधु। इस तरह क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय अध्ययन का ही विशेष रूप से वर्णन करने के कारण इसका नाम महानिर्ग्रन्थीय है।

२१. **समुद्रपालीय**—इसमें २४ गाथाएँ हैं जिनमें वणिक्-पुत्र समुद्रपाल की कथा के साथ प्रसंगानुकूल साधु के आचार का वर्णन है।

२२. **रथनेमीय**—इसकी ५१ गाथाओं में यदुवंशी अरिष्टनेमी, कृष्ण, राजीमती, रथनेमी आदि का चरित्र-चित्रण है। यह अध्ययन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। रथनेमी के सयमच्युत होने पर राजीमती के उपदेश से सयम में दृढ़ होने की घटना को प्रधानता देने के कारण इसका नाम रथनेमीय रखा गया है। अन्यथा राजीमती और अरिष्टनेमी की भी प्रभावोत्पादक घटना के आधार पर इस अध्ययन का नाम रखा जा सकता था। दशवैकालिक का द्रुमपुष्पित अध्ययन इससे साम्य रखता है।

२३. **केशिगौतमीय**—इसमें भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य केशी और भगवान् महावीर के शिष्य गौतम के बीच एक ही धर्म में सचेल-अचेल, चार महाव्रत और पाँच महाव्रत रूप परस्पर विपरीत द्विविध धर्म के विषय-भेद को लेकर एक संवाद होता है जिसमें समयानुकूल धर्म में परिवर्तन आवश्यक समझकर समन्वय किया गया है। यह अध्ययन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इससे वर्तमान में प्रचलित धर्मविषयक मतभेदों के समन्वय की प्रेरणा मिलती है। इसमें जैनधर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो सम्प्रदायों के भेद का स्रोत भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। गाथाएँ ८९ हैं।

२४. **समितीय**—नेमिचन्द्र की वृत्ति में इसका नाम 'प्रवचन-माता' मिलता है क्योंकि इसमें प्रवचनमाताओं (गुप्ति और समिति)

---

१. मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं महानियंठाण वए पहेणं।

—उ० २०.५१.

महानियण्ठिज्जमिणं महासुयं से काहए महया वित्थरेणं।

—उ० २०.५३.

का वर्णन है। प्रवचनमाता के अर्थ में समिति शब्द का भी प्रयोग होने से समितीय नाम भी उपयुक्त है।[1] इसकी गाथा-संख्या २७ है।

२५. **यज्ञीय**—इसमें ४५ गाथाएँ हैं। जयघोष मुनि यज्ञ-मण्डप मे ब्राह्मणों के साथ होनेवाले संवाद में सच्चे ब्राह्मण का स्वरूप, यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या और कर्म से जातिवाद की स्थापना करते हुए साधु के आचार का वर्णन करते हैं। इसकी १९ से २९ गाथाओं के अन्त में 'त वयं बूम माहण' पद पुनरावृत्त है। 'सभिक्षु' और 'पाप-श्रमणीय' अध्ययन की तरह इसका नाम 'सब्राह्मण' रखा जा सकता था परन्तु ब्राह्मणों के मुख्य कर्म यज्ञ को दृष्टि में रखकर तथा यज्ञविषयक आध्यात्मिक व्याख्या होने से इसका नाम 'यज्ञीय' रखा गया है। यद्यपि हरिकेशीय-अध्ययन में भी यज्ञ-विषयक घटना वर्णित है परन्तु वहाँ पर हरिकेशी को ही प्रधानता देने के कारण 'हरिकेशीय' नाम रखा गया है।

२६. **सामाचारी**—इसमें ५३ गाथाएँ हैं। साधु की सामान्य सम्यक् दिन और रात्रिचर्या का वर्णन होने से इसका नाम सामाचारी रखा गया है।

२७. **खलुङ्कीय**—खलुङ्कीय का अर्थ है—दुष्ट बैल। इसमें दुष्ट बैल के दृष्टान्त द्वारा अविनीत शिष्यो की क्रियाओं का वर्णन है अतः इसका नाम खलुङ्कीय रखा गया है। अविनीत शिष्यों का सपर्क होने पर साधु के कर्त्तव्यों को भी बतलाया गया है। गाथा-संख्या १७ है।

२८. **मोक्षमार्गगति**—इसमें ३६ गाथाएँ हैं। मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) का वर्णन होने से इसका नाम मोक्षमार्गगति है।

२९. **सम्यक्त्व-पराक्रम**—इसमें ज्ञान, श्रद्धा (दर्शन) और सदाचार के विभिन्न अंशों को लेकर ७३ प्रश्नोत्तरों में आध्यात्मिक

---

१. अट्ठपवयणमायाओ समिई गुत्ती तहेव य।
—उ० २४.१.

एयाओ अट्ठ समिईओ समासेण वियाहिया।
—उ० २४.३.

विकास का वर्णन किया गया है। यह पूरा अध्ययन गद्य में है। दूसरे और सोलहवें अध्ययन की तरह 'सुयं मे आउसं तेण भगवया' आदि गद्यांश अध्ययन के प्रारम्भ में पुनरावृत्त है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सम्यक्त्व-रूप होने से इसका नाम 'सम्यक्त्व-पराक्रम' रखा गया है। समवायांग में इसका नाम 'अप्रमाद' है। परन्तु प्रकृत-ग्रन्थ में इस अध्ययन का नाम स्पष्टरूप से सम्यक्त्व-पराक्रम ही मिलता है।[1] इससे प्रतीत होता है कि सभवतः यह अध्ययन लुप्त हो गया हो जो बाद में गद्य-खण्ड में लिखा गया हो। इसमें वर्णित ७३ प्रश्नोत्तरों का वर्णन न्यूनाधिकरूप से भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) में भी मिलता है।[2]

३०. **तपोमार्ग**—इसमें तपश्चर्या का वर्णन होने से इसका नाम तपोमार्ग है। इसमें ३७ गाथाएँ हैं।

३१ **चरणविधि**—इसमें १-३३ की सख्या को माध्यम बनाकर क्रमशः साधु के चारित्र और ज्ञान से सम्बन्धित कुछ सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। प्रथम गाथा में चारित्र की विधि के वर्णन की प्रतिज्ञा होने से इसका नाम 'चरणविधि' रखा गया है। समवायाग और स्थानांगसूत्र मे भी इसी प्रकार संख्या-गणना द्वारा जैन-सिद्धान्तो का वर्णन मिलता है। उत्तराध्ययन में मात्र सिद्धान्तों का सकेत है जबकि समवायांग आदि में विस्तृत वर्णन। इसकी २१ गाथाओ में से ७-२० के अन्तिम दो चरण ज्यो के त्यो पुनरावृत्त हैं। तीसरे से छठे पद्य में तीसरे चरण की मात्र क्रिया में परिवर्तन है, शेष अन्तिम दो चरण पूर्ववत् पुनरावृत्त हैं।

३२. **प्रमादस्थानीय**—इन्द्रियों की राग-द्वेषमयी प्रवृत्ति को प्रमादस्थानीय मानकर इस अध्ययन का नाम प्रमादस्थानीय रखा गया है। इसमें १११ गाथाएँ हैं। इसकी २१वीं गाथा में वर्णित

---

१. इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नाम अज्झयणे समणेण भगवया महावीरेण कासवेणं पवेइए जं सम्मं·····।

—उ० २९ का प्रारम्भिक तथा ७४ वां गद्यांश।

२. से० बु० इ०, भाग-४५, पृ० ८०.

विषय[1] का ही आगे की गाथाओं में विस्तार हुआ है। इसमें मनोज्ञामनोज्ञ विषयों की ओर प्रवृत्त इन्द्रियों की वृत्ति को हटाने का मुख्यरूप से उपदेश दिया गया है।

३३. **कर्मप्रकृति**—इसमें २५ गाथाएँ हैं। कर्मों की विभिन्न अवस्थाओ (प्रकृतियों) का वर्णन होने से इसका नाम कर्मप्रकृति रखा गया है।

३४. **लेश्या**—इसमें ६१ गाथाएँ हैं। कर्मों की स्थिति में विशेषरूप से सहायक लेश्याओं का वर्णन होने से इसका नाम लेश्या-अध्ययन है।

३५ **अनगार**—अनगार का अर्थ है—गृहत्यागी साधु। इसकी २१ गाथाओ मे साधु के गुणो का वर्णन है अतः इसका नाम 'अनागार' रखा गया है।

३६. **जीवाजीवविभक्ति**—इसमे चेतन (जीव) और अचेतन (अजीव) का सविस्तार वर्णन होने से इसका नाम जीवाजीवविभक्ति रखा गया है। इसमें २६६ गाथाएँ हैं और यह सबसे बड़ा अध्यय। है। अध्ययन के अन्त में समाधिमरण (सल्लेखना) का भी वर्णन है। इसकी अन्तिम गाथा मे उत्तराध्ययन को भगवान् महावीर का अन्तिम उपदेश कहा है और ग्रन्थ के अध्ययनों की ३६ संख्या का संकेत किया है।

इस तरह इन अध्ययनो मे मुख्यरूप से ससार की असारता तथा साधु के आचार का वर्णन किया गया है। यद्यपि उत्तराध्ययन का धर्मकथानुयोग मे परिगणन किया गया है[2] परन्तु इस में आचार का प्रतिपादन होने से चरणानुयोग का और दार्शनिक सिद्धान्तो का वर्णन होने से द्रव्यानुयोग का भी मिश्रण

---

१. जे इन्दियाण विसया मणुन्ना न तेसु भावं निसिरे कयाई।
न यामणुन्नेसु मणं पि कुज्जा समाहिकामे समणे तवस्सी॥
—उ० ३२. २१.

२. अत्र धम्माणुयोगेनाधिकारः।
—उ० चूर्णि, पृ० १.

हो गया है। उत्तराध्ययन के इन ३६ अध्ययनों में से कुछ अध्ययन शुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों का, कुछ धम्मपद की तरह उपदेशात्मक साधु के आचार एवं नीति का और कुछ कथा एवं संवाद के द्वारा साधु के आचार का ही प्रतिपादन करते हैं। मोटेरूप से निम्न विभाजन संभव है :

(अ) शुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक अध्ययन—२४वाँ समितीय, २६वाँ सामाचारी, २८वाँ मोक्षमार्गगति, २९वाँ सम्यक्त्व-पराक्रम, ३०वाँ तपोमार्ग, ३१वाँ चरणविधि, ३३वाँ कर्म-प्रकृति, ३४वाँ लेश्या और ३६वाँ जीवाजीवविभक्ति। इनके अतिरिक्त दूसरे और सोलहवें अध्ययन का गद्य-भाग।

(ब) नीति एवं उपदेशप्रधान अध्ययन—१ला विनय, २रा परीषह, ३रा चतुरङ्गीय, ४था असंस्कृत, ५वाँ अकाममरण, ६ठा क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय, ७वाँ एलय, ८वाँ कापिलीय, १०वाँ द्रुम-पत्रक, ११वाँ बहुश्रुतपूजा, १५वाँ सभिक्षु, १६वाँ ब्रह्मचर्य-समाधिस्थान का पद्यभाग, १७वाँ पापश्रमणीय, २७वाँ खलुङ्कीय, ३२वाँ प्रमादस्थानीय और ३५वाँ अनगार।

(स) आख्यानात्मक अध्ययन – ९वाँ नमिप्रव्रज्या, १२वाँ हरिकेशीय, १३वाँ चित्तसंभूतीय, १४वाँ इषुकारीय, १८ वाँ सजय (संयतीय), १९वाँ मृगापुत्रीय, २०वाँ महानिर्ग्रन्थीय, २१वाँ समुद्रपालीय, २२वाँ रथनेमीय, २३वाँ केशिगौतमीय और २५ वाँ यज्ञीय।

इस तरह ऊपर जिन अध्ययनो का विभाजन किया गया है वह प्रधानता की दृष्टि से है।[1] अन्यथा इस प्रकार का विभाजन

१. डा० नेमिचन्द्र ने अपने प्राकृत भाषा और साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास (पृ० १९३) में यज्ञीय-अध्ययन को इस विभाग में नहीं गिनाया है और कापिलीय को इस विभाग मे गिनाया है। उत्तराध्ययन की टीकाओं में कपिल-ऋषि की कथा मिलती है जिसकी पुष्टि उत्तराध्ययन के कुछ पद्यों से होती है। इस अध्ययन में आख्यान की उतनी प्रधानता नहीं है जितनी उपदेश की प्रधानता है। क्योंकि इस अध्ययन के प्रथम पद्य

संभव नहीं है क्योंकि प्रायः सभी अध्ययनों में सैद्धान्तिक चर्चा आदि का सम्मिश्रण है। उपर्युक्त जिन अध्ययनों की गाथा-संख्याएँ दी गई हैं वे आत्मारामजी के संस्करण के आधार पर दी गई हैं। वहअन्यत्रकहीं-कही २-३ संख्याओं का अन्तर पाया जाता है। परन्तु कोई खास महत्त्वपूर्ण नही है। इन अध्ययनों में आपस में यद्यपि कोई सम्बन्ध प्रतीत नही होता है परन्तु कुछ टीकाकारों ने उनमें सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की है।

रचयिता एवं रचनाकाल :

उत्तराध्ययन-सूत्र किसी एक व्यक्ति के द्वारा किसी एक काल में लिखी गई रचना नही है अपितु यह एक संकलन-ग्रन्थ है। शुद्ध

में दुर्गति मे न ले जानेवाले कर्म के विषय मे कोई प्रश्न पूछता है तो कपिल-ऋषि उसका उत्तर देते है, ऐसा अंतिम गाथा से सूचित होता है। यह सभव है कि उन्होने जो उपदेश दिया है वह उनके जीवन से सम्बन्धित हो और टीकाकारो ने उसे अपना लिया हो। अथवा इसका पूर्वरूप अन्य रहा हो। शार्पेन्टियर ने भी अपनी उत्तराध्ययन की भूमिका, पृ० ४४ में उपर्युक्त तथ्य को ही स्वीकार किया है।

सम्यक्त्व-पराक्रम में यद्यपि प्रश्नोत्तर-शैली है परन्तु वह शुद्ध सैद्धान्तिक व वर्णनात्मक ही है। एलक-अध्ययन में बकरे के दृष्टान्त की प्रमुखता होने से उसे आख्यानात्मक कहा जा सकता है। परन्तु वास्तव मे वहाँ प्रधानतः नीति तत्त्व उपदेश की ही है। जहाँ तक यज्ञीय-अध्ययन का प्रश्न है, उसमे स्पष्टरूप से दो ब्राह्मणो का संवाद है। अतः उसे आख्यानात्मक विभाग मे रखना ही उचित है। आचार्य तुलसी (उत्तरज्झयणाणि, भाग—१, भूमिका, पृ०१) ने उत्तराध्ययन के अध्ययनो का विभाजन इस प्रकार किया है :

१. धर्मकथात्मक १४ अध्ययन हैं—७ से ९, १२ से १४, १८ से २३, २५, २७.
२. उपदेशात्मक ६ अध्ययन हैं—१, ३ से ६, १०.
३. आचारात्मक ९ अध्ययन हैं—२, ११, १५ से १७, २४, २६, ३२, ३५.
४. सैद्धान्तिक ७ अध्ययन हैं—२८ से ३१, ३३-३४, ३६.

सैद्धान्तिक विषयों का प्रतिपादन करनेवाले अध्ययन तथा गद्यभाग कुछ बाद के प्रतीत होते हैं। शेष भाग अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है। इनमें भी समय-समय पर संशोधन एवं परिवर्तन होते रहे हैं। आगमों के संकलन के लिए श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार होनेवाली तीन वाचनाओं (सम्मेलनों)[1] से इस बात की पुष्टि हो जाती है।

भगवान् महावीर के निर्वाण (ई० पू० ५२७) के लगभग १६० वर्ष बाद चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में मगध में भयंकर अकाल (दुर्भिक्ष) पड़ा जिससे बहुत से साधु भद्रबाहु के नेतृत्व में समुद्रतट की ओर चले गये। जो बाकी बचे वे स्थूलभद्र (स्वर्गगमन वी० नि० सं० २१६) के साथ वहीं रहे। अकाल के दूर होने पर स्थूलभद्र के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में जैन-साधुओं का एक सम्मेलन हुआ और मौखिक चले आ रहे अंग-ग्रन्थों का संकलन किया गया। बारहवां अंग दृष्टिवाद भद्रबाहु को छोड़कर किसी को याद नहीं था। अतः उसका बाद में संकलन नहीं हो सका और शनैः-शनैः वह लुप्त हो गया। इसके बाद (महावीर-निर्वाण के ८२७ या ८४० वर्ष बाद, ई० सन् ३००-३१३) आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में दूसरा सम्मेलन मथुरा में बुलाया गया। इस सम्मेलन मे जिसे जो याद था उसे संकलित कर लिया गया। करीब इसी समय नागार्जुनसूरि के नेतृत्व मे वलभी (सौराष्ट्र) मे एक दूसरा सम्मेलन हुआ। इसके बाद दोनों नेता आपस में मिल नहीं सके जिससे पाठभेद बना रह गया। महावीर-निर्वाण के लगभग ९८०-९९३ वर्ष पश्चात् वलभी में ही देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे एक तीसरा सम्मेलन हुआ।

---

१. प्रा० सा० इ०, पृ० ३६-३९.

बौद्ध साहित्य मे भी इसी प्रकार की तीन संगीतियों का उल्लेख मिलता है जिनमे ग्रन्थों को सुदृढ किया गया था। अन्तिम बौद्ध-संगीति बुद्ध-परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद अशोक के राज्यकाल में हुई थी। जैनों की अंतिम वाचना बहुत बाद (वी० नि० ९८०-९९३) में हुई। जैनों के सम्मेलन की तरह बौद्ध-संगीतियों का कारण दुर्भिक्ष नहीं था।

—देखिए—बुद्धचर्या, पृ० ५४८-५८०.

इसे चौथा सम्मेलन भी कह सकते हैं। इस सम्मेलन में आगमों को संकलित करके लिपिबद्ध कर दिया गया। वर्तमान में उपलब्ध सभी आगम-ग्रन्थ इसी वाचना में लिपिबद्ध किए गए थे।[1]

इससे स्पष्ट है कि अकाल आदि के पड़ने से तथा मौखिक-परम्परा से चले आने के कारण स्वाभाविक है कि आगमों में समय-समय पर (विस्मृति के कारण) परिवर्तन और संशोधन किए गए हों तथा सम्मेलन बुलाकर उन्हे सुदृढ करने का प्रयत्न किया गया हो। इस तरह ई० पू० ५ वी शताब्दी से लेकर ई० ५ वी शताब्दी तक (१००० वर्ष के मध्य) उनमें अनेक सशोधन एवं परिवर्तन होते रहे जिससे जैन आगम-ग्रन्थ अपने पूर्ण मूलरूप में सुरक्षित न रह सके। फिर उत्तराध्ययन में ऐसा न हुआ हो, यह सम्भव नही है। देवर्धिगणि की अध्यक्षता में लिपिबद्ध समवायाग मे उत्तराध्ययन के अध्ययनो के नाम भिन्न प्रकार से आने के कारण यह स्पष्ट है कि वर्तमान उत्तराध्ययन मे देवर्धिगणि की वाचना के बाद भी कुछ संशोधन अवश्य हुए है। पाठभेद, विषय की पुनरावृत्ति आदि कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व है जिनसे इसके सशोधन एव परिवर्तन की पुष्टि होती है। इन परिवर्तनो के होने पर भी उत्तराध्ययन की मूलरूपता अधिक नष्ट नही हुई है। अब यहाँ कुछ तथ्यों को लेकर इसके प्राचीन-रूप और अर्वाचीन-रूप का विचार किया जाएगा :

उत्तराध्ययन पर मिलनेवाले टीका-साहित्य मे सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्ति मिलती है। इनका समय वि० स० ५००-६०० के बीच सिद्ध होता है।[2] इससे इतना तो स्पष्ट है कि इस समय से पूर्व उत्तराध्ययन अपनी

---

१. दिगम्बर-परम्परा इस प्रकार की वाचनाओं को प्रामाणिक नहीं मानती है। उसके अनुसार महावीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद तक अंगज्ञान की परम्परा रही है। किन्तु उसे संकलित करने या लिपिबद्ध करने का कोई सामूहिक प्रयत्न नही किया गया।

—देखिए—जै० सा० इ० पू०, पृ० ५२८.

२. श्रमण, सितम्बर-१९५४, पृ० १५.

पूर्ण-स्थिति में आ चुका था। दिगम्बर-परम्परा में भी इसका सादर उल्लेख मिलने से स्पष्ट है कि संघभेद होने के पूर्व यह मान्यता प्राप्त कर चुका था। अन्यथा इसका वहाँ उल्लेख न मिलता। किंच, दशवैकालिक की रचना में उत्तराध्ययन के अंशों का आधार होने से तथा दशवैकालिक की रचना हो जाने पर उत्तराध्ययन का दशवैकालिक के बाद पढ़े जाने का उल्लेख होने से[1] दशवैकालिक की रचना के पूर्व इसकी रचना होनी चाहिए। दशवैकालिक के कर्त्ता शय्यंभवसूरि का काल महावीर-निर्वाण के ७५ वर्ष बाद माना जाता है। उत्तराध्ययन की अन्तिम गाथा[2] तथा अन्यत्र[3] भी उल्लिखित इसी प्रकार के प्रमाणों से प्रतीत होता है कि इसके उपदेष्टा साक्षात् महावीर है जिन्होंने अपने निर्वाण-प्राप्ति के अन्तिम समय में बिना पूछे प्रश्नों के उत्तर के रूप मे उपदेश दिया था और इसके बाद परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये थे। सभवतः इसीलिए शार्पेन्टियर उत्तराध्ययन की भूमिका में इसे महावीर के वचन स्वीकार करते हैं।

इस तरह उत्तराध्ययन की प्राचीनता महावीर के निर्वाण-काल तक पहुँच जाती है। परन्तु इसके विपरीत भी उल्लेख मिलते हैं। जैसे—समवायाग-सूत्र के ५५वे समवाय में ५५ पुण्यफलविपाक और ५५ पापफलविपाक के अध्ययनों का कथन करने के उपरान्त

१. देखिए—पृ० १४, पा० टि० १.
२. देखिए—पृ०१२, पा० टि० १.
३. षट्त्रिंशत्तमाप्रश्नव्याकरणान्यभिधाय च।
प्रधानं नामाध्ययन जगद्गुरुरभावयत्॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १०. १३. २२४.
तेणं कालेणं....पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं पणपन्नं अज्झयणाइं पावफलविवागाइं छत्तीसं अपुट्ठवागरणाइं वागरित्ता पहाणं नाम अज्झयण . परिनिव्वुडे सव्वदुक्खपहीणे
—कल्पसूत्र, ११ वीं वाचना।
उत्तराध्ययनं वीरनिर्वाणगमनं तथा
—हरिवंशपुराण, १०. १३४.

महावीर का परिनिर्वाण बतलाया गया है।[1] परन्तु ३६वें समवाय में, जहाँ पर उत्तराध्ययन के अध्ययनों के नाम गिनाये हैं, ऐसा कोई उल्लेख नहीं है।[2] इसके अतिरिक्त कल्पसूत्र में उल्लिखित पाठ से प्रतीत होता है कि भगवान् ने अपने परिनिर्वाण के समय ५५ पुण्यफलविपाक का और ५५ पापफलविपाक का कथन करने के उपरान्त बिना पूछे हुए ३६ अध्ययनों का भी कथन किया था।[3] कल्पसूत्र के इस उल्लेख से ग्रन्थ में उल्लिखित कारिका (३६ २६९) और समवायांग से समन्वय हो जाता है। ग्रन्थ में एक स्थान पर और इसी प्रकार की गाथा है जहाँ पर क्षत्रिय-ऋषि संजय मुनि से कहते हैं कि विद्या और चारित्र से युक्त सत्यवादी-सत्यपराक्रमी ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर इस तत्त्व को प्रकट करके परिनिर्वाण को प्राप्त हो गए।[4] इन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन में महावीर का अन्तिम उपदेश है।

अब यहाँ एक शंका उपस्थित होती है कि ऐसा स्वीकार करने पर निर्युक्ति और उसके आधार पर लिखी गई जिनदासगणि महत्तर की चूर्णि और वादिवेताल शान्तिसूरि की टीका का यह कथन कि उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययन अगग्रन्थों से (जैसे—दृष्टि-वाद से परीषह) लिए गए है, कुछ जिन-भाषित (जैसे—द्रुमपत्रक) हैं, कुछ प्रत्येक-बुद्धों (जैसे—कापिलीय) द्वारा प्ररूपित हैं और कुछ

---

१. समणे भगवं महावीरे अन्तिमराइयंसि पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफल-विवागाइं पणपन्नं अज्झयणाइं पावफलविवागाइं वागरित्ता सिद्धे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे।

२. छत्तीसं उत्तरज्झयणा पण्णत्ता तं जहा......।

—समवा० ३६ वां समवाय।

३. देखिए—पृ० २९, पा० टि० १.

४. इइ पाउकरे बुद्धे नायए परिणिव्वुए।
विज्जाचरणसंपन्ने सच्चे सच्चपरक्कमे।

—उ० १८. २४.

संवादरूप में (जैसे—केशिगौतमीय) कहे गये हैं,[1] कैसे संगत होगा ? संभवतः निर्युक्तिकार का उपर्युक्त कथन 'उत्तराध्ययन एककर्तृक नहीं हैं', की अपेक्षा से ही है। अतः निर्युक्तिकार ३६वें अध्ययन की अन्तिम गाथा की निर्युक्ति में उत्तराध्ययन का महत्त्व बतलाते हुए स्पष्टरूप से इसे जिन-प्रणीत लिखते हैं। इस तरह उत्तराध्ययन के रचनाकाल की अवधि महावीर-निर्वाण के काल तक पहुँच जाती है।

उत्तरकाल की ओर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि इसमें कुछ अंश बाद में जोड़े गये हैं जो लगभग तृतीय—वलभी-वाचना तक के अवश्य हैं। दिगम्बर ग्रन्थों में उत्तराध्ययन का जो विषय बतलाया गया है[2] उससे दूसरे परीषह अध्ययन को छोड़कर शेष अधिकांश भाग संघभेद के बाद का प्रतीत होता है। इससे कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि उत्तराध्ययन अपने अपरिवर्तित रूप में नहीं

---

१. अंगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया।
बंधे मुक्खे य कया छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥
—उ० नि०, गाथा ४; इसी निर्युक्ति पर शान्तिसूरि की टीका, पृ० ५ ; उ० चूर्णि, पृ० ७.

२. चउव्विहोवसग्गाण बावीसपरिस्सहाणं च सहणविहाणं। सहणफल-मेदम्हादो एदमुत्तरमिदि च उत्तरज्झेणं वण्णेदि।
—कसायपाहुड-जयधवलाटीका, भाग–१, पृ० १२०.

उत्तरज्झयणं उग्गमुप्पायणेसणदोसगयपायच्छित्तविहाणं कालादिविसेसिदं परूवेदि।
—षट्खण्डागम, पुस्तक ९, पृ० १९०.

उत्तराणि अहिज्जंति उत्तरज्झयणं पदं जिणिदेहिं। बावीसपरीसहाणं उवसग्गाण च सहणविहिं। वण्णेदि तप्फलमवि एवं पण्हे च उत्तरं एवं। कहदि गुरुसीसयाण पइण्णिय अट्ठमं तं खु।
—अंगपण्णत्ति-चूलिका गाथा, २५-२६,

उत्तरज्झयणं उत्तरपदाणि वण्णेइ।
—धवला (षट्खण्डागम-टीका), पृ० ९७ (सहारनपुर-प्रति, लिखित).

रहा। भगवती-आराधना पर लिखी गई अपराजितसूरि की संस्कृत-टीका से उत्तराध्ययन के दो पद्य उद्‌धृत करते हुए पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने अपने जैन साहित्य के इतिहास में लिखा है कि वर्तमान उत्तराध्ययन में ये पद्य[1] नहीं मिलते हैं। अतः उत्तराध्ययन में वलभी-वाचना के बाद भी परिवर्तन हुआ है। इतना होने पर भी मूलरूपता का अधिक अभाव नहीं हुआ है क्योंकि वर्तमान उत्तराध्ययन में वे दोनों पद्य सामान्य परिवर्तन के साथ अब भी मौजूद हैं।[2]

जब हम उत्तराध्ययन के अन्त भाग का अवलोकन करते हैं तो देखते हैं कि इसमें कुछ ऐसे भी तथ्य हैं जिनके आधार पर कुछ अंशों को महावीर-निर्वाण के बहुत बाद की रचना कहा जा सकता है। जैसे :

१. अंग-ग्रन्थों मे ग्यारह अगों से पृथक् दृष्टिवाद का उल्लेख[3] यह सिद्ध करता है कि उस समय तक दृष्टिवाद का लोप हो चुका था। दृष्टिवाद के महत्त्व को प्रकट करने के लिए ऐसा कथन किया गया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि आचाराङ्ग का महत्त्व सर्वाधिक माना गया है। इसके अतिरिक्त ३१वें अध्ययन मे जहाँ पर कि साधु को कुछ ग्रन्थो के अध्ययन मे यत्नवान होने को कहा गया है उनमे दृष्टिवाद का समावेश क्यों नही किया गया है ?

---

१ परिचित्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए।
अचेलपवरे भिक्खू जिणरूपधरे सदा॥
सचेलगो सुखी भवदि असुखी वावि अचेलगो।
अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खु न चिंतए।
(उद्‌धृत—भगवती आराधना—जै० सा० इ० पू०, पृ० ५२५-५२७.)

२. तुलना कीजिए—
परजुण्णेहिं वत्थेहिं होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेले होक्खामि इइ भिक्खू न चिंतए॥
एगयाऽचेलए होइ सचेले आवि एगया।
एयं धम्मं हियं नच्चा नाणी नो परिदेवए॥
—उ० २. १२-१३.

३. देखिए—पृ० ३, पा० टि० २.

२. सूत्ररुचि-सम्यग्दर्शन के लक्षण में अंग और अंगबाह्य ग्रन्थों का तथा अभिगम-रुचि सम्यग्दर्शन के लक्षण में 'प्रकीर्णक' ग्रन्थों का उल्लेख आया है।[१] इससे स्पष्ट है कि उस समय तक अंग, अंगबाह्य और प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना अवश्य हो चुकी होगी।

३. चरणविधि नामक ३१वें अध्ययन में साधु को सूत्रकृताङ्ग, ज्ञाता-सूत्र और प्रकल्प (आचाराङ्ग–निशीथसहित) इन अंग-ग्रन्थों तथा दशादि (दशाश्रुत, कल्प और व्यवहार) अंगबाह्य ग्रन्थों के अध्ययन में यत्नवान् होने का विधान किया गया है।[२] इससे स्पष्ट है कि तब तक ये ग्रन्थ अपने महत्त्व के कारण प्रसिद्ध हो चुके थे। अन्यथा इनके विषय में साधु को यत्नवान् होने का उल्लेख न किया जाता।

४ ग्रन्थ में बहुत्र 'ऐसा भगवान् ने कहा है', 'कपिल ऋषि ने ऐसा कहा है' आदिरूप[३] से ग्रन्थोक्त वचनों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करने से यह तो स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ साक्षात् महावीर-प्रणीत नहीं है अपितु अर्थतः महावीर-प्रणीत है और शब्द किसी अन्य व्यक्ति के है। इसका और अधिक स्पष्ट उल्लेख १०वे अध्ययन की अन्तिम गाथा (बुद्धस्स निसम्म भासियं, सुकहियमट्ठपओवसोहिय) में मिलता है। इसके अतिरिक्त अंगग्रन्थों का महावीर के प्रधान शिष्यों द्वारा और अगबाह्य का तदुत्तरवर्ती शिष्यों द्वारा प्रणयन माना जाने से भी सिद्ध है कि उत्तराध्ययन शब्दतः महावीर-प्रणीत न होकर उनके शिष्यों द्वारा रचित रचना है।

५. केशिगौतम-संवाद के सचेलकत्व (सान्तरोत्तर) और अचेलकत्वविषयक सवाद से सघभेद का स्पष्ट सकेत मिलता है।

---

१. वही।

२. उ० ३१.१३-१४, १६-१८.
विशेष के लिए देखिए—परिशिष्ट ३.

३. देखिए—पृ० १८, पा० टि० १; पृ० २३, पा० टि० १; उ० दूसरे एवं १६वें अध्ययन का प्रारम्भिक गद्य।

६. द्रव्य, गुण, पर्याय आदि सैद्धान्तिक विषयों की इतनी संक्षिप्त एवं परिमार्जित परिभाषाएँ[1] यह सिद्ध करती हैं कि इनका प्रणयन दार्शनिक क्रान्ति के काल मे हुआ है क्योकि आगमों मे इस प्रकार की संक्षिप्त परिभाषाएँ उपलब्ध न होकर प्रायः विवरणात्मक अर्थ ही मिलते हैं।

७. उत्तराध्ययन का प्रायः बहुवचनात्मक प्रयोग मिलने से ज्ञात होता है कि यह एककर्तृक न होकर अनेक अध्ययनो का संकलन है।[2]

इन सभी तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि वर्तमान उत्तराध्ययन किसी एक काल की एवं किसी एक व्यक्ति की रचना नही है अपितु एक सकलन-ग्रन्थ है जिसका प्रणयन किसी निश्चितकाल में न होकर विभिन्न समयों में हुआ है। इसमें पाए जानेवाले परिवर्तन एवं सशोधन आदि महावीर-निर्वाण के काल से लेकर तृतीय—वलभी-वाचना के समय (महावीर-निर्वाण से लेकर करीब १००० वर्ष—ई० पू० ५ वी शताब्दी से ई० सन् ५ वी शताब्दी) तक के अथवा इसके भी कुछ समय बाद तक के प्रतीत होते है। क्योंकि तृतीय-वाचना के समय लिपिबद्ध किए गए समवायाग-सूत्र मे उत्तराध्ययन के जिन ३६

---

१. गुणाणमासवो दव्व एग दव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे ।।
—उ० २८. ६.
तथा देखिए—प्रकरण १, धर्मादि द्रव्यों की परिभाषा ।

२. ऐतेसिं चेव छत्तीसाए उत्तरज्झयणाणं समुदयसमितिसमागमेणं उत्तरज्झयणभावसुतक्खंधेति लब्भइ, ताणि पुण छत्तीसं उत्तरज्झयणाणि इमेहिं नामेहिं अणुगंतव्वाणि ।
—उ० चूर्णि, पृ० ८.
तथा देखिए—पृ० १२, पा० टि० १; पृ० ३१, पा० टि० १; पृ० ३६, पा० टि० १; नंदी, सूत्र ४३; उ० बृहद्वृत्ति, पत्र ५; समवा०, समवाय ३६.

अध्ययनों के नामों का उल्लेख मिलता है उनसे वर्तमान में उपलब्ध उत्तराध्ययन के नामों में कुछ वैषम्य है। यह वैषम्य यद्यपि नगण्य है फिर भी इससे उसके परिवर्तन व संशोधन की स्पष्ट प्रतीति होती है।

निर्युक्तिकार (६ ठी शताब्दी) प्रकृत ग्रन्थ को एककर्तृक स्वीकार न करते हुए भी उत्तराध्ययन की अन्तिम गाथा के व्याख्यान में इसे भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के समय का उपदेश बतलाते हैं। वास्तव में निर्युक्तिकार का उपर्युक्त कथन प्रकृत पद्य का व्याख्यान मात्र है। संभव है, यह पद्य उत्तराध्ययन के महत्त्व को प्रकट करने के लिए बाद में जोड़ दिया गया हो और निर्युक्तिकार ने पूर्व-परम्परा का निर्वाह किया हो। छत्तीसवें अध्ययन की अन्त की कुछ गाथाओं को देखने से तथा अठारहवें अध्ययन की चौबीसवी गाथा के साथ छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम-गाथा की तुलना करने से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।[1] बृहद्वृत्तिकार शान्त्याचार्य भी उत्तराध्ययन को भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के समय का अन्तिम उपदेश मानने को पूर्णतः तैयार नहीं हैं। अतः उन्होंने 'परिनिव्वुए' शब्द का अर्थ स्वस्थीभूत' किया है।[2]

---

१. इइ पाउकरे बुद्धे नायए परिणिव्वुए।
विज्जाचरणसंपन्ने सच्चे सच्चपरक्कमे ॥
—उ० १८. २४.
इस उद्धरण का पृ० १२, पा० टि० १ से मिलान कीजिए।

२. अथवा पाउकरे, त्ति प्रादुरकार्षीत् प्रकाशितवान्, शेषं पूर्ववत् नवरं 'परिनिर्वृतः' क्रोधादिदहनोपशमतः समन्तात्स्वस्थीभूतः।
—उ० बृहद्वृत्ति, पत्र ७१२.

इत्येवं रूपं 'पाउकरे' त्ति प्रादुरकार्षीत्—प्रकटितवान्…… ……..
'परिनिर्वृतः' कषायानलविध्यापनात्समन्ताच्छीतीभूतः।
—उ० बृहद्वृत्ति, पत्र ४४४.

निर्युक्तिकार ने ग्रन्थ की प्रशंसा में उत्तराध्ययन को जो जिन-प्रणीत कहा है[1] उसका तात्पर्य शब्दतः जिन-प्रणीतता से नहीं है अपितु अर्थतः जिन-प्रणीतता से है। अर्थ की अपेक्षा से सभी मान्य ग्रन्थ जिन-प्रणीत ही है अन्यथा उनमें प्रामाण्य ही न रहेगा। उत्तराध्ययन के अंगबाह्य-ग्रन्थ होने से भी स्पष्ट है कि इसकी रचना न तो भगवान् महावीर ने की और न उनके प्रधान शिष्यों (गणधरों) ने; अपितु तदुत्तरवर्ती श्रुतज्ञों ने की है। इसीलिए बृहद्वृत्तिकार 'जिन' शब्द का अर्थ 'श्रुतजिन' या 'श्रुतकेवली' करते हैं।[2]

इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि उत्तराध्ययन शब्दतः भगवान् महावीर-प्रणीत नहीं है। इसके अतिरिक्त इसका प्रारम्भिक रूप दशवैकालिक की रचना (वी० नि० १ ली शताब्दी, ई० पू० ४५२-४२६) के पूर्व निर्धारित हो चुका था क्योंकि दशवैकालिक की रचना हो जाने के बाद उत्तराध्ययन की अध्ययन-परम्परा का क्रम दूसरे से तीसरा हो गया था।[3] चूर्णि के एक वैकल्पिक उद्धरण के आधार पर आचार्य तुलसी की यह सभावना कि उत्तराध्ययन का छठा अध्ययन भगवान् पार्श्व द्वारा कथित है,[4] उचित प्रतीत नहीं होती है।

---

१. जे किर भवसिद्धीया परित्तसंसारिया य जे भव्वा।
ते किर पढंति एए छत्तीसं उत्तरज्झाए॥
तम्हा जिणपण्णत्ते, अणंतगम-पज्जवेहिं संजुत्ते।
अज्झाए जहजोगं, गुरुप्पसाया अहिज्जिज्जा॥
—उ०, ने० वृ०, पृ० ३९१.

२ तस्माज्जिनैः श्रुतजिनादिभिः प्ररूपिताः।
—उ० बृहद्वृत्ति, पत्र ७१३.

३. देखिए—पृ० १४, पा० टि० १.

४. केचिदन्यथा पठन्ति—
एवं से उदाहु अरहा पासे पुरिसादाणीए।
भगवंते वेसालीए बुद्धे परिणुव्वुडे॥
—उ० चूर्णि, पृ० १५७.
तथा देखिए—द० उ०, भूमिका, पृ० २४, २६.

इस तरह उत्तराध्ययन की रचना का आदिकाल वी० नि० की १ ली शताब्दी का प्रारम्भिक काल निश्चित होता है। उत्तराध्ययन में देवर्धिगणि की वाचना के समय (वी० नि० ९८०-९९३) तक के तथा इससे भी कुछ समय बाद तक के परिवर्तन उपलब्ध होने से इसका अन्तिम रूप वी० नि० के १००० वर्ष बाद तक का है। इसके संवाद, कथा एवं उपदेश-प्रधान अध्ययनों का प्रणयन सैद्धान्तिक अध्ययनों की अपेक्षा प्राचीन प्रतीत होता है।[1]

इन सभी बातों पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपलब्ध उत्तराध्ययन में भगवान महावीर के निर्वाण से लेकर करीब १००० वर्ष तक की कुछ न कुछ विचार-धारा मौजूद है। अतः उत्तराध्ययन किसी एक व्यक्ति की किसी एक कालविशेष की रचना न होकर विभिन्न समयो मे सकलित किया गया एक सकलन-ग्रन्थ है। शार्पेन्टियर, विन्टरनित्स आदि सभी विद्वान् प्राय इसी मत से सहमत है।[2]

उत्तराध्ययन-सूत्र : यह नाम क्यों .

उत्तराध्ययन-सूत्र में तीन शब्द हे-उत्तर+अध्ययन+सूत्र। उत्तर शब्द के तीन अर्थ सभव है[3]—१. प्रधान, २ जवाब

---

१. तथा, ऋषिभाषितान्युत्तराध्ययनानि तेषु च नमि-कपिलादिमहर्षीणा सम्बन्धीनि प्रायो धर्माख्यानकान्येव कथ्यन्त इति धर्मकथानुयोग एव तत्र व्यवस्थापितः।

—विशेषावश्यकभाष्य (गाथा २२९४)—मलधारी-टीका, पृ० ९३१.

२. देखिए—पृ० ४४, पा० टि० १; पृ० ४५, पा० टि० १.

३ निर्युक्तिकार भी उत्तर शब्द के सभाव्य अर्थो को सूचित करते हुए लिखते है—

जहण्णं मुत्तरं खलु उक्कोमं वा अणुत्तरं होई।
सेसाइ उत्तराइं अणुत्तराइ च नेयाणि ॥

—उ० नि०, गाथा २.

और ३. पश्चाद्भावी। यद्यपि अध्ययन शब्द का अर्थ पढ़ना होता है परन्तु यहाँ पर अध्ययन शब्द परिच्छेद (प्रकरण या अध्याय) के अर्थ मे प्रयुक्त है। निर्युक्तिकार और चूर्णिकार ने इसका कुछ विशेष अर्थ भी किया है।[1] परन्तु तात्पर्य परिच्छेद से ही है क्योंकि ग्रन्थ में प्रत्येक परिच्छेद के लिए 'अध्ययन' शब्द का प्रयोग हुआ है। सूत्र शब्द का सामान्य अर्थ है—जिसमें शब्द तो कम हो और अर्थ विपुल हो। जैसे—तत्त्वार्थसूत्र, पातञ्जल-योगसूत्र, ब्रह्मसूत्र आदि। उत्तराध्ययन मे इस प्रकार की सूत्ररूपता नही है अपितु इसके विपरीत शब्दो का विस्तार ही अधिक हुआ है। यद्यपि चरणविधि आदि कुछ अध्ययनों के कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ पर शब्द कम और अर्थ अधिक है। प्राय: अन्यत्र विषय का विस्तार ही अधिक है। यद्यपि आत्मारामजी ने उत्तराध्ययन की भूमिका में कुछ निर्युक्ति की गाथाएँ उद्धृत की है तथा सूत्र शब्द की कई प्रकार से व्युत्पत्ति करके उत्तराध्ययन को 'सूत्र-ग्रन्थ' सिद्ध किया है।[2] परन्तु सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त सूत्र शब्द का लक्षण यहाँ घटित नही होता है। इसका प्राकृत रूप 'सुत्त' है और यह वैदिक सूक्तो (मन्त्रों) की ही तरह 'गाथा' के अर्थ का सूचक है। 'उत्तराध्ययन-सूत्र' शब्द का सामान्य अर्थ यही है। 'उत्तर' शब्द के अर्थ मे 'मूलसूत्र' की तरह विद्वानो में कुछ मतभेद है। इसका कारण है—उत्तराध्ययन की रचना के विषय में विभिन्न सकेत। अत: यहाँ 'उत्तर' शब्द का अर्थ विचारणीय है।

---

१. अज्झप्पस्साणयण कम्माणं अवचओ उवचियाणं।
अणुवचओ व णवाणं तम्हा अज्झयणमिच्छंति ॥
अहिगम्मंति व अत्था अणेण अहियं व णयणमिच्छति।
अहियं व साहु गच्छइ तम्हा अज्झणमिच्छति ॥
—उ० नि०, गाथा ६-७.
तथा देखिए—उ० बृहद्वृत्ति, पृ० ६-७, उ० चूर्णि, पृ० ७

२. उ० आ० टी०, भूमिका, पृ० १३-२१.

निर्युक्तिकार ने उत्तर शब्द का अर्थ किया है—जिसका आचाराङ्ग आदि के बाद अध्ययन किया जाय।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि आचाराङ्गादि के बाद पढ़े जाने के कारण इसकी 'उत्तर' संज्ञा हुई है। चूर्णिकार, बृहद्वृत्तिकार आदि इसी मत का समर्थन करते हैं।[2]

उत्तर शब्द के पूर्व-सापेक्ष होने से तथा उत्तरकाण्ड, उत्तररामचरित आदि में प्रयुक्त 'उत्तर' शब्द का अर्थ पश्चाद्भावी होने से उत्तराध्ययन में प्रयुक्त 'उत्तर' शब्द का अर्थ 'पश्चाद्भावी' समुचित प्रतीत होता है। इसके अध्ययन उत्तरोत्तर प्रधान (श्रेष्ठ) हैं इसलिए इसकी उत्तर संज्ञा हुई है यह उपलब्ध उत्तराध्ययन के आधार पर नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'जबाव' (बिना पूछे प्रश्नो का उत्तर) अर्थ भी उपलब्ध उत्तराध्ययन की अपेक्षा समुचित नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि धवला-टीका आदि दिगम्बर-ग्रन्थों तथा कल्प-सूत्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि श्वेताम्बर-ग्रन्थो मे उल्लिखित उत्तराध्ययन के विषय से यह अर्थ कथञ्चित् सगत हो सकता है।[3] परन्तु उपलब्ध उत्तराध्ययन के आधार पर ऐसा कहना सभव नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से 'उत्तर' शब्द का अर्थ पश्चाद्भावी ही सिद्ध होता है। यहाँ एक प्रश्न और है कि पश्चाद्भावी से क्या तात्पर्य है? बाद की रचना या बाद मे जिसका अध्ययन किया जाय। मेरा विचार है कि उत्तराध्ययन-निर्युक्ति आदि श्वेताम्बर-ग्रन्थों तथा गोम्मटसार-जीवकाण्ड आदि दिगम्बर-ग्रन्थो के आधार से

---

१. कम उत्तरेण पगय आयारस्सेव उवरिमाइ तु।
तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा हुंति णायव्वा॥
—उ० नि०, गाथा ३.

२. उ० नि०, गाथा ३ पर चूर्णि और बृहद्वृत्ति।
तथा देखिए—पृ० १४, पा० टि० १.

३. उत्तराणि अधीयंते पठ्यंते अस्मिन्निति उत्तराध्ययनम्।
—गो० जी० (गा० ३६७) जीवतत्त्वप्रदीपिनी संस्कृत-टीका।
तथा देखिए—पृ० २६, पा० टि० ३; पृ० ३१, पा० टि० २.

बाद में जिसका अध्ययन किया जाय, यही अर्थ उचित प्रतीत होता है। उत्तराध्ययन में प्रयुक्त अध्ययन शब्द से भी यही अर्थ प्रतीत होता है क्योंकि अन्य किसी आगम-ग्रन्थ के साथ अध्ययन शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

भाषा-शैली और महत्त्व :

भाषा-शैली की दृष्टि से उत्तराध्ययन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषाशास्त्रियों की दृष्टि में उत्तराध्ययन की भाषा अत्यन्त प्राचीन है। आचार्य तुलसी ने उत्तराध्ययन की भाषा को महाराष्ट्री से प्रभावित अर्धमागधी कहा है।[1] भाषा और विषय की प्राचीनता की दृष्टि से समस्त अंग और अंगबाह्य आगम-साहित्य में आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग की भाषा के बाद तीसरे स्थान पर उत्तराध्ययन का नाम गिनाया जाता है।[2] भाषा-शैली की

---

१. द० उ०, भूमिका, पृ० ४२-४३;
व्याकरण-विमर्श के लिए देखिए-द० उ०, भूमिका, पृ० ३७-३६,
उ० समी०, पृ० ४७१-४८८;
छन्दो-विमर्श के लिए देखिए-उ० समी०, पृ० ४६३-४७०.

2. The language of this canon is a Prākrit which is known as Ārṣa (i. e, "the language of the Rsis") or Ardha-Māgadhī (i e, "half-Māgadhī") Mahāvīra himself is said to have preached in this language. There is however, a difference between the language of prose and that of verses. As was the case with the Pāli verses in the Buddhist Canon, here too, the verses present more archai forms. The most archai language is to be found in the Āyāramga--Sutta, and next to this, in the Sūyagadamga-Sutta and the Uttarājjhayaṇa. Ardha-Māgadhī is quite different from Jaina Mahārāṣṭrī, the dialect of the non-canonical Jaina texts.

—हि० इ० लि०, भाग-२, पृ० ४३०-४३१.

Four canonical texts, the first three of which are not unimportant even from the literary point of view, are described as Mūla-Sūtras.

—वही, पृ० ४६५-६६.

दृष्टि से इसमें साहित्यिक गुण भी मौजूद हैं। इसे केवल नीरस और शुष्क साहित्य नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि ग्रन्थ में बहुत्र पुनरुक्तियाँ हैं और सैद्धान्तिक अध्ययनों में नीरसता भी है फिर भी अन्य आगम-ग्रन्थों की तुलना में इसकी भाषा-शैली साहित्यिक, सरल, नैसर्गिक, उपदेशात्मक, दृष्टान्त-अलंकारबहुल और सुभाषितात्मक है। इसमें कोई सन्देह नहीं है यदि उत्तराध्ययन में से सैद्धान्तिक (वर्णनात्मक) प्रकरणों को पृथक् कर दिया जाय तो यह विशुद्ध धार्मिक काव्य-ग्रन्थ हो सकता है। उपदेशात्मकता और पुनरुक्तियों के वर्तमान रहने पर भी इसका साहित्यिक महत्त्व घटता नही है क्योकि उपमा, दृष्टान्त आदि अलकारों के साथ आख्यानो और सवादों के हृदयस्पर्शी प्रयोग से इसमे प्रभावशालिता आ गई है। जैसे:

१. **उपमा और दृष्टान्त अलकार**[१]—विषय को सुबोध बनाने के लिए प्रचलित दृष्टान्तों का प्रयोग बहुत किया गया है। जैसे—

---

१. उत्तराध्ययन मे प्रयुक्त उपमा और दृष्टान्त अलकारो की सूची

अध्ययन संख्या	गाथा-संख्या	अध्ययन संख्या	गाथा-संख्या
१.	४. ५, १२, ३७, ३६, ४५.	२.	३, १०, १७, २४
३.	५, १२, १४.	४.	३, ५-६, ८
५	४, १०, १४-१६, २७	६.	१६.
७	१-६, ११, १४-१५, २३, २४.	८.	५-७, ६, १८.
६.	४८, ५३, ६२.	१०.	१-२, २८, ३३
११.	१५-३१.	१२.	१२, २६-२७.
१३.	२२, ३०-३१.	१४.	१, १८, २६-३०, ३३-३६, ४१-४८.
१६.	.	१७.	२०-२१.
१८.	१३, १५, ३६, ४७-४८, ५२.	१९.	३, १२, १४, १८-२४, ३४, ३६-४३, ४८-४६, ५१, ५४, ५६-५८, ६४-६८, ७०, ७८-८४, ८७-८८, ६३, ६७.

रात्रि और दिन का अतिक्रमण होने पर वृक्ष का पत्ता जिस प्रकार पीला पड़कर नीचे गिर जाता है उसी प्रकार मनुष्यों का जीवन भी (परिवर्तनशील—नश्वर) है। अतः हे गौतम! क्षणभर का भी प्रमाद मत कर।[१] यहाँ उपदेश भी है और सरल दृष्टान्त के द्वारा विषय को स्पष्ट भी किया गया है। इससे पाठक के हृदय पर अमिट छाप बन जाती है। इसी प्रकार के अन्य उपमा और दृष्टान्त अलंकारों का प्रयोग प्रकृत ग्रन्थ में बहुतायत से हुआ है।

२. **प्रतीकात्मक-रूपक**—धर्म की आध्यात्मिक व्याख्या में प्रतीकात्मक रूपको का प्रयोग किया गया है। जैसे—इन्द्र-नमि संवाद में दीक्षाविषयक, केशि-गौतम सवाद मे धर्मभेदविषयक, हरिकेशीय अध्ययन मे यज्ञविषयक आदि। इसी प्रकार महा-निर्ग्रन्थीय अध्ययन मे अनाथी मुनि अनाथ शब्द की व्याख्या मे वक्रोक्ति का प्रयोग करते है।

२०.	३, २०-२१, ४२, ४४, ४७-४८, ५० ५८, ६०	२१	७, १४, १७, १६, २३-२४.
२२.	७, १०, ३०, ४१, ४४-४७, ५१	२३.	१८.
२५.	१७-१६, २१, २७, ४२-४३.	२७	८, १३-१४, १६.
२८.	२२.	२६.	१२, ५६.
३०.	५-६.	३२.	६, १०-१३, १८, २०, २४, ३४, ३७. ४७, ५०, ६०, ६३, ७३, ७६ ८६, ८६, ६६.
३४.	४-१६.	३६.	६०-६१.

नोट—इनमे से कुछ दृष्टान्त सामान्य हैं और कुछ प्रकारान्तर से भी आए हैं।

१ दुम पत्तए पंडुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीविय समयं गोयम! मा पमायए॥

—उ० १०. १.

३. **सुभाषित**[1]—धर्म-प्रधान ग्रन्थ होने से इसमें स्वाभाविक-रूप से सुभाषितों का प्रयोग हुआ है। उपमा और प्रतीकात्मक-रूपक अलंकारों के प्रयोग में सुभाषितों की झलक अधिक मिलती है।

४. **पुनरुक्ति**—लोगों की प्रवृत्ति विषय-भोगों के प्रति अधिक होने से तथा धर्म के प्रचार का प्रारम्भिक काल होने से प्रतिपाद्य विषय के स्पष्टीकरण में पुनरुक्ति का होना स्वाभाविक है। कहीं एक चरण में, कही दो चरणों में, कही तीन चरणों में तथा कही-कहीं सम्पूर्ण गाथा ज्यों की त्यो पुनरुक्त है।[2] शब्द और अर्थ की यह पुनरुक्ति दोषजनक नहीं है क्योंकि विषय के स्पष्टीकरण के लिए इस प्रकार की शैली का प्रयोग वेदो और बौद्ध त्रिपिटक-ग्रन्थो में भी बहुतायत से पाया जाता है।

५. **कथा एव संवाद**—कथा-विभाग में गिनाए गए अध्ययनो में कथा एव सवादो के द्वारा धार्मिक और दार्शनिक विषयों को

---

१. उ० १. २-५, ७, २८-२९, ३७-३९, ४४-४५; २. १६-१७; ३. १, ५, ७-१२; ४. ३-६, ९-१३; ५. ५, ९-१०, १४-१६, २१-२२, २४; ६. ३, ६-१६; ७. ४, ७, ९, ११-१२; ८ २, ५-६, ९; ९. ९-१०, १२-१३, १५-१६, ३४-३६, ४८, ५३; १०. १-२, २८ २९, ३३; ११ १४-१६; १२ २६-२७; १३. २२,२५, ३०-३१; १४ १९, २३-२४, २९, ३४, ३६, ४१-४४; १५. १५; १७ २०, २१; १८ १३; १९. १८, २१-२४, ३४, ३७; २०. ४४, ४७; २१. २०; २५ ४१-४३, ३१. ३३; ३२. १६-१७ आदि।

२. 'तं वयं बूम माहणं' यह चरण २५. १९-२९, ३४ में तथा 'समयं गोयम मा पमायए' यह चरण १०. १-३६ में ज्यों का त्यों पुनरुक्त है। 'जे भिक्खू जयई निच्च, से न अच्छइ मंडले' ये दोनो चरण ३१. ७-२० मे पुनरुक्त है। 'एयमटठं निसामित्ता हेऊकारण चोइउ। तउ नमि रायरिसिं देविन्दो इण मऽब्बवी' (९. ११, १७ आदि) यह इन्द्र की उक्ति और 'एयमट्ठं निसामित्ता०' (९. ८, १३ आदि) यह नमि की उक्ति (चारो चरण सहित) नौ-नौ बार पुनरुक्त है। ऐसे अन्य कई स्थल है जिन्हें यहा दिखलाना सम्भव नही है।

समझाया गया है। जैसे—इन्द्र-नमि-संवाद में प्रव्रज्या के समय उत्पन्न होनेवाले अन्तर्द्वन्द्व का समाधान, हरिकेशी और ब्राह्मणों के संवाद में यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या, मृगापुत्र और उसके माता-पिता के साथ हुए सवाद में साधु के आचार का प्रतिपादन। इसी प्रकार के अन्य कई सवादस्थल हैं जो बहुत ही समयोपयोगी और प्रभावोत्पादक हैं। जैसे—अनाथी मुनि और राजा श्रेणिक के बीच हुआ अनाथ-विषयक सवाद, भ्रगुपुरोहित और उसके पुत्रद्वय के बीच हुआ आत्मा के अस्तित्व-विषयक संवाद, भ्रगुपुरोहित और उसकी पत्नी के बीच हुआ दीक्षा-विषयक सवाद, इषुकार राजा और उसकी पत्नी कमलावती के बीच हुआ राजा के कर्त्तव्यविषयक सवाद, केशि और गौतम के बीच हुआ आध्यात्मिक सवाद।

इन सभी तथ्यों के कारण विन्टरनित्स, कानजी भाई पटेल आदि उत्तराध्ययन को श्रमण धार्मिक-काव्य स्वीकार करते हैं।[1] इसके अतिरिक्त याकोबी, शार्पेन्टियर, विन्टरनित्स आदि प्रसिद्ध विद्वानों ने इसकी तुलना धम्मपद, सुत्तनिपात, जातक,

1 Above all, the first Mūla-sūtra, the Uttarājhayaṇa or Uttarādhyayana-sūtra, as a religious poem, is one of the most valuable portions of the canon. The work, consisting of 36 sections, is a compilation of various texts, which belong to various periods. The oldest nucleus consists of valuable poems—series of gnomic aphorisms, parables and similes, dialogues and ballads—which belong to the ascetic poetry of ancient India, and also have their parallels in Buddhist literature in part.

—हि० इ० लि०, पृ० ४६६.

तथा देखिए—श्रमण, मई-जून १९६४, पृ० ४८

महाभारत आदि प्रसिद्ध जैनेतर ग्रन्थों से की है।[1] आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, दशवैकालिक आदि जैन आगम-ग्रन्थों से भी

१. तुलना कीजिए—

उत्तराध्ययन	धम्मपद	उत्तराध्ययन	सुत्त-निपात
१ १५	१२.४	महानिर्ग्रन्थीय	पब्बज्जासुत्त
६ ३४	८.४	(२०वाँ अध्ययन)	(महावग्ग–१)
६.४०	८.७	**उत्तराध्ययन**	**महाभारत**
६ ४४	५.११	१. इषुकारीय	शान्तिपर्व
२५.२७	२६.१६	(अ० १४)	(अ० १७५, २७७)
२५ २६	२६.२५	२. नमिप्रव्रज्या	शान्तिपर्व
२५ ३४	२६.४०	(अ० ६)	(अ० १७८-२७६)

उत्तराध्ययन	जातक
१. चित्तसम्भूतीय (अ० १३)	चित्तसम्भूत (स० ४६८)
२. इषुकारीय (भृगुपुरोहित– अ० १४)	हत्थिपालजातक (सं० ५०६)
३. हरिकेशिबल (अ० १२)	मातगजातक (स० ४६७)
४. नमिप्रव्रज्या (अ० ६)	महाजनकजातक (सं० ५३६)

We find here many sayings which excel in aptitude of comparison or pithiness of language. As in the Sutta-Nipāta and the Dhammapada, some of these series of sayings are bound together by a common refrain.

—हि० इ० लि०, पृ० ४६६.

The Uttarādhyayana is not the work of one single author, but is a collection of materials in age and derived from different sources. It was perhaps in its

इसकी तुलना की जाती है।[1] इस तरह उत्तराध्ययन-सूत्र न केवल अंगबाह्य-ग्रन्थों से अपितु समवायाग आदि अंगग्रन्थों से भी प्राचीन और महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। उत्तराध्ययन के ३६ वें अध्ययन के अन्तिम पद्य की निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने इसका महत्त्व प्रकट करते हुए इसे जिन-प्रणीत तथा अनन्त गूढ शब्दार्थों से युक्त बतलाया है।[2] निर्युक्तिकार के इस कथन से उत्तराध्ययन के महत्त्व और प्राचीनता दोनों का बोध होता है।

---

original contents more like the old Buddhist works, the Dhammapada and the Sutta-Nipāta.

—उ० शा०, भूमिका, पृ० ४०.

तथा देखिए—हि० इ० लि०, पृ० ४६७-४७०; उ० आ० टी०, भूमिका, पृ० २२-२५; जै० सा० बृ० इ०, भाग-२, पृ० १४७, १५२, १५६, १५७, १५६, १६३, १६५, १६७; उ० समी०, कथानक-सक्रमण, प्रत्येकबुद्ध तथा तुलनात्मक-अध्ययन प्रकरण, पृ० २५५-३७०, ४३९-४५५.

१.

उत्तराध्ययन	दशवैकालिक	उत्तराध्ययन	सूत्रकृताङ्ग
२२. ४२-४६	२. ७-१०	३२. १८	३ ३. १६
विनय	विनय-समाधि	८. १८	१. ४ १८
(पहला)	(नौवा)	उत्तराध्ययन के पच्चीसवें अध्ययन में तथा सूत्रकृताङ्ग, प्रथम भाग के नौवें और बारहवें अध्ययन मे ब्राह्मण और जैन-साधु को समान बतलाया गया है।	
सभिक्षु	सभिक्षु अध्ययन		
(पन्द्रहवा)	(दसवां)		
उत्तराध्ययन	भगवती		
२९ वाँ अध्ययन	१७ ३ ६००		

—देखिए—जै० सा० बृ० इ०, भाग-२, पृ. १८१.

२. देखिए—पृ० ३६, पा० टि० १.

दिगम्बर-परम्परा में इसका सविशेष उल्लेख होने से तथा इसके विपुल टीका-साहित्य से इसके महत्त्व और प्राचीनता के साथ इसकी लोकप्रियता का भी पता चलता है। यदि हम सक्षेप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उत्तराध्ययन अंगबाह्य-ग्रन्थ होने पर भी अंगग्रन्थों से कम महत्त्वपूर्ण नही है।

इसके अतिरिक्त इसके उपदेशात्मक, धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थ होने पर भी इसमें धार्मिक-काव्य के सामान्य गुणों का अभाव नही हुआ है। जैसा कि कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है, तदनुसार उत्तराध्ययन में तत्कालीन समाज एवं संस्कृति आदि का भी पर्याप्त समावेश हुआ है। विविध प्रकार के सवादो, प्रतीकों, उपमाओं, सुभाषितो आदि के प्रयोग से इसमें रोचकता आ गई है। इसीलिए उत्तराध्ययन को जैन समाज में हिन्दुओं की भगवद्गीता तथा बौद्धो के धम्मपद की तरह महत्त्वपूर्ण कृति माना जाता है।

टीका-साहित्य :

पालि-त्रिपिटक पर लिखी गई अट्ठकथाओ की भाँति जैन आगम-साहित्य पर भी कालान्तर में विपुल व्याख्या-साहित्य लिखा गया। उत्तराध्ययन के महत्त्व और लोकप्रियता के कारण इस पर अपेक्षाकृत अधिक व्याख्यात्मक-साहित्य मिलता है। सरस-कथानक, सरस-सवाद और सरस-रचना-शैली के कारण अंग और अंगबाह्य-ग्रन्थों में इसकी लोकप्रियता सर्वाधिक रही है। इसके परिणामस्वरूप कालान्तर में उत्तराध्ययन पर सर्वाधिक टीका-ग्रन्थ लिखे गए। कुछ प्रमुख टीका-ग्रन्थ निम्नोक्त है :

१. **निर्युक्ति**—व्याख्यात्मक-साहित्य में निर्युक्ति का स्थान सर्वोपरि है। निर्युक्ति का अर्थ है—सूत्र में निबद्ध अर्थ का सयुक्तिक प्रतिपादन।[1] उत्तराध्ययन पर सबसे प्राचीन टीका भद्रबाहु-

---

१. निर्युक्तानामेव सूत्रार्थाना युक्तिः ?—परिपाट्या योजनं।
—दशवैकालिकवृत्ति, पृ० ४ (उद्धृत—प्रा० सा० इ०, पृ० १९४, फुटनोट)।

द्वितीय (वि०की ६ ठी शताब्दी) की निर्युक्ति है। इसमें प्राकृत-भाषा मे निबद्ध ५५९ गाथाएँ हैं। ये मूल उत्तराध्ययन की गाथाओं (करीब १७४६ गाथाएँ तथा ८७ गद्याश) से बहुत कम हैं। इसके बहुत ही सक्षिप्त और साकेतिक होने से कालान्तर में उत्तराध्ययन के साथ निर्युक्ति पर भी टीकाएँ लिखी गई। उत्तराध्ययन के गुरु-परम्परागत अर्थ को समझने के लिए भद्रबाहु की निर्युक्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए यह उत्तरवर्ती सभी टीका-ग्रन्थो की आधारभित्ति रही है। इसमे विषय को स्पष्ट करने के लिए कही-कही दृष्टान्त और कथानको का भी प्रयोग किया गया है।[1]

२. **चूर्णि**—उत्तराध्ययन और उसकी निर्युक्ति पर जिनदास-गणि महत्तर (ई० सन् ६ ठी शताब्दी) ने सर्वप्रथम चूर्णि की रचना की है। इसमे मूलग्रन्थ के साथ निर्युक्ति के भी अर्थ को स्पष्ट किया गया है। यह प्राकृत-सस्कृत भाषा से मिश्रित गद्य रचना है। इसमे कई शब्दो की विचित्र व्युत्पत्तियाँ भी मिलती हैं।[2] भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व है। तत्कालीन समाज और सस्कृति का चित्रण भी इसमे मिलता है। इसमें अन्तिम अठारह अध्ययनो का व्याख्यान बहुत ही सक्षिप्त है।

३. **शिष्यहिता-टीका या बृहद्वृत्ति (पाइय-टीका)**—इसके रचयिता वादिवेताल शान्तिसूरि (मृत्यु, सन् १०४०) हैं। यह उत्तराध्ययन और उसकी निर्युक्ति पर सस्कृत-गद्य मे लिखी गई

---

१ कडए ते कुंडले य ते अंजियक्खि ! तिलयते य ते ।
पवयणस्स उड्डाहकारिए । दुट्ठा सेहि ! कत्तो सि आगया ।।
राईसरिसवमित्ताणि परछिद्दाणि पाससि ।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि पासंतोऽवि न पाससि ।।

—उ० नि० १३९-१४०.

२. घूर्णंत इति घोरा, परतः क्रामतीति पराक्रम', पर वा क्रामति···
दस्यते एभिरिति दन्ताः ।

—उ० चूर्णि, पृ० २०८.

टीका है। यह भी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।[1] संस्कृत टीकाओं में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। बीच-बीच मे प्राकृत कथाएँ भी उद्धृत की गई हैं।

४. **सुखबोधा-टीका या वृत्ति** – शान्तिसूरि की शिष्यहिता-टीका के आधार पर बृहद्गच्छीय श्री नेमिचन्द्राचार्य (वि०सं० ११२९) ने मूल-ग्रन्थ पर संस्कृत-गद्य में सुखबोधा-टीका की रचना की है। इसमें निर्युक्ति की गाथाओं को भी यथास्थान उद्धृत किया गया है। दीक्षा के पूर्व आप देवेन्द्रगणि कहलाते थे। संस्कृत में मूल सूत्र-ग्रन्थ का अध्ययन करने के लिए यह बहुत उपयोगी टीका है।[2]

इनके अतिरिक्त कालान्तर में अन्य अनेक विद्वानों ने उत्तराध्ययन पर कई व्याख्यात्मक टीकाएँ लिखी हैं। जैसे-तपागच्छाचार्य देवसुन्दरसूरि के शिष्य ज्ञानसागरसूरि (वि०सं०१४४१) की अवचूरि, महिमरत्न के शिष्य विनयहंस (वि०स० १५६७–८१) की वृत्ति, सिद्धान्तसूरि के शिष्य कीर्तिवल्लभगणि (वि०स० १५५२) की टीका, खरतरगच्छीय जिनभद्रसूरि के शिष्य कमलसंयम उपाध्याय (वि०म० १५५४) की वृत्ति, तपोरत्नवाचक (वि०स० १५५०) की लघुवृत्ति, मेरुतुंगसूरि के शिष्य माणिक्यशेखरसूरि की दीपिका-टीका, महेश्वरसूरि के शिष्य अजितदेवसूरि (वि० स० १६२९) की टीका, गुणशेखर की चूर्णि, लक्ष्मीवल्लभ (वि० १८ वीं शताब्दी) की दीपिका, भावविजयगणि (वि० सं० १६८९) की वृत्ति, हर्षनन्दनगणि (वि० सं० १७११) की टीका, धर्ममन्दिर उपाध्याय (वि० सं० १७५०) की मकरन्द-टीका, उदयसागर (वि० स० १५४६) की दीपिका-टीका, हर्षकुल (वि० सं० १६००) की दीपिका, अमरदेवसूरि की टीका, शान्तिभद्राचार्य की वृत्ति, मुनिचन्द्रसूरि की टीका, ज्ञानशीलगणि

---

१. उ० शा०, भूमिका, पृ० ५२-५३.

२. शार्पेन्टियर ने भी इस टीका को शिष्यहिता-टीका से अधिक उपयोगी माना है और इसीका उपयोग किया है।

—देखिए–उ० शा०, प्रीफेस, पृ० ६ तथा भूमिका, पृ० ५८.

की अवचूरि आदि।[1] इन टीकाओं में अधिकांश अप्रकाशित हैं। वर्तमान मे अंग्रेजी, हिन्दी और गुजराती अनुवाद आदि के साथ कुछ टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं। ग्रन्थ की लोकप्रियता और महत्ता के कारण वर्तमान में इसके विविध-संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं[2] और आगे भी प्रकाशित होते रहेंगे। जार्ल शार्पेन्टियर

१. जिनरत्नकोश-ग्रन्थविभाग, पृ० ४२ ४६ मे इसकी विस्तृत सूची है। तथा देखिए—जैन भारती, वर्ष ७, अक ३३, पृ० ५६५-६८.

२ (क) अंग्रेजी प्रस्तावना और टिप्पणी के साथ जार्ल शार्पेन्टियर का संशोधित मूल संस्करण, सन् १९२२; (ख) याकोबी का अंग्रेजी अनुवाद—से० बु० ई०, भाग—४५, आक्सफोर्ड, १८९५; (ग) लक्ष्मीवल्लभ की अर्थदीपिका-टीका के साथ गुजराती भाषानुवाद, आगमसंग्रह, कलकत्ता, सन् १९३४-३७; (घ) जयकीर्ति-टीका के साथ हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९०९; (ङ) भद्रबाहु की निर्युक्ति और शान्तिसूरि की शिष्यहिता-टीका के साथ, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१६-१७; (च) भावविजयगणि की सूत्रवृत्ति (विवृति) सहित, विनयभक्ति सुन्दरचरण ग्रन्थमाला, वेणप, वि० सं० १९९७; (छ) कमलसंयम की टीका के साथ, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर, सन् १९२७, (ज) नेमिचन्द्र की सुखबोधा वृत्तिसहित, आत्मवल्लभग्रन्थावली, बलाद, अहमदाबाद, सन् १९३७; (झ) जिनदासगणि महत्तर की चूर्णि मात्र श्वेताम्बर संस्था, इन्दौर प्रकाशन, सन् १९३३; (ञ) घासीलाल की प्रियदर्शिनी संस्कृत-टीका एवं हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५९-६१; (ट) लक्ष्मीवल्लभटीका एवं गुजराती अनुवाद के साथ, मुद्रक—श्रीशचन्द्र भट्टाचार्य, कलकत्ता-७१; (ठ) भोगीलाल सांडेसरा (उ० १-१८) के गुजराती अनुवाद आदि के साथ, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, १९५२; (ड) रतनलाल डोशी के हिन्दी अनुवाद आदि के साथ, श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म० प्र०), वी० सं० २४८९; (ढ) आत्माराम के हिन्दी अनुवाद आदि के साथ, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, सन् १९३९-४२;

का अंग्रेजी प्रस्तावना और टिप्पणी के साथ संशोधित मूलपाठ, सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, भाग-४५ में याकोबी का अंग्रेजी अनुवाद, आर० डी० वाडेकर तथा एन० व्ही० वैद्य का संशोधित मूलपाठ, भोगीलाल सांडेसरा का मूल के साथ गुजराती अनुवाद, आत्मारामजी का मूल के साथ हिन्दी अनुवाद, आचार्य तुलसी का मूल के साथ हिन्दी अनुवाद आदि उत्तराध्ययन के महत्त्वपूर्ण संस्करण हैं।

इस तरह उत्तराध्ययन के इस विपुल व्याख्यात्मक टीका-साहित्य से इसके महत्त्व और लोकप्रियता का पता चलता है।

(ण) घेवरचन्द्र बाठिया के अनुवाद के साथ, सेठिया जैन ग्रन्थमाला, बीकानेर, सन् १९५३; (त) मुनि अमोलक के हिन्दी अनुवाद के साथ, हैदराबाद, जैन शास्त्रोद्धार मुद्रणालय, वी० सं० २४४६; (थ) मुनि त्रिलोक, आत्माराम शोध संस्थान, होशियारपुर, पंजाब, (पृथक्-पृथक् अध्ययन के रूप में प्रकाशित हो रहा है); (द) महावीर स्वामिनो अंतिम उपदेश के नाम से गुजराती छायानुवाद, गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैनसाहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १९३८; (ध) गुजराती अर्थ एवं कथाओ आदि के साथ (१-१५), जैन प्राच्य विद्या-भवन, अहमदाबाद, सन् १९५४; (न) मूल सुत्ताणि, संपादक-मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल', गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर, वि० सं० २०१०; (प) मुनि सौभाग्यचन्द्र सन्तबाल (हिन्दी मात्र), श्वे० स्था० जैन कान्फरेंस, बम्बई, वि० सं० १९९२; (फ) आर० डी० वाडेकर तथा एन० व्ही० वैद्य (मूलमात्र), पूना १९५४; (ब) जीवराज घेलाभाई दोशी (मूलमात्र), अहमदाबाद, सन् १९११; (भ) गुजराती अनुवाद-संतबाल, अहमदाबाद; (म) जयन्तविजय-टीका, आगरा, सन् १९२३, (य) आचार्य तुलसी—हिन्दी अनुवाद आदि के साथ, आगम अनुसन्धान ग्रन्थमाला, सन् १९६७; आदि। इन विविध संस्करणों के अतिरिक्त और भी अनेक संस्करण, लेख आदि उत्तराध्ययन के विविध-विविध अंशों पर समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं।

★

प्रकरण १

द्रव्य-विचार

यह विश्व जो हमें दृष्टिगोचर हो रहा है, वह इतना ही है जितना हमें दिखलाई पड़ता है अथवा इससे भी परे कुछ है ? इसका प्रारम्भ कब से हुआ ? इसका कभी अन्त होगा या नहीं ? इसके मूल में क्या है जिससे इसका इतना विकास हुआ ? इसके मूल में कुछ है या नहीं अथवा सिर्फ भ्रम है ? इसका कोई व्यवस्थापक है या नही ? आदि अनेकों प्रश्न आज भी मानव के हृदय में जिज्ञासा के विषय बने हैं। इन जिज्ञासापूर्ण प्रश्नों का समाधान विभिन्न तत्त्ववेत्ताओं ने विभिन्न प्रकार से किया है। आज का विज्ञान भी इसी तथ्य की खोज मे अनवरत प्रयत्नशील है। जैन-तत्त्वज्ञान पर आधारित उत्तराध्ययन-सूत्र से इस विषय में जो जानकारी प्राप्त होती है उसे निम्न प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है :

१. प्रत्यक्ष दिखलाई पड़नेवाले इस संसार के परे बहुत कुछ है। हमे जो दिखलाई पड़ रहा है वह समुद्र की एक बिन्दु के बराबर भी नही है। आज का विज्ञान जितनी खोज कर सका है वह भी बहुत ही अल्प है। यह प्रत्यक्ष-दृश्यमान संसार और इससे परे अनन्त-भाग को हम विश्व शब्द से कहते है। इससे इस विश्व के विस्तार का सिर्फ अनुमान किया जा सकता है। मुख्यतः इस विश्व के दो भाग है : १. जहां पर सृष्टि-तत्त्वों की मौजूदगी है (लोक) और २. जहा शुद्ध आकाश को छोड़कर अन्य सभी सृष्टि-तत्त्वों का पूर्ण अभाव है (अलोक)। इसमे से जितने भाग मे सृष्टि-तत्त्व वर्तमान हैं उसकी तो कुछ सीमा है परन्तु इसके परे जो सृष्टि-तत्त्वो से शून्य शुद्ध आकाश प्रदेश है उसकी कोई सीमा नहीं है।

२. इस विश्व का प्रारम्भ कब से हुआ और यह कब तक चलेगा ? इस विषय में कोई सीमा निर्धारित नहीं की गई है। प्राय: सभी भारतीय दर्शन इस विषय में एकमत हैं कि इस सृष्टि का प्रारम्भ-काल और अन्त-काल नही है। अत इसे अनादि और अनन्त कहा है। किसी वस्तु की वर्तमान अवस्था-विशेष की दृष्टि से प्रारम्भ और अन्त दोनों सभव हैं।

३. यह विश्व शून्यवादी बौद्धों की तरह अभावरूप (शून्य-रूप) तथा वेदान्तियो की तरह कल्पनाप्रसूत (मायारूप) नही है। अपितु यह उतना ही सत्य और ठोस है जितना हमें प्रतीत होता है। यह बात अवश्य है कि इसमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है परन्तु परिवर्तन के होते रहने पर भी उसका सर्वथा विनाश नही होता है, क्योकि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि विद्यमान (सत्) का कभी विनाश नही होता और अविद्यमान् (असत्) का कभी आविर्भाव नहीं होता है।[1] ससार की असारता, नश्वरता, भ्रम-रूपता आदि का जो वर्णन ग्रन्थ में किया गया है वह आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया है।

४. इस विश्व का व्यवस्थापक या रचयिता कोई ईश्वर आदि नही है। यह स्वचालित-यंत्र की तरह अनवरत एव अबाधरूप से चल रहा है।

इन उपर्युक्त तथ्यो का विश्लेषण आवश्यक होने से सर्वप्रथम लोक-रचना का निरूपण किया जाएगा।

लोक-रचना

पहले लिखा जा चुका है कि यह विश्व दो भागो में विभाजित है : एक वह भाग जहाँ पुरुष, स्त्री, गाय, बैल, कीड़े, पत्थर, जलाशय आदि की स्थिति है जिसे 'लोक' या 'लोकाकाश' के नाम से कहा गया है तथा दूसरा वह भाग जहाँ पुरुष, स्त्री, गाय, बैल, कीड़े, पत्थर, जलाशय आदि किसी की भी सत्ता त्रिकाल में संभव

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत । —गीता २. १६.

नही है—सिर्फ आकाश प्रदेश है जिसे 'अलोक' या 'अलोकाकाश' के नाम से कहा गया है।[1] इस तरह के विभाजन का आधार है सृष्टि-तत्त्वों की मौजूदगी अथवा गैरमौजूदगी। यदि इस तरह का विभाजन न किया जाता तो इस विश्व को असीम मानना पड़ता। आकाश-प्रदेश की कोई सीमा न होने से इसकी लोक के बाहर (अलोक में) भी सत्ता मानी गई है। अलोक की कोई सीमा न होने से तथा वहाँ किसी भी जीव की गति संभव न होने से विवेचनीय विषय लोक ही है।

क्षेत्र की दृष्टि से लोक को तीन भागों मे विभाजित किया गया है[2] : १ ऊपरी-भाग (ऊर्ध्वलोक), २. मध्यभाग (तिर्यक्लोक या मध्यलोक) तथा ३ अधोभाग (अधोलोक)। लोक के जो ये तीन भाग किए गये हैं इनका यद्यपि ग्रन्थ में विस्तृत वर्णन नही है फिर भी इसे समझे बिना आगे का विवेचन समझना सरल नहीं है। अतः ग्रन्थ में प्राप्त सकेतो के आधार पर तीनों लोको का वर्णन आवश्यक है।[3]

ऊर्ध्वलोक :

जहाँ हमारा निवास है उसके ऊपर के भाग को ऊर्ध्वलोक कहते हैं। ऊर्ध्वलोक में मुख्यरूप से देवो का निवास होने के कारण इसे देवलोक, ब्रह्मलोक, यक्षलोक तथा स्वर्गलोक भी

---

१. जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे अलोए से वियाहिए॥
—उ० ३६. २.
तथा देखिए—उ० २८. ७; ३६. ७.

२. उड्ढं अहे य तिरियं च।
—उ. ३६. ५०.
तथा देखिए—उ. ३६. ५४.

३. विशेष के लिए देखिए—तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ३; त्रिलोकप्रज्ञप्ति, जीवाभिगमसूत्र, चन्द्रप्रज्ञप्ति, भगवतीसूत्र आदि।

कहा गया है।[1] इस ऊर्ध्वलोक में ऊपर-ऊपर देवताओं के कई विमान हैं। सब प्रकार की अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाले 'सर्वार्थसिद्धि' नामक अन्तिम विमान से १२ योजन (करीब ४८००० क्रोश क्षेत्र-प्रमाण) ऊपर एक 'सिद्ध-शिला' है। यह सिद्ध-शिला ४५ लाख योजन लम्बी तथा इतनी ही चौड़ी है। इसकी परिधि (घिराव) कुछ अधिक तीन गुनी (१४२३०२४९ योजन से कुछ अधिक) है। मध्यभाग मे इसकी मोटाई आठ योजन[2] है जो क्रमशः चारों ओर से कृश होती हुई मक्खी के पर से भी अधिक कृश हो गई है। इसका आकार खोले हुए छत्र के समान है। शंख, अक-रत्न (श्वेत कान्तिवाला रत्न-विशेष) और कुन्द-पुष्प के समान स्वभावतः सफेद, निर्मल, कल्याणकारिणी एवं सुवर्णमयी होने से इसे 'सीता' नाम से कहा गया है। ऊपरी-भाग में अत्यन्त लघु होने के कारण इसे 'ईषत्प्राग्भारा' नाम से भी उल्लिखित किया गया है। इससे एक योजन-प्रमाण ऊपर वाले क्षेत्र को लोकान्तभाग कहा गया है क्योंकि इसके बाद लोक की सीमा समाप्त हो जाती है और अलोक का प्रारम्भ हो जाता है। इसी एक योजन-प्रमाण लोकान्त-भाग के ऊपरी क्रोश के छठे भाग में मुक्त-आत्माओं का निवास माना गया है।[3] ग्रन्थ में

---

१ 'कम्मई दिव' —उ० ५. २२; 'देवलोगचुओ मतो' —उ० १९. ८; 'से चुए बम्भलोगाओ' —उ० १८. २९; 'गच्छे जक्खसलोगयं' —उ० ५. २४; 'खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे' —उ. १४. १.

२. अवचूरिकार ने आठ योजन प्रमाण मे 'उत्सेधाङ्गुल' से तथा अनुयोगद्वार मे 'प्रमाणाङ्गुल' से क्षेत्र-सीमा नापने की कल्पना की है। इससे क्षेत्र-सीमा मे काफी अन्तर हो जाता है।
—उ० आ० टी०, पृ० १६६८.

३. बारसहिं जोयणेहिं सव्वट्ठस्सुवरिं भवे।
ईसिपब्भारनामा उ पुढवी छत्तसंठिया ॥
पणयालसयसहस्सा जोयणाण तु आयया।
तावइयं चेव वित्थिण्णा तिगुणो तस्सेव परिरओ ॥
अट्ठजोयणबाहल्ला सा मज्झम्मि वियाहिया।
परिहायन्ती चरिमन्ते मच्छियपत्ता तणुयरी ॥

'लोकान्त' को ही 'लोकाग्र' भी कहा गया है क्योंकि यह प्रदेश लोक का सर्वश्रेष्ठ भाग होने से शीर्ष स्थानापन्न भी है।[1]

मध्यलोक (तिर्यक्लोक) :

ग्रन्थ में मध्यलोक को 'तिर्यक्लोक' कहा गया है[2] क्योंकि इस लोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र परस्पर एक-दूसरे को घेरे हुए तिर्यक्रूप (आजूबाजू-तिरछे) से (स्वयम्भूरमण समुद्र तक) अवस्थित हैं तथा इसका आकार खड़े किए गए मृदंग के अर्धभाग सदृश है।[3] इतने विशाल क्षेत्र मे से केवल ढाई-द्वीपों में ही मानव का निवास माना गया है।[4] ढाई-द्वीप को 'समयक्षेत्रिक'[5] कहा गया

अज्जुणसुवण्णगमई सा पुढवी निम्मला सहावेणं।
उत्ताणगच्छत्तगसंठिया य भणिया जिणवरेहिं॥
संखंककुंदसंकासा पंडुरा निम्मला सुहा।
सीयाए जोयणे तत्तो लोयंतो उ वियाहिओ॥
जोयणस्स उ जो तस्थ कोसो उवरिम्मि भवे।
तस्स कोसस्स छब्भाए सिद्धाणोगाहणा भवे॥

—उ. ३६. ५७–६२.

तथा देखिए—डा॰ जै॰, पृ॰ २४६.

१. अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया।

—उ. ३६. ५६.

२. देखिए–पृ॰ ५५, पा॰ टि॰ २.

३. तत्वसमुच्चय, पृ॰ ६७. तथा वृत्त-चित्र १-२.

४. प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः।

—त॰ सू॰ ३.३५.

५ समय-क्षेत्र वह क्षेत्र है जहाँ समय, आवलिका, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि का कालविभाग परिज्ञात होता है। समय-क्षेत्र का दूसरा नाम मनुष्य-क्षेत्र भी है क्योंकि जन्मतः मनुष्य केवल समय-क्षेत्र (ढाई द्वीप) में ही पाए जाते हैं। समय-क्षेत्र के बाहर काल-विभाग नहीं होता है क्योंकि मनुष्य-क्षेत्र में विद्यमान सूर्य-चन्द्रमा ही अपनी गति द्वारा समय, मास आदि का विभाजन करते हैं। मनुष्य-क्षेत्र के बाहर यद्यपि असंख्यात सूर्य और चन्द्रमा हैं परन्तु वे गतिशील

है।[1] उन ढाई-द्वीपों के नाम हैं—जम्बूद्वीप, घातकीखंडद्वीप और आधा पुष्करद्वीप (पुष्करार्ध)। इन ढाई द्वीपों की रचना एक समान है; अन्तर केवल इतना है कि इनका क्षेत्र क्रमशः दुगुना-दुगुना होता गया है। पुष्कर-द्वीप के मध्य में मानुषोत्तर पर्वत आ जाने के कारण पुष्करद्वीप आधा लिया गया है। अतः इसका क्षेत्र-फल घातकीखण्ड द्वीप के ही बराबर है।[2] जम्बू-द्वीप में ७ प्रमुख क्षेत्र हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत।[3] विदेह-क्षेत्र में दो अन्य प्रमुख क्षेत्र हैं जिनके नाम हैं—देवकुरु और उत्तरकुरु। घातकीखंड और पुष्करार्ध-द्वीप में इन सभी क्षेत्रो की दुगुनी-दुगुनी संख्या है। ये सभी क्षेत्र कर्मभूमि, अकर्मभूमि और अन्तरद्वीप के भेद से तीन भागों में विभाजित हैं।[4]

नहीं हैं। अतः व्यवहार-काल का विभाग मनुष्यक्षेत्र तक ही सीमित होने से मनुष्य-क्षेत्र को समय-क्षेत्र कहा जाता है।

—देखिए-उत्तरज्झयणाणि (आ० तुलसी), भाग-२, पृ०३१६.

१. समए समयखेत्तिए।

—उ० ३६.७

२. इन क्षेत्रों मे जम्बूद्वीप जो थाली के आकार का है सबके बीचो-बीच है। इसके चारों ओर लवणसमुद्र है। इसके बाद चूड़ी के आकार मे घातकीखण्डद्वीप लवणसमुद्र के चारों ओर स्थित है। इसके बाद घातकीखण्डद्वीप के चारो ओर कालोदधिसमुद्र है। इसके बाद कालोदधिसमुद्र के चारो ओर पुष्करद्वीप है। इसीप्रकार आगे भी समुद्र और द्वीप के क्रम से स्वयम्भूरमण समुद्र तक रचना है।

—देखिए—वृत्त-चित्र २.

३. भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि।

—त०सू० ३.१०.

४. कम्मअकम्मभूमा य अंतरद्दीवया तहा।

—उ० ३६. १९५.

पन्नरसतीसविहा भेया अट्ठवीसइं।
संखा उ कमसो तेसिं इइ एसा वियाहिया।।

—उ० ३६.१९६.

(क) **कर्मभूमि**—जहाँ पर मनुष्य कृषि, वाणिज्य, शिल्पकला आदि के द्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं अर्थात् जहाँ बिना कर्म किए जीवन-यापन संभव न हो उसे 'कर्मभूमि' कहते हैं। यहाँ का जीव ही सबसे बड़ा पाप-कर्म और सबसे बड़ा पुण्य-कर्म कर सकता है। इसकी सीमा में भरत, ऐरावत तथा महाविदेह (विदेह का वह भाग जो देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र से रहित है) ये तीन क्षेत्र आते हैं।[1] ये तीन क्षेत्र ही ढाई-द्वीपों में १५ क्षेत्रो की संख्या पूर्ण कर लेते हैं। जैसे—जम्बूद्वीप में एक भरत, एक ऐरावत और एक महाविदेह है। धातकीखड द्वीप में दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह हैं। पुष्करार्धद्वीप मे दो भरत, दो ऐरावत तथा दो महाविदेह हैं। इस तरह ढाई-द्वीपो में कर्मभूमि के कुल मिलाकर १५ क्षेत्र हैं।[2] आज का विज्ञान जितने भू-खण्ड की खोज कर सका है वह सब कर्मभूमि के जम्बूद्वीप स्थित भरतक्षेत्र का बहुत छोटा-सा भाग है। इससे इस पूरे मध्यलोक तथा तीनों लोकों के विस्तार का सिर्फ अनुमान लगाया जा सकता है।

(ख) **अकर्मभूमि (भोगभूमि)**—जहाँ कृषि आदि कर्म किए बिना ही भोगोपभोग की सामग्री उपलब्ध हो जाती है और जीवन-यापन करने के लिए कोई प्रयत्न नही करना पडता है उसे 'अकर्मभूमि' कहते हैं। यहाँ पर भोगोपभोग की सामग्री इच्छा करने मात्र से उपलब्ध हो जाती है जिससे लोग भोगों में लीन रहते है। इसीलिए इसे 'भोगभूमि' भी कहते हैं।[3] आदिकाल का जो प्राकृतिक-साम्यवाद इतिहास में मिलता है प्राय: उसी तरह का सुविकसित-रूप भोगभूमि के विषय में मिलता है। देवताओं के सुखसदृश यहाँ सुख की ही प्रधानता है। अवशिष्ट (कर्मभूमि के १५ क्षेत्र छोड़कर) ३० क्षेत्रों में भोगभूमियाँ मानी

---

१. भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।
—त० सू० ३.३७.

२. वही, तथा उ० ३६.१९६ (आत्माराम-टीका)

३. वही।

गई हैं।[1] जैसे—जम्बूद्वीप में एक हैमवत, एक हरि, एक रम्यक, एक हैरण्यवत, एक देवकुरु और एक उत्तरकुरु—ये ६ क्षेत्र हैं। इसी तरह धातकीखण्डद्वीप और पुष्करार्धद्वीप में हैमवतादि प्रत्येक के २-२ क्षेत्र होने से दोनों द्वीपों के १२-१२ क्षेत्र हैं। इस तरह कुल मिलाकर अकर्मभूमि के ३० क्षेत्र माने गए हैं।

(ग) अन्तरद्वीप—कर्मभूमि और अकर्मभूमि के प्रदेश के अतिरिक्त जो समुद्र के मध्यवर्ती द्वीप बच जाते है उन्हे 'अन्तरद्वीप' कहते हैं। इसके २८ क्षेत्रो[2] मे भी मनुष्यो का निवास माना गया है।

इस तरह इस मध्यलोक के इतना विशाल होने पर भी तीनों लोकों के क्षेत्रफल में इसका क्षेत्रफल शून्य के बराबर है।

अधोलोक :

यह मध्यलोक से नीचे का प्रदेश है। इसमें क्रमश नीचे-नीचे सात पृथिविया है जो क्रमश सात नरकों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

---

१. वही।

२. जम्बूद्वीप के चारो ओर फैले हुए लवणसमुद्र मे हिमवान् पर्वतसम्बन्धी २८ अन्तरद्वीप हैं। ये अन्तरद्वीप सात चतुष्को मे विद्यमान हैं। इनके क्रमशः नाम ये हैं :

प्रथम चतुष्क—एकोरुक, आभाषिक, लाङ्गूलिक और वैषाणिक।
द्वितीय चतुष्क—हयकर्ण, गजकर्ण, गोकर्ण और शष्कुलीकर्ण।
तृतीय चतुष्क—आदर्शमुख, मेषमुख, हयमुख और गजमुख।
चतुर्थ चतुष्क—अश्वमुख, हस्तिमुख, सिंहमुख और व्याघ्रमुख।
पंचम चतुष्क—अश्वकर्ण, सिंहकर्ण, गजकर्ण और कर्णप्रावरण।
षष्ठ चतुष्क—उल्कामुख, विद्युन्मुख, जिह्वामुख और मेघमुख।
सप्तम चतुष्क—घनदन्त, गूढदन्त, श्रेष्ठदन्त और शुद्धदन्त।

इसी प्रकार से शिखरणीपर्वत सम्बन्धी भी २८ अन्तरद्वीप हैं। इस तरह कुल मिलाकर ५६ अन्तरद्वीप होते हैं। परन्तु दोनों को अभिन्न मानकर ग्रन्थ मे अन्तरद्वीपो के २८ अवान्तरद्वीप गिनाए है।
—देखिए—३६.१९६. (आत्माराम-टीका, पृ० १७५९-१७६० ; घासीलाल-टीका, भाग-४ पृ० ९०५-९०७)

इनमें मुख्यतया नारकी जीवों का निवास है। उनके क्रमशः नाम ये हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा तथा महातमःप्रभा।[1] इनके साथ जो 'प्रभा' (कान्ति) शब्द जुड़ा हुआ है वह उनके रंग को अभिव्यक्त करता है।

इस तरह इस लोक-रचना के तीन प्रमुख भागों में से ऊर्ध्वलोक के सबसे ऊपरी-भाग में मुक्त आत्माओं का निवास है। उसके नीचे 'सिद्धशिला' नामकी पृथिवी है तथा उसके नीचे देवताओं के आकाशगामी विमान हैं। उसके नीचे मध्यलोक में मुख्यरूप से मानवजगत् है। इसके बाद सबसे नीचे अधोलोक में नरकसम्बन्धी सात पृथिवियां हैं जिनमें मुख्यरूप से नारकी जीव रहते हैं। इस लोक की सीमा के चारों ओर अनन्त—सीमारहित अलोकाकाश है। यह लोक-रचना इतनी विशाल एवं जटिल है कि आज का विज्ञान इसके बहुत ही सूक्ष्म-अंश को जान सका है।

षट्-द्रव्य

सम्पूर्ण लोक में सामान्य तौर से दो ही तत्त्व पाए जाते हैं : चेतन और अचेतन। ग्रन्थ में इनके क्रमशः नाम हैं—जीव-द्रव्य और अजीव-द्रव्य।[2] इन दो द्रव्यों के संयोग और वियोग से ही इस नाना प्रकार की सृष्टि का आविर्भाव एवं तिरोभाव होता है। यहां एक बात ध्यान रखने योग्य है कि ये दोनों द्रव्य जिन्हें तत्त्व शब्द से भी कहा गया है, सांख्य-दर्शन के पुरुष (चेतन) और

---

१. नेरइया सत्तविहा पुढवीसू सत्तसू भवे।
रयणाभसक्कराभा बालुयाभा य आहिया॥
पंकाभा धूमाभा तमा तमतमा तहा।
—उ० ३६. १५६-१५७.

विशेष—लोक में कुल आठ पृथिवियां हैं जिनमे से सात अधोलोक मे हैं और एक सिद्धशिला नाम की ऊर्ध्वलोक मे है। मध्यलोक में जो पृथिवी है वह अधोलोक की रत्नप्रभा नाम की प्रथम पृथिवी की ऊपरी सतह है।

२. देखिए—पृ० ५५, पा० टि० १.

प्रकृति (अचेतन) की तरह एकरूप नहीं हैं। यद्यपि चेतन-तत्त्व सांख्य के पुरुष की तरह अनेक हैं परन्तु उनके स्वरूप में भिन्नता है। इसी तरह अचेतन-तत्त्व भी अनेक हैं। वे सांख्य की प्रकृति की तरह एकरूप नहीं हैं अपितु मुख्यरूप से पांच स्वतन्त्र तत्त्वों वाले हैं। उन पाच अचेतन तत्त्वो के नाम हैं–गतिद्रव्य (धर्मद्रव्य), स्थितिद्रव्य (अधर्मद्रव्य), समयद्रव्य (काल), प्रदेशद्रव्य (आकाश) और रूपीद्रव्य (पुद्गल)। ऐसा नहीं है कि किसी एक अचेतन-तत्त्व से इन पाचों का आविर्भाव हुआ हो। अपितु ये पाचों ही द्रव्य अपने आप में पूर्ण स्वतन्त्र है। चेतन और अचेतन गुण के सदभाव और असद्भाव के आधार पर ही लोक के समस्त द्रव्यो को दो भागो में विभाजित किया गया है। अतः मुख्यरूप से चेतन और अचेतन ऐसे दो मूल-तत्त्व मानने के कारण सांख्य की तरह द्वैतवाद नही कहा जा सकता है। दो से अधिक मूल-तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करने से बहुत्ववाद ही कहा जा सकता है। जिस तरह चेतन गुण के सद्भाव और असद्भाव के आधार से द्रव्यों के दो भेद सभव हैं उसी प्रकार रूपादिगुण के सद्भाव और असद्भाव से, बहुप्रदेशत्व (अस्तिकाय) आर एक-प्रदेशत्व (एक-प्रदेशवर्ती-अनस्तिकाय) के आधार से, लोक-प्रमाणत्व और लोकालोक-प्रमाणत्व के आधार से, एकत्वसख्या-विशिष्टत्व और बहुत्व-सख्या-विशिष्टत्व आदि के आधार से और भी अन्य अनेक द्वैतात्मक भेद सभव हैं। इनका आगे यथा-प्रसंग वर्णन किया जाएगा। परन्तु इस प्रकार का द्वैतात्मक-विभाजन ग्रन्थ में अभिप्रेत नहीं है क्योंकि इससे चेतन-तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता में बहुत बड़ा आघात पहुंचता है और जबकि अचेतन-तत्त्व से चेतन-तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करना ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। अतः इस प्रकार का द्वैतात्मक-विभाजन सभव होने पर भी लोका-लोक में पाए जाने वाले सभी द्रव्यों को मुख्यरूप से छः स्वतन्त्र भागों में विभक्त किया गया है।[1] इन छः द्रव्यों के स्वतन्त्र भेदों

---

१. धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥
—उ० २८.७.

में चेतन जीव-द्रव्य के अतिरिक्त अचेतन-द्रव्य-सम्बन्धी पांच स्वतन्त्र द्रव्यों को भी मिला लिया गया है। इस तरह छः द्रव्यों के नाम ये हैं—१. चेतन—जीव, २. रूपी-अचेतन—पुद्गल, ३. गति-हेतु—धर्म, ४. स्थिति-हेतु—अधर्म, ५. समय—काल और ६. प्रदेश (अवकाश)—आकाश।

यद्यपि इन छः द्रव्यों में से जीव, पुद्गल और काल द्रव्य के अन्य अवान्तर अनेक स्वतन्त्र भेद हैं परन्तु उन्हें सामान्यगुण की अपेक्षा से एक में अन्तर्भाव करके छः ही स्वतन्त्र द्रव्यों को गिनाया गया है। इन छः द्रव्यों के अतिरिक्त सम्पूर्ण लोक तथा अलोक में कोई अन्य स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। इन छः मूल द्रव्यों से ही इस सृष्टि का संचालन होता है। इनके अतिरिक्त ईश्वर आदि अन्य कोई संचालक तत्त्व नहीं है।

अल्प-विषय होने से पहले अचेतन-द्रव्य का वर्णन किया जाएगा।

अचेतन द्रव्य :

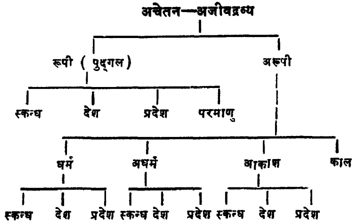
अचेतन-द्रव्य से तात्पर्य है जिसमें जानने और देखने की शक्ति नहीं है। यह मुख्यरूप से दो प्रकार का है[1] : १ जिसमें रूपादि का सद्भाव पाया जाता है वह 'रूपी' तथा २ जिसमें रूपादि का अभाव रहता है वह 'अरूपी'। जिसका कोई ठोस आकार-प्रकार आदि संभव है उसे रूपी या मूर्तिक कहते हैं तथा जिसका कोई ठोस आकार-प्रकार आदि संभव नहीं है उसे अरूपी या अमूर्तिक कहते हैं। इन दोनों प्रकारों में रूपी-द्रव्य का मुख्यरूप से एक ही भेद है जिसका नाम है—पुद्गल। अरूपी-अचेतन-द्रव्य के प्रमुख चार भेद हैं जिनके नाम ये हैं—धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इस तरह कुल मिलाकर अचेतन-द्रव्य के प्रमुख पांच भेद हैं। इसके अति-

---

१. रूविणो चेवरूवी य अजीवा दुविहा भवे।
अरूवी दसहा वुत्ता रूविणो य चउव्विहा॥
—उ० ३६.४.

तथा देखिए—उ० ३६.२४६.

रिक्त जो अन्य अवान्तर-भेद किए गए हैं वे सब इनके ही अवान्तर-रूप हैं। अचेतन-द्रव्य के अवान्तर भेद निम्नोक्त हैं :[1]



अब क्रमशः इन द्रव्यों का विचार किया जाएगा।

(क) रूपी अचेतन-द्रव्य (पुद्गल) :

रूपी अचेतन-द्रव्य से तात्पर्य है—जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और आकार पाया जावे। जो सुना जा सके, खाया जा सके, तोड़ा जा सके, देखा जा सके वह सब रूपी अचेतन-द्रव्य है। इसका एक विशेष नाम दिया गया है—'पुद्गल'। छः द्रव्यों में 'पुद्गल' ही एक मात्र ऐसा द्रव्य है जिसमें रूपादि गुण पाए जाते हैं।

---

१. वही।

धम्मत्थिकाए तद्देसे तप्पएसे य आहिए।
अहम्मो तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए॥
आगासे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए।
अद्धासमए चेव अरूवी दसहा भवे॥
—उ० ३६.५—६.

खंधा य खंधदेसा य तप्पएसा तहेव य।
परमाणुओ य बोद्धव्वा रूविणो य चउव्विहा॥
—उ० ३६.१०.

रूपादि गुणों के भेद-प्रभेद और उनका परस्पर सम्बन्ध—पुद्‌गल द्रव्य में पाए जानेवाले रूपादि गुणों के प्रमुख पांच भेद हैं। इन पांचों भेदों के अन्य अवान्तर पच्चीस भेद निम्नोक्त हैं :[१]

१. **रूप (वर्ण)**—रूप या वर्ण से तात्पर्य है—द्रव्य में पाया जाने वाला 'रंग' जिसका बोध हमें अपनी आँखों से होता है। इसके मुख्य पाँच प्रकार इस प्रकार गिनाए हैं—काला (कृष्ण), नीला (नील), लाल (लोहित), पीला (पीत) और सफेद (शुक्ल)। इन प्रमुख ५ रंगों के अतिरिक्त जो अन्य रंग हमें दिखलाई पड़ते हैं वे इन्हीं के सम्मिश्रण से बनते हैं। अतः उनका पृथक् कथन न करके इन्हीं में अन्तर्भाव कर लिया गया है।

२. **रस**—रस से तात्पर्य है—'स्वाद' जिसका बोध हमें अपनी जिह्वा इन्द्रिय से होता है। इसके भी प्रमुख पाँच प्रकार गिनाए हैं—चरपरा (तिक्त), कडुआ (कटुक), कसैला, खट्टा (अम्ल) और मीठा (मधुर)।

३. **गन्ध**—गन्ध से तात्पर्य है—नासिका इन्द्रिय द्वारा अनुभव की जानेवाली 'सुगन्ध या दुर्गन्ध'। इसके प्रमुख दो प्रकार हैं—सुगन्ध (जिससे आसक्ति बढ़े। जैसे—चन्दनादि से निकलनेवाली गन्ध) और दुर्गन्ध (जिससे घृणा पैदा हो। जैसे—लशुन आदि से निकलनेवाली गन्ध)। अमुक वस्तुएँ सुगन्धवाली हैं और अमुक वस्तुएँ दुर्गन्धवाली हैं ऐसा विभाजन संभव नहीं है क्योंकि इस विषय में अलग-अलग जीव की अलग-अलग अनुभूति है।

---

१. वण्णओ परिणया जे उ पंचहा ते पकित्तिया।
किण्हा नीला य लोहिया, हालिद्दा सुक्किला तहा।
....
संठाणओ परिणया जे उ पंचहा ते पकित्तिया।
परिमंडला य वट्टा य तंसा चउरंसमायया।।
—उ० ३६. १६-२१.

न्यायदर्शन में रूपादि के भेद-प्रभेद भिन्न प्रकार से गिनाए हैं।
—देखिए—तर्कसंग्रह, प्रत्यक्ष-परिच्छेद, पृ० ११-१२.

एक ही वस्तु किसी को सुगन्धित लग सकती हैं और किसी को दुर्गन्धित।

४. **स्पर्श**—स्पर्श से तात्पर्य है—हस्तादि के द्वारा छूने से होने वाला अनुभव। यह मुख्यरूप से आठ प्रकार का बतलाया गया है—कठोर (कर्कश), मुलायम (मृदु), वजनदार (गुरु), हल्का (लघु), ठंडा (शीत), गरम (उष्ण), चिकना (स्निग्ध) और रूखा (रुक्ष)।

५. **संस्थान**--संस्थान से तात्पर्य है--आकृति या आकार (रचना)। इसका बोध हमें चक्षु इन्द्रिय एवं स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा होता है। इसके प्रमुख पाँच प्रकार हैं—गोलाकार (परिमडल—चूड़ी की तरह गोल), वृत्ताकार (गेंद की तरह वर्तुलाकार), त्रिकोणाकार (त्र्यस्र), चतुष्कोण (चतुरस्र—चार कोनों वाला) और लम्बाकार (आयत)।

रूपादि के इन पाँचो भेदो में परस्पर सम्बन्ध भी है। जिस द्रव्य में रूप के पाँच भेदों में से कोई एक रूप होगा उसमें रसादि के अवान्तर भेदों में से भी प्रत्येक का कोई न कोई भेद अवश्य होगा। कोई भी रूपी-द्रव्य ऐसा नहीं है जिसमें कोई न कोई रस, स्पर्श, गन्ध और आकार न हो। अर्थात् जिसमें रूपादि में से कोई गुण प्रकटरूप से होगा उसमें अन्य रसादि सभी गुण भी किसी न किसी मात्रा में अवश्य रहेंगे क्योंकि जिसमें रूप हो उसमे रसादि गुण न हों, यह संभव नहीं है। अतः इन रूपादि गुणों के परस्पर सम्मिश्रण की स्थिति-विशेषके भेद से ग्रन्थ में इनके ४८२ भेद (भङ्ग) गिनाए हैं। जैसे[1] —रूप के पाँचों भेदों का रसादि के बीस भेदों के साथ सयोग करने पर (५×२०) १०० भेद रूप-सम्बन्धी होते हैं। पाँच रस के भेदों का अन्य रूपादि के बीस

---

१ वण्णओ जे भवे किण्हे भइए से उ गंधओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओवि य ॥
.. . .
जे आययसंठाणे भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव भइए फासओवि य ॥
—उ० ३६. २२-४६.

भेदों के साथ संयोग करने पर (५ × २०) १०० भेद रस-सम्बन्धी बनते हैं। गन्ध के दो भेदों का तदितर रूपादि के तेईस भेदों के साथ संयोग करने पर (२ × २३) ४६ भेद गन्धसम्बन्धी बनते हैं। स्पर्श के आठ भेदों का तदितर रूपादि के सत्रह भेदों के साथ संयोग करने पर (८ × १७) १३६ भेद स्पर्श-सम्बन्धी बनते हैं।[1] संस्थान के पाँच भेदों का तदितर रूपादि के बीस भेदों के साथ संयोग करने पर (५ × २०) १०० भेद संस्थान-सम्बन्धी बनते हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि स्वजातीय का स्वजातीय के साथ संयोग नहीं होगा क्योंकि जो कृष्णवर्ण वाला होगा वह श्वेतवर्ण वाला नहीं होगा। ग्रन्थ में रूपादि के जो ये ४८२ भेद गिनाए हैं वे सामान्य अपेक्षा से गिनाए हैं अन्यथा रूपादि के तरतमभाव की अपेक्षा लेकर यदि उपर्युक्त प्रकार से भेदो की कल्पना की जाएगी तो रूपादि के अनेक भेद हो जाएँगे।

वायु आदि में रूपादि की सिद्धि—रूपादि के आपस के सम्बन्ध को देखने से पता चलता है कि जिसमें कोई भी रूप होगा उसमें कोई न कोई रस, गन्ध, स्पर्श और आकार भी अवश्य होगा। इसी तरह जिसमे कोई रस या गन्ध या स्पर्श या आकार होगा उसमें तदितर अन्य गुण भी किसी न किसी मात्रा में अवश्य होंगे। ऐसा कोई भी रूपीद्रव्य नही होगा जिसमें रूप तो हो परन्तु रस-गन्ध आदि न हो, या गन्ध तो हो किन्तु रूप-रस आदि न हों। यह सभव है कि अन्य रसादि गुणों की स्पष्ट प्रतीति न हो। अत: किसी पुद्गल विशेष में किसी गुण विशेष का सर्वथा अभाव नही है। इस तरह इस सिद्धांत से वैशेषिकों द्वारा परिकल्पित वायु का यह लक्षण कि 'जो रूपरहित

---

१. प्रज्ञापना-सूत्र की वृत्ति मे स्पर्श के १८४ भेद (भङ्ग) गिनाए हैं। वह इस आधार पर कि कर्कश स्पर्शवाला तद्विरोधी मृदुस्पर्श को छोड़कर अन्य स्वजातीय स्पर्शवाला भी हो सकता है। इसी प्रकार अन्य स्पर्शवाला भी तद्विरोधी स्पर्श को छोड़कर अन्य स्पर्शवाला हो सकने से स्पर्श के (२३ × ८) १८४ भेद संभव हैं।

—उ० आ० टी०, पृ० १६५५.

स्पर्शवाली वस्तु हो, वायु है[1] ठीक नहीं है क्योंकि वैशेषिकों ने वायु में स्पर्श को स्वीकार करके भी उसे रूप-रसादि से रहित माना है। अनुभव में आता है कि जब वायु किसी दीवाल आदि से अवरुद्ध हो जाती है तो उसका कोई न कोई ठोस आकार भी अवश्य होना चाहिए अन्यथा वायु को दीवाल आदि से रुकना नहीं चाहिए। वायु में जब कोई ठोस आकार है तो उसमें कोई न कोई रूप भी अवश्य होना चाहिए; भले ही वह हमें प्रत्यक्ष न हो। इस तर्क के द्वारा यह नहीं कहा जा सकता है कि चेतन आत्मा में भी रूपादि होना चाहिए क्योंकि वह भी कोई वस्तु है। आत्मा ऐसी ठोस वस्तु नहीं है जो किसी दीवाल आदि से रुके। वायु की ही तरह जलादि में भी रूपादि पाँचों गुणो का सद्भाव है क्योंकि पृथिवी आदि सभी द्रव्य जब रूपी-पुद्गल के विकार (पर्याय) हैं तो फिर उनमें रूपादि पाँचों गुण क्यों नहीं होंगे? अतः जहाँ रूपादि में से कोई भी गुण प्रकट होगा वहां रसादि अन्य गुण भी किसी न किसी अंश में अवश्य होंगे। इस तरह जलादि में पाँचों गुणों का सद्भाव न मानने वाले वैशेषिकों की मान्यता का खण्डन हो जाता है।

पुद्गल का लक्षण—ग्रन्थ में पुद्गल का लक्षण करते हुए शब्द, अन्धकार, उद्योत (प्रकाश), प्रभा (कान्ति), छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श इन १० नामों को गिनाया है।[2]

---

१. रूपरहितस्पर्शवान्वायुः।

—तर्क सग्रह, पृ० ७.

वैशेषिकदर्शन की मान्यता है कि पृथिवी मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारो गुण पाए जाते हैं परन्तु जल में गन्ध का, तेज में गन्ध और रस का, वायु में रूप-रस और गन्ध का अभाव है। वेदान्तदर्शन के अनुसार ये सब ब्रह्म के ही विकार हैं। इनका उत्पत्तिक्रम है—आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी।

२. सद्दन्धयार-उज्जोओ पभा छाया तवो इ वा।
वण्णरसगन्धफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं॥

— उ० २८. १२

इसका तात्पर्य है कि शब्दादि सभी पुद्गल हैं। शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप ये सभी पुद्गल ही हैं यह बात सिद्ध करने के लिए ही पुद्गल के लक्षण में इन्हें गिनाया गया है; अन्यथा वर्णादि के कहने मात्र से पुद्गल का लक्षण हो सकता था। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने किया है।[1] यहाँ एक बात विचारणीय है कि पुद्गल के लक्षण में वर्णादि के उल्लेख के साथ संस्थान (आकार) को क्यों छोड़ दिया गया है ? जबकि रूपादि के भेदों में संस्थान को भी गिनाया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी पुद्गल के लक्षण में संस्थान का सन्निवेश नहीं किया है, जबकि पुद्गल की विभिन्न अवस्थाओं (पर्यायों) का उल्लेख करते समय शब्दादि के साथ संस्थान का भी तत्त्वार्थसूत्रकार ने सन्निवेश किया है।[2] इससे प्रतीत होता है कि पुद्गल के लक्षण में संस्थान भी गतार्थ है। क्योंकि जब किसी पुद्गल मे रूपादि चार गुणों का सद्भाव होगा तो उसका कोई न कोई आकार भी अवश्य होगा। अतः ग्रन्थ में पुद्गल के स्वभाव (परिणाम) का वर्णन करते हुए उसे स्पष्टरूप से रूपादि पाँच गुणो से युक्त बतलाया है।[3]

शब्दादि में पुद्गलत्व की सिद्धि—वैशेषिकदर्शन में 'शब्द' को आकाश का गुण माना है।[4] जबकि यहाँ पर शब्द को पुद्गल-द्रव्य की अवस्था विशेष (पर्याय) माना गया है। हम श्रवणेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान करते हैं परन्तु उसमे न तो कोई रूप है, न रस

---

१. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।

—त० सू० ५. २३.

२. शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।

—त० सू० ५. २४.

३. वण्णओ गंधओ चेव रसओ फासओ तहा।
संठाणओ य विन्नेओ परिणामो तेसि पंचहा॥

—उ० ३६.१५.

४. शब्दगुणकमाकाशम्।

—तर्कसंग्रह, पृ० ९.[1]

और न गन्ध। शब्द का स्पर्श भी ऐसा नही होता जिसे हम छूकर बता सकें कि इसमें कठोर या मृदु स्पर्श है। परन्तु कर्ण-इन्द्रिय से शब्द का सम्पर्क होने पर उसका ज्ञान अवश्य होता है। हम शब्द को तालु आदि के प्रयत्न से उत्पन्न करते हैं और उसे रिकार्ड भी कर लेते हैं जिससे ज्ञात होता है कि उसका कोई आकार एवं स्पर्श भी अवश्य होना चाहिए। जब शब्द में आकार और स्पर्श है तो रूपादि अन्य गुण भी अवश्य होने चाहिए जिनका हमें प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता है। शब्द की तरह **'अन्धकार'** भी प्रकाश का अभाव मात्र नही है अपितु वह भी रूपादि से युक्त होने के कारण पुद्गल की ही अवस्था विशेष (पर्याय) है। यदि 'अन्धकार' मात्र प्रकाश का अभाव होता तो उसका प्रत्यक्ष नही होना चाहिए क्योंकि अभाव का कभी प्रत्यक्षात्मक अनुभव नही होता है। यद्यपि प्रकाश के आने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है और प्रकाश के चले जाने पर अन्धकार छा जाता है। परन्तु इससे उलटा भी कहा जा सकता है कि अन्धकार के आने पर प्रकाश चला जाता है और अन्धकार के चले जाने पर प्रकाश आ जाता है। अतः अन्धकार अभाव-मात्र न होकर प्रकाश की तरह सत्तात्मक पुद्गल द्रव्य है। इसी तरह **'छाया'**, 'आतप', 'प्रभा' और **'उद्योत'** आदि को भी पुद्गल-द्रव्य की पर्याय जानना चाहिए। विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है।[1] इस तरह शब्द, अन्धकार आदि में रूपादि गुणों का सद्भाव होने से ये सभी पुद्गल-द्रव्यरूप ही हैं। इसके अतिरिक्त पृथिवी, जल, तेज (अग्नि) और वायु ये चारों भौतिक द्रव्य वैशेषिकों की तरह स्वतन्त्र द्रव्य नही हैं अपितु ये सभी पुद्गल की ही विभिन्न अवस्था-विशेष (पर्याय) हैं। इसके अतिरिक्त राग-द्वेष के कारण मानव के द्वारा किए गए अच्छे और बुरे कर्म भी पुद्गलरूप ही हैं। इसका आगे वर्णन किया जाएगा। इस तरह आधुनिक विज्ञान के मेटर और एनर्जी सभी पुद्गलरूप ही हैं।[2]

---

१. देखिए—मोक्षशास्त्र (५. २३-२४)—पं० फूलचन्द्र, पृ० २२६-२३६.

२. पंचास्तिकाय (गाथा ८२) में पुद्गल के समस्त-विषय का उल्लेख करते हुए स्पष्ट लिखा है—

पुद्गल के भेद और उनका स्वरूप—ग्रन्थ में रूपी पुद्गल-द्रव्य के जिन चार भेदों का कथन किया गया है उनके नाम ये हैं : १. स्कन्ध (समुदाय), २. देश (स्कन्ध का कल्पित-भाग), ३ प्रदेश (स्कन्ध से मिला हुआ समूहात्मक द्रव्य का सबसे छोटा अविभाज्यांश) तथा ४. परमाणु (स्कन्ध से पृथक् सबसे छोटा अविभाज्य अंश)। रूपीद्रव्य का वह भाग जो कम-से-कम दो भागों में विभक्त किया जा सके 'स्कन्ध' (समूह—समुदाय) कहलाता है। दृष्टिगोचर होने वाले सभी द्रव्य स्कन्ध-रूप ही हैं क्योंकि उन्हें दो या अधिक भागों में विभक्त किया जा सकता है। रूपी-द्रव्य का वह भाग जो दो भागों में विभक्त न किया जा सके ऐसा सबसे छोटा अंश (जो समूहात्मक द्रव्य से पृथक् हो) 'परमाणु' कहलाता है। जब परमाणु किसी समूहात्मक द्रव्य से सम्बद्ध हो जाता है तो उसे 'प्रदेश' कहते हैं। अर्थात् स्कन्ध के सबसे छोटे अंश को प्रदेश कहते हैं और उस सबसे छोटे अविभाज्य अंश के स्कन्ध से पृथक् हो जाने पर उसे ही परमाणु कहते हैं। बड़े स्कन्ध के कल्पित भाग-विशेष को जो सबसे छोटा अंश न हो 'देश' कहते हैं।[1] इस तरह 'देश' और 'प्रदेश' इन दो भेदों के स्कन्धरूप होने से पुद्गल-द्रव्य के दो ही मुख्य भेद हैं : स्कन्ध और परमाणु। तत्त्वार्थसूत्रकार ने पुद्गल-द्रव्य के अणु और स्कन्ध के भेद से दो ही भेद किए है।[2]

उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदिय काया मणो य कम्माणि ।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ।।

१. देखिए—उ० आ० टी०, पृ० १६३२.

पंचास्तिकाय (गाथा ७४-७५) में भी पुद्गल के इसी प्रकार चार भेद किए हैं। परन्तु वहाँ स्कन्ध के आधे भाग को 'देश' और स्कन्ध के चतुर्थांश को 'प्रदेश' कहा है—

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू ।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ।।
खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति ।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ।।

२. अणवः स्कन्धाश्च ।

—त० सू० ५.२५.

परमाणु का यद्यपि चक्षु से प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता है फिर भी उसमें रूपादि का अभाव नही है। यदि उसमें रूपादि का अभाव मान लिया जाएगा तो उसमें पुद्गल का सामान्य-लक्षण ही घटित नहीं होगा तथा अनेक परमाणुओं के संयोग होने पर भी स्कन्ध में कभी भी रूपादि की प्रतीति नहीं होगी क्योंकि सर्वथा असत् से सत् कभी भी उत्पन्न नहीं होता है। परमाणु के अतिसूक्ष्म होने के कारण हमें उसके रूपादि की प्रतीति नहीं होती है।

पुद्गल परमाणु आकाश के एक प्रदेश (अतिसूक्ष्म स्थान) में और पुद्गल स्कन्ध आकाश के बहुत प्रदेश (अधिक स्थान) में ठहरता है। इस तरह सामान्यतौर से पुद्गल-स्कन्ध अधिक-स्थान (बहु-प्रदेश) को घेरता है परन्तु कुछ स्कन्ध ऐसे भी हैं जो अपने गुण-विशेष के कारण एकप्रदेश में भी ठहर जाते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति की अपेक्षा से परमाणु के एकप्रदेशी होने पर भी शक्ति की अपेक्षा से उसमे भी बहुप्रदेशीपना माना गया है।[1] अत: पुद्गल-द्रव्य की स्थिति एक से अधिक प्रदेश में होने के कारण इसे जैनदर्शन मे 'अस्तिकाय' कहते हैं।[2] अस्तिकाय का अर्थ है—जो बहुत प्रदेश में ठहरे। धारा-प्रवाह की अपेक्षा से ये स्कन्ध और परमाणु

---

१. एगत्तेण पुहुत्तेण खधा य परमाणु य।
लोएगदेसे लोए य भइयव्वा ते उ खेत्तओ॥

—उ० ३६.११.

अणवश्च महान्तश्च व्यक्तिशक्तिरूपाभ्यामिति परमाणूनामेकप्रदेशात्मकत्वेऽपि तत्सिद्धिः।

—पंचास्तिकाय-तत्त्वदीपिका टीका, पृ० १३.

२ जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता॥

—पंचास्तिकाय, गाथा ४.

ते चेव अत्थिकाया……।

—पंचास्तिकाय, गाथा ६.

अनादि-काल से वर्तमान हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। इनका कभी अभाव न था, न है और न होगा। परन्तु अमुक स्थितिविशेष की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु का प्रारम्भकाल और अन्तकाल दोनों संभव हैं। अर्थात् स्थिति-विशेष की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु में उत्पत्ति और विनाश दोनों होते हैं। इस उत्पत्ति और विनाश की एक सीमा है। जैसे[1]—यदि कोई परमाणु या स्कन्ध किसी एक निश्चित स्थान पर ठहरते हैं तो वे अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) असंख्यात-काल (संख्यातीतवर्ष) तक और कम से कम (जघन्य) एक क्षण (समय) तक वहाँ रहेंगे। इस उत्कृष्ट अवधि के बाद वे किसी न किसी निमित्त को पाकर क्षेत्रान्तर में अवश्य चले जाएँगे। यदि कोई परमाणु या स्कन्ध किसी विवक्षित स्थान से स्थानान्तर में चला जाता है तो उसे पुनः उसी स्थान पर आने में कम-से-कम एक क्षण और अधिक से अधिक अनन्तकाल लग सकता है। मध्यम-सीमा का काल कम से कम (जघन्य) और अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) सीमा के बीच कोई भी हो सकता है।

इस तरह रूपादि गुण से युक्त जो भी वस्तु दृष्टिगोचर होती है वह सब पुद्गल-द्रव्य है। बौद्धदर्शन में भी पुद्गल शब्द का प्रयोग मिलता है परन्तु वहाँ पर इसका प्रयोग शरीरधारी-प्राणियों के लिए किया गया है।[2]

---

१. एत्तो कालविभागं तु तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥
संतइं पप्प तेऽणाई अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥
असंखकालमुक्कोसं इक्कं समयं जहन्नयं ।
अजीवाण य रूवीणं ठिई एसा वियाहिया ॥
अणंतकालमुक्कोसं इक्कं समयं जहन्नयं ।
अजीवाण य रूवीणं अंतरेयं वियाहियं ॥
—उ० ३६. ११-१४.

२. पालि-अंग्रेजी शब्दकोष, पवर्ग, पृ० ८५.

(ख) अरूपी अचेतन-द्रव्य (धर्म-अधर्म-आकाश-काल) :

रूपादि से रहित अचेतन-द्रव्य मुख्यतः चार प्रकार का है और अवान्तर भेदों के साथ १० प्रकार का बतलाया गया है। इसके अवान्तर भेद काल्पनिक हैं। इसके प्रमुख चार भेदों के नाम ये हैं— धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य। धर्मद्रव्य, अधर्म-द्रव्य और आकाशद्रव्य के बहुप्रदेशी होने के कारण इन्हें पुद्गल की तरह स्कन्ध, देश और प्रदेश के भेद से तीन-तीन प्रकार का बतलाया गया है। इनके एक अखण्डरूप द्रव्य होने के कारण इनका परमाणुरूप चौथा भेद नहीं किया गया है। कालद्रव्य के परमाणु-रूप ही होने के कारण उसका कोई अन्य अवान्तर भेद नहीं किया गया है क्योंकि बहुप्रदेशी द्रव्य में ही स्कन्ध, देश और प्रदेश ये अवान्तर भेद बन सकते हैं। धर्मादि द्रव्यों के परमाणुरूप न होने और बहुप्रदेशी (अस्तिकाय) होने से ग्रन्थ में धर्मादि द्रव्यों को संख्या की अपेक्षा एक-एक अखण्ड-द्रव्य बतलाया है। काल-द्रव्य के परमाणुरूप होने तथा एकप्रदेशी (अनस्तिकाय) होने से उसे अनेक सख्यावाला बतलाया है।[१] इसीलिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी कालद्रव्य को छोडकर शेष धर्मादि तीन अचेतन द्रव्यों को बहुप्रदेशी (अस्तिकाय) तथा निष्क्रिय कहा है।[२]

ये चारों ही द्रव्य अरूपी होने से भावात्मक तथा शक्तिरूप हैं। इन्हें हम अपनी आंखों से देख नहीं सकते हैं। इनके कार्यों से इनकी

---

१. धम्मो अधम्मो आगास दव्व इक्किक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गलजंतवो॥
—उ० २८. ८.

२. अजीवकाया धर्माधर्माकाश पुद्गला.।
—त० सू० ५. १.

आ आकाशादेक द्रव्याणि। निष्क्रियाणि च।
—त० सू ५. ६-७.

सत्ता की केवल कल्पना कर सकते हैं। इन चारों द्रव्यों का न तो कभी विनाश होता है और न उत्पत्ति। अतः इन्हें सन्तति-प्रवाह की अपेक्षा अनादि-अनन्त स्वीकार किया गया है। अपेक्षा-विशेष की दृष्टि से इनमें सादि-सान्तता (उत्पत्ति-विनाश भी है।[1] यद्यपि ग्रन्थ में सिर्फ काल-द्रव्य के विषय में सादि-सान्तता का कथन है परन्तु उपाधि की अपेक्षा धर्मादि द्रव्यों में भी सादि-सान्तता अभीष्ट है।[2] धर्म और अधर्म द्रव्य का स्थिति-क्षेत्र लोक की सीमा-प्रमाण (असंख्यात-प्रदेशी) माना है। आकाश-द्रव्य के लोक और अलोक में वर्तमान होने से उसे लोकालोक-प्रमाण (अनन्त प्रदेशी) माना है। मनुष्य-लोक में ही घड़ी, घटा आदि रूप से काल की गणना की जाने के कारण काल-द्रव्य को ढाई-द्वीपप्रमाण (समयक्षेत्रिक) कहा है।[3] अन्यथा अन्य द्रव्यो की तरह यह भी लोक-प्रमाण ही है।[4] क्योंकि ऐसा न मानने पर ढाई-द्वीप के बाहर कालद्रव्यकृत परिवर्तन कैसे संभव हो सकेगा ? अतः अन्यत्र जैन-ग्रन्थो में काल-द्रव्य को भी लोक-

---

१. धम्माधम्मागासा तिन्नि वि एए अणाइया।
अपज्जवसिया चेव सव्वद्धं तु वियाहिया ॥
समए वि संतइं पप्प एवमेव वियाहिए।
आएसं पप्प साईए सपज्जवसिए वि य ॥

—उ० ३६.८-९.

२. वही।

३. धम्माधम्मे य दो चेव लोगमित्ता वियाहिए।
लोगालोगे य आगासे समए समयखेत्तिए ॥

—उ० ३६.७.

समयावलिकापक्षमासत्वंयनसञ्ज्ञिताः।
नृलोक एव कालस्य वृत्तिर्नान्यत्र कुत्रचित् ॥

—उद्धृत उ० घा० टी०, भाग—५, पृ० ६९४.

तथा देखिए—पृ० ५७, पा० टि० ५.

४. देखिए—पृ० ५५, पा० टि० १.

प्रमाण माना है।[1] इन धर्मादि अरूपी अचेतन द्रव्यों का स्वरूप इस प्रकार है :

१. **धर्मद्रव्य**—यहाँ पर धर्मद्रव्य से तात्पर्य पुण्य से नहीं है अपितु गति में सहायता देने वाले द्रव्य-विशेष से है। अतः ग्रन्थ में गति को धर्म का लक्षण बतलाया है।[2] धर्मद्रव्य गतिमान् चेतन और पुद्गल का मात्र गति मे सहायक कारण है, प्रेरक कारण नहीं है।[3] वास्तव में गति चेतन और पुद्गल में ही है। इसे हम रेल की पटरी की तरह गति का माध्यम कह सकते हैं। यह लोकाकाश-प्रमाण एक अखण्ड-द्रव्य होने से स्वतः निष्क्रिय है। लोक की सीमा के बाहर चेतन और पुद्गल का गमन न हो सके अत इसे लोक की सीमा-प्रमाण माना गया है। अलोक मे इस प्रकार के गति के माध्यम का अभाव होने से वहाँ जीवादि की गति का निरोध हो जाता है।

२. **अधर्मद्रव्य**—धर्मद्रव्य की तरह यह भी पापरूप अधर्म अर्थ का वाचक नही है अपितु इसके द्वारा चेतन और पुद्गल जो क्रिया-शील द्रव्य है उनके ठहरने मे सहायता मिलती है। अतः स्थिति को अधर्म का लक्षण बतलाया है।[4] अर्थात् ठहरनेवाले द्रव्यो (जीव-पुद्गल) के ठहरने मे सहायता करना इसका कार्य है। इस तरह यह धर्मद्रव्य से ठीक विपरीत द्रव्य है। धर्मद्रव्य गमन मे सहायक है तो अधर्मद्रव्य ठहरने मे सहायक है। शेष सभी लक्षण धर्मद्रव्य की तरह है।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के मानने का मूल कारण है सृष्टि के नियन्ता ईश्वर को न मानना तथा वस्तु-व्यवस्था के साथ लोका-

---

१. भा० सं० जै०, पृ० २२२.

२. गइ लक्खणो उ धम्मो।

—उ० २८.९.

३. पंचास्तिकाय, गाथा ८३, ८५; कै० जै०, पृ० ९३.

४. अहम्मो ठाणलक्खणो।

—उ० २८.९.

लोक का विभाजन सुनियोजित बनाए रखना। प्रेरक कारण न मानकर सहायक कारण मात्र मानने का कारण है पूर्ण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को कायम रखना तथा द्रव्यों में परस्पर संघर्ष न होना। विश्व में जो हलनचलनरूप क्रिया देखते हैं उन सब में धर्मद्रव्य कार्य करता है और जो हलन-चलन की क्रिया से रहित हैं उन सबमें अधर्मद्रव्य कार्य करता है। दोनों के अचेतन एवं स्वतः निष्क्रिय होने के साथ गति-स्थिति में सहायक कारण मात्र होने से आपस में झगड़े का प्रश्न ही उपस्थित नही होता है। झगड़ा सक्रिय-द्रव्य में ही संभव है, निष्क्रिय में नही। यहाँ एक बात और विचारणीय है कि गति और स्थिति में सहायक इन दो द्रव्यों के क्रमशः नाम धर्म और अधर्म क्यों रखे गए जबकि धर्म और अधर्म शब्द का प्रयोग सर्वत्र क्रमश पुण्यरूप और पापरूप कार्यो के अर्थ में प्रचलित था। इसके अतिरिक्त प्रकृत ग्रन्थ में भी धर्म और अधर्म शब्द का प्रयोग क्रमशः अच्छे और खराब कार्यों के अर्थ में किया गया है।[1] अतः मालूम पड़ता है इसके मूल मे धार्मिक भावना कार्य करती है। वह यह कि अधर्म (बुरे कार्य) करनेवाला संसार में पड़ा रहता है और धर्म (शुभ कार्य) करनेवाला स्वर्ग या मुक्ति के लिए ऊपर गमन करता है। इसीलिए धर्मको गति का और अधर्म को (संसार मे स्थित रहने से) स्थिति का सहायक कारण मानकर उनके नाम क्रमशः गति और स्थिति न रखकर धर्म और अधर्म नाम रखे गए हैं।

३ **आकाशद्रव्य** – द्रव्यों के ठहरने के लिए स्थान (अवकाश) देना आकाश का कार्य है। यह सभी द्रव्यो का आधारभूत भाजन (पात्र-विशेष) है।[2] चेतन और अचेतन द्रव्यो के ठहरने के लिए किसी आधार विशेष की कल्पना आवश्यक थी क्योकि विना आधार के ये द्रव्य कहाँ ठहरते? इसके लिए जिस द्रव्य की कल्पना की गई उसका नाम है—आकाश। आकाश कोई ठोस द्रव्य नहीं है अपितु खाली स्थान ही आकाश है। जहाँ हम उठते

---

१. उ० २०. ३८; ७.१४-२१.

२. भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं।
—उ० २८.९.

हैं, बैठते हैं, चलते हैं, सोते हैं, सर्वत्र आकाश है। अलोक में भी ऐसा कोई प्रदेश नही है जहाँ आकाश न हो। ऐसे द्रव्य की सत्ता स्वीकार कर लेने से द्रव्य अनाधार नहीं रहते हैं अन्यथा आधार के विना आधेय कहाँ रहेगे ? सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर-द्रव्य को स्वीकार कर लेने पर ऐसे द्रव्य की कल्पना निरर्थक थी। यद्यपि बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त दर्शनो में भी आकाश-द्रव्य माना गया है परन्तु प्रकृत ग्रन्थ मे स्वीकृत आकाश-द्रव्य से वहा भिन्नता है। बौद्धदर्शन मे आकाश का स्वरूप आवरणाभाव माना है तथा उसे असंस्कृत-धर्मों (जिनमें उत्पाद-विनाश नहीं होता) में गिनाया है।[1] परन्तु उत्तराध्ययन में आकाश को अभावात्मक स्वीकार नही किया गया है। इसके अतिरिक्त आकाश को असंस्कृत-धर्म भी नही कह सकते हैं क्योंकि उसमें उत्पाद-विनाश और स्थिरतारूप द्रव्य का सामान्य लक्षण पाया जाता है। द्रव्य के इस स्वरूप का आगे विचार किया जाएगा। वैशेषिकदर्शन में आकाश को यद्यपि एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है परन्तु वहाँ शब्द-गुण के जनक को आकाश कहा गया है। इसके अतिरिक्त 'दिशा' को आकाश से पृथक् माना गया है।[2] उत्तराध्ययन में 'दिशा' को आकाश से पृथक् नही माना गया है क्योकि आकाश के प्रदेशों मे ही दिशा की कल्पना की जाती है। इसके अतिरिक्त आकाश शब्द-गुण का जनक नही हो सकता है क्योकि शब्द मूर्तिक पुद्गल विशेष है और आकाश अमूर्तिक द्रव्य है। अमूर्तिक द्रव्य मूर्तिक का जनक कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार प्रकृति (अचेतन) का विकार या ब्रह्म का विवर्त भी आकाश नही हो सकता है[3] क्योंकि आकाश एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

---

१. बौ० द०, पृ० २३९.

२. तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।……
शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभुनित्यं च।… प्राच्यादिव्यवहार-हेतुर्दिक्।

—तर्क सं०, पृ० २,९.

३. आकाश को वेदान्तदर्शन मे ब्रह्म का विवर्त तथा साख्यदर्शन में प्रकृति का विकार माना गया है।

—देखिए-वेदान्तसार, पृ० ३२; सां० का०, श्लोक ३.

यद्यपि धर्मद्रव्य की तरह आकाश के भी स्कन्ध, देश और प्रदेश ये तीन भेद किए गए हैं परन्तु प्रकृत-ग्रन्थ में अन्य प्रकार से भी दो भेद मिलते हैं। उनके नाम हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश।[1] लोकाकाश से तात्पर्य है—आकाश के जितने भाग में धर्मादि द्रव्यों की सत्ता है, वह प्रदेश। अलोकाकाश से तात्पर्य है—जहाँ धर्मादि द्रव्यों की सत्ता नहीं है (अलोक)—मात्र आकाश ही आकाश है, वह प्रदेश। इस तरह आकाश का यह द्विविध विभाजन लोक की सीमा के आधार पर किया गया है। आकाश के उपर्युक्त सभी भेद काल्पनिक या उपाधिजन्य हैं क्योंकि इस प्रकार से आकाश के घटाकाश, मठाकाश आदि अनेक भेद हो सकते हैं। वास्तव में आकाश भी धर्मादि-द्रव्य की तरह एक अखण्ड अस्तिकाय-द्रव्य है जिसे पुद्गल की तरह तोड़कर दो भागों में विभक्त नहीं किया जा सकता है।[2]

अलोक में धर्मादि द्रव्यों का अभाव होने से अलोकाकाश में आश्रय प्रदानरूप आकाश के सामान्य लक्षण का अभाव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि आकाश अलोक में भी आश्रय देने को तैयार है। यदि कोई द्रव्य किसी कारणवश वहाँ आश्रय प्राप्त करने के लिए नहीं जाता है तो इसमें आकाश का क्या दोष है? वास्तव में धर्म और अधर्म द्रव्य के प्रतिबन्धक होने से ही अलोकाकाश में अन्य द्रव्यों की सत्ता नहीं है। सीमारहित होने के कारण आकाश को अनंत माना गया है।[3] आधुनिक दर्शन-शास्त्र में धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनों द्रव्यों की शक्तियाँ आकाश में ही मानी जाती हैं।[4]

---

१. देखिए–पृ० ५५, पा० टि० १, पृ० ७५, पा० टि० ३.

२ देखिए–पृ० ७४, पा० टि० १; पृ० ५५ पा० टि० १.

३. इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया।

—उ० ९.४८.

तथा देखिए–पृ० ५५, पा० टि० १.

4. **These three functions of subsistence, motion and rest are assigned to space in modern philosophy.**

—भा० द० रा०, पृ० ३१६.

४. कालद्रव्य—द्रव्यों में होनेवाले परिवर्तन से जो समय की गणना की जाती है उसे 'वर्तना' कहते हैं और वर्तना (वस्तुमात्र के परिवर्तन में कारण होना) काल का लक्षण है।[1] सब द्रव्यों के परिवर्तन (परिणमन) में कारण कालद्रव्य ही है। जैन साहित्य में काल के दो भेद किए गए हैं—१ निश्चयकाल और २. व्यवहारकाल।[2] ग्रन्थ मे काल को जो ढाई-द्वीपप्रमाण (समय-क्षेत्रिक) कहा गया है वह व्यवहारकाल की दृष्टि से कहा गया है क्योकि परिवर्तन तो सब क्षेत्रों मे प्रतिसमय होता रहता है और उसकी (निश्चयकाल की) द्रव्यात्मक सत्ता समस्त लोक में व्याप्त है। ग्रन्थ मे व्यवहारकाल की ही दृष्टि से काल को 'अद्धासमय'[3] भी कहा गया है।[4] काल के जितने भी भेद सभव हैं वे सब व्यवहार की दृष्टि से ही सभव हैं क्योकि कालके परमाणुरूप होने से ग्रन्थ में अनत सख्यावाले काल का एक ही भेद गिनाया है। बौद्ध और वैशेषिक-दर्शन में भी काल का व्यवहार होता है। बौद्धदर्शन में काल स्वभावसिद्ध द्रव्य नही है। वह मात्र व्यावहारिक काल है।[5] वैशेषिकदर्शन मे काल व्यापक और एक

---

१. वत्तणा लक्खणो कालो।

—उ० २८.१०.

२. भा० स० जै०, पृ० २२२, त० सू० ५.३९-४० (सर्वार्थसिद्धि टीका)।

३. यह देशज शब्द है। इसका अर्थ है—सूर्य आदि की क्रिया (परिभ्रमण) से अभिव्यक्त होनेवाला समय।

—पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० ५२.

कालशब्दो हि वर्णप्रमाणकालादिष्वपि वर्तते, ततोऽद्धाशब्देन विशिष्यत इति, अयं च सूर्यक्रियाविशिष्टो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्ती समयादिरूपोऽवसेयः।
— स्थानाङ्ग-सूत्र (४ १.२६४) वृत्ति, पत्र १९० (उद्धृत—उत्तरज्झयणाणि भाग २, आ० तुलसी, पृ० ३१५, पा० टि० १.
तथा देखिए—पृ० ७५ पा० टि० ३.

४. देखिए—पृ० ६४, पा० टि० १.

५. सो पनेस सभावतो अविज्जमानत्ता पञ्ञत्तिमत्तको एवा ति वेदितब्बो।

—अट्ठशालिनी १.३.१६.

है।[1] परन्तु उत्तराध्ययन मे काल अणुरूप और अनेक संख्या-वाला है। कुछ श्वेताम्बर जैन-आचार्य काल की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नही करते हैं।[2]

इस तरह इन पाँचों प्रकार के रूपी और अरूपी अचेतन-द्रव्यों मे पुद्गल-द्रव्य को छोड़कर शेष चार द्रव्य भावात्मक, निष्क्रिय और अरूपी हैं। पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जिसे हम देख सकते हैं, और स्पर्श आदि भी कर सकते हैं। इसका जीव के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और जीवों के विभाजन आदि का आधार भी यही है।

चेतनद्रव्य—जीव :

अचेतन-द्रव्य के अतिरिक्त जिस द्रव्य की सत्ता है उसका नाम है—जीव। जीव से तात्पर्य है जिसमे देखने एव जानने की शक्ति हो ऐसा चेतनात्मक द्रव्य। चैतन्य के होने पर ही होने वाले परिणाम को या चैतन्य को ही उपयोग कहते हैं। अतः ग्रन्थ मे जीव का लक्षण उपयोग (चेतना) बतलाया है।[3] जैनदर्शन मे यह उपयोग मुख्यरूप से दो प्रकार का माना गया है: दर्शनोपयोग (निराकारज्ञान—स्वसवेदनात्मक) और ज्ञानोपयोग (साकारज्ञान—परसवेदनात्मक)।[4] दर्शन शब्द का अर्थ है—किसी वस्तु का सामान्य अवलोकन करना। ज्ञान शब्द का अर्थ है—किसी वस्तु के बारे मे विशेष जानकारी प्राप्त करना। अतः ज्ञान के पहले दर्शन अवश्य होता है। यहाँ पर दर्शनोपयोग से तात्पर्य है स्व का निराकार सवेदन होना और ज्ञानोपयोग से तात्पर्य है स्व और पर का साकार बोध होना। जिसमें ज्ञान-दर्शनरूप चेतना

---

१. अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च।

—तर्क सं०, पृ० ६.

२. जैनदर्शन—महेन्द्रकुमार, पृ० १६३.

३. जीवो उवओगलक्खणो।

—उ० २८.१०.

४. उपयोगो लक्षणम्। स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।

—त० सू० २.८-९.

(उपयोग) नहीं है वह अचेतन है और जिसमें चैतन्य का कुछ भी अंश मौजूद है वह चेतन या जीव है। जीव ही आत्मा है।

ऊपर जो जीव का लक्षण बतलाया गया है वह अचेतन से पृथक् करने वाला स्वरूप-लक्षण है। जीव के इसी स्वरूप का समर्थन करते हुए *ग्रन्थ में अन्य प्रकार से भी लिखा है कि ज्ञान, दर्शन, सुख,* दुःख, चारित्र, तपस्या (तप), वीर्य और उपयोग—ये सब जीव के लक्षण हैं।[1] इस लक्षण में जीव के जिन असाधारण धर्मों का कथन *किया गया है वे सिर्फ जीव में ही संभव हैं। यद्यपि वीर्य* (सामर्थ्य) अचेतन में भी पाया जाता है परन्तु अचेतनसम्बन्धी वीर्य उपयोग-शून्य होने से यहाँ अभीष्ट नहीं है। क्योंकि ज्ञान-दर्शन आदि असाधारण धर्मों का सम्बन्ध अन्ततः उपयोग से ही है। उपयोग के होने पर ही ज्ञान, दर्शन आदि देखे जाते हैं। अतः जीव के प्रथम लक्षण में सिर्फ उपयोग को ही जीव का लक्षण बतलाया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में भी उपयोग को जीव का लक्षण बतलाकर उसे ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का बतलाया है।[2] अतः उपयोग या चेतना ही जीव का प्रमुख लक्षण है।

शरीर से पृथक् जीव के अस्तित्व के विषय में एक सबसे जबर्दस्त शंका है कि यदि उसका अस्तित्व है तो दिखलाई क्यों नहीं पड़ता ? उत्तराध्ययन में जब भृगुपुरोहित अपने पुत्रों को धन, स्त्री आदि के प्रलोभन द्वारा आकृष्ट नहीं कर पाता है तो वह धर्म के आधारभूत आत्मा के अस्तित्व में इसी प्रकार की शका करता हुआ कहता है कि जैसे अविद्यमान भी अग्नि अरणिमन्थन (दो लकड़ियों की रगड़ से) से, घृत दूध से, तिलों से तेल उत्पन्न हो जाते हैं वैसे ही चेतन जीव की चार भौतिकद्रव्यों (पृथिवी, अप्, तेज और वायु) से उत्पत्ति हो जाती है और उनके अलग हो जाने

---

१. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥
—उ० २८.११.

२. देखिए—पृ० ८१, पा० टि० ४

पर चेतन (जीव) भी नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य चेतनात्मक स्वतन्त्र जीव-द्रव्य नहीं है।[1]

इसके उत्तर में भृगुपुरोहित के दोनों पुत्र कहते हैं कि आत्मा (जीव) चूँकि रूपरहित (अमूर्त) है अतः उसका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है। जो अमूर्त है वह नित्य भी है।[2] इस तरह यहाँ बतलाया गया है कि आत्मा के अमूर्त होने से उसका प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता है। जब मूर्त होकर भी वायु हमें दिखलाई नही पड़ती तो फिर जो अमूर्त जीव है उसका प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे हो सकता है? जीव के अस्तित्व का ज्ञान उसके कार्यों द्वारा ही (अनुमान-प्रमाण से) किया जा सकता है। ग्रन्थ में ऐसे चार मुख्य कार्य गिनाए हैं जिनसे जीव के अस्तित्व का ज्ञान होता है। वे ये हैं:[3] १. मैं ज्ञानवान् हूँ, २. मैं अपने आप को जानता हूँ, ३ मैं सुखी हूँ, ४ मैं दुःखी हूँ। इस प्रकार से तथा इसी प्रकार के अन्य[4] अनुभवो से प्रतीत होता है कि शरीर से अतिरिक्त कोई चेतन द्रव्य है। भृगुपुरोहित ने अरणिमन्थन आदि से जो अविद्यमान अग्नि आदि की उत्पत्ति बतलाई है वह भी अनुभव से विपरीत

---

१. जहा य अग्गी अरणी असन्तो खीरे घय तेल्ल महातिलेषु।
एमेव जाया सरीरंसि सत्ता समुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥
—उ० १४.१८.

२ नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
—उ० १४.१९.

३. नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य।
—उ० २८.१०.

४. हम अनुभव करते हैं 'मेरा शरीर', 'मेरा हाथ' आदि। इस प्रकार के भेदात्मक अनुभव से ज्ञात होता है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। यदि शरीर और आत्मा अभिन्न होते तो 'मेरा शरीर' ऐसा अनुभव नही हो सकता। अगर कहा जाए कि 'मेरी आत्मा' ऐसा भी तो अनुभव होता है। तो हम कहेंगे कि इससे आत्मा स्वतः सिद्ध हो जाती है। क्योंकि यहाँ 'मेरी' शब्द का प्रयोग शरीर के लिए हुआ है। इस तरह आत्मा शरीर से भिन्न ही सिद्ध हुआ।

है। यदि अरणि में अग्नि, दूध में घी, और तिल में तैल पहले से विद्यमान न हो तो वे उनसे उत्पन्न ही नहीं हो सकते हैं। यदि इस तरह असत् से भी सत् पैदा होने लगे तो फिर तैल आदि के लिए तिलों को ही क्यों खोजा जाता है ? बालू आदि के द्वारा क्यों नहीं तेल आदि निकाला जाता है ?

इसके अतिरिक्त यदि शरीर से चेतन-द्रव्य पृथक् नहीं है तो फिर क्या कारण है कि मृत-पुरुष को शरीर के वर्तमान रहने पर भी सुख-दुःख आदि का अनुभव नहीं होता है ? विशेषावश्यक-भाष्य में बतलाया गया है कि मृत-शरीर में यदि वायु का अभाव हो जाता है तो पम्प आदि के द्वारा हवा भरने पर उसे जीवित हो जाना चाहिए। यदि उसमे तेज का अभाव हो जाता है तो वायु की तरह तेज का प्रवेश कराने पर उसे जीवित हो जाना चाहिए। यदि उसमें विशिष्ट-प्रकार के तेज का अभाव है तो वह विशिष्ट-तेज क्या है ? आत्मा से अतिरिक्त वह तेज कुछ भी नहीं है।[1] किञ्च, जिसका निषेध किया जाता है उसकी सत्ता अवश्य रहती है।[2] इसीलिए उत्तराध्ययन में भी शरीर को जीवत्व के अभाव मे तुच्छ कहा है।[3] इसी प्रकार के अन्य अनेक तर्कों द्वारा प्रायः सभी आत्मवादी भारतीय दर्शन जीव या आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि करते हैं।

---

१. स्याद्—अज्ञातोपालम्भोऽय, तस्या भूतसमुदायोपलब्धिसिद्धे, न मृत-शरीरे व्यभिचारात्, तत्र वाय्वभावे न व्यभिचार इति चेत्, न, नलिकाप्रयोगप्रक्षेपेऽप्यनुपलब्धेः, तेजो नास्तीति चेत्, न, तस्यापि तथैव क्षेपेऽनुपलब्धे', विशिष्टं तेजो नास्तीति चेत् आत्मभाव इत्यारभ्यतां तर्हि भूम्यालिङ्गनम्।

—विशेषावश्यकभाष्यटीका—तृतीयगणधर, पृ० ५१७.

२ यन्निषिध्यते तत् सामान्येन विद्यते एव।

—षड्दर्शनसमुच्चय-गुणरत्न, पृ० ४८-४९

पाश्चात्यदर्शन मे आधुनिक-युग के संस्थापक देकार्त भी इसी तरह आत्मा की सिद्धि करते हैं।

—देखिए—पाश्चात्यदर्शन, पृ० ८६-८८.

३. तं एक्कगं तुच्छशरीरगं से।

—उ० १३.२५.

उत्तराध्ययन में जीव के सामान्य चेतन गुण के अतिरिक्त कुछ अन्य भी गुण बतलाए हैं जो अजीव से व्यावर्तक तो नहीं हैं परन्तु जीव के स्वरूपाधायक अवश्य हैं। जैसे :

१ **जीव अमूर्त है**[1]—संसारावस्था में जीव शरीर के सम्बन्ध से यद्यपि मूर्तिक की तरह है परन्तु वास्तव में रूप, रस, गन्ध आदि से रहित होने के कारण उसे अमूर्त स्वभाववाला माना है। अमूर्त-स्वभाव होने के कारण ही वह हमारी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता है।

२. **जीव अविनश्वर है**[2]—जो अमूर्त है उसका शस्त्रादि के द्वारा विनाश संभव न होने से वह अजर-अमर भी है। गीता में भी इसे अजर-अमर कहा गया है।[3] ग्रन्थ में इसीलिए नश्वर ससार में जीव को सारवान् वस्तु माना है।[4] अनादि काल से शरीर के साथ सम्बन्ध होने के कारण जीव एक शरीर के नाश होने पर दूसरे शरीर को प्राप्त करता है। अतः शरीर-सम्बन्ध के कारण जीव अनित्य भी है।

३. **जीव स्वदेहपरिमाणवाला है**[5] —आत्मा स्वतः अमूर्त है परन्तु शरीर के सम्बन्ध से मूर्तिक-सा हो रहा है। अतः जीव में

---

१. देखिए–पृ० ८३, पा० टि० २ तथा प्रवचनसार २.८०.

२. वही।

नत्थिजीवस्स नासु त्ति।

—उ० २.२७.

३. नायं हन्ति न हन्यते ... न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

—गीता २.१९-२०.

४. जहा गेहे पलित्तम्मि तस्स गेहस्स जो पहू।

सारभंडाणि नीणेइ असारं अवउज्झइ॥

एव लोए पलित्तम्मि जराए मरणेण य।

अप्पाणं तारइस्सामि तुब्भेहिं अणुमन्निओ।

—उ० १९ २३-२४.

५. उस्सेहो जस्स जो होई भवम्मि चरिमम्मि उ।

तिभागहीणो तत्तो य सिद्धाणोगाहणा भवे॥

—उ० ३६.६४.

स्वतः कोई आकार-प्रकार आदि के न होने से शरीर के सम्बन्ध के कारण उसे स्वदेह-परिमाणवाला माना है। जीव के स्वदेह-परिमाणवाला होने से वह न तो व्यापक है और न अणुरूप ही है। अपितु छोटे या बड़े शरीर मे जितना स्थान पाता है उतने में ही विस्तार या संकोच को प्राप्त करके रह जाता है। यदि उसे स्वदेह-परिमाण न मानकर व्यापक माना जाता तो उसे शरीर के बाहर भी सवेदन होना चाहिए था। यदि अणुरूप माना जाता तो पूरे-शरीर में सवेदन नही होना चाहिए था। हमें शरीर-प्रदेश-मात्र मे ही सवेदन होता है, न तो शरीर के एक-प्रदेश में और न शरीर के बाहर। इसीलिए आत्मा को शरीर-परिमाण वाला माना है। यहा एक प्रश्न है कि मुक्त-जीवों के शरीररूपी बन्धन न होने से उन्हे समस्त-लोक में व्याप्त हो जाना चाहिए। यहाँ मालूम पड़ता है कि मुक्त-जीवो के व्यापक मानने पर शरीर-प्रमाण वाले सिद्धान्त से विरोध होता है। अतः उन्हें भी व्यापक न मानकर पूर्वजन्म के शरीर-प्रमाण की अपेक्षा ⅓ भाग न्यून क्षेत्रप्रमाण माना है।[1] पूर्वजन्म के शरीर की अपेक्षा ⅓ भाग न्यून मानने का कारण है कि शरीर मे कुछ छिद्र भाग रहते हैं और मुक्त-जीवों के शरीर न होने से उनके आत्म-प्रदेश सघन हो जाते हैं। अतः पूर्व जन्म के शरीर की अपेक्षा ⅓ भाग न्यून क्षेत्र माना है। बन्धन का अभाव होने से तथा उसमे सकोच-विकास स्वभाव होने से मुक्त-जीव को या तो अणुरूप या व्यापक हो जाना चाहिए था। उसका अभाव माना नही जा सकता क्योकि सत् का कभी विनाश नही होता है।

४. **जीव कर्त्ता-भोक्ता तथा पूर्ण स्वतन्त्र है**[2] —स्वयं के उत्थान और पतन में जीव को पूर्ण स्वतन्त्र, कर्त्ता एव भोक्ता माना है।

---

१. वही।

२. अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥
—उ० २० ३६-३७.

अतः ग्रन्थ में कहा है—आत्मा अपना कर्त्ता, विकर्त्ता (उत्थान और पतन का), अच्छा मित्र, खराब शत्रु, वैतरणी नदी (एक नारकी नदी जो दु:खकर है), कूटशाल्मलि वृक्ष (दुःख देने वाला पेड़), कामदुघा धेनु तथा नन्दन वन (ये दोनों सुखकर हैं) है।[1] इसका तात्पर्य है कि आत्मा जैसा चाहे वैसा कर्म करके अपने को अच्छे या खोटे मार्ग पर ले जा सकता है। यदि अच्छा काम करता है तो अपना सबसे बड़ा मित्र है, कामधेनु है तथा नन्दनवन है। यदि बुरे कार्य करता है तो अपना सबसे बड़ा शत्रु है, वैतरणी-नदी है तथा कूटशाल्मलि वृक्ष है। इसमें ईश्वर-कर्तृक कोई हस्त-क्षेप नहीं है। जीव जैसा करता है वैसा ही भोगता है। अच्छे कर्म करता है तो सुखी होता है और बुरे कर्म करता है तो दुःखी होता है।

५. जीव ऊर्ध्वगमन-स्वभाववाला है[2]— मुक्त-जीवों का निवास लोक के ऊर्ध्वभाग में माना गया है। अतः जीव का स्वभाव भी ऊर्ध्वगमन वाला होना चाहिए जोकि बन्धन के कारण नीचे (ससार में) पड़ा हुआ है। यदि ऐसा न माना जाता तो मुक्त-जीवों को वही रहना पड़ता जहा शरीर का त्याग करते हैं।

इस तरह ग्रन्थ में जीव को ज्ञान-दर्शन स्वभावरूप चेतनगुण के अतिरिक्त अमूर्त, नित्य, स्वदेह-परिमाण, कर्त्ता, भोक्ता, स्वतन्त्र, ऊर्ध्वगमनस्वभाव तथा नश्वर संसार में सारभूत द्रव्य माना है। जीव का ऐसा ही स्वरूप अन्य जैन ग्रन्थों में भी मिलता है।[3]

---

१. वही।

२. अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ताणं तत्थ गंतूण सिज्झई॥
—उ० ३६. ५६.

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।......तथागतिपरिणामाच्च।
—त० सू० १०.५-६.

३. जीवो उवओगमओ अमुत्तिकत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो मुत्तो सो विस्ससोड्ढगई॥
—द्रव्यसंग्रह, गाथा २.

तथा देखिए—भगवतीसूत्र २.१०; १३.४; स्थानाङ्ग ५.३.५३०; नवपदार्थ, पृ० २९.

जीवों के भेद–जीवों की संख्या ग्रन्थ में कालद्रव्य की तरह अनन्त बतलाई गई है।[1] हवा, पानी, पृथिवी, अग्नि, पौधा, कुत्ता, बिल्ली, पशु, स्त्री, पुरुष आदि में सर्वत्र जीवों की सत्ता मानी गई है। इन सभी जीवों को सर्वप्रथम मुक्त और बद्ध की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया गया है। इन्हें ही क्रमशः 'सिद्ध' और 'संसारी' के नाम से कहा गया है।[2] इन्हे क्रमशः 'अशरीरी' और 'सशरीरी' भी कह सकते हैं क्योकि सभी मुक्त-जीव शरीर-रहित होते हैं और सभी ससारी-जीव शरीर-सहित। ऐसा कोई भी समय या स्थान नही है जब ससारी-जीव शरीर-रहित रहता हो। मृत्यु के उपरान्त (एक शरीर छोडकर दूसरे शरीर मे जाते समय) भी वह एक विशेष-प्रकार के शरीर (कार्मण-शरीर) से युक्त रहता है। इन सिद्ध और ससारी जीवो के स्वरूपादि अधोलिखित हैं :

१. **सिद्ध-जीव**[3]– जो बन्धन से रहित स्वस्वरूप मे स्थित है उन्हे सिद्ध-जीव कहते हैं। ये बन्धन का अभाव होने से 'मुक्त', शरीर से रहित होने के कारण 'अशरीरी', और पूर्ण-ज्ञान से युक्त होने के कारण 'बुद्ध' कहलाते हैं। इनका निवास लोक के ऊर्ध्व-भाग (लोकान्त) में बतलाया गया है। इनका आकार पूर्व-जन्म के शरीर की अपेक्षा $\frac{1}{3}$ भाग न्यून होता है। ये अनत-दर्शन और अनन्त-ज्ञान के साथ अनन्त-सुख से भी युक्त होते हैं। इनके सुखो के समक्ष हमारे सुख तुच्छ (नगण्य) हैं। इनका संसार में पुनः आगमन नही होता है। आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप बतलाया गया है वे उसी स्वरूप में सर्वदा रहते हैं।

यद्यपि सिद्ध जीवो के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि मे कोई भेद नही है क्योकि सभी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त सुखों से युक्त तथा

१. देखिए–पृ० ७४, पा० टि० १.

२ संसारत्था य सिद्धा य दुविहा जीवा वियाहिया।

उ० ३६.४८,२४६.

संसारिणो मुक्ताश्च।

–त० सू० २.१०.

३. उ० १०.३५; ३६.४८-६७; विशेष के लिए देखिए–प्रकरण ६.

सकल बन्धनों से रहित हैं परन्तु पूर्वजन्म की उपाधि की अपेक्षा से उनके भी कई भेद हो सकते हैं।

२. **संसारी-जीव**—जो किए हुए कर्मों का फल भोगने में परतन्त्र हैं, तथा शरीर से युक्त हैं वे सब संसारी-जीव हैं। इन्हें 'बद्ध' या 'सशरीरी' जीव भी कह सकते हैं। ये यद्यपि कर्म करने मे स्वतन्त्र हैं परन्तु उसका फल भोगने मे परतन्त्र हैं। इन्हें कर्म-फल भोगने के लिए शरीर का आश्रय लेना पड़ता है। ससार का अर्थ है - आवागमन। अर्थात् जहाँ पर कर्म-फल भोगने के लिए एक शरीर से दूसरे शरीर को ग्रहण करना पड़े या जन्म-मरण के चक्र में चलना पड़े उसे ससार कहते है। अतः ससारी से तात्पर्य लोक मे निवास करना नही है क्योकि ऐसा मानने पर सिद्ध जीव भी लोक के भीतर ही रहने के कारण ससारी कहलाएँगे। इस तरह ससारी से तात्पर्य है जो अपने शुद्ध-स्वरूप को प्राप्त न करके कर्म-फल भोगने के लिए परतन्त्र हैं तथा शरीर से युक्त है। ससारी-जीवो के मुख्यरूप से पाँच प्रकार के शरीर माने गए है [1] १. **औदारिक**—वह स्थूल-शरीर जिसका छेदन-भेदन किया जा सके, २ **वैक्रियक**—जिसका छेदन-भेदन न हो सके परन्तु स्वेच्छा से छोटा-बडा, पतला-मोटा आदि अनेकरूप किया जा सके, ३ **आहारक**—किसी विशेष अवसर पर मुनि के द्वारा बनाया गया शरीर, ४ **तैजस**—अन्नादि पाचन-क्रिया में तेज उत्पन्न करनेवाला और ५. **कार्मण**—पुण्यपापरूप कर्मों का पिण्ड। इन पाँच प्रकार के शरीरो में से तैजस और कार्मण शरीर प्रत्येक ससारी जीव के साथ हमेशा रहते है। अतः इनका जीव के साथ अनादि सम्बन्ध है। इन दो शरीरों के अतिरिक्त जीवित अवस्था में जीव के साथ औदारिक और वैक्रियक में से कोई एक शरीर और रहता है। इस तरह सामान्यतः जीवित अवस्था

१. तओ ओरालियतेयकम्माइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता ……।
—उ० २९.७३.

औदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि।
—त० सू० २.३६.

तथा देखिए—२.३७-४९.

में एक जीव के एक-साथ तीन शरीर होते हैं। औदारिक और वैक्रियक शरीर का अभाव सिर्फ मृत्यु के समय होता है। दूसरा जन्म लेने पर औदारिक और वैक्रियक में से कोई न कोई शरीर पुनः प्राप्त हो जाता है। साधारणतया मनुष्य और पशु-पक्षियों (तिर्यञ्चों) में औदारिक-शरीर पाया जाता है। देव और नारकियों में वैक्रियक शरीर पाया जाता है। अतः संसारी जीवों को 'सशरीरी' या 'बद्ध' जीव कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

संसारी जीवों के विभाजन के स्रोत :

ग्रन्थ में ससारी-जीवो के विभाजन के कई स्रोत हैं उनमें से कुछ निम्नोक्त हैं :

१. **गमन करने की शक्ति**[१]—जो जीव एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन कर सकते हैं उन्हें एक विभाग मे रखा जा सकता है और जो ऐसे सामर्थ्य वाले नही है उन्हे दूसरे विभाग में रखा जा सकता है। ग्रन्थ मे इनके क्रमशः नाम त्रस और स्थावर दिए गए हैं। इसी विभाजन को मूल आधार मानकर आगे विभाजन किया गया है। यहाँ एक बात स्मरणीय है कि यद्यपि सभी जीव सक्रिय हैं परन्तु गतिशीलता के आधार पर जो विभाजन किया गया है वह वर्तमान मे चलने-फिरने की शक्ति की अपेक्षा से है।

२. **शरीर की स्थूलता और सूक्ष्मता**[२]—जिनका शरीर स्थूल है उन्हें एक विभाग मे और जिनका शरीर सूक्ष्म (लघु) है उन्हें

---

१. संसारत्था उ जे जीवा दुविहा ते वियाहिया।
तसा य थावरा चेव थावरा तिविहा तहिं ॥
—उ० ३६.६८.

तथा देखिए—उ० ५.८; ८.१०; २५.२३; त० सू० २.१२.

२. तसाणं थावराणं च सुहुमाणं बादराण य।
—उ० ३५.९.

तथा देखिए—भा० सं० जै०, पृ० २१८-२१९.

दूसरे विभाग में रख सकते हैं। यहाँ स्थूलता से तात्पर्य लम्बे-चौड़े शरीर से तथा सूक्ष्मता से तात्पर्य छोटे-शरीर से नहीं है अपितु जो दीवाल आदि से अग्नि की किरणों की तरह रुके नहीं वे सूक्ष्म हैं और जो रुक जावें वे स्थूल हैं। इस विषय में ग्रन्थ में एक कर्म-विशेष (नामकर्म) स्वीकार किया है जिसका आगे वर्णन किया जाएगा।

३. **शरीर की उत्पत्ति (जन्म)**[१]—जो माता-पिता का संयोग होने पर माता के गर्भ से उत्पन्न होवे वे 'गर्भज' हैं। जो माता-पिता के संयोग के बिना यत्र-तत्र अपवित्र स्थानों में पैदा होवें वे 'सम्मूर्च्छिम' हैं। जो किसी स्थान-विशेष से ऐसे उठकर खड़े हो जावें मानो सोकर जाग रहे हों, वे 'उपपादजन्म' वाले जीव हैं। मनुष्य और पशु आदि में प्रथम दो प्रकार के जन्म सभव हैं। देव और नारकियों में तृतीय प्रकार का जन्म होता है। इस तरह शरीर की उत्पति (जन्म) के आधार से ससारी जीवो के तीन भेद होते हैं।

४. **शरीर की पूर्णता तथा अपूर्णता**[२]—शरीर की पूर्णता से तात्पर्य है-जिस जीव को जिस प्रकार के शरीर को प्राप्त करना है उसका पूर्ण आकार-प्रकार बन जाना। जिन्हें शरीर की पूर्णता प्राप्त हो चुकी है वे 'पर्याप्तक' कहलाते हैं और जिन्हें शरीर की पूर्णता प्राप्त नहीं हुई है वे 'अपर्याप्तक' कहलाते हैं। जैनदर्शन में छः पर्याप्तियाँ मानी गई हैं जिनकी मात्रा पृथक्-पृथक् जीवो मे पृथक्-पृथक् निश्चित है।[३]

---

१. समुच्छिमा य मणुया गब्भवक्कंतिया तहा।
—उ० ३६.१९४.
तथा देखिए—भा० सं० जै०, पृ० २१८-२१९.

२. पज्जन्तमपज्जत्ता एवमेव दुहा पुणो।
—उ० ३६.७०.
तथा देखिए—उ० ३६.८४, ९२,१०८,११७ आदि।

३ आहारसरीरिंदियपज्जत्ती आणपाणभासमणो।
चत्तारि पंच छप्पि य एइंदियवियलसण्णीणं॥
—गो० जी०, गाथा ११८ (टीका सहित)।

५. **जन्मसम्बन्धी शरीर की अवस्था-विशेष (गति)**[१]—जन्म-सम्बन्धी शरीर की मुख्य चार अवस्थाएँ (पर्याएँ) हैं जिन्हें 'गति' नाम से कहा गया है। यद्यपि गति शब्द का सामान्य अर्थ गमन है परन्तु यहाँ देवादि चार अवस्था-विशेषों में जीव के गमन करने के कारण उन्हें गति कहा गया है। इस विषय में एक प्रकार का कर्म-विशेष स्वीकार किया गया है जिसके आधार पर इसकी व्याख्या की जाती है। इस गति भेद के आधार से जो चार भेद जीव के है उनके नाम ये है—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च (पशु-पक्षी, वृक्ष आदि) और नारक।

६. **धर्माचरण**—जो अहिंसा आदि धर्म का पालन करते हैं वे 'सनाथी-जीव' हैं तथा जो ऐसा नही करते हैं वे 'अनाथी-जीव' हैं।[२] इस तरह दो भेद हैं। इसे अन्य प्रकार से तीन भागो मे भी विभक्त किया गया है।[३] जैसे. मनुष्य जन्म को मूलधन मान-कर—१. मूलधन-रक्षक-ऐसे कार्य करने वाला जिससे मनुष्य-जन्म की पुनः प्राप्ति हो, २. मूलधन-विनाशक—जो खोटे-कर्म द्वारा मूलधनरूपी मनुष्य जन्म को नष्ट करके पशु एव नरकादि योनियो मे जन्म लेता है और ३. मूलधनवर्धक—जो अच्छे कार्यों को करके देवपने को प्राप्त करता है।

---

१ पचिदिया उ जे जीवा चउव्विहा ते वियाहिया।
नेरइया तिरिक्खा य मणुया देवा य आहिया ।।
—उ० ३६ १५५.

२. इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा तामेगचित्तो निहुओ सुणेहि मे।
नियण्ठधम्म लहियाण वी जहा सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा ।।
—उ० २० ३८

तुज्झं सुलद्ध खु मणुस्सजम्म लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी।
तुब्भे सणाहा य सबन्धवा य ज मे ठिया मग्गि जिणुत्तमाण ।।
—उ० २० ५५.

३. माणुसत्त भवे मूल लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ।।
—उ० ७.१६.

तथा देखिए—उ० ७.१४,२१.

७. **ज्ञानेन्द्रियाँ**[1]—ज्ञान के स्रोत पाँच इन्द्रियाँ मानी जाती हैं। उनके क्रमशः नाम ये हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, तथा कर्ण। इनमें से जो क्रमशः एक इन्द्रिय वाला है उसे एकेन्द्रिय, जो दो इन्द्रियों वाला है उसे द्वीन्द्रिय, जो तीन इन्द्रियों वाला है उसे त्रीन्द्रिय, जो चार इन्द्रियों वाला है उसे चतुरिन्द्रिय और जो पाँचों इन्द्रियों वाला है उसे पञ्चेन्द्रिय जीव कहते हैं। इन इन्द्रियों की संख्या मे वृद्धि क्रमशः ही होती है।

इस तरह ये कुछ मुख्य प्रकार हैं जिनके आधार पर जीवों का विभाजन किया गया है। शरीर में पाए जानेवाले रूपादि के तरतमभाव तथा स्थान-विशेष आदि के आधार से जीव के अनन्त भेद हो सकते हैं जिनकी ग्रन्थ मे सूचना मात्र दी गई है।[2] वस्तुतः ये सभी भेद शुद्ध जीव के नहीं है अपितु शरीरादि की उपाधि से विशिष्ट जीव (आत्मा) के हैं।

गमन करने की शक्ति की अपेक्षा जो त्रस और स्थावर के भेद से दो भेद किए गये थे उनमे से प्रथम स्थावर जीवों के भेदादि का विचार किया जाता है।

स्थावर जीव :

चलने-फिरने की शक्ति से रहित जीव स्थावर कहलाते हैं। इसके प्रमुख तीन भेद किए गए हैं[3] : १. पृथिवी शरीर

---

१. उराला तसा जे उ चउहा ते पकित्तिया।
बेइंदिया तेइंदिया चउरो पंचिंदिया चेव ॥
—उ० ३६ १२६

२. एएसिं वण्णओ चेव गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ॥
—उ० ३६.८३.

तथा देखिए—उ० ३६ ९१, १०५, ११६, १२५ आदि।

३. पुढवी आउजीवा य तहेव य वणस्सई।
इच्चेए थावरा तिविहा तेसिं भेए सुणेह मे ॥
—उ० ३६.६९.

तथा देखिए—उ० ३६ ६८.

वाले (पृथिवीकायिक), २ जल शरीर वाले (अप्‌कायिक) और ३. वनस्पति शरीर वाले (वनस्पतिकायिक)। यह गमनकर्तृक विभाजक रेखा ग्रन्थ में सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं होती है क्योंकि अन्यत्र अग्निशरीर वाले (अग्निकायिक) तथा वायु शरीर वाले (वायुकायिक) एकेन्द्रिय जीवों को भी इनके साथही गिनाया गया है तथा शेष को त्रस कहा है।[1] इसी तरह जहाँ त्रस जीव के भेद गिनाए गए हैं वहाँ द्वीन्द्रियादि को प्रधान (उराल) त्रस कहा गया है।[2] इसका तात्पर्य है कि वायुकायिक और तेजस्कायिक को किसी अपेक्षा से त्रस कहा जा सकता है। अन्यथा वे स्थावर ही हैं। अत: उन्हें हम अप्रधान त्रस शब्द से भी कह सकते हैं। यहाँ एक बात और विचारणीय है कि जिस प्रकार अग्नि के ऊर्ध्वगमन करने से तथा वायु के तिर्यक्‌गमन करने से उनमें त्रसरूपता मानी जाती है उसी प्रकार जल में भी अधोगमन तथा वनस्पतियों में ऊर्ध्व और अधोगमन दोनों होने से जलकायिक और वनस्पतिकायिक में त्रसरूपता क्यों नहीं है? इसका तात्पर्य है कि यदि अग्नि को त्रस कहा जाता है तो वनस्पति को भी त्रस कहना चाहिए क्योंकि ये दोनों अपने मूल स्थान से सर्वथा न हटते हुए ही गमन करते हैं। यदि वायु को स्वस्थान से हटने के कारण त्रस कहा जाता है तो जल में भी यही बात होने से उसे भी त्रस कहना चाहिए। मालूम पड़ता है इस विषय को लेकर पहले भी स्थावर जीवों के विभाजन में मतान्तर रहे हैं। अत: उत्तराध्ययन में बहुत स्थलों पर छ:काय के जीवों का उल्लेख किया गया है। छ:काय के जीवों में पाँच स्थावर और एक त्रस का भेद लिया गया है।[3]

---

१. पुढवी-आउक्काए तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं।

—उ० २६.३०.

तथा देखिए—उ० २६.३१.

२. इत्तो उ तसे तिविहे वुच्छामि अणुपुव्वसो।
तेऊ वाऊ य बोधव्वा उराला य तसा तहा॥

—उ० ३६.१०६.

तथा देखिए—उ० ३६.१०७, १२६.

३. देखिए—पृ० ९४, पा० टि० १.

इस तरह अग्निकायिक और वायुकायिक के जीवों में स्थावरपने की ही प्रधानता होने से तथा विषय की समानता होने से यहाँ पर एकेन्द्रिय के पाँचों भेदों को दृष्टि में रखकर विचार किया जाएगा :

१ **पृथिवीकायिक जीव**–जिनका पृथिवी ही शरीर है उन्हें पृथिवीकायिक जीव कहते हैं। सूक्ष्म और स्थूल (बादर) के भेद से इनके प्रथमतः दो भेद किए गए हैं फिर इन दोनों के ही पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से अवान्तर दो-दो भेद किए गए हैं।[1] बादर पर्याप्तक को प्रथमतः मृदु (श्लक्ष्ण) और कठिन (खर) इन दो भागों में विभक्त किया गया है। इसके बाद मृदु पृथिवी के सात और खर-पृथिवी के छत्तीस प्रकारों को गिनाया गया है।[2]

(क) मृदु-पृथिवी के सात प्रकार—काली, नीली, लाल, पीली, श्वेत, पाण्डु (कुछ श्वेत तथा कुछ अन्य रग वाली भूरी) तथा पनक-मृत्तिका (आकाश मे फैलने वाली अत्यन्त सूक्ष्म रज)। इस तरह रंग के आधार पर ये सात प्रकार मृदु-पृथिवी के गिनाए गए हैं।

(ख) खर-पृथिवी के छत्तीस प्रकार-शुद्ध-पृथिवी (समूहरूप), शर्करा, बालुका, उपल, शिला, लवण, क्षार, लोहा, ताम्बा, तरुआ (त्रपु), सीसा, रूप्य (चांदी), सुवर्ण, वज्र (हीरा), हरिताल (पीली और सफेद), हिंगुलुक (शिगरफ), मन:सिल, सासक (रत्न विशेष), अंजन (सुरमा), प्रवाल, अभ्रपटल (अभ्रक), अभ्रवालुक, गोमेदक,

---

१. दुविहा पुढवीजीवा य सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता एवमेव दुहा पुणो ॥
—उ० ३६ ७०.

२ बायरा जे उ पज्जत्ता दुविहा ते वियाहिया।
सण्हा खरा य बोधव्वा सण्हा सत्तविहा तहिं ॥
....

एए खर पुढवीए भेया छत्तीसमाहिया
एगविहमनाणत्ता सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥
—उ० ३६.७१-७७

रुचक, अंक, स्फटिक-लोहिताक्ष, मरकत-मसारगल्ल, भुजमोचक, इन्द्रनील, चन्दनगेरुक-हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त और सूर्यकान्त। खर-पृथिवी के इन ३६ प्रकारों में कठोर स्पर्शवाले धातु पाषाण, मणि आदि को गिनाया गया है। गोमेदक से लेकर अन्त तक के सभी भेद मणि-विशेष के नाम हैं। सूक्ष्म पृथिवीकायिक जीव एक ही प्रकार का है।[1]

२. **अपकायिक जीव**—जल ही है शरीर जिनका उन्हें अपकायिक जीव कहते हैं। सूक्ष्म-पर्याप्तक, सूक्ष्म-अपर्याप्तक, बादर-पर्याप्तक और बादर-अपर्याप्तक के भेद से पृथिवीकायिक की तरह इसके भी चार भेद किए गए हैं।[2] बादर-पर्याप्तक जीवों के पांच भेद गिनाए हैं[3] —शुद्धोदक (मेघ या समुद्रादि का जल), अवश्याय (ओस), हरतनु, महिका[4] और हिम (बर्फ)।

३. **वनस्पतिकायिक जीव**—वनस्पति (वृक्ष-पौधे आदि) ही है शरीर जिनका उन्हें वनस्पतिकायिक जीव कहते हैं। पृथिवी के भेदों की ही तरह इसके भी सूक्ष्म-पर्याप्तक, सूक्ष्म-अपर्याप्तक, बादर-पर्याप्तक और बादर-अपर्याप्तक के भेद से चार भेद किए गए हैं।[5] बादर-पर्याप्तक को पुन. दो भागों में विभक्त किया गया है[6] : १ साधारणशरीर (जिनके शरीर में एक से अधिक जीवों

---

१. वही।

२ दुविहा आउजीवा उ''' (शेष पृ० ६५, पा० टि० १ की तरह)।
—उ० ३६ ८४.

३. बायरा जे उ पज्जत्ता पचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से हरतणू महिया हिमे॥
—उ० ३६.८५.

४. 'हरतनु'' स्निग्धपृथिवीसमुद्भव. तृणाग्रबिन्दु, 'महिका' गर्भमासेषु सूक्ष्मवर्षम्।
—उ० ने० वृ०, पृ० ३८१.

५. दुविहा वणस्सईजीवा ' (शेष पृ० ६५, पा० टि० १ की तरह)।
—उ० ३६.९२.

६. बायरा जे उ पज्जत्ता दुविहा ते वियाहिया।
साहारणसरीरा य पत्तेगा य तहेव य॥
—उ० ३६.९३.

का निवास रहता है और एक के आहार आदि से सबका पोषण होता है) तथा २. प्रत्येक-शरीर (जिनके शरीर में एक ही जीव का निवास रहता है या जिस शरीर का एक ही स्वामी होता है)। इसके बाद इन दोनों के अनेक भेदों में से कुछ अवान्तर प्रकारों को गिनाया गया है। जैसे :[1]

(क) साधारण-शरीर बादर पर्याप्तक के कुछ प्रकार—आलू, मूली, श्रृङ्गबेर (अदरक), हरिली, सिरिली, सिस्सिरिली, यावतिक, कन्दली, पलांडु, लशुन, कुहुव्रत, लोहिनी, हुताक्षी, हूत, कुहक, कृष्ण, वज्रकन्द, सूरणकन्द, अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुण्ढी, हरिद्राकन्द आदि अनेक कन्दमूल इस विभाग में आते है। इनके नामों का परिज्ञान वैद्यक निघण्टु तथा देश-देशान्तर की भाषाओं से हो सकता है।

(ख) प्रत्येक-शरीर बादर पर्याप्तक के कुछ प्रकार—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म (नवमल्लिका आदि), लता (चम्पकादि), वल्ली (करेला आदि), तृण (घास), वलय (नारियल आदि। इसमें त्वचा वलयाकार होती है; शाखाएँ नही होती), पर्वज (जो पर्व या सन्धि वाले है। जैसे—बास, ईख आदि), कुहुण (कु:=पृथिवी का भेदन करके उत्पन्न होने वाले, छत्राकार), जलरुह (कमल आदि), औषधितृण (शाल्यादि धान्य), हरितकाय (चुलाई आदि की शाक) आदि अनेक पेड़-पौधे इस विभाग मे आते हैं।

४. **अग्निकायिक जीव**—अग्नि ही है शरीर जिनका उन्हें अग्निकायिक जीव कहते हैं। पृथिवी की तरह इसके भी चार भेद हैं।[2]

---

१. पत्तेयसरीरा उ णेगहा ते पकित्तिया।

... .

मुसुंढी य हलिद्दा य णेगहा एवमायओ ॥

—उ० ३६.९४–९९.

२. दुविहा तेऊजीवा उ ··· (शेष पृ० ९५, पा० टि० १ की तरह)।

—उ० ३६.१०८.

उनमें से बादर-पर्याप्तक के अनेक भेद हैं।[1] जैसे : अंगार (धूम रहित अग्नि), मुर्मुर (भस्मयुक्त अग्निकण), अग्नि (सामान्य—शुद्ध-अग्नि), अर्चि (समूल अग्निशिखा), ज्वाला (मूलरहित अग्निशिखा), उल्का, विद्युत् आदि।

५. **वायुकायिक जीव**—वायु ही है शरीर जिनका उन्हें वायु-कायिक जीव कहते हैं। पृथ्वीकायिक की तरह इनके भी चार भेद हैं।[2] उनमें से बादर-पर्याप्तक वायुकायिक के अनेक प्रकार हैं।[3] जैसे : उत्कलिका (रुक-रुक कर बहनेवाली), मण्डलिका (चक्राकार), घन (नरकों में बहनेवाली), गुञ्जा (शब्द करनेवाली), शुद्ध (मन्द-मन्द पवन), संवर्तक (जो तृणादि को साथ में उड़ाकर बहती है) आदि।

इस तरह ग्रन्थ में संक्षेप से बादर (स्थूल) एकेन्द्रिय स्थावर जीवों का विभाजन किया गया है। रूपादि के तरतम-भाव के आधार से इनके अन्य अवान्तर अनेक भेद हो सकते हैं।[4] सूक्ष्म एकेन्द्रिय सभी स्थावर जीवों का एक-एक ही भेद बतलाया गया है[5] क्योंकि स्थूल में ही अवान्तर भेद संभव हैं। सभी सूक्ष्म

---

१. बायरा जे उ पज्जत्ता णेगहा ते वियाहिया।
इंगाले मुम्मुरे अगणी अच्चिजाला तहेव य ॥
उक्का विज्जू य बोधव्वा णेगहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता सुहुमा ते वियाहिया ॥
—उ० ३६.१०९-११०.

२ दुविहा वाउजीवा उ'''(शेष पृ० ९५, पा० टि० १ की तरह)।
—उ० ३६.११७.

३. बायरा जे उ पज्जत्ता पंचहा ते पकित्तिया।
उक्कलिया मंडलिया घणगुंजा सुद्धवाया य ॥
संवट्टगवाया य णेगहा एवमायओ।
—उ० ३६.११८-११९.

४. देखिए—पृ० ९३, पा० टि० २.

५. एगविहमणाणत्ता सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि एगदेसे य बायरा ॥
—उ० ३६.७७-७८, ८६, १००, ११०, ११९-१२०.

जीव चूँकि किसी से रुकावट को प्राप्त नहीं होते हैं अतः सर्वलोक में व्याप्त हैं। इनका गमन सिद्धों के निवास-स्थान तक संभव है। इसीलिए प्रारम्भ में जो लोक का विभाजन किया गया है वह जीवों के निवास के आधार पर नहीं किया गया है। बादर-कायिक जीव चूँकि अवरोध को प्राप्त होते हैं अतः उनका निवास लोक के एक देश में माना गया है।[1] इन एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की सन्तान-परम्परा अनादि काल से वर्तमान है तथा अनन्त काल तक रहेगी। परन्तु जब हम किसी जीव विशेष की अवस्था विशेष की अपेक्षा से विचार करते हैं तो उसका प्रारम्भ भी है और अन्त भी है।[2] इन सभी एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की आयु (भवस्थिति) कम से कम अन्तर्मुहूर्त (एक अत्यन्त सूक्ष्म क्षण से लेकर ४८ मिनट तक) तथा अधिक से अधिक पृथिवीकायिक की २२ हजार वर्ष, अप्कायिक की ७ हजार वर्ष, वनस्पतिकायिक की १० हजार वर्ष, अग्निकायिक की तीन दिन-रात (अहोरात्र) और वायुकायिक की ३ हजार वर्ष है।[3] इस आयु के पूर्ण होने के बाद ये जीव नियम से एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेते हैं। यदि एक पृथिवीकायिक जीव मरकर पुनः-पुनः (बारम्बार) पृथिवीकायिक जीव ही बनता है तो उसे कायस्थिति कहेंगे। यह कायस्थिति सभी एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की कम से कम अन्तर्मुहूर्त तथा अधिक से अधिक वनस्पतिकायिक को छोड़कर शेष की असंख्यातकाल (संख्यातीत वर्ष) है। वनस्पतिकायिक की अधिकतम कायस्थिति अनंतकाल

---

१. वही।

२. संतइं पप्प णाईया अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसियावि य॥
—उ० ३६.७९,८७,१०१,११२,१२१.

३. बावीससहस्साइं वासाणुक्कोसिया भवे।
आउठिई पुढवीणं अंतोमुहुत्तं जहन्निया॥
—उ० ३६.८०.

अप्कायिक आदि के लिए देखिए—उ० ३६.८८,१०२,११३,१२२.

बतलाई गई है।[1] यदि कोई पृथिवीकाय का जीव मरकर किसी अन्य काय वाला जीव बन जाता है और उसके बाद कालान्तर में पुनः पृथ्वी-कायिक जीव बनता है तो उस व्यवधान-काल को स्वकाय-अन्तर या अन्तर्मान कहेंगे। इस प्रकार का अन्तर्मान कम से कम अन्तर्मुहूर्त है तथा अधिक से अधिक अनंतकाल (सीमातीत) है परन्तु वनस्पतिकाय का अधिकतम काल असंख्यात-काल है।[2]

इस तरह इन एकेन्द्रिय स्थावर जीवों में जीवत्व स्वीकार करने के ही कारण जैन-साधु को पृथिवी आदि पर मल-मूत्रादि का त्याग करते समय सावधानी वर्तने को कहा गया है।[3] पृथिवी आदि में जीवत्व स्वीकार कर लेने पर पुद्गल-द्रव्य का अभाव नहीं होता है क्योंकि पृथिवी आदि की काया वाले जीवों का शरीर तो

---

१. असंखकालमुक्कोसा अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
कायठिई पुढवीणं तं कायं तु अमुंचओ॥
—उ० ३६.८१.

अणंतकालमुक्कोसा अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
कायठिई पणगाणं तं कायं तु अमुंचओ॥
—उ० ३६.१०३.

तथा देखिए—उ० १०.५.९.

अप्, तेज और वायुकायिक के लिए देखिए—उ० ३६.८९,११४,१२३; १०.६-८.

२. अणंतकालमुक्कोसं अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए पुढवीजीवाण अंतरं॥
—उ० ३६.८२

असंखकालमुक्कोसं अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढम्मि सए काए पणगजीवाण अंतरं॥
—उ० ३६ १०४.

अप्, तेज और वायुकायिक के लिए देखिए—उ० ३६.९०,११५,१२४.

३. देखिए—प्रकरण४, उच्चारसमिति।

पुद्गल का ही है। पृथिवी आदि में जीवों की सत्ता होने के कारण ही महाभारत में भी संसार को नाना जीवों से भरा हुआ बतलाया गया है।[1]

त्रस जीव :

दो इन्द्रियों से लेकर पाँच इन्द्रियों वाले जीव त्रस कहलाते हैं। इन्हें ही ग्रन्थ में प्रधान-त्रस कहा गया है। इनके प्रथमतः द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय के भेद से चार भेद किये गए हैं।[2] इनमें स्थावर जीवो की तरह सूक्ष्म नाम का भेद नही पाया जाता है। द्वीन्द्रियादि जीव आकार में सूक्ष्म (छोटे) हो सकते हैं परन्तु ऐसे सूक्ष्म नही हैं जो दीवाल आदि से भी रुके नही। अतः ग्रन्थ मे द्वीन्द्रियादि जीवों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से प्रथमतः दो भेद किए गए हैं।[3] परन्तु पञ्चेन्द्रिय जीवो के विषय में इस प्रकार के भेद को बतलाने वाली कोई गाथा नही है। द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों के भेदादि निम्नोक्त हैं :

१. **द्वीन्द्रिय जीव**—जो स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों से युक्त है वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे.[4] कृमि (विष्टा आदि अपवित्र स्थान में उत्पन्न होने वाले), सुमगल, अलस (यह वर्षा-ऋतु मे पैदा होता है), मातृवाहक (काष्ठ-भक्षक-घुण), वासीमुख,

---

१. उदके बहवः प्राणाः पृथिव्या च फलेषु च।
न च कश्चिन्न तान् हन्ति किमन्यत् प्राणयापनात्।
सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्॥
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषा स्यात् स्कन्धपर्ययः॥
—महाभारत, शान्तिपर्व, १५.२५-२६.

२. देखिए—पृ० ६३, पा० टि० १.

३. बेइंदिया उ जे जीवा दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता तेसिं भेए सुणेह मे॥
—उ० ३६.१२७.

इसी तरह त्रीन्द्रियादि के लिए देखिए—उ० ३६. १३६, १४५ तथा आ० टी०, पृ० १७१७.

४. किमिणो सोमंगला चेव ''णेगहा एवमायओ।
—उ० ३६.१२८-१३०.

शुक्ति, शंख, लघुशङ्ख (घोंघे आदि), पल्लक, अनुपल्लक, बराटक (कौड़ी), जलौका (जोंक आदि), जालका, चन्दना आदि।

२. त्रीन्द्रिय जीव जो स्पर्शन, रसना और घ्राण इन तीन इन्द्रियों से युक्त हैं वे त्रीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे:[1] कुन्थु, पिपीलिका, उद्दंसा, उत्कलिका, उपदेहिका, तृणहारक, काष्ठहारक, मालुका, पत्रहारक, कार्पासिक, अस्थिजात, तिन्दुक, त्रपुष, मिगज (मिञ्जक), शतावरी, गुल्मी, इन्द्रकायिक, इन्द्रगोपक आदि।

३. चतुरिन्द्रिय जीव–जो स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियो से युक्त हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे:[2] अन्धिका, पौत्तिका, मक्षिका, मशक, भ्रमर, कीट, पतग, ढिंकण, कुंकण, कुक्कुट, शृङ्गरीटी, नन्द्यावर्त, वृश्चिक, डोला, भृङ्गरीटक, विरली, अक्षिवेधक, अक्षिला, मागध, अक्षिरोडक, विचित्र, चित्रपत्रक, उपधिजलका, जलकारी, नीचक, ताम्रक आदि।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के द्वीन्द्रियादि जीव स्थूल होने से लोक के एक देश में रहते हैं।[3] ये अनादिकाल से वर्तमान हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। ये किसी जीव विशेष की स्थिति विशेष की अपेक्षा से सादि और सान्त भी हैं।[4] इनकी स्थिति (आयु) कम से कम अन्तर्मुहूर्त तथा अधिक से अधिक द्वीन्द्रिय की १२ वर्ष, त्रीन्द्रिय की ४६ दिन, चतुरिन्द्रिय की ६ मास है।[5] कायस्थिति

---

१. कुंथुपिवीलिउड्डंसा णेगविहा एवमायओ।
—उ० ३६.१३७-१३६.

२ अंधिया पोत्तिया चेव मच्छिया मसगा तहा।
... .
इय चउरिंदिया एए णेगहा एवमायओ॥
—उ० ३६.१४६-१४६.

३. लोगेगदेसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया।
—उ० ३६.१३०, १३६, १४६.

४. उ० ३६.१३१, १४०, १५० (पृ० ६६, पा० टि० २ की तरह)

५. वासाइं बारसा चेव उक्कोसेण वियाहिया।
बेइंदियआउठिई अंतोमुहुत्तं जहन्निया॥
—उ० ३६.१३२.

कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक संख्यात-काल है।[1] अन्तर्मान कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल है।[2] रूपादि के तारतम्य से इनके भी स्थावर जीवों की तरह हजारों भेद हो सकते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीव तिर्यञ्च ही कहलाते हैं।

४. **पञ्चेन्द्रिय जीव**—जो स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाँचों इन्द्रियों से युक्त हैं वे पञ्चेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। सभी जीवों में पञ्चेन्द्रिय जीवों की ही प्रधानता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव गति के भेद से इन्हें चार भागों में विभक्त किया गया है।[3] इनका विशेष परिचय निम्नोक्त है :

नारकी—जो पाप कर्मों के कारण दुःखों को झेलते हैं तथा अधोलोक मे निवास करते हैं उन्हे नारकी जीव कहते हैं। ये सभी

एगूणपण्णहोरत्ता उक्कोसेण वियाहिया।
तेइंदियआउठिई अंतोमुहुत्तं जहन्निया॥
—उ० ३६.१४१.

छच्चेव य मासाऊ उक्कोसेण वियाहिया।
चउरिंदियआउठिई अंतोमुहुत्तं जहन्निया॥
—उ० ३६.१५१.

१. संखिज्जकालमुक्कोसा अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
बेइंदियकायठिई तं कायं तु अमुंचओ॥
—उ० ३६.१३३

तथा देखिए—उ० ३६.१४२, १५२; १० १०–१२.

२. अणंतकालमुक्कोसं अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
बेइंदियजीवाणं अंतरं च वियाहियं॥
—उ० ३६ १३४.

इसी तरह त्रीन्द्रिय आदि के लिए देखिए—उ० ३६.१४३, १५३.

३. देखिए—पृ० ९२, पा० टि० १.

नपुंसक और उपपाद-जन्म वाले होते हैं।[1] अधोलोक में नीचे-नीचे सात पृथिवियाँ होने से उनके ही नाम से सात नरक माने गए है और तत्तत् नरको मे निवास करने वाले जीवों के भेद से नारकियो के भी सात भेद किए गए हैं।[2] इनकी अधिकतम आयु क्रमशः (ऊपर से नीचे के नरकों में) १ सागर[3], ३ सागर, ७ सागर, १० सागर, १७ सागर, २२ सागर और ३३ सागर है। प्रथम नरक की कमसे कम आयु १० हजार वर्ष तथा अन्य नरकों में पूर्व-पूर्व के नरकों की उत्कृष्ट आयु ही आगे-आगे के नरकों में निम्नतम आयु है।[4] नारकी जीव मरकर पुन: नरको मे उत्पन्न नही होते। अतः इनकी आयु (भवस्थिति) और कायस्थिति में कोई भेद नही है। अर्थात् नारकी जीवो की जो सामान्य आयु (भवस्थिति) बतलाई गई है उतनी ही उनकी कायस्थिति भी

---

१. देवनारकाणामुपपादः। औपपादिक वैक्रियिकम्। लब्धिप्रत्यय च। नारक सम्मूर्च्छिनो नपु सकानि। न देवाः।

—त० सू० २ ३४, ४६-४७, ५०-५१.

२. देखिए—पृ० ६१, पा० टि० १.

३. **सागर या सागरोपम का अर्थ**—सद्योत्पन्न बकरे के अभेद्य सूक्ष्मतम रोम-अशों से भरे हुए एक योजन प्रमाण लम्बे और इतने ही चौडे गड्ढे से यदि प्रति १०० वर्ष के बाद एक रोम-खण्ड निकाला जाए तो जितने समय मे वह गड्ढा खाली होगा उसे पल्य, पल्योपम या पालि कहेंगे। ऐसे दश कोटाकोटि (करोड × करोड) पल्यो का एक सागर या सागरोपम होता है।

४. सागरोवममेग तु उक्कोसेण वियाहिया।
पढमाए जहन्नेणं दसवाससहस्सिया ॥
तिण्णेव सागराऊ उक्कोसेण वियाहिया।
....

तेत्तीससागराऊ उक्कोसेण वियाहिया।
सत्तमाए जहन्नेणं बावीसं सागरोवमा ॥

—उ० ३६.१६०-१६६.

है।[1] शेष क्षेत्र और कालसम्बन्धी सभी बातें चतुरिन्द्रिय की तरह हैं।[2]

इन नारकी जीवों के दु:ख मनुष्यों के दु:खों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं तथा नीचे-नीचे के नरकों के दुख: पूर्व-पूर्व के नरकों की अपेक्षा कई गुने अधिक हैं।[3] इन नरकों में किस प्रकार के कष्ट मिलते है इसका विशेष वर्णन आगे किया जाएगा।

तिर्यञ्च—एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रियों वाले जीव तथा पञ्चेन्द्रियों में पशु-पक्षी आदि तिर्यञ्च कहलाते हैं। उत्पत्ति की अपेक्षा से पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के दो भेद हैं[4]—१. सम्मूर्च्छिम और २. गर्भज। दोनों के पुन: जल, स्थल और आकाश में चलने की शक्ति की अपेक्षा से तीन-तीन भेद किए गए हैं।[5]

---

१. देवे नेरइए य अइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
इक्किक्कभवगहणे समयं गोयम मा पमायए॥

—उ० १०.१४.

जा चेव उ आउठिई नेरइयाणं वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई जहन्नुक्कोसिया भवे॥

—उ० ३६.१६७.

२. उ० ३६ १५८-१५९, १६८-१६९.

३. जहा इहं अगणी उण्हो इत्तोऽणंतगुणो तहिं।
नरएसु वेयणा उण्हा अस्साया वेइया मए॥

—उ० १९.४८.

तथा देखिए—उ० १९.४९; प्रकरण २, नारकीय कष्ट।

४. पंचिदियतिरिक्खाओ दुविहा ते वियाहिया।
समुच्छिमतिरिक्खाओ गब्भवक्कंतिया तहा॥

—उ० ३६.१७०.

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ:। शेषाणा सम्मूर्च्छनम्।

—त० सू० २.३३-३४.

५. दुविहा ते भवे तिविहा जलयरा थलयरा तहा।
नहयरा य बोधव्वा तेसिं भेए सुणेह मे॥

—उ० ३६.१७१.

क. जलचर तिर्यञ्च—जल में चलने-फिरने के कारण इन्हें जलचर तिर्यञ्च कहते हैं। इनके पाँच भेद गिनाए हैं। उनके नाम ये हैं—मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मकर और सुंसुमार।[1] **ख. स्थलचर तिर्यञ्च**—स्थल (भूमि) में चलने के कारण इन्हें स्थलचर तिर्यञ्च कहते हैं। इनमें कुछ चार पैरों वाले (चतुष्पाद) और कुछ रेंगने वाले (परिसर्प) हैं। चार पैरवालों में कुछ एक खुर (पैर के नीचे एक स्थूल अस्थिविशेष) वाले हैं (जैसे—अश्व आदि), कुछ दो खुर वाले हैं (जैसे—गवादि), कुछ वर्तुलाकार (गंडीपद—गोल पैर वाले हैं (जैसे—हस्ती आदि) तथा कुछ नखों से युक्त पैर वाले (सनखपद) हैं (जैसे—सिंहादि पशु)। रेंगने वाले जीवों में कुछ भुजाओं के सहारे रेंगते हैं (भुजपरिसर्प, जैसे—गोधा—छिपकली आदि) और कुछ वक्षस्थल के सहारे रेगते हैं (उर:परिसर्प, जैसे—सर्प आदि)।[2] **ग. नभचर तिर्यञ्च**—आकाश मे स्वच्छन्द विचरण करने में समर्थ जीव नभचर तिर्यञ्च कहलाते हैं। ऐसे जीव मुख्यतः चार प्रकार के बतलाए गए हैं: १. चर्मपक्षी (चमड़े के पंखों वाले। जैसे—चमगादड़), २. रोमपक्षी (हस, चकवा आदि), ३. समुद्गपक्षी (जिनके पख सदा अविकसित रहते हैं और डब्बे के आकार सदृश सदा ढके रहते हैं) और ४. विततपक्षी (जिनके पंख सदा खुले रहते है)।[3]

---

१. मच्छा य कच्छभा य गाहा य मगरा तहा।
सुंसुमारा य बोधव्वा पंचहा जलयराहिया ॥
—उ० ३६ १७२.

२. चउप्पया य परिसप्पा दुविहा थलयरा भवे।
चउप्पया चउविहा ते मे कित्तयओ सुण ॥
एगखुरा दुखुरा चेव गंडीपय सणप्पया।
हयमाई गोणमाई गयमाई सीहमाइणो ॥
भुओरगपरिसप्पा य परिसप्पा दुविहा भवे।
गोहाई अहिमाई य एक्केक्का णेगहा भवे ॥
—उ० ३६ १७९-१८१

३. चम्मे उ लोमपक्खी य तइया समुग्गपक्खिया।
वियय पक्खी य बोधव्वा पक्खिणो य चउव्विहा ॥
—उ० ३६.१८७.

इस तरह ये सभी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च मुख्यतः तीन प्रकार के हैं। इनकी निम्नतम आयु अन्तर्मुहूर्त तथा अधिकतम आयु जलचर की १ करोड़ पूर्व,[1] स्थलचर की ३ पल्योपम और नभचर की पल्योपम के असंख्येयभाग प्रमाण बतलाई है।[2] इनकी कायस्थिति निम्नतम अन्तर्मुहूर्त तथा अधिकतम क्रमशः पृथक्त्वपूर्वकरोड़, ३ पल्योपम सहित पृथक्कोटि तथा पल्योपम के असंख्येयभाग अधिक पृथक्त्वपूर्वकोटि बतलाई है।[3] शेष क्षेत्र एवं काल-सम्बन्धी सभी बातें द्वीन्द्रियादि की तरह है।[4]

---

१. ७०५६००० करोड वर्षों का एक 'पूर्व' होता है। दो से लेकर नव तक की संख्या 'पृथक्' कहलाती है। अतः 'पृथक्पूर्व' का अर्थ हुआ २ से लेकर ९ पूर्व के मध्य की अवधि।

२ एगा य पुव्वकोडीओ उक्कोसेण वियाहिया।
आउठिई जलयराण अंतोमुहुत्त जहन्निया ॥
—उ० ३६.१७५.

पलिओवमाइं तिन्नि उ उक्कोसेण वियाहिया।
आउठिई थलयराणं अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥
—उ० ३६.१८४.

पलिओवमस्स भागो असंखेज्जइमो भवे।
आउठिई खहयराणं अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥
—उ० ३६.१९०.

३. पुव्वकोडिपुहुत्तं तु उक्कोसेण वियाहिया।
कायठिई जलयराणं अंतोमहुत्तं जहन्नयं ॥
—उ० ३६.१७६.

पलिओवमाइं तिन्नि उ उक्कोसेण वियाहिया।
पुव्वकोडिपुहुत्तेण अंतोमुहुत्तं जहन्निया। कायठिई थलयराण।
—उ० ३६ १८५.

असंखभागो पलियस्स उक्कोसेण उ साहिया।
पुव्वकोडिपुहुत्तेण अंतोमुहुत्तं जहन्निया। कायठिई खहयराणं।
— उ० ३६.१९१.

४. उ० ३६.१७३-१७४, १७७-१७८, १८२-१८३, १८६, १८८-१८९, १९२-१९३.

मनुष्य—मध्यलोक के २½ द्वीपप्रमाण मनुष्य-क्षेत्र में निवास करने वाली मानवजाति इस कोटि मे आती है। इसके सुखादि वैभव को यद्यपि देवों के वैभव की अपेक्षा अनन्तगुणा हीन बतलाया गया है[1] फिर भी सभी संसारी जीवों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा चार दुर्लभ अङ्गो की प्राप्ति मे मनुष्यजन्म भी एक है।[2] मोक्ष, जोकि प्रत्येक जीव का चरम लक्ष्य है, को मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है। मनुष्य-पर्याय की प्राप्ति पुण्यकर्म विशेष से होती है।[3] ग्रन्थ में उत्पत्ति-स्थान की अपेक्षा से मनुष्यों के तिर्यञ्चों की तरह सम्मूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) ये दो भेद किये गए है।[4] इसके बाद दोनो प्रकार के जीवों के कर्मभूमि, अकर्मभूमि तथा अन्तरद्वीप के क्षेत्रो (१५+३०+२८=७३) मे

---

१ एवं माणुस्सगा कामा देवकामाण अन्तिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो आउं कामा य दिव्विया॥
—उ० ७.१२.

जहा कुसग्गे उदगं समुद्देण सम मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा देवकामाण अंतिए॥
—उ० ७.२३.

तथा देखिए— उ० ७.२४.

२ चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणसत्तं सुइ सद्धा संजमम्मि य वीरियं।
—उ० ३.१.

दुल्लहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
—उ० १०.४.

तथा देखिए—उ० १०.१६.

३. कम्माण तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययंति मणुस्सयं॥
—उ० ३.७.

तथा देखिए—उ० ३.६,२०, २०.११; २२.३८.

४. मणुया दुविहभेया उ ते मे कित्तयओ सुण।
संमुच्छिमा य मणुया गब्भवक्कंतिया तहा॥
—उ० ३६.१९४.

निवास करने की अपेक्षा से तत्तत् क्षेत्रों के भेदों के आधार पर मनुष्यों के भी ७३ भेद गिनाए गए हैं।[1]

इनकी निम्नतम आयु अन्तर्मुहूर्त तथा अधिकतम आयु ३ पल्योपम बतलाई गई है।[2] एक जगह कुछ कम १०० वर्ष आयु बतलाई गई है[3] जो वर्तमान की अपेक्षा से जनसामान्य की आयु मालूम पड़ती है। कायस्थिति ३ पल्यसहित पृथक्-पूर्व-कोटि है।[4] एक स्थल पर किसी भी व्यक्ति द्वारा सात या आठ बार लगातार मनुष्य-पर्याय में जन्म लेने की सीमा बतलाई गई है।[5] शेष क्षेत्र, अन्तर्मान आदि का वर्णन चतुरिन्द्रिय जीवों की तरह ही बतलाया गया है।[6]

---

१. गब्भवक्कंतिया जे उ तिविहा ते वियाहिया।

—उ० ३६.१९५.

संमुच्छिमाण एसेव भेओ होई वियाहिओ।

—उ० ३६.१९७.

विशेष के लिए देखिए—पृ० ५७-६०, मध्यलोक का वर्णन।

२. पलिओवमाइं तिन्नि य उक्कोसेण वियाहिया।
आउठिई मणुयाणं अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥

—उ० ३६ १९९.

३. जाणि जीयन्ति दुम्मेहा ऊणे वाससयाउए।

—उ० ७.१३.

४. पलिओवमाइं तिन्नि उ उक्कोसेण वियाहिया।
पुव्वकोडिपुहुत्तेणं अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥
कायठिई मणुयाणं ... ... ॥

—उ० ३६.२००-२०१.

५. पंचिंदियकायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
सत्तट्ठभवगहणे समयं गोयम मा पमायए ॥

—उ० १०.१३.

यहाँ 'पंचिंदिय' से तात्पर्य पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्यों से है क्योंकि देव और नारकी पुनः उसी काया में उत्पन्न नहीं होते हैं।

६. उ० ३६.१९७-१९८, २०१-२०२.

देव—सामान्यतः पुण्य कर्मों का फल भोगने के लिए जीव देवपर्याय को प्राप्त करते हैं।[१] पुण्य कर्मों के प्रभाव से मनुष्य-पर्याय की और खोटे तपादि के प्रभाव से देव-पर्याय की भी प्राप्ति होती है। जो खोटे तपादि के प्रभाव से देव-गति को प्राप्त करते हैं वे बहुत ही निम्न श्रेणी के देव कहलाते हैं। सभवतः उनकी स्थिति मनुष्यों से भी बदतर होती है।[२] अतः सर्वसामान्य देवों की परिभाषा इन शब्दों में दी जा सकती है: 'जो उपपाद-जन्म वाले तथा जन्म से ही इच्छानुकूल शरीर धारण करने की सामर्थ्य (वैक्रियक-शरीरधारी) वाले स्त्री और पुरुष हैं वे देव कहलाते हैं।' यद्यपि मनुष्य भी तपादि के प्रभाव से वैक्रियक-शरीर धारण कर सकते हैं परन्तु जन्म से नहीं। यद्यपि नारकी जीव उपपाद-जन्म वाले तथा जन्म से ही वैक्रियक शरीरधारी होते है परन्तु वे नपुंसक ही होते हैं।[3] इस तरह 'उपपाद-जन्म वाले (सोते से जागते हुए की तरह जो पलङ्ग पर से उठ खड़े होते हैं) स्त्री-पुरुष' ऐसा लक्षण भी देवों का कर सकते है क्योंकि मनुष्यों और तिर्यञ्चों का उपपाद-जन्म नहीं होता है तथा नारकी उपपाद-जन्म वाले होकर भी स्त्री-पुरुष नही होते है। ऐश्वर्य, आयु, अजरता, निवास-क्षेत्र आदि के आधार पर देवों का स्वरूप वर्णित नही किया जा सकता है क्योंकि मनुष्यो आदि में भी उत्कृष्ट ऐश्वर्य आदि पाया जाता है तथा कुछ निम्न जाति के देवों की स्थिति बहुत ही बदतर

---

१. धीरस्स पस्स धीरत्तं सव्वधम्माणुवत्तिणो।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे देवेसु उववज्जई॥
—उ० ७.२९

तथा देखिए—उ० ७.२१,२६; ५.२२, २६-२७.

२. परमाहम्मिएसुं य।
—उ० ३१.१२.

यहाँ पर परमाधार्मिक देवों को गिनाने से स्पष्ट है कि कुछ देव निम्न श्रेणी के भी होते हैं। अतः कहा भी है: 'एता भावना भावयित्वा देव-दुर्गतिं यान्ति, ततश्च च्युताः सन्तः पर्यटन्ति भवसागरमनन्तम्।'
देखिए—उ० आ० टी०, पृ० १८०६-१८१२.

३. देखिए—पृ० १०४, पा० टि० १.

होती है। आयु की अपेक्षा से नारकी जीव भी देवों के समान आयु वाले होते हैं। इसके अतिरिक्त देवों को अमर नहीं माना गया है। देवों का निवास सिर्फ ऊर्ध्वलोक में ही नहीं है अपितु मध्य और अधोलोक में भी उनका निवास है। अत. ग्रन्थ में 'देव-गति' नामक एक कर्म विशेष स्वीकार किया गया है जिसके उदय से जीव को देव-पर्याय की प्राप्ति होती है।[1] इन देवों को प्रमुख-रूप से चार भागों में विभक्त किया गया है[2]—१. भवनवासी (भवनपति), २. व्यन्तर (स्वेच्छाचारी), ३ ज्योतिषी (सूर्यादि) तथा ४ वैमानिक (विशेष पूजनीय)। इनके अवान्तर प्रमुख २५ भेद किए गए है।[3] इकतीसवे अध्ययन में जिन २४ प्रकार के देवों (रूपाधिक देवों)[4] की सख्या का उल्लेख किया गया है वे मेरी समझ से प्रसिद्ध २४ जैन तीर्थङ्कर ही है। टीकाकारों ने वैमानिक देवो का एक भेद मानकर भवनवासी आदि २४ देवों को भी गिनाया है।[5]

भवनवासी देव—भवनो (महलो) में रहने एवं उनके स्वामी होने के कारण इन्हे 'भवनवासी' या 'भवनपति' कहते है। आहार-विहार, वेषभूषा आदि राजकुमारो की तरह होने के कारण इन्हें 'कुमार' शब्द से अभिहित किया जाता है। इनकी प्रमुख १० जातियां हैं—१. असुरकुमार, २. नागकुमार, ३. सुपर्णकुमार, ४. विद्युत्कुमार, ५. अग्निकुमार, ६. द्वीपकुमार, ७. उदधिकुमार,

---

१. देखिए—प्रकरण २, कर्म-विभाजन।

२. देवा चउव्विहा वुत्ता ते मे कित्तयओ सुण।
भोमिज्ज वाणमंतर जोइस वेमाणिया तहा ॥
—उ० ३६. २०३.

तथा देखिए—उ० ३४. ५१.

३. दसहा उ भवणवासी अट्ठहा वणचारिणो।
पंचविहा जोइसिया दुविहा वेमाणिया तहा ॥
—उ० ३६. २०४.

४. रूवाहिएसु सुरेसु य।
—उ० ३१.१६.

५. उ० आ० टी०, पृ० १३६६; उ० ने० वृ०, पृ० ३४८.

८. दिक्कुमार, ९. वायुकुमार, और १०. स्तनितकुमार।[1] इनका निवास अधोलोक की प्रथम पृथिवी का मध्यभाग माना गया है।

व्यन्तर देव—इन्हें 'वाणव्यन्तर' तथा 'वनचारी' देव भी कहा गया है[2] क्योंकि ये देव तीनों लोकों में स्वेच्छापूर्वक भ्रमण करते हुए पर्वत, वृक्ष, वन आदि के विवरस्थलों में निवास करते हैं। इनकी प्रमुख आठ जातिया बतलाई गई हैं—१. पिशाच, २. भूत, ३. यक्ष, ४. राक्षस, ५ किन्नर, ६ किंपुरुष, ७. महोरग और ८. गन्धर्व।[3] ये देव जिनके ऊपर प्रसन्न हो जाते हैं उनकी रक्षा, सेवा आदि भी करते हैं।[4]

ज्योतिषी देव—ज्योतिरूप होने से इन्हें ज्योतिषी देव कहते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह और तारागण के भेद से ये मुख्यतः पाँच प्रकार के बतलाए गए हैं।[5] इन देवों मे से कुछ स्थिर हैं और कुछ गतिमान। मनुष्य-क्षेत्र के ज्योतिषी देव गतिमान हैं। इनके गमन से ही घड़ी, घटा आदि रूप से समय का ज्ञान होता है। मनुष्यक्षेत्र से बाहर के ज्योतिषी देव स्थिर हैं। इसीलिए काल-द्रव्य को मनुष्य-क्षेत्रप्रमाण कहा गया है। सूर्य, चन्द्र आदि रूप जो ज्योतिषी देवों के भेद गिनाए गए हे वे उनके निवास-स्थान की अपेक्षा से हैं।

---

१. असुरा नागसु वण्णा विज्जू अग्गी य आहिया।
दीवोदहिदिसा वाया थणिया भवणवासिणो ॥
—उ० ३६. २०५.

२. पिसायभूया जक्खा य रक्खसा किन्नरकिंपुरिसा।
महोरगा य गंधव्वा अट्ठविहा वाणमंतरा ॥
—उ० ३६. २०६.

तथा देखिए—पृ० १११, पा० टि० ३.

३. वही।

४. जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति।
—उ० १२. ३२.

५. चंदासूरा य नक्खत्ता गहा तारागणा तहा।
ठियाविचारिणो चेव पंचहा जोइसालया ॥
—उ० ३६.२०७.

भवनवासी आदि तीनों प्रकार के देवों की अधिकतम आयु क्रमशः कुछ अधिक १ सागर, १ पल्योपम और लाख वर्ष अधिक पल्योपम है। निम्नतम आयु क्रमशः १० हजार वर्ष, १० हजार वर्ष और पल्योपम का आठवां भाग है।[1] इनकी कायस्थिति आयु (भवस्थिति) के ही बराबर है क्योंकि नारकी जीवों की तरह देव भी मरकर पुनः देव नहीं होते हैं। देव मरकर या तो मनुष्य होते हैं या तिर्यञ्च। इसीलिए देवो की आयु से पृथक् कायस्थिति नहीं बतलाई गई है।[2] इनमें अन्तर्मान, क्षेत्रस्थिति आदि सभी बातें मनुष्यों की ही तरह हैं।[3]

वैमानिक देव—विशेषरूप से माननीय (सम्मानार्ह) होने के कारण तथा विमानों में निवास करने के कारण ये वैमानिक कहलाते हैं। इन्ही देवो को लक्ष्य में रखकर प्रायः देवों के ऐश्वर्य आदि का वर्णन किया जाता है। ये कल्पोत्पन्न और कल्पातीत के भेद से दो प्रकार के हैं।[4] क. **कल्पोत्पन्न वैमानिक देव**—कल्प शब्द का अर्थ है—मर्यादा या कल्पवृक्ष (जो इच्छा करने मात्र से अभीष्ट वस्तु को दे देते हैं)। अतः जो अभीष्ट फल देने वाले इन कल्पों में उत्पन्न होते हैं वे कल्पोत्पन्न वैमानिक देव कहलाते हैं। इन्द्र आदि की कल्पना कल्पोत्पन्न देवो में ही होती है क्योकि इसके ऊपर के सभी देव 'अहमिन्द्र' कहलाते हैं। अतः स्वामी-सेवक भाव यहाँ पर ही होता है,

---

१. साहिय सागर एक्क उक्कोसेण ठिई भवे।
.. ..
पलिओवमट्ठभागो जोइसेसु जहन्निया ॥
—उ० ३६.२१८-२२०.

२. जा चेव उ आउठिई देवाणं तु वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई जहन्नुकोसिया भवे ॥
—उ० ३६.२४४.

तथा देखिए—पृ० १०५. पा० टि० १.

३. उ० ३६.२१६-२१७, २४८.

४ वेमाणिया उ जे देवा दुविहा ते वियाहिया।
कप्पोवगा य बोधव्वा कप्पाईया तहेव य ॥
—उ० ३६.२०८.

इसके ऊपर नही। कल्पों की सख्या १२ होने से इनके भी १२ भेद गिनाए गए हैं।[1] इनके क्रमशः नाम ये हैं: सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक (लान्तव), महाशुक्र, सहस्रार आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।[2] ये सभी क्रमशः ऊर्ध्वलोक में ऊपर-ऊपर हैं। ख **कल्पातीत वैमानिक देव**—कल्प (मर्यादा, स्वामी-सेवकभाव) से रहित होने के कारण इन्हें कल्पातीत कहते हैं। ये दो प्रकार के हैं – ग्रैवेयक और अनुत्तर।[3] १. **ग्रैवेयक**—जिस प्रकार ग्रीवा (गर्दन) में कीमती हार आदि आभूषण धारण किए जाते हैं उसी प्रकार जो पुण्यशाली जीव लोक के ग्रीवाभूत ऊपर के भाग में निवास करते हैं उन्हें ग्रैवेयक कहते हैं। इनकी सख्या नव बतलाई गई है और ये तीन त्रिको (अधोभाग के तीन भाग, मध्यभाग के तीन भाग तथा ऊर्ध्वभाग के तीन भाग) मे विभक्त किए गए हैं।[4] २. **अनुत्तर** (न उत्तर—श्रेष्ठ--अनुत्तर)—जिनके समान ऐश्वर्य किसी अन्य ससारी जीव का न हो उन्हें अनुत्तरदेव कहते हैं। ये पाँच प्रकार के बतलाए गए हैं: विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्ध।[5] अगले भव मे नियम से मुक्त होने वाले

१. इस विषय मे दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद के लिए देखिए—त० सू० ४१९ पर पं० फूलचन्द्र शास्त्री और पं० सुखलाल सघवी की टीकाएँ।

२. कप्पोवगा बारसहा सोहम्मीसाणगा तहा।
सणंकुमारमाहिंदा बम्भलोगा य लंतगा॥
महासुक्का सहस्सारा आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव इइ कप्पोवगा सुरा॥
—उ० ३६.२०९-२१०,

३ कप्पाईया उ जे देवा दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाणुत्तरा चेव ॥
—उ० ३६ २११

४ गेविज्जा नवविहा तहिं इय गेविज्जगा सुरा॥
—उ० ३६.२११-२१४.
तथा देखिए—उ० आ० टी०, पृ० १७७२.

५. विजया वेजयंता य जयंता अपराजिया॥
सव्वत्थसिद्धिगा चेव पंचहाणुत्तरा सुरा।
—उ० ३६.२१४-२१५.

जीव ही अनुत्तर देवलोक को प्राप्त करते हैं। इनके ऊपर अन्य देवों का निवास नहीं है।

इन २६ प्रकार के वैमानिक देवों में से आदि के सात देवों (सौधर्म से लेकर महाशुक्र तक) की अधिकतम आयु क्रमशः २ सागर, कुछ अधिक २ सागर, ७ सागर, कुछ अधिक ७ सागर, १० सागर, १४ सागर, १७ सागर बतलाई गई है। इसके बाद सहस्रार देव से लेकर नवग्रैवेयक तक क्रमशः १-१ सागर बढते हुए ३१ सागर तक है। पाँचों प्रकार के अनुत्तरवासी देवों की अधिकतम आयु ३३ सागर है। सौधर्मादि मे आदि के पाँच देवों की निम्नतम आयु क्रमशः १ पल्योपम, कुछ अधिक एक पल्य, २ सागर, कुछ अधिक २ सागर और ७ सागर है। इसके बाद चार अनुत्तर पर्यन्त पूर्व-पूर्व के देवों की उत्कृष्ट आयु ही आगे-आगे के देवों की निम्नतम आयु बतलाई गई है। सर्वार्थसिद्धि के देवो की अधिकतम और निम्नतम आयु ३३ सागर ही बतलाई गई है।[1] यद्यपि ग्रन्थ में कहीं-कहीं देवों की आयु अनेकवर्षनयुत'[2] तथा १०० दिव्य वर्ष भी बतलाई गई है[3] परन्तु

१. दो चेव सागराइ उक्कोसेण वियाहिया।
सोहम्मम्मि जहन्नेणं एगं च पलिओवमं ॥
... .
अजहन्नमणुक्कोसा तेत्तीसं सागरोवमा।
महाविमाणे सव्वट्ठे ठिई एसा वियाहिया ॥
—उ० ३६.२२१–२४३.

२. अनेकवर्षनयुत—८४ लाख वर्षों का एक 'पूर्वाङ्ग' होता है। एक पूर्वाङ्ग मे ८४ लाख का गुणा करने पर एक 'पूर्व' होता है। एक पूर्व मे पुन. ८४ लाख का गुणा करने पर एक 'नयुताङ्ग' होता है। एक नयुताङ्ग मे पुनः ८४ लाख का गुणा करने पर एक 'नयुत' होता है। ऐसे असंख्य वर्षों वाले नयुत को 'अनेकवर्षनयुत' कहते हैं।
— उ० आ० टी०, पृ० २८०.

३. अणेगवासानउया जा सा पण्णावओ ठिई।
जाणि जीयन्ति दुम्मेहा ऊणे वाससयाउए ॥
– उ०७.१३.
अहमासी महापाणे जुइमं वरिससओवमे।
जा सा पालीमहापाली दिव्वा वरिससओवमा ॥
—उ० १८.२८.

वह सामान्य कथन की अपेक्षा से है। सौधर्म देव से लेकर सहस्रार देव पर्यन्त अधिकतम अन्तर्मान अनन्तकाल है तथा जघन्य अन्तर्मान अन्तर्मुहूर्त है। आनत से लेकर नवग्रैवेयक पर्यन्त जघन्य अन्तर्मान पृथक्वर्ष है क्योंकि ये देव मरकर ऐश्वर्यसम्पन्न मनुष्य ही होते हैं। इनका उत्कृष्ट अन्तर्मान अनन्तकाल है।[1] प्रथम चार अनुत्तर देवों का जघन्य अन्तर्मान पृथक्काल है तथा अधिकतम अन्तर्मान संख्येय सागर है।[2] सर्वार्थसिद्धि के देव एकभवावतारी होते है। ये अपनी आयु पूर्ण करने के बाद मरकर मनुष्य गति में पैदा होते हैं और मनुष्य जन्म के बाद ये नियम से मुक्त हो जाते हैं। अतः इनके अन्तर्मान का प्रश्न ही नहीं उठता है। शेष क्षेत्रादि-सम्बन्धी सभी बातें भवनवासी आदि देवों की तरह हैं।[3]

देवों के विषय में कुछ अन्य ज्ञातव्य बातें–ये देव अजर होकर भी अमर नहीं होते हैं क्योंकि एक निश्चित आयु के बाद मनुष्य या तिर्यञ्चगति में जन्म लेकर अपने शेष कर्मों का फल अवश्य भोगते हैं।[4] देवो की बहुत अधिक लम्बी आयु होने के कारण उन्हें अमर कहा जाता है। सर्वार्थसिद्धि के देव भी, जो देवों में सर्वोत्तम है, अपनी आयु के पूर्ण होने पर मनुष्य-लोक में जन्म लेते हैं। गीता में भी कहा है : 'पुण्य कर्म के क्षीण हो जाने पर देव विशाल स्वर्गलोक से मनुष्यलोक में प्रवेश करते है।'[5] ये देव अपने-अपने

---

१ अणतकालमुक्कोसं अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए देवाणं हुज्ज अंतरं ॥
अणंतकालमुक्कोसं वासपुहुत्तं जहन्नयं ।
आणयाईण देवाणं गेविज्जाणं तु अंतरं ॥
—उ० ३६.२४५-२४६.

२. संखेज्जसागरुक्कोसं वासपुहुत्तं जहन्नयं ।
अणुत्तराणं देवाणं अंतरेयं वियाहियं ॥
—उ० ३६.२४७.

३. उ० ३६.२१६-२१७, २४८.

४. उ० १४.१-२; ३.१४,१६; ६.१; १३.१; १६.८.

५. ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम् ।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥
—गीता ६.२१.

अवशिष्ट पुण्य-कर्मों के अनुसार मनुष्य-लोक में सांसारिक मनुष्य सम्बन्धी १० प्रकार के ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं। इनका ऐश्वर्य और प्रभाव सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा अधिक होता है। इनके ऐश्वर्योपभोग सम्बन्धी १० साधनों के नाम ये हैं : १. क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, पशु आदि का समूह, २. मित्र, ३. सम्बन्धीजन, ४. उच्चगोत्र, ५. सुन्दररूप, ६. निरोगशरीर, ७. महाप्राज्ञ, ८. विनय, ९. यश और १० बल।[1] इस तरह ये जीव मनुष्य-लोक में आकर यदि विशुद्ध-आचार का पालन करते हैं तो मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं। यदि विशुद्ध-आचार का पालन नहीं करते हैं तो ससार-चक्र में भटकते रहते हैं।[2]

जिस प्रकार मनुष्यों और तिर्यञ्चों का विषभक्षण आदि के द्वारा अकालमरण देखा जाता है उस प्रकार देवों का अकालमरण नहीं होता है। ये अपनी पूर्ण आयु का भोग करके ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इनके ऐश्वर्य और आयु के समक्ष मनुष्यों के ऐश्वर्य और आयु कुशा के अग्रभाग में स्थित जलबिन्दु की तरह नगण्य हैं। साधारण मनुष्यो की अपेक्षा चक्रवर्ती राजाओ का ऐश्वर्य अनन्तगुणा अधिक होता है तथा उनसे भी अनन्तगुणा अधिक ऐश्वर्य देवों का होता है।[3] इनका तेज अनेक सूर्यों से भी अधिक होता है तथा ये इच्छानुकूल शरीर धारण करने की सामर्थ्य से युक्त होते हैं।[4] सौधर्म देवलोक से लेकर अनुत्तर

---

१ तत्थ ठिच्चा जहाठाणं जक्खा आउक्खए चुया।
उवेन्ति माणुसं जोणिं स दसंगेऽभिजायए ॥
—उ० ३ १६.

तथा देखिए—उ० ३. १७-१८, ७.२७.

२. भोच्चा माणुस्सए भोए अप्पडिरूवे अहाउयं।
पुव्वि विसुद्ध सद्धम्मे केवलं बोहि बुज्झिया ॥
—उ० ३ १९.

३. देखिए—पृ० १०८, पा० टि० १.

४. विसालिसेहिं सीलेहिं जक्खा उत्तर उत्तरा।
महासुक्का व दिप्पंता मन्नंता अपुणच्चयं ॥

देवलोक पर्यन्त देवों का यश, प्रकाश, ऐश्वर्य आदि उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है तथा मोह, जो संसार का हेतु है, क्रमशः कम होता जाता है।[1] असुर, यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि निम्न श्रेणी के देव कहलाते हैं। अतः ग्रन्थ में जहाँ भी देवों के ऐश्वर्य आदि का वर्णन किया गया है वह श्रेष्ठ देवों की अपेक्षा से किया गया समझना चाहिए।

इस तरह चेतन और अचेतन-रूप षड्-द्रव्यो का वर्णन किया गया।

द्रव्य-लक्षण

छः द्रव्यो का पृथक्-पृथक् स्वरूप ज्ञात कर लेने के बाद प्रश्न उठता है कि आखिर द्रव्य का स्वरूप क्या है ? जिसके आधार से इन छः द्रव्यो में ही द्रव्यता है, कम या अधिक मे नही। जैन-दर्शन मे उत्पाद, विनाश और ध्रुवता इन तीन विशेषणों से विशिष्ट सत्तावान् को द्रव्य कहा गया है।[2] इसका तात्पर्य है कि द्रव्य सत्‌रूप है, अभावात्मक नही है। वह वेदान्तियो की तरह कूटस्थ-नित्य तथा बौद्धो की तरह एकान्ततः अनित्य नही है। वास्तव में द्रव्य नित्य होकर भी प्रतिक्षण कुछ न कुछ परिवर्तनो से युक्त है। इन परिवर्तनों के होते रहने पर भी द्रव्य की नित्यता में व्याघात नही होता है।[3]

अप्पिया देवकामाण कामरूव विउव्विणो।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठन्ति पुव्वा वाससया बहू ॥
—उ० ३.१४-१५

तथा देखिए—उ० ५.२७

१. उत्तराइं विमोहाइं जुइमन्ताऽणुपुव्वसो।
समाइण्णाइं जक्खेहिं आवासाइं जसंसिणो ॥
—उ० ५. २६.

२. सत् द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्
—त० सू० ५.२९-३०

३. जैसे सोने के पिण्ड से घट बनाने पर पिण्डरूप पर्याय का विनाश, घटरूप पर्याय की उत्पत्ति तथा सुवर्णरूपता की स्थिरता वर्तमान रहती है वैसे ही द्रव्य में अनेक परिवर्तनों के होते रहने पर भी ध्रुवांश सर्वथा विनष्ट नहीं होता है।

इस तरह द्रव्य की इस परिभाषा के अनुसार द्रव्य में परस्पर विरोधी दो अंश हैं : १. नित्य (ध्रुव) और २. अनित्य (उत्पाद और व्यय)। नित्यांश को गुण' कहा जाता है और अनित्यांश को 'पर्याय' (अवस्था-विशेष)। ये दोनों अंश द्रव्य से सर्वथा पृथक्-पृथक् नही हैं क्योंकि ध्रुवांश परिवर्तन के अभाव में और परिवर्तनरूप अंश ध्रुवांश के अभाव में कुछ भी नहीं है। अत गुण और पर्याय को सिर्फ समझाया जा सकता है, उनकी द्रव्य में पृथक्-पृथक् स्थिति नही बतलाई जा सकती है कि अमुक द्रव्यांश गुणरूप है और अमुक पर्यायरूप है। जिस प्रकार गुण और पर्यायों को द्रव्य से पृथक्-पृथक् नही बतलाया जा सकता है उसी प्रकार गुण और पर्यायों से पृथक् द्रव्य को भी नही बतलाया जा सकता है क्योंकि गुण और पर्यायो से पृथक् द्रव्य कुछ भी नही है। अतः तत्त्वार्थसूत्र में गुण और पर्यायो से युक्त को द्रव्य कहा गया है।[1] द्रव्य मे होने वाली अनुगताकार (अभेदाकार समानाकार) प्रतीति तो गुण है और भेदाकार प्रतीति पर्याय है। 'गुण' द्रव्य के नित्य-धर्म हैं तथा पर्याएँ आगन्तुक-धर्म हैं। 'गुण' द्रव्य-स्वरूप हैं और पर्याएँ उसकी उपाधि द्रव्य की तरह गुणो की भी पर्याएँ होती हैं और पर्यायो की भी अवान्तर पर्याएँ होती है। गुण और पर्याय दोनो द्रव्य के अङ्ग हैं एव द्रव्य के आश्रय से रहते है। अत गुण और प्रर्यायो के साथ द्रव्य का अङ्गाङ्गिभाव तथा आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध है। इनके इस सम्बन्ध को सयोग-सम्बन्ध नही कहा जा सकता है क्योंकि संयोग-सम्बन्ध उन्हीं वस्तुओं में होता है जिन्हें एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् किया जा सके। इस तरह गुण और पर्यायों की द्रव्य से सर्वथा पृथक् स्थिति न होने के कारण हम उनमें तादात्म्य-सम्बन्ध स्वीकार कर सकते हैं।

गुणों का द्रव्य के साथ नित्य-सम्बन्ध होने के कारण ग्रन्थ में द्रव्य का लक्षण किया है 'जो गुणो का आश्रय हो'।[2] गुण किसी

---

१. गुणपर्यायवत्द्रव्यम्।

—त० सू० ५. ३८.

२. गुणाणमासवो दव्वं।

—उ० २८.६.

न किसी के आश्रय से रहते हैं और वे जिसके आश्रय से रहते हैं वही द्रव्य है। इस परिभाषा के अनुसार ग्रन्थ का आशय यह नही है कि द्रव्य में सिर्फ गुण ही रहते हैं क्योंकि द्रव्य में पर्याएँ भी रहती हैं। अतः पर्याय का लक्षण करते हुए लिखा है 'जो द्रव्य और गुण दोनों के आश्रय से रहती हों।'[1] इसी प्रकार ग्रन्थ मे विस्तार-रुचि-सम्यग्दर्शन के प्रकरण में द्रव्य के सभी भावों को जानने का उल्लेख किया गया है[2] जिसका तात्पर्य है—द्रव्य में रहने वाली समस्त पर्यायों का ज्ञान। तत्त्वार्थसूत्र मे भी द्रव्य का लक्षण गुण-पर्याय वाला स्वीकार करने से स्पष्ट है कि गुण की तरह पर्याएँ भी द्रव्याश्रित हैं। गुणों की अपेक्षा पर्यायो के विषय मे इतनी विशेषता है कि वे द्रव्याश्रित ही हों ऐसी बात नही है, अपितु गुणाश्रित भी हैं। गुण एकमात्र द्रव्य के ही आश्रय से रहते हैं। अतः ग्रन्थ में द्रव्य के लक्षण में सिर्फ गुण को ही ग्रहण किया गया है। इस तरह सिद्ध है कि द्रव्य न तो कूटस्थ नित्य है और न एकान्ततः अनित्य अपितु गुणो की अपेक्षा से नित्य एव अपरिवर्तनशील है तथा पर्यायों की अपेक्षा से अनित्य एवं प्रतिक्षण परिवर्तनशील है।

गुण :

जो एकमात्र द्रव्य के आश्रय से रहत हैं उन्हे गुण कहा गया है।[3] जैसे—जीव मे रहने वाले ज्ञानादि गुण। वैशेषिक-दर्शन की तरह गुणो की सख्या[4] न तो नियत है और न द्रव्य से पृथक् उनकी सत्ता है। गुणो को केवल द्रव्याश्रित कहने से यह भी सिद्ध है कि गुण स्वतः निर्गुण हैं। अर्थात् गुणो मे गुण नही रहते हैं। अतः परवर्ती काल मे गुणों का लक्षण किया गया है

---

१. लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे।
—उ० २८.६.

२. दव्वाण सव्वभावा।
—उ० २८.२४.

३ एगदव्वस्सिया गुणा।
—उ० २८.६.

४. रूपरसगन्ध""संस्काराश्चतुर्विंशतिर्गुणाः।
—तर्क सं०, पृ० ३.

'जो द्रव्याश्रित तो हों परन्तु स्वतः निर्गुण हों।'[1] ये गुण द्रव्य के सहभावी नित्य-धर्म हैं तथा द्रव्य के स्वरूपाधायक भी हैं। अतः गुण और द्रव्य को सर्वथा भिन्न या अभिन्न न मानकर शक्ति और शक्तिमान की तरह भिन्नाभिन्न समझना चाहिए।[2]

पर्याय :

द्रव्य और गुण इन दोनों के आश्रित रहने वाले धर्म को पर्याय कहा गया है।[3] पर्याएँ द्रव्य और गुण की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। गुण और पर्यायों में मुख्य अन्तर यह है कि गुण (वस्तुत्व, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि) सम्पूर्ण द्रव्य और उसकी समस्त पर्यायों में व्याप्त होकर रहते हैं परन्तु पर्याएँ नहीं। अर्थात् गुण द्रव्य के साथ सदा रहते हैं और पर्याएं द्रव्य में सदा एकरूप से नहीं रहती है अपितु क्रम-क्रम से बदलती रहती हैं।[4] गुणों की तरह पर्यायो की भी कोई नियत सीमा नहीं है। ये प्रतिक्षण उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है। कुछ पर्याएँ जो एक क्षण से अधिक समय तक ठहरती है उनकी अवान्तर पर्याएँ भी होती है। इस तरह पर्याएँ द्रव्याश्रित और गुणाश्रित की तरह पर्यायाश्रित भी होती है। दीर्घकालस्थायी पर्याय जो अन्य पर्यायों की आश्रय है किसी न किसी गुण या द्रव्य के आश्रित अवश्य रहती है। अतः पर्याय

---

१. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।
—त० सू० ५ ४१.

२. जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे।
दव्वाणंतियमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति॥
अविभत्तमणण्णत्तं दव्वगुणाणं विभत्तमण्णत्तं।
णिच्छंति णिच्चयण्हू तव्विवरीदं हि वा तेसिं॥
—पंचास्तिकाय, गाथा ४४-४५.

३. देखिए—पृ० १२०, पा० टि० १.

४. यावद्द्रव्यभाविनः सकलपर्यायानुवर्तिनो गुणाः वस्तुत्व-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादयः। मृद्द्रव्यसम्बन्धिनो हि वस्तुत्वादयः पिण्डादिपर्यायाननुवर्त्तन्ते, न तु पिण्डादयः स्थासादीन्। तत एव पर्यायाणां गुणेभ्यो भेदः। यद्यपि सामान्यविशेषौ पर्यायौ तथापि सङ्केतग्रहणनिबन्धनत्वाच्छब्दव्यवहारविषयत्वाच्चागमप्रस्तावे तयोः पृथग्निर्देशः।
—न्यायदीपिका, पृ० १२१-१२२.

के लक्षण में पर्याय को गुण और द्रव्य के ही आश्रित बतलाया गया है। गुण और द्रव्य में जो नाना प्रकार के परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं वे सब पर्यायों के ही हैं। अत: ग्रन्थ में एकट्ठा होना (एकत्व), अलग होना (पृथक्त्व), संख्या, आकार (सस्थान), संयोग और वियोग इन सबको पर्यायरूप माना गया है।[1] घटादिक में जो भेद-व्यवहार होता है वह पर्याय से ही होता है। पर्यायों की भी अवान्तर पर्याएँ स्वीकार करने से पर्याएँ सर्वथा अनित्य नहीं हैं। वास्तव मे पर्याएँ द्रव्य की उपाधि है और द्रव्य उपाधिमान है। अत: दोनो मे भेद होने पर भी कथञ्चित् अभेद भी है।[2]

इस तरह द्रव्य, गुण और पर्याय के स्वरूप आपस मे इतने मिले-जुले है कि उन्हे आसानी से समझना सभव नही है। इन्हे आपस मे सम्मिलितरूप से बतलाने का तात्पर्य यह है कि एकान्तरूप से इन्हें भिन्न या अभिन्न न मान लिया जाय क्योकि द्रव्य, गुण और पर्याएँ आपस में कथञ्चित् भिन्न एव कथञ्चित् अभिन्न हैं।[3] ऊपर जो जीवादि छ. द्रव्य गिनाए गए हैं उन सबमें उत्पाद, विनाश और

---

१. एगत्त च पुहुत्तं च सखा सठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य पज्जवाण तु लक्खणं ॥
- उ० २८.१३.

२. पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥
—पंचास्तिकाय, गाथा १२.

३. द्रव्य, गुण और पर्यायो की कथंचित् भिन्नाभिन्नता हम एक दृष्टान्त से स्पष्ट कर सकते हैं। जैसे – तन्तु को हम तन्तुत्व और वस्त्र से न तो सर्वथा भिन्न ही कह सकते हैं और न सर्वथा अभिन्न क्योकि तन्तुरूपी द्रव्य अपने तन्तुत्वरूपी गुण से तथा वस्त्ररूपी पर्याय से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न है। यदि उमे सर्वथा भिन्न माना जाएगा तो तन्तु के न रहने पर भी तन्तुत्व और वस्त्र का व्यवहार होना चाहिए। यदि सर्वथा अभिन्न माना जाएगा तो वस्त्र के कार्य को तन्तु से ही हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नही देखा जाता है क्योकि वे परस्पर भिन्न होकर भी कथंचित् अभिन्न हैं।

ध्रुवतारूप द्रव्य का सामान्य-लक्षण अवश्य पाया जाता है क्योंकि द्रव्य के सामान्य-लक्षण के अभाव में उनमें द्रव्यता ही नहीं रह सकती है। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने सत् को द्रव्य का लक्षण स्वीकार करके उसे उत्पाद, विनाश और ध्रुवतारूप माना है।[1] जिन द्रव्यों में उत्पाद और विनाशरूप परिणाम स्पष्ट दिखलाई नहीं पड़ते हैं उनमें भी समानाकाररूप परिणाम जैन-दर्शन में स्वीकार किया गया है।[2] यदि द्रव्य को एकान्ततः नित्य या अनित्य माना जाएगा तो प्रत्यक्ष दृश्यमान वस्तुव्यवस्था सगत नहीं हो सकेगी क्योंकि हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहने पर भी उसका सर्वथा अभाव नही होता है अपितु एक अवस्था (पर्याय) से दूसरी अवस्था की प्राप्ति होती है और द्रव्य अपने मूलरूप मे हमेशा बना रहता है। केवल उसकी पर्यायो मे ही परिवर्तन होता है। आज का विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है। इस तरह द्रव्य के लक्षण मे एकान्तवादियो (नित्यानित्य-वादियों का समन्वय किया गया है।

अनुशीलन

इस प्रकरण मे तीन मुख्य सिद्धान्तों की चर्चा की गई है : १. विश्व की भौगोलिक रचना किस प्रकार की है, २. विश्व की रचना मे कितने मूल द्रव्य कार्य करते हैं तथा ३. द्रव्य का स्वरूप क्या है ?

१ विश्व की रचना सम्बन्धी वर्णन देखने से प्रतीत होता है कि यह विश्व यद्यपि असीम है परन्तु जितने भाग में जीवादि छः द्रव्यों की सत्ता मौजूद है उसकी एक सीमा है जिस सीमा का आकाश के अतिरिक्त कोई भी द्रव्य उल्लङ्घन नही करता है। इसी अपेक्षा से इस विश्व को मुख्यतः दो भागो में विभक्त किया गया है . लोक और अलोक। लोक वह भाग है जहाँ जीवादि द्रव्यों की सत्ता है और अलोक वह प्रदेश है जहाँ आकाश के

---

१. देखिए—पृ० ११८, पा० टि० २.

२. तद्भाव: परिणामः।

—त० सू० ५. ४२.

अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नही है। अतः लोक को लोकाकाश और अलोक को अलोकाकाश भी कहा गया है। विचारणीय विषय लोक ही है क्योंकि लोक मे ही सृष्टि पाई जाती है। लोक को ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक के भेद से तीन भागो में विभक्त किया गया है। ऊर्ध्वलोक में मुख्यरूप से उच्च श्रेणी के देवताओं का निवास है। अधोलोक में मुख्यरूप से नारकियों का तथा निम्न श्रेणी के देवताओ का निवास है। मध्यलोक मे मुख्यरूप से मनुष्यों और तिर्यञ्चो का निवास माना गया है। इसके अतिरिक्त लोक के उपरितम भाग में मुक्तात्माओं का निवास माना गया है। इन तीनों लोको की तुलना मे मध्यलोक की सीमा बहुत स्वल्प होने पर भी बहुत विशाल है। इसके अतिरिक्त मध्यलोक के बहुत ही छोटे भाग मे मनुष्य-क्षेत्र की रचना है जो एक ही प्रकार की ढाई-द्वीपो मे बतलाई गई है। इस तरह यह लोक एक सुनियोजित शृखला से बद्ध है जिसके सम्बन्ध मे कुछ कहा नही जा सकता है क्योंकि हमारी पहुँच मनुष्यक्षेत्र के बहुत ही स्वल्प-क्षेत्र तक ही है। इसीसे हम इस लोक एव लोकालोक की सीमा की मात्र कल्पना कर सकते हैं।

२. लोक की रचना के मूल मे जिन छः द्रव्यो को स्वीकार किया गया है उनकी सख्या छः ही क्यो है ? सात या आठ, एक या दो क्यों नही है ? इसका कोई स्पष्ट कारण नही दिया गया है। यद्यपि ग्रन्थ में निहित तथ्यो के आधार से यह भी कहा जा सकता है कि द्रव्यो की सख्या दो है· चेतन और अचेतन। चेतन और अचेतन इन दो द्रव्यो की कल्पना से सृष्टि की व्याख्या स्पष्ट नही होती थी क्योंकि इसका कोई नियामक ईश्वर विशेष नही माना गया था। सामान्यतया अन्य दर्शनों में सृष्टि के नियामक एक ईश्वर द्रव्य की कल्पना की जाती है परन्तु उत्तराध्ययन मे ईश्वर को नियन्ता मानना अभिप्रेत नही था क्योंकि ईश्वर जब सर्वशक्तिसम्पन्न और दयालु है तो फिर जीवो को कष्ट देने के लिए सृष्टि क्यों की गई ? इसके अतिरिक्त ऐसा मानने पर ईश्वर का दर्जा बहुत नीचा हो जाता है और व्यक्ति का स्वातन्त्र्य भी समाप्त हो जाता है। अतः ईश्वर तत्त्व को स्वीकार न करके

गति में सहायक धर्मद्रव्य, स्थिति में सहायक अधर्मद्रव्य और आधार में सहायक आकाश इन तीन द्रव्यों की कल्पना आवश्यक समझी गई। इस तरह ईश्वर तत्त्व को नियन्ता न मानने पर तीन द्रव्यों की कल्पना करने से द्रव्यो की संख्या पाँच हो गई। यह दृश्यमान परिवर्तन भी सत्य है। अत इस परिवर्तन के कारण-भूत काल-द्रव्य की भी कल्पना करनी पड़ी और इस तरह द्रव्यों की संख्या कुल छः हो गई। चेतन जीव-द्रव्य को छोड़कर शेष सभी के अचेतनरूप होने के कारण इन्हें दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। चूंकि ये पाँचों प्रकार के अचेतन-द्रव्य किसी एक द्रव्य से नहीं निकले हैं। अतः इनकी सख्या दो मानकरके भी मुख्यतः छः मानी गई है। यदि ऐसा न माना जाएगा तो अस्तिकाय-अनस्तिकाय, एकत्वविशिष्ट-बहुत्वविशिष्ट, लोकप्रमाण-लोकालोकप्रमाण आदि द्वैतात्मक प्रकार संभव होने से चेतन-जीवद्रव्य धर्मादिद्रव्यों की कोटि मे आ जाएगा। इसीलिए अचेतन से पृथक् चेतन द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिए अचेतन से पृथक् चेतन-द्रव्य माना गया है। यह दृश्यमान संसार भ्रमरूप नही है अपितु उतना ही सत्य है जितना दिखलाई पड़ता है। अत चेतन के साथ अचेतन-द्रव्य को भी स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त वैशेषिकों द्वारा माने गए वायु, दिशा आदि द्रव्यों को उपर्युक्त छः द्रव्यों में ही अन्तर्भूत माना गया है। ग्रन्थ में यद्यपि सिद्धजीवो को ईश्वर स्थानापन्न माना गया है परन्तु वे सृष्टिकर्त्ता नही हैं क्योंकि वीतरागी होने से उन्हें संसार से कोई प्रयोजन नही है। वे मात्र अपने स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित आत्माएँ हैं। यदि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को मान लिया जाता तो चेतन, अचेतन और ईश्वर इन तीन द्रव्यों की ही स्थिति रहती या फिर ईश्वर के ही चेतन और अचेतन ये दो रूप मान लेने पर शंकराचार्य के ब्रह्माद्वैत की तरह एक ईश्वर-द्रव्य ही रह जाता। परन्तु ऐसा अभीष्ट न होने से और यथार्थवाद का चित्रण करने के कारण छः द्रव्यों की सत्ता मानी गई है। इनमें जीव द्रव्य प्रधान है क्योंकि उसके पूर्ण स्वातन्त्र्य को सिद्ध करने के लिए ही उसे अपने उत्थान एवं पतन का कर्त्ता तथा भोक्ता कहा गया है। इसीलिए जीव को अपने पुरुषार्थ द्वारा भगवान् बनने की

सामर्थ्य भी है। एक भी मुक्त-जीव ऐसा स्वीकार नही किया गया है जो बिना पुरुषार्थ किए ही नित्य मुक्त हो। यद्यपि अनादिकाल से मुक्त-जीवों की सत्ता है परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे पुरुषार्थ के बिना ही मुक्त हो गए हों। इसीलिए प्रत्येक जीव मे परमात्मा बनने की शक्ति को स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त जीवों की सख्या भी अनन्त स्वीकार की गई है। चैतन्य के विकास के आधार से किया गया जीवों का विभाजन बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह विभाजन बहुत कुछ अशों में पाश्चात्यदर्शन के नीत्शे के 'जीवाणुवाद' और बर्गसा के रचनात्मक विकासवाद मे मिलता-जुलता है।[1] उत्तराध्ययन मे कुछ वनस्पतियाँ ऐसी भी स्वीकार की गई हैं जिनमे कई जीव एक साथ रहते है। ऐसे जीवो का शरीर एक ही होता है और सबकी क्रियाएँ एक साथ होती हैं। इनके अतिरिक्त जो सूक्ष्म जीव हैं वे किसी भी अवरोध से रुकते नही है और सर्वलोक मे व्याप्त हैं। जीवों के अतिरिक्त जो पाँच प्रकार के अजीव बतलाए गए हैं उनमे पुद्गल का वर्णन बहुत महत्त्वपूर्ण तथा वैज्ञानिक भी है। 'शब्द' को पुद्गल की पर्याय स्वीकार करने तथा 'वायु' आदि को रूपादि गुणो से युक्त मानने से पुद्गल-विषयक बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है।

३. यथार्थवाद का चित्रण होने से द्रव्य का स्वरूप भी एकान्ततः नित्य या अनित्य स्वीकार न करके अनित्यता से अनुस्यूत नित्य माना गया है। अनुभव मे भी आता है कि द्रव्य में प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य हो रहे हैं और इन परिवर्तनों के होते रहने पर भी उसमें कुछ ऐसे तथ्य मौजूद हैं जिनके कारण हम यह कहते हैं कि यह वही है जिसे हमने कल देखा था। अत. इस परिवर्तन के होने पर भी द्रव्य का कभी भी सर्वथा अभाव नही होता है क्योकि वह किसी न किसी रूप में रहता अवश्य है। परिवर्तन द्रव्य की किसी पर्याय-विशेष का होता है, स्वतः द्रव्य का नहीं। अतः द्रव्य का स्वरूप भी ऐसा ही माना गया है जिससे दोनो (नित्यानित्य) दृष्टिकोणों का समन्वय हो सके।

१. भा० द० रा०, पृ० ३३४.

इसके लिए यह भी आवश्यक था कि द्रव्य को कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य स्वीकार किया जाए। इस तरह द्रव्य के विषय में वर्तमान नित्यानित्य सम्बन्धी विवादों का समन्वय किया गया। नित्यता द्रव्य का स्वभावसिद्ध धर्म है और अनित्यता उसकी उपाधि। शायद इसीलिए ग्रन्थ में द्रव्य के लक्षण में साक्षात् पर्यायांश को ग्रहण न करके गुणांश मात्र को ग्रहण किया गया है तथा परवर्ती काल में द्रव्य का स्वरूप निश्चयनय (द्रव्यार्थिक नय) की अपेक्षा से नित्य और व्यवहारनय (पर्यायार्थिक नय) की अपेक्षा से अनित्य माना गया है।[1] यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि वेदान्तदर्शन में मानी गई परमार्थ-सत्ता और व्यवहार-सत्ता के दृष्टिकोण से द्रव्य के नित्यानित्यत्व का प्रतिपादन नही किया जा सकता है क्योकि वेदान्तदर्शन में परमार्थसत्ता यथार्थभूत है और व्यवहारसत्ता अयथार्थभूत। जबकि यहाँ पर जितना द्रव्याश सत्य है उतना ही पर्यायाश भी सत्य है। पर्याएं द्रव्य की उपाधि हैं जो प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती हैं। इनके परिवर्तित होते रहने पर भी द्रव्य सर्वथा अक्षुण्ण बना रहता हो सो भी बात नही है क्योकि जब पर्याएँ द्रव्य से सर्वथा पृथक् नहीं हैं तो फिर पर्यायो के परिवर्तित होने पर द्रव्य मे कूटस्थ नित्यता बनी रहे यह कैसे सम्भव है ? फिर भी जो द्रव्य को नित्य कहा गया है वह अपने सत्तारूप गुण का अभाव न होना है। इस परिवर्तन के होते रहने पर भी सत्ता को अक्षुण्ण स्वीकार करने के कारण ही बौद्धों के क्षणिकवाद के दोषों का प्रसग नहीं आता है।

इस तरह उपर्युक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन यथार्थवाद की नीव पर ग्रन्थ मे किया गया है। यह संसार जो हमे दिखलाई पड़ रहा है वह उतना ही सत्य है जितना हमें अनुभव में आता है। इसके अतिरिक्त इस सृष्टि का स्रोत न तो उपनिषदों की-

१. उप्पत्तीव विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया ॥

—पंचास्तिकाय, गाथा ११.

तरह किसी एक ही केन्द्रबिन्दु से[1] और न सांख्यदर्शन की तरह चेतन-अचेतन इन (प्रकृति-पुरुषरूप) दो केन्द्रबिन्दुओं से प्रवहमान है अपितु चेतन-अचेतनरूप मुख्य छः केन्द्रबिन्दुओं से प्रवहमान है। द्रव्य वेदान्तियों की तरह न तो सर्वथा नित्य है और न बौद्धों की तरह सर्वथा अनित्य अपितु नित्यानित्यात्मक एवं एकानेकात्मक है। लोक की भौगोलिक रचना के सम्बन्ध में कितनी यथार्थता है, कुछ कहा नहीं जा सकता है।

★

---

१. सर्वं खल्विदं ब्रह्म।
—छान्दोग्योपनिषद् ३.१४.१.
एकमेवाद्वितीयम्।
—छान्दोग्योपनिषद् ६.२.२.

प्रकरण २

संसार

चेतन (जीव) के साथ रूपी-अचेतन (पुद्गल) का संयोग-विशेष होना ही संसार है। अतः जबतक चेतन जीव के साथ रूपी-अचेतन पुद्गल का सम्बन्ध रहता है तबतक जीव 'संसारी' कहलाता है। संसार शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—संसरण या परिभ्रमण। यह संसरण मुख्यरूप से चार अवस्थारूप बतलाया गया है जिन्हे गति कहते हैं। उनके नाम है—नरकगति, तिर्यञ्च-गति, मनुष्यगति और देवगति। इन चार गतियों में अपने शुभ और अशुभ कर्मों के कारण जीव का जन्म-मरण को प्राप्त होना ही ससार है।[1] इसीलिए ग्रन्थ में ससार या संसारचक्र को जन्म, जरा और मरण के भय से अभिभूत बतलाया है तथा उसे 'भव' या 'भवप्रपञ्च' भी कहा है।[2]

संसार की दुःखरूपता

नरकादि चारों गतियां जरा-मरणरूप संसार-कान्तार की चार भयंकर खाने है।[3] ये दुस्सह एवं भयंकर शब्दों तथा दुःखों

---

१. एवं भवसंसारे संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं

—उ० १०.१५.

२. जाईजरामच्चुभयाभिभूया बहिं विहाराभिनिविट्ठचित्ता।
संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता॥

—उ० १४.४.

तथा देखिए—उ० २१.८४; ३६.६३.

३. जरामरणकंतारे चाउरंते भयागरे।
मए सोढाणि भीमाइं जम्माइं मरणाणि य।

—उ० १९.४७.

तथा देखिए—उ० २९.२२, ३२, ५९.

से पूर्ण होने के कारण दुर्गतिरूप (खोटी अवस्थाएँ) कही गई हैं।[1] यद्यपि भौतिक सुख-सुविधाओं की अपेक्षा मनुष्य और देवगति को सुगति भी कहा गया है[2] परन्तु इन गतियों की भी सुख-सुविधाएँ कुछ समय बाद या मृत्यु के उपरान्त नष्ट हो जाने के कारण दुर्गतिरूप ही हैं। अतः केवल स्व-स्वरूप की प्राप्तिरूप सिद्ध-अवस्था (मुक्ति) ही सदा सुखों से पूर्ण होने के कारण सुगतिरूप कही गई है।[3] इस तरह एकमात्र सिद्ध-अवस्था के सुगतिरूप होने से सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति में प्रमुख कारणभूत मनुष्यगति को भी कथञ्चित् सुगतिरूप कहा जा सकता है क्योंकि मनुष्यगति वाला जीव ही अपने संयम आदि के द्वारा सिद्ध-अवस्था को प्राप्त कर सकता है। अतः ग्रन्थ में मनुष्यगति को अपार वैभवसम्पन्न देवगति की भी अपेक्षा दुर्लभ बतलाया गया है।[4]

---

१. सद्दा विविहा भवन्ति लोए, दिव्वा माणुस्सगा तहा तिरिच्छा।
भीमा भय-भेरवा उराला ....॥
—उ० १५.१४.

विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवदुग्गईओ निरुंभइ।
—उ० २९.४.

तथा देखिए—उ० १४.२; १९.१६,४६-४७; २०.३१.

२. मणुस्सदेव सुगईओ निबंधई।
—उ० २९.४.

तथा देखिए—उ० ३.१,७; प्रकरण १.

३. नाणं च दंसणं चेव ...... जीवा गच्छन्ति सोग्गइं।
—उ० २८.३.

४. एकया देवलोएसु नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं आहाकम्मेहिं गच्छई॥
....

कम्मसंगेहिं सम्मूढा दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मन्ति पाणिणो॥
कम्माणं तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीव सोहिमणुप्पत्ता आययन्ति मणुस्सयं॥
—उ० ३.३-७.

तिर्यञ्च व नरकगति के कष्ट :

देवगति और मनुष्यगति के अतिरिक्त तिर्यञ्च और नरकगति भौतिक सुख-सुविधाओं की भी दृष्टि से दुर्गतिरूप ही हैं। अतः ग्रन्थ में इन्हें आपत्ति एवं वधमूलक बतलाया गया है और जहां से निकलना बड़ा कठिन है।[1] इन दोनों में भी नरकगति अत्यधिक कष्टों से पूर्ण है। इस नरकगति में प्राप्त होने वाले कष्ट मनुष्यगति के कष्टों से अनन्तगुणे अधिक हैं। मृगापुत्र ने संसार के विषय-भोगों से विराग लेते समय अपने पिताजी से उन नारकीय कष्टों का वर्णन संक्षेप में निम्न प्रकार से किया है :[2]

'हे पिताजी ! जिस प्रकार की वेदनाएँ (कष्ट) इस मनुष्यगति में देखी जाती हैं उससे अनन्तगुणी अधिक नरकों में हैं। ये अत्यन्त तीव्र, प्रचण्ड, प्रगाढ़, रौद्र, दुस्सह और भयकर हैं। जैसे—प्रज्वलित अग्नि पर रखे हुए कुन्दकुम्भी नामक बर्तन में नीचे सिर और ऊपर पैर करके अनेक बार महिष की तरह पकाना; महादावाग्नि के समान उष्ण बालुकामय प्रदेशों में संतापित करना; अतितीक्ष्ण कांटों वाले उच्च शाल्मलिवृक्ष पर क्षेपण करके रस्सी आदि से कर्षापकर्षण करना; विभिन्न प्रकार के अतितीक्ष्ण शस्त्रों से छेदन-भेदन करके टुकड़ों के रूप में वृक्ष के टुकड़ों की तरह जमीन पर फेंकना; शूकरों एवं कुत्तों के द्वारा घसीटा जाना; ईख की तरह महायन्त्रों में पेरा जाना; आग के समान तप्त लोहे के रथ में जोते जाकर चाबुकों (बेंत) से पीटा जाना; संडासी की तरह चोंच वाले नाना प्रकार के गीध

---

१. दुहओ गई बालस्स आवई वहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च जं जिए लोलयासढे ॥
तओ जिए सई होइ दुविहं दुग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मग्गा अद्धाए सुचिरादवि ॥
—उ० ७. १७-१८.

तथा देखिए—उ० १९.११; ३४.५६; ३६.२५७ आदि।

२. उ० १९.४८-७४; ५.१२-१३; ६.८.

विशेष के लिए देखिए—सूत्रकृताङ्गसूत्र १.५; प्रश्नव्याकरण अध्ययन १.

आदि पक्षियों से नोचा जाना; छलपूर्वक कठोर पाशों से बाँधकर मृग की तरह मारा जाना; पिपासा से व्याकुल होकर वैतरणी नामक नदी में जल पीने के लिए जाने पर उस्तरे की तरह तीक्ष्ण धारा से व्यापादित किया जाना; किसी तरह पिपासा को सहन करने पर भी वहाँ पर स्थित अधर्मियों के द्वारा तांबा, लोहा, सीसा, लाख आदि पदार्थ खूब गरम करके चिल्लाते रहने पर भी पिलाया जाना; छाया की अभिलाषा से वृक्षादि की छाया का आश्रयण करने पर तीक्ष्ण असिपत्रों (तलवार की तरह तीक्ष्ण पत्ते) से छेदित किया जाना; यमदूतों की तरह स्वयं के शरीर को काटकर खिलाना; शरीर पर तीक्ष्ण औजारों से नक्काशी आदि करना; लुहार की तरह कूटना-पीटना आदि।' इस प्रकार के विविध नारकीय कष्टों को सुनकर हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

नारकी जीवों की ही तरह तिर्यञ्चों को भी अनेक प्रकार के कष्ट मिलते हैं जिनको हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं। नारकी और तिर्यञ्चों के कष्टों में अन्तर इतना है कि नारकी जीवों की असमय में मृत्यु न होने के कारण उनके शरीर बारम्बार छिन्न-भिन्न किए जाने पर भी फिर जुट जाते हैं जबकि तिर्यञ्चो के शरीर एकबार छिन्न-भिन्न होने पर फिर नही जुटते हैं। इसके अतिरिक्त तिर्यञ्चों को कुछ भौतिक सुख-सुविधाएँ भी प्राप्त हैं और उनके कष्ट नारकी जीवों की अपेक्षा बहुत ही अल्प हैं। इस तरह चारो गतियों के जीवों में सर्वाधिक कष्ट नारकियों को ही प्राप्त होते हैं।

मनुष्य व देवगति के सुखों में दुःखरूपता :

इस तरह यद्यपि नरक और तिर्यञ्च योनियों में ही कष्टों की अधिकता है परन्तु मनुष्य और देव योनियों में तो नाना प्रकार के विषयसुख उपलब्ध होते हैं फिर उन्हें क्यों कष्टों से पूर्ण कहा गया है? इस विषय में एकमात्र कारण है शरीर तथा विषयभोगों की अनित्यता। अतः ग्रन्थ में कहा है—यह जीवन वृक्ष के पीले पत्ते और ओस की बूद की तरह अल्पस्थायी है। फेन के बुलबुले और विद्युत् की तरह चञ्चल है। इसके अतिरिक्त यह जीवन प्रतिपल

मृत्यु के समीप चला जा रहा है।[1] सर्वार्थसिद्धि में रहनेवाले सर्वोच्च देव भी इस मृत्यु से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकते हैं। मृत्यु के उपरान्त सभी सांसारिक विषय-भोग यहीं छूट जाते हैं जिनका अन्य लोग उपभोग करते हैं। माता, पिता, भाई, बन्धु, पुत्र, पति, पत्नी, मित्र आदि सभी लोग तभी तक साथ देते हैं जब-तक मृत्यु नही आ जाती है क्योंकि मृत्यु के उपरान्त ये सभी सम्बंधी-जन जो प्राणो से भी अधिक प्रिय थे दो-चार दिन शोक करके अन्य दातार के पीछे चल पडते हैं।[2] इसीलिए इन विषय-भोगों और सम्बन्धीजनों के प्रति की गई आसक्ति को महामोह और भय को उत्पन्न करने वाली कहा गया है।[3] इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में अनाथी मुनि के मुख से यह कहलाया गया है कि सभी प्रकार के साधनो से सम्पन्न राजागण भी अनाथ हैं क्योंकि मृत्यु या भयंकर

---

१. दुमपत्तये पंडुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम ! मा पमायए॥
कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोवंचिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए॥
—उ० १०.१-२.

अणिच्चे जीवलोगम्मि।
—उ० १८.१२.

जीवियं चेव रूपं च विज्जु संपायचंचलं।
—उ० १८.१३.

तथा देखिए—उ० ४.१,६; ७.१०; १०.२१-२७; १३.२१,२६; १४.२७-३२; १६.१३-१४.

२. जहेह सीहो व मियं गहाय मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया कालम्मि तम्मंसहरा भवन्ति॥
—उ० १३.२२.

तं एक्कगं तुच्छसरीरगं से चिईगयं दहिय उ पावगेण।
भज्जा य पुत्तोवि य नायओ वा दायारमण्णं अणुसंकमन्ति॥
—उ० १३.२५.

तथा देखिए—उ० ४.१-४; ६.३-६; १८.१४-१७; आदि।

३. जहित्तु संगं च महाकिलेसं महन्तमोहं कसिणं भयाणगं।
—उ० २१.११.

रोग आदि के उपस्थित हो जाने पर कोई बचा नहीं सकता है।[१] यह शरीर जिसका हम प्रतिदिन नाना प्रकार से शृंगार करते हैं वह भी विष्ठा, मूत्र, नासिकामल आदि अनेक घृणित पदार्थों से भरा हुआ है।[२] इस प्रकार के अपवित्र शरीर में मन, वचन एवं काया से आसक्त होकर जीव इसके रक्षण, पोषण एवं संवर्धन आदि की चिन्ता किया करते हैं। रोगादि के हो जाने पर इस शरीर के कारण ही जीवों को अनेक प्रकार के कष्ट प्राप्त होते हैं।[३] अतः मृगापुत्र तथा भृगुपुरोहित के दोनो पुत्र इस शरीर को आधि, व्याधि, जरा, मरण आदि से पूर्ण जानकर इसमें क्षणभर के लिए भी प्रसन्न नहीं होते हैं।[४]

विषयभोग-जन्य सुखों में सुखाभासता :

संसार के विषयभोगों की साधनभूत पाँच इन्द्रियों को चोररूप बतलाया गया है।[५] पाँचों इन्द्रियो को चोररूप इसलिए कहा

---

१. उ० २० ६-३०.

२. चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं ।

—उ० १.४८.

तथा देखिए—उ० २४.१५; १६.१५.

३. जे केइ सरीरे सत्ता वण्णे रूवे य सव्वसो ।
मणसा कायवक्केणं सव्वे ते दुक्खसम्भवा ।।

—उ० ६.१२.

४. माणुसत्ते असारम्मि वाहीरोगाण आलए ।
जरामरणघत्थम्मि खणंपि न रमामहं ।।
जम्मदुक्खं जरादुक्खं रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसन्ति जंतुणो ।

—उ० १६.१५-१६.

तथा देखिए—उ० ५.११; १४.७.

५. आवज्जई इंदियचोरवस्से ।

—उ० ३२.१०४.

तथा देखिए—उ० ६.३०,

गया है कि इनसे जीव विषयभोगों को भोगता है जिससे शरीर की शक्ति नष्ट होती है और वह अकालमरण को प्राप्त करता है। इस तथ्य का वर्णन ग्रन्थ में बहुत विस्तार से मिलता है। जैसे :[१] चक्षु-इन्द्रिय के विषय रूप, श्रोत्रेन्द्रिय के विषय शब्द, घ्राणेन्द्रिय के विषय गन्ध, रसनेन्द्रिय के विषय रस, स्पर्शनेन्द्रिय के विषय स्पर्श और मन के विषय भावरूप राग-द्वेष से प्रेरित होकर जीव उनके उत्पादन एवं रक्षण में नाना प्रकार की हिंसादि क्रियाओं में प्रवृत्त होता है और उनके संभोगकाल में भी संतोष को प्राप्त न होता हुआ असमय में मृत्यु को प्राप्त करता है। जैसे : रूप (प्रकाश) में अत्यन्त आसक्त पतङ्गा, शब्द में आसक्त हरिण, औषधि की गन्ध में आसक्त सर्प, रस में आसक्त मत्स्य, शीतल जल के स्पर्श में आसक्त महिष-ग्राह और कामभोगों में आसक्त हाथी। इसी प्रकार द्वेष करने वाला भी स्वयं के भावो को कलुषित करके दुःखी होता है। इस तरह ग्रन्थ में जब पृथक्-पृथक् इन्द्रिय के विषय की आसक्ति का फल अकालमरण बतलाया गया है तो फिर सभी इन्द्रियों के विषयो में आसक्ति का फल कितना भयावह नहीं हो सकता है ? इसीलिए इन्द्रियों को चोररूप कहा गया है अन्यथा ये इन्द्रियाँ ज्ञानादि की प्राप्ति मे सहायक हैं।

इसी प्रकार नृत्य, गीत, आभूषण, नारीजनो का परिवार आदि संसार के सभी भोग्य विषय जिनकी प्राप्ति बड़ी मुश्किल से होती है और जो भोगने में सुखरूप प्रतीत होते हैं उनमें भी वास्तव में निमेषमात्र भी सुख नही है।[२] ये श्लेष्मा में फसने वाली मक्षिका की तरह कर्म-जाल में बाँधने वाले हैं। ऐसी स्थिति में पिंजड़े में स्थित पक्षी और बन्धन में स्थित मृग की तरह इन विषयभोगों में

---

१. उ० ३२.२२-९९.

२. सव्वभवेसु अस्साया वेयणा वेदिता मए।
निमिसंतरमित्तंपि जे साया नत्थि वेयणा ॥
—उ० १९.७५

तथा देखिए—उ० ७.८; १४.२१,४१ आदि।

सुख कहाँ ?[1] इसीलिए सभी गीतों को विलापरूप, नृत्य को एक प्रकार की विडम्बनारूप, आभूषणों को भाररूप तथा कामादि भोगों को दुःखरूप बतलाया गया है।[2] भोगकाल में ये विषय-भोग यद्यपि सुन्दर एवं सुखकर प्रतीत होते हैं परन्तु परिणाम में 'किंपाक' नामक विषफल की तरह प्राणघातक होते हैं।[3] इसके अतिरिक्त ये विषय-भोग भोगने से इच्छा-ज्वाला को और अधिक तीव्रतर कर देते हैं क्योंकि जैसे-जैसे किसी वस्तु की प्राप्ति होती जाती है वैसे-वैसे लोभ (आकांक्षा) भी बढ़ता जाता है।[4] इस तरह ये विषय-भोग यद्यपि क्षणभर के लिए कुछ सुख अवश्य देते हैं परन्तु कालान्तर में भयकर कष्टों को ही अधिकमात्रा में देते हैं।

---

१. नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा।

उ० १४.४१.

भोगामिसदोसविसन्ने......

बज्झई मच्छिया व खेलम्मि।

—उ० ८.५.

२. सव्वं विलवियं गीयं सव्वं नट्टं विडम्बियं।

सव्वे आभरणा भारा सव्वे कामा दुहावहा॥

—उ० १३.१६.

३. जहा किम्पागफलाणं परिणामो न सुन्दरो।

एवं भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुन्दरो॥

—उ० १९.१८.;

तथा देखिए—उ० ४.१३; १३.२०-२१; १४.१३, १९.१२; ३२.२०.

४. जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई।

दोमासकयं कज्जं कोडीए वि न निट्ठियं॥

—उ० ८.१७.

पुढवी साली जवा चेव हिरण्णं पसुभिस्सह।

पडिपुण्णं नालमेगस्स......॥

—उ० ९.४९.

तथा देखिए—उ० १४.३९.

सुख वास्तव में इनके त्यागने में ही है। जैसे:[1] किसी पक्षी के पास मांस का टुकड़ा देखकर अन्य पक्षीगण उस पर झपटते हैं और उससे वह मांस का टुकड़ा छीनने के लिए उसे नाना प्रकार से पीड़ित करते हैं। जब वह पक्षी उस मांस के टुकड़े को छोड़ देता है तो अन्य पक्षीगण उसे सताना भी छोड़ देते हैं। इसीलिए ग्रन्थ में सांसारिक विषयभोगों से प्राप्त होनेवाले सुखों की अपेक्षा विषय-भोगों से विरक्त मुनि को प्राप्त होनेवाले आत्मानन्दरूपी सुख को श्रेष्ठ बतलाया गया है।[2]

विषय-भोगों में जो हमें सुख प्रतीत होता है वह हमारे राग-द्वेषरूप मन का विकार है क्योंकि जीव जिससे राग करता है उसका संयोग होने पर और जिससे द्वेष करता है उसके विनष्ट होने पर प्रसन्न होता है। जैसे: जगल में दावाग्नि से जलते हुए वन्य पशुओं को देखकर अन्य पशु राग-द्वेष के कारण आनन्दित होते हैं उसी तरह सम्पूर्ण संसार राग-द्वेषरूपी अग्नि से जल-भुन रहा है।[3] इसके अतिरिक्त इस जीव को मृत्युरूपी व्याध जरारूपी जाल से वेष्टित करके दिन-रातरूपी शस्त्रधाराओं से पीड़ित कर रहा है।[4] अतः

१. सामिसं कुललं दिस्स बज्झमाणं निरामिसं।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता विहरिस्सामि निरामिसा।
—उ० १४.४६.

२. *बालाभिरामेसु दुहावहेसु न तं सुहं कामगुणेसु रायं।*
विरत्तकामाण तवोधणाणं जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं।
—उ० १३ १७.

३. दवग्गिणा जहारण्णे डज्झमाणेसु जन्तुसु।
अन्ने सत्ता पमोयन्ति रागद्दोसवसं गया॥
एवमेव वयं मूढा कामभोगेसु मुच्छिया।
डज्झमाणं न बुज्झामो रागद्दोसग्गिणा जगं॥
—उ० १४.४२-४३.

तथा देखिए—उ० ६.१२; १४.१०; १६.१६,२४-२५, ४७.

४. मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता एवं ताय! वियाणह॥
—उ० १४.२३.

संसार में सुख कहाँ ? यदि किसी तरह सांसारिक सुख के साधन-भूत कामभोगों को प्राप्त भी कर लिया जाए तो भी इनकी रक्षा करना बड़ा कठिन है क्योंकि ये चंचल स्वभाव के होने के कारण अच्छी तरह रोक रखने पर भी इच्छा के विपरीत छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं। जैसे पत्र, फल आदि से रहित वृक्ष को पक्षीगण छोड़कर चले जाते हैं।[1] ऐसी परिस्थिति में संसार के विषय-भोगों को सुख का साधन कैसे माना जा सकता है ? इन्हें तो दुःखों की खान ही कहना चाहिए।[2] विषय-भोगसम्बन्धी इच्छाएँ अनन्त एवं दुष्पूर हैं। अतः इनसे वास्तविक सुख की कल्पना करना मात्र मन को संतोष दिलाना है।

जिन्हें वास्तविकता का ज्ञान नही है वे ही इन सासारिक सुखो को प्रिय समझते हैं।[3] इसके अतिरिक्त वे नाना प्रकार की हिंसादि क्रियाओं में प्रवृत्त होकर मिट्टी को एकत्रित करनेवाले शिशुनाग (केंचुआ–द्वीन्द्रिय जीव) की तरह मन-वचन-काया से भोगों में मूर्च्छित होकर इहलोक और परलोकसम्बन्धी दुःखों के

---

१. अच्चेइ कालो तरन्ति राइओ न यावि भोगा पुरिसाण णिच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥
—उ० १३.३१.

इमे य बद्धा फन्दन्ति मम हत्थज्जमागया।
—उ० १४.४५

२. इमं सरीर अणिच्चं असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं दुक्खकेसाण भायणं ॥
— उ० १९.१२.

तथा देखिए—उ० १९ ९९, १०.३.

खणमित्तसुक्खा वहुकालदुक्खा पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसार मोक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।
—उ० १४.१३

३. हिंसे वाले मुसावाई माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणो सुरं मंसं सेयमेयं ति मन्नई ॥
—उ० ५.९.

तथा देखिए—उ०५.५-८; ९.५१; १३.१७; १४.५.

कारणभूत कर्ममलों का संचय करते हैं।[1] ऐसी स्थिति में उनकी धन-धान्यादि से सम्पन्न क्षत्रियराजा की तरह भोगों से निवृत्ति नहीं होती है।[2] बारम्बार प्रतिबोधित करने पर भी उनकी प्रवृत्ति उस ओर से उसी प्रकार नहीं मुड़ती है जिस प्रकार कीचड़ में फंसा हुआ हाथी तीर प्रदेश को देखकर भी नही निकल पाता है।[3] चित्त-मुनि के द्वारा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बारम्बार प्रतिबोधित किए जाने पर भी विषयों से विरक्त नहीं होता है और अन्त में सातवें नरक में जाता है।[4] इसीलिए ग्रन्थ में संसार को पाशरूप तथा समुद्र की तरह विशाल एवं दुस्तर बतलाया गया है जहां से निकलना बड़ा कठिन है।[5]

चार दृष्टान्त—विषयासक्त पुरुषों को प्रतिबोधित करने के लिए ग्रन्थ में चार दृष्टान्त दिए गए हैं। वे इस प्रकार हैं :[6]

---

१. कायसा वयसा मत्ते वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मल संचिणइ सिसुणागोव्व मट्टियं ।।
—उ० ५.१०.

२. न निविज्जन्ति संसारे सव्वट्ठेसु व खत्तिया ।
—उ० ३.५.

३. नागो जहा पंक जलावसन्नो दट्ठु थलं नाभिसमेइ तीरं ।
—उ० १३.३०.

तथा देखिए—उ० १३.१४; २७, ३३, १६.२६; ८.६.

४. पंचालराया वि य बम्भदत्तो ।
साहुस्स तस्स वयण अकाउ ।।
अणुत्तरे भुजिय कामभोगे ।
अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो ।।
—उ० १३.३४.

५. पासजाइपहे बहू ।
—उ० ६.२.

तिण्णो हु सि अण्णवं महं ।
—उ० १० ३४.

तथा देखिए—उ० ४.७, ५.१; ६.२; ८.१०; १६.११; २१.२४, २२.३१; २३.७३; २५.४०.

६. उ० ७ १-२४.

१. **बकरा**—जिस प्रकार बाहर से आने वाले प्रिय अतिथि के भोजन के निमित्त कोई बकरा अपने मालिक द्वारा विविध प्रकार के पक्वान्नों से पाला-पोसा जाता है और फिर उसके हृष्टपुष्ट हो जाने पर तथा अतिथि के आ जाने पर उसे मार डाला जाता है, उसी प्रकार विषयासक्त जीव भी मृत्युरूपी अतिथि के आजाने पर मृत्यु को प्राप्त करके दु.खों को झेलते हैं। २. **काकिणी** (सबसे छोटा सिक्का)— जैसे एक काकिणी के लोभ से कोई जीव हजारों मुद्राएँ खो देते हैं वैसे ही थोड़े से क्षणिक-सुख के पीछे मनुष्य सहस्रगुणे अधिक सुखों को खो देते हैं। ३. **आम्रफल-भक्षण**—जैसे कोई राजा चिकित्सक द्वारा बारम्बार मना किए जाने पर भी अल्पमात्र स्वाद के लोभ से आम्रफल खाकर मर जाता है वैसे ही थोड़े से स्वाद के लोभ से जीव अपने बहुमूल्य जीवन को खो देते हैं। ४. **तीन व्यापारी**—जैसे कोई तीन व्यापारी व्यापार के निमित्त विदेश में जाकर धन कमाते हैं। उनमे से एक मूलधन को सुरक्षित लेकर, दूसरा मूलधन में वृद्धि करके और तीसरा मूलधन को विनष्ट करके लौटता है। उसी प्रकार यह जीव भी मनुष्यजन्मरूपी मूलधन को लेकर चतुर्गतिरूप ससार में भ्रमण करता है। यदि मूलधन में वृद्धि करता है तो स्वर्गगति में जाता है और यदि मूलधन का विनाश करता है तो तिर्यञ्च या नरकगति में जाता है।

उपर्युक्त चार दृष्टान्तों को समझने के बाद भी यदि कोई सम्यक् आचरण न करके विषयों में ही आसक्त रहता है तो वह करुणा-योग्य, लज्जालु, दीन और अप्रीति का पात्र होता है।[1]

इस प्रकार अन्य भारतीय धार्मिक-ग्रन्थो[2] की तरह प्रकृत-ग्रन्थ में भी संसार को दु.खों से पूर्ण चित्रित किया गया है। इसमें जो सुख की अनुभूति होती है वह काल्पनिक एवं क्षणिक है। भगवान्

१. आवज्जई एवमणेगरूवे एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे कारुण्णदीणे हिरिये वइस्से ॥
—उ० ३२.१०३.

२. मनुस्मृति ४.१६०; भर्तृहरि—वैराग्यशतक।

बुद्ध ने भी अपने चार आर्यसत्यों में प्रथम सत्य 'संसार की दुःखरूपता' को ही स्वीकार किया है।[1]

दुःखरूप संसार की कारण-कार्य-परम्परा :

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि इस संसार में दुःख ही सत्य है। इसमें जो सुखानुभूति होती है वह मानसिक, क्षणिक, कल्पनाप्रसूत या आभासमात्र है। चूंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता है अतः इन दुःखो का भी कारण अवश्य होना चाहिए। इन दुःखो के कारणों पर विचार करते हुए ग्रन्थ में विभिन्न प्रकार से इसकी कारण-कार्यशृंखला का प्रतिपादन किया गया है जिसके प्रतिपादन में विभिन्नता होने पर भी एक इकाई और सामञ्जस्य है। वह कारण-कार्य-परम्परा इस प्रकार है :

जन्म-मरण—ससार में जो दुःख है उनका कारण है—जन्म-मरण को प्राप्त होना।[2] यदि जीव का जन्म न हो तो रोगादिजन्य पीड़ा भी न हो क्योंकि जन्म होने पर दुःख एव मृत्यु आदि अवश्यभावी हैं। अतः ग्रन्थ में रोगादिजन्य दु.ख के समान जन्म को भी दुःखरूप कहा गया है।[3]

शुभाशुभ-कर्मबन्धन—इस जन्म-मरणरूप संसार का भी कारण है—व्यक्ति के द्वारा किया गया शुभाशुभ-कर्म (अदृश्य—भाग्य)।[4] जब जीव अहिंसा, दया, दान आदि अच्छे कार्य करता है तो पुण्य के प्रभाव से स्वर्गादि में जन्म लेता है। जब हिंसा, झूठ, चोरी आदि

---

१. देखिए—प्रकरण ३.

२. रागो य दोसो वि य कम्मवीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाई मरणस्स मूलं दुक्खं च जाईमरणं वयंति।
—उ० ३२.७.

३. देखिए—पृ० १३४, पा० टि० ४.

४. देखिए—पृ० १४१, पा० टि० २; —उ० ३.२, ५-६; ४.२; ७.८-९; १०.१५; १३. १९-२०;
१४.२, १९; १८.२५; १९.१९-२०, २२, ५६, ५८; २०.४७; २१.२४; २५.४१; ३२.३३; ३३.१.

खोटे कार्य करता है तो पापकर्म के प्रभाव से नरकादि में जन्म लेता है। दुरात्मा के विषय में ग्रन्थ में कहा गया है कि वह कण्ठ का छेदन करने वाले शत्रु की अपेक्षा भी अपना अधिक अनिष्ट करता है। इसका ज्ञान उसे तब होता है जब वह मृत्यु के समीप पहुँचकर पश्चात्ताप से दग्ध होता है।[1] यह अवश्य है कि पुण्यकर्म के प्रभाव से सासारिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त होती हैं परन्तु जन्म-मरण के प्रति दोनो (पाप-पुण्य) की कारणता समान है।

मनोज्ञामनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष-बुद्धि—कर्मबन्धन क्यों होता है ? इसका कारण है- मनोज्ञ (प्रिय) वस्तु में राग (ममत्व-आसक्ति) और अमनोज्ञ (अप्रिय) वस्तु मे द्वेष-बुद्धि का होना। जब जीव किसी वस्तु में राग या द्वेष करता है तो वह अपने राग-द्वेष के कारण दुःखों को प्राप्त करता है।[3] इस तरह राग-द्वेष साक्षात् दुःख के कारण होकर भी कर्मबन्ध के कारण हैं क्योंकि रागद्वेष के कारण ही जीव हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप-क्रियाओ तथा दया, दान आदि

---

१. न तं अरी कंठछेत्ता करेइ जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥
—उ० २०.४८

तथा देखिए—उ० ७ ९.

२. देखिए—पृ० १४१, पा० टि० २.; उ० ४.१२-१३; ८.२; २९ ६२ ७१; १०.१,४; ३१.३; ३२.६,१९,२५-३०, ३२-३३, ३८-३९, ४१,४६, ५१, ५२,५९, ६४-६५,७२, ७७-७८, ८५, ९०-९१, ९८, १००-१०१.
यहाँ पर कहीं राग-द्वेष को पृथक्-पृथक्, कही एक साथ, कही मोहादि के साथ कर्म का कारण बतलाया गया है। कही-कही राग-द्वेष को साक्षात् संसार या दुःख का भी हेतु बतलाया गया है।

३. रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे अलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥
जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि रूवं अवरज्झई से।
—उ० ३२.२४.२५.

पुण्य-क्रियाओं को करता है। इन पाप और पुण्यरूप क्रियाओं के करने से क्रमशः पाप और पुण्य कर्मों का बन्ध होता है। यहाँ एक बात ध्यान रखने योग्य है कि द्वेष के भी मूल में राग ही कारणरूप से कार्य करता है क्योंकि अमनोज्ञ वस्तु में जो द्वेष होता है उसके मूल में भी किसी न किसी के प्रति राग की भावना अवश्य रहती है। जिस व्यक्ति ने कभी किसी से राग (प्रेम) किया ही नही सिर्फ द्वेष, क्रोध और घृणा ही करना जानता है उसे भी अपने क्रोधी-स्वभाव से राग अवश्य है अन्यथा अपनी इच्छा के प्रतिकूल आचरण करने वाले से कभी द्वेष न करे। भगवान् महावीर मे भी किया गया राग पुण्य-कर्म के बन्ध में कारण है। इसीलिए ग्रन्थ मे गौतम गणधर को लक्ष्य करके भगवान् ने कहा है कि हे गौतम! मुझसे ममत्व मत करो।[1]

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि राग-द्वेष का कारण क्या है? क्या मनोज्ञ वस्तु राग का और अमनोज्ञ वस्तु द्वेष का कारण है? इस विषय में ग्रन्थ का स्पष्ट मत है कि यद्यपि मनोज्ञ और अमनोज्ञ वस्तु में क्रमशः राग और द्वेष की भावना उत्पन्न होती है परन्तु ये मनोज्ञामनोज्ञ विषय रागवान् व्यक्ति के लिए ही क्रमशः राग और द्वेष को उत्पन्न करते हैं, वीतरागी के लिए ये न तो राग को उत्पन्न करते हैं और न द्वेष को उत्पन्न करते हैं।[2] इस तरह रूपादि विषय न तो रागद्वेष को शान्त करते है और न उनकी उत्पत्ति के कारण हैं अपितु जो जीव उन विषयों में राग अथवा द्वेष करता है वह ही स्वयं के राग अथवा द्वेष के कारण विकृति को प्राप्त होता है। इसमें रूपादि

---

१. वोच्छिंद सिणेहमप्पणो कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए समयं गोयम मा पमायए॥
—उ० १०.२८.

२. चत्तपुत्तकलत्तस्स निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जइ किंचि अप्पियं पि न विज्जई॥
एगंतरत्ते रुइरंसि रूवे अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥
—उ० ३२.२६.

विषयों का कोई दोष नहीं है।[1] इसीलिए प्रव्रज्या लेते समय नमिराजर्षि इन्द्र के द्वारा यह कहने पर कि 'आपका अन्तःपुर जल रहा है' अपने संकल्प से विचलित नहीं होते हैं।[2] यदि उनके स्थान पर कोई रागवान् पुरुष होता तो अवश्य ही राग के कारण अन्तःपुर की रक्षा आदि का तथा द्वेष के कारण अन्तःपुर में आग लगाने वाले को दण्डित करने आदि का प्रयत्न करता। इसके अतिरिक्त कौन-कौन से विषय मनोज्ञ हैं और कौन अमनोज्ञ हैं? यह कह सकना संभव नहीं है क्योंकि कोई एक विषय किसी को मनोज्ञ लगता है और दूसरे को वही विषय अमनोज्ञ तथा तीसरे को उपेक्षणीय।[3] अतः मनोज्ञामनोज्ञ विषय क्रमशः राग और द्वेष के कारण नही माने जा सकते हैं। यदि ऐसा न माना जाएगा तो वीतरागी और मुक्त जीवों को भी रागादि की उत्पत्ति होने लगेगी क्योंकि मनोज्ञामनोज्ञ विषय उनके भी समक्ष रहते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्ति का कर्म करने के विषय में जो स्वातन्त्र्य है वह भी समाप्त हो जाएगा।

अज्ञान—जब मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषय क्रमशः राग एवं द्वेष के कारण नहीं हैं तो फिर राग-द्वेष का कारण क्या है? इस

१. न कामभोगा समयं उवेंति न यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥
—उ० ३२.१०१.
यहाँ पर मनोज्ञामनोज्ञ विषयों को जो रागादि का अहेतु बतलाया गया है वह उपादानकारण की अपेक्षा से है क्योंकि निमित्तकारणता उनमें अवश्य वर्तमान है। यदि ऐसा न होता तो मनोज्ञामनोज्ञ विषयों के उपस्थित होने पर रागादि विकार उत्पन्न न होते। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ का यह कथन कि विषयभोग विषफल की तरह हैं कैसे संगत होगा?

२. उ० ९.१२-१६.

३. जैसे मृत षोडशी सुन्दरी बाला को देखकर कोई कामुक युवक रागाभिभूत होकर कहता है 'अहो कितनी सुन्दरी थी!', शत्रु द्वेषवश कहता है 'अच्छा हुआ जो वह मर गई' परन्तु एक वीतरागी साधु संसार की असारता का विचार करता हुआ उपेक्षाभाव रखता है। इस तरह एक ही विषय कामुक व्यक्ति को मनोज्ञ, शत्रु को अमनोज्ञ और वीतरागी साधु को उपेक्षणीय होता है।

विषय में ग्रन्थ का मत है कि राग की उत्कट-अवस्थारूप मोह (मूर्च्छाभाव) ही रागद्वेष का जनक है।[1] यह मोह भी अज्ञानमूलक राग की उत्कटावस्थारूप मूर्च्छाभाव से अतिरिक्त कुछ नहीं है। मोह के रागात्मक होने के कारण ग्रन्थ में कहीं-कहीं राग-द्वेष के साथ मोह को भी कर्मबन्ध एवं दुःख का कारण बतलाया गया है।[2]

इस मोह के अज्ञानमूलक होने से मोह का भी मूल कारण अज्ञान (अविद्या) स्वीकार किया गया है। अतः ग्रन्थ में भी कहा है—'जो पुरुष ज्ञान से विहीन हैं वे सब दुःखोत्पत्ति के स्थानभूत हैं तथा वे मूढ़ होकर अनन्त संसार में बहुत बार (जन्म-मरणादि से) पीड़ित होते हैं। जो ज्ञानवान् हैं वे बन्धन के कारणों को जानकर सत्य की खोज करते हैं और सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखते हैं।'[3]

तृष्णा व लोभ–अज्ञान और मोह के बीच में जिन दो अन्य कारणों को ग्रन्थ में बतलाया गया है उनके क्रमशः नाम हैं–तृष्णा और लोभ।[4]

---

१. अमोहणे होइ निरंतराए।
—उ० ३२.१०६.
तथा देखिए—पृ० १४१, पा० टि० २; १४६, पा० टि० २; उ० ५.२६; ८.३; १४.२०; १६.७; २१.१६ आदि।

२. रागं च दोसं च तहेव मोहं उद्धत्तुकामेण समूलजालं।
—उ० ३२.६.
तथा देखिए—पृ० १४१, पा० टि० २; पृ० १४५, पा० टि० ४.

३. जावन्तऽविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा संसारम्मि अणन्तए॥
समिक्ख पंडिए तम्हा पासजाइपहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए॥
—उ० ६.१-२.
जहा वयं धम्ममजाणमाणा पावं पुरा कम्ममकासि मोहा॥
—उ० १४.२०.
तथा देखिए—उ० २८.२०; २६.१-६,७१ आदि।

४. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो लोहो हओ जस्स न किंचणाइं।
—उ० ३२.८.

तृष्णा और लोभ ये दोनों वास्तव में रागात्मक मोह की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं। तृष्णा को भयंकर फल देने वाली लता कहा गया है।[1] इसके अतिरिक्त मोह और तृष्णा में बीजाङ्कुर का सम्बन्ध भी बतलाया गया है—'जिस प्रकार बलाका पक्षी की उत्पत्ति अंडे से और अंडे की उत्पत्ति बलाका से होती है उसी प्रकार मोह की उत्पत्ति तृष्णा से और तृष्णा की उत्पत्ति मोह से होती है।'[2] इस तरह यद्यपि मोह और तृष्णा में बीजाङ्कुर की तरह सम्बन्ध बतलाया गया है परन्तु इसके आगे ग्रन्थ में ही लिखा है—'जिसे मोह नहीं उसने दुःख का अन्त कर दिया। जिसे तृष्णा नहीं उसने मोह का अन्त कर दिया। जिसे लोभ नहीं उसने तृष्णा को नष्ट कर दिया और जिसके पास कोई सपत्ति नही (अकिञ्चन) उसने लोभ का भी अन्त कर दिया।'[3] यहाँ मोह का कारण तृष्णा बतलाकर तृष्णा का भी कारण लोभ बतलाया गया है। इस लोभ के न रहने पर तृष्णादि की परम्परा टूट जाती है। इस लोभ का विनाश अकिञ्चनभाव (त्याग, समता आदि गुणों) से होता है। यहाँ अकिञ्चनभाव लोभ का कारण नही है अपितु लोभत्याग से अकिञ्चनभाव की प्राप्ति होती है। इस अकिञ्चनभाव की प्राप्ति ज्ञान से होती है और अज्ञान से लोभादि मे प्रवृत्ति। इस तरह अज्ञान ही सब प्रकार के दु.खों का मूल कारण है। अज्ञान के दूर होते ही मोहादि की शृंखला टूट जाती है और तब जीव जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाकर जीवन्मुक्त हो जाता है। इस तरह दुःखों के कारणभूत ससार की जो कारणकार्यशृंखला बतलाई गई है वह निम्न प्रकार है :

अज्ञान→लोभ→तृष्णा→मोह →राग-द्वेष →कर्मबन्धन →जन्म-मरणरूप संसार→दुःख।

---

१. भवतण्हा लया वुत्ता भीमा भीमफलोदया।

—उ० २३.४८.

२. जहा य अंडप्पभवा बलागा अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा मोहं च तण्हाययणं वयंति॥

—उ० ३२.६.

३. देखिए—पृ० १४५, पा० टि० ४.

अज्ञान से लोभ, लोभ से तृष्णा, तृष्णा से मोह, मोह से रागद्वेष, रागद्वेष से शुभाशुभ कर्मबन्धन, शुभाशुभ कर्मबन्धन से जन्म-मरणरूप संसार, जन्म-मरणरूप संसार से दु:ख। इस तरह इस कारण-कार्यश्रृंखला के मूल में अज्ञान है जिससे जीव हिताहित का विवेक नहीं कर पाता है और रागादि के वशीभूत होकर संसार के विषय-भोगों में लिप्त रहता है। इस अज्ञान के दूर हो जाने पर संसार के विषयों से आसक्ति हट जाती है और दु:खों का भी अन्त हो जाता है। यह ज्ञान पुस्तकीय-ज्ञान मात्र नहीं है अपितु इस कारणकार्यश्रृंखलारूप सत्यज्ञान का आत्म-साक्षात्कार आवश्यक है। जब तक इस सत्य का वास्तविक ज्ञान नहीं होगा तब तक संसार के विषयों से रागबुद्धि हट नहीं सकती है। इसीलिए ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती संसार की असारता को जानकर भी संसार के विषयों से विरक्त नहीं हो पाता है।[1] इस तरह अज्ञान ही वह मूल कारण है जिससे मोहादिरूप अन्य कारणो की उत्पत्ति होती है और तब अनन्त दु.खों से पूर्ण ससार मे परिभ्रमण।

कर्म-बन्ध

जन्म-मरणरूप ससार परिभ्रमण में कर्मबन्ध का विशेष महत्त्व है क्योंकि जब तक जीव के साथ कर्म का बन्धन रहता है तब तक वह ससार में परिभ्रमण करता है और जब वह कर्म के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर लेता है तो चतुर्गतिरूप संसार-परिभ्रमण से भी मुक्त हो जाता है। अत: जीव के साथ होनेवाले कर्मबन्ध का विचार आवश्यक है।

कर्मबन्ध शब्द का अर्थ :

'कर्मबन्ध' शब्द में दो शब्द हैं—कर्म और बन्धन। 'कर्म' शब्द से साधारणतया क्रिया, प्रवृत्ति या कार्य का बोध होता है तथा 'बन्धन' शब्द से दो विशिष्ट पदार्थों के सम्बन्ध-विशेष का बोध होता है। इस तरह कर्मबन्ध का सामान्य अर्थ हुआ जीव के द्वारा

१. उ० १३.२७-३०.

की गई मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से कर्म-परमाणुओं (कार्मणवर्गणा—रूपी अचेतन पुद्गल द्रव्यविशेष) का दूध और पानी की तरह जीव के आत्म-प्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाही (सम्बन्ध) होना। यद्यपि इस तरह जीव की प्रत्येक क्रिया का निमित्त पाकर कर्म-परमाणुओं का आत्मा के साथ बन्ध हो सकता है परन्तु प्रकृत ग्रन्थ में प्रत्येक क्रिया के निमित्त से कर्मबन्ध स्वीकार नहीं किया गया है अपितु संसार-परिभ्रमण मे कारणभूत रागद्वेष के निमित्त से होनेवाली मन-वचन-काय की क्रिया ही जीव के साथ कर्म-परमाणुओ का बन्ध कराती है। जिन क्रियाओ मे रागद्वेष की निमित्तकारणता नही है वे भी यद्यपि कर्म है परन्तु वे जीव के साथ बन्ध को प्राप्त नही होते हैं। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थ मे एक दृष्टान्त दिया गया है :

जिस प्रकार किसी दीवाल पर एक साथ मिट्टी के दो ढेले (आर्द्र और शुष्क) फेंकने पर दोनो ढेले उस दीवाल तक पहुँचते तो अवश्य हैं परन्तु उनमे से जो आर्द्र ढेला होता है वह दीवाल से चिपक जाता है और जो शुष्क ढेला होता है वह दीवाल से चिपकता नहीं है। उसी प्रकार जो जीव काम-भोगों की लालसा (राग-द्वेष की भावना) से युक्त हैं उनके साथ कर्म-परमाणुओ का बन्ध हो जाता है और जो वीतरागी हैं उनके साथ कर्मपरमाणुओ का बन्ध नही होता है। अतः जो भोगो की लालसा से युक्त होते हैं वे कर्मबन्ध के कारण संसार में परिभ्रमण करते हैं और जो भोगों की लालसा से रहित हैं वे कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं।[1]

---

१. उवलेवो होइ भोगेसु अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमई संसारे अभोगी विप्पमुच्चई॥
उल्लो सुक्खो य दो छूटा गोलया मट्टियामया।
दोवि आवडिया कुड्डे जो उल्लो सो त्थ लग्गई॥
एवं लग्गन्ति दुम्मेहा जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति जहा मे सुक्कगोलए॥
—उ० २५.४१-४३.

विशेष—यदि इस दृष्टान्त मे आर्द्रता और शुष्कता मिट्टी के ढेलों की अपेक्षा दीवाल में बतलाई जाती तो अधिक उचित होता।

अतः ग्रन्थ में कर्मबन्ध से उन्हीं कर्मों को लिया गया है जो जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर उससे सम्बद्ध हो जाते हैं और जीव को संसार में परिभ्रमण कराते हैं।[1]

इस तरह हमारी प्रत्येक मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया (जिसे जैनदर्शन में 'योग' शब्द से भी कहा जाता है) से कर्म-परमाणु जीव की ओर आकृष्ट होते है। यदि उस समय आत्मा में रागादि-भाव होते हैं तो कर्म-परमाणु आत्मा से चिपक जाते हैं। यदि उस समय आत्मा मे रागादिभाव नही होते हैं तो कर्म-परमाणु आत्मा के पास आकर के भी अलग हो जाते हैं। इस तरह जीव की प्रत्येक क्रिया से सञ्चलन को प्राप्त होने के बाद कर्म-परमाणुओं की निम्न तीन अवस्थाएँ होती हैं :

१. जो कर्मपरमाणु जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर आत्मा से बद्ध हो जाते हैं और समार में परिभ्रमण कराते हैं। इन्हे 'सक्रिय बद्ध-कर्म' कहा जा सकता है।

२. जो कर्म-परमाणु जीव के रागादि भावों से रहित केवल मन-वचन-काय की प्रवृत्तिरूप निमित्त से आत्मा के पास आकर उससे न तो बद्ध होते है और न अपना कोई प्रभाव आत्मा पर छोड़ते हैं। इन्हें 'निष्क्रिय अबद्ध-कर्म' कहा जा सकता है।

३. जो कर्मपरमाणु जीव के रागादि भावो से रहित मन-वचन-काय की सत्प्रवृत्ति (सदाचार) के निमित्त से आत्मा के पास आकर पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करते हैं। ग्रन्थ में इस प्रकार के कर्म को दुर्गति में न ले जाने वाला कहा है।[2] इन्हें 'सक्रिय अबद्ध-कर्म' कहा जा सकता है।

---

१. अट्ठ कम्माइं वोच्छामि आणुपुव्विं जहाकमं।
जेहिं बद्धो अयं जीवो संसारे परिवट्टई॥
—उ० ३३.१.

२. किं नाम होज्जतं कम्मयं जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा।
—उ० ८.१.

इन तीन प्रकार की कर्म की अवस्थाओं में से तीसरी अवस्था-वाले कर्मों का आगे विचार किया जाएगा। दूसरी अवस्थावाले कर्मों का प्रकृत मे कोई उपयोग नही है। अतः केवल प्रथम अवस्थावाले कर्मों का ही विचार यहाँ प्रस्तुत है। पहले जो कर्म की परिभाषा दी गई है वह भी प्रथम प्रकार के कर्मों की अवस्था को ही दृष्टि मे रखकर दी गई है क्योंकि ग्रन्थ में जो भी कर्मबन्ध के सम्बन्ध मे वर्णन मिलता है वह इसी अवस्थावाले कर्मों से सम्बन्धित है। इसीलिए ग्रन्थ में कर्म को कर्मग्रन्थि[1], कर्मकञ्चुक[2], कर्मरज[3], कर्मगुरु[4], कर्मवन[5] आदि शब्दो से कहा गया है।

विषमता का कारण—कर्मबन्ध :

इष्ट का सयोग, अनिष्ट का वियोग, सुख या दुःख की अनुभूति, स्वर्ग या नरक की प्राप्ति, ज्ञान व अज्ञान का आधिपत्य आदि जीव के किए हुए कर्मो के प्रभाव से होते हैं। देखते ही देखते राजा भिखारी बन जाता है और भिखारी राजा बन जाता है। एक आदमी दिन-भर कठोर परिश्रम करने के बावजूद कुछ नही प्राप्त कर पाता है और दूसरा आदमी घर बैठे ही बैठे अपार सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है। इसमे क्या कारण है? इसका कारण है हमारे द्वारा

---

१. अट्ठविहकम्मगंठि निज्जरेइ।

—उ० २६.३१.

अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठिविमोयणाए।

—उ० २६.७१.

२. तवनारायजुत्तेण भेत्तूण कम्मकंचुयं।

—उ० ६.२२.

३. तवस्सी वीरियं लद्धं संवुडे निद्धुणे रयं।

—उ० ३.११.

विहुडाहि रयं पुरे कडं ''''''।

—उ० १०.३.

४. तओ कम्मगुरू जन्तू।

—उ० ७. ६.

५. कामभोगे परिच्चज्ज पहाणे कम्ममहावणं।

—उ० १८.४६.

किए गए (पूर्वबद्ध) कर्म जो आत्मा के साथ बद्ध होकर सुख-दुःख आदि का अनुभव कराते हैं।[1] ये कर्म एक सच्चे न्यायाधीश की तरह जीव की प्रत्येक कार्यवाही को लिखते से जाते हैं और तदनुसार इनका फल भी देते हैं क्योंकि ये कर्म सत्य हैं। अतः ये जिस रूप में किए जाते हैं उसी रूप में उसका फल भी अवश्य देते हैं। कर्मों का फल भोगे बिना किसी को छुटकारा नहीं मिल सकता है।[2] यदि अच्छे कर्म करते हैं तो सुखरूप अच्छा फल मिलता है। यदि बुरे कर्म करते हैं तो दुःखरूप बुरा फल मिलता है।[3] इन कर्मों के अनुसार ही अगले भव में श्रेष्ठ अथवा निम्न कुल-गोत्र-शरीर-रचना आदि की प्राप्ति होती है।[4] मरने के बाद परलोक में भी साथ देने वाला यदि कोई है तो वह है जीव के द्वारा किया गया शुभाशुभ कर्म। अतः ग्रन्थ में लिखा है—भाई, बन्धु आदि न तो किसी के कर्म के भागीदार बन सकते हैं और न कर्म से उसको छुटकारा दिला सकते हैं क्योंकि कर्म कर्त्ता का ही अनुगमन करता है।[5] पर के लिए भी किया गया कर्म कर्त्ता (कर्मकर्त्ता) के

---

१. इहं तु कम्माइ पुरेकडाइं ।।

—उ० १३.१९.

कम्मा नियाणप्पगडा तुमे राय विचिन्तिया ।
तेसिं फलविवागेण विप्पओगमुवागया ।।

—उ० १३ ८.

२. कम्मसच्चा हु पाणिणो ।

—उ० ७.२०.

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं । कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।।

—उ० १३.१०.

३. शुभकर्मों के शुभफल के लिए देखिए—उ० १३ १०-११; १९.२१-२२; २०.३३; २९.२३ आदि।
अशुभकर्मों के अशुभफल के लिए देखिए—उ० ३.५; ५.१३; १८.२५; १९.१९-२०, ५८; २१.९; २९ ३२; ३० ६ आदि।

४. उ० ३ ३; १४ १-२ आदि।

५. न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ।।

द्वारा ही भोक्तव्य है।[1] जिस प्रकार सेन्ध लगाते हुए रंगे हाथों पकड़ा गया चोर नहीं बच सकता है उसी प्रकार इन कर्मों से छूटना भी संभव नहीं है।[2] सम्राट ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तथा देवता आदि जब इन कर्मों का फल भोगे बिना नहीं बच सकते हैं तो फिर अन्य सामान्य जीव इनका फल भोगे बिना कैसे बच सकते हैं? हम जो ऐसा व्यवहार करते हैं कि हमारे माता-पिता, भाई-बन्धु वगैरह हमारी रक्षा करते हैं तथा हमारे लिए सुख-साधनों को जुटाते हैं, यह भी पूर्वभव के अपने-अपने कर्मों का ही फल है। अतः हमारे सुख-दुःख आदि में माता-पिता, भाई-बन्धु आदि सिर्फ निमित्तकारण हैं, उपादानकारण तो हमारे पूर्वबद्ध कर्म ही है। निमित्तकारण कर्मों के अनुसार अपने आप मिल जाते हैं। इस तरह जीव में जो भी छोटी से छोटी एवं बड़ी से बड़ी क्रिया या सुख-दुःख की अनुभूति दृष्टिगोचर होती है वह सब अपने-अपने पूर्वबद्ध कर्मों के प्रभाव से है। अतः ग्रन्थ में सभी संसारी जीवों को अपने-अपने कर्मों से पच्चमान कहा गया है।[3]

चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ परं भवं सुन्दरपावगं वा।

—उ० १३.२३-२४.

तथा देखिए—पृ० १३३, पा० टि० २.

१. संसारमावन्न परस्स अट्ठा साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले न बंधवा बंधवयं उवेंति॥

—उ० ४.४.

२. तेणे जहा संधिमुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि॥

—उ० ४.३.

तथा देखिए—पृ० १५१, पा० टि० २.

३. थावरं जंगमं चेव धणं धण्णं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं नालं दुक्खाउ मोयणे॥

—उ० ६.६.

कर्म-सिद्धान्त भाग्यवाद नहीं :

इस कर्म-सिद्धान्त से यद्यपि भाग्यवाद या अनिवार्यतावाद की पुष्टि होती है परन्तु यहाँ पर यह इष्ट नहीं है क्योंकि जीव को अच्छा या बुरा कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र माना गया है। यह अवश्य है कि किए हुए कर्मों का फल भोगना जीव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर नहीं है क्योंकि कर्म करने पर उनका फल भोगना आवश्यक माना गया है। ऐसी स्थिति होने पर भी यदि जीव पुरुषार्थ करे तो अपने पूर्वबद्ध कर्मों को पृथक् कर सकता है। अतः इस कर्म-सिद्धान्त को 'भाग्यवाद' कहने की अपेक्षा 'पुरुषार्थवाद' कहना अधिक उपयुक्त है। 'जैसी करनी वैसी भरनी', 'जो जस करहि सो तस फल चाखा', 'As you sow, so you reap' आदि प्रचलित मुहावरों से इस कर्म-सिद्धान्त को अच्छी तरह समझा जा सकता है।

कर्मों के प्रमुख भेद-प्रभेद :

कर्म जब आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं तो वे मुख्य-रूप से आठ रूपों में परिवर्तित हो जाते हैं। ये कर्मों की आठ अवस्थाएँ ही कर्मों के प्रमुख आठ भेद कहे गए हैं। ग्रन्थ में इन्हें मूल कर्मप्रकृति तथा इनके अवान्तर भेदों को उत्तर कर्म-प्रकृति कहा गया है।[1] प्रकृति का अर्थ है—वस्तु का स्वभाव। अतः बन्ध को प्राप्त होने वाले कर्म-परमाणुओं में अनेक प्रकार के परिणामों को उत्पन्न करने वाली स्वाभाविक शक्तियों का पड़ना प्रकृतिबन्ध है। उन मूल आठ कर्मों या कर्मप्रकृतियों के कार्य एवं नाम निम्नोक्त हैं :[2]

१. आत्मा के ज्ञान गुण का प्रतिबन्धक (ज्ञानावरणीय), २. सामान्यबोध या आत्मबोध का प्रतिबन्धक (दर्शनावरणीय), ३. सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला (वेदनीय), ४. मोह या

---

१. एयाओ मूलपयडीओ उत्तराओ य आहिया।
—उ० ३३.१६.

२. नाणस्सावरणिज्जं'''अट्ठेव उ समासओ।
—उ० ३३.२-३.

मूढ़ता को उत्पन्न करने वाला (मोहनीय), ५. जीवन की स्थिति का मापक (आयु), ६. शरीर की रचना आदि में निमित्तकारण (नाम), ७. उच्च या नीच कुलादि की प्राप्ति में कारण (गोत्र) और ८. आत्मा की वीर्यादि शक्तियों का प्रतिबन्धक (अन्तराय)।

इन आठ प्रकार के कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म जीव के ज्ञानादि अनुजीवी गुणों को घातने (प्रकट न होने देने) के कारण 'घातिया' कहे जाते हैं। इनके विनष्ट होने पर जीव के शेष अन्य चार कर्म आयु के पूर्ण होने पर स्वतः नष्ट हो जाते हैं क्योंकि अघातिया कर्मों के प्रभाव से जीव के स्वाभाविक ज्ञान आदि गुणो के प्रकट होने में कोई बाधा नहीं पड़ती है। अतः इन्हें—शेष आयु आदि चार कर्मों को 'अघातिया' कहा गया है। ग्रन्थ में इसीलिए चार घातिया कर्मों के विनष्ट होने पर जीव को जीवन्मुक्त मान लिया गया है क्योंकि शेष चार अघातिया कर्म आयु के पूर्ण होने पर एक साथ बिना विशेष प्रयत्न के नष्ट हो जाते है।[1]

अब क्रमश आठो कर्मो के स्वरूपादि का वर्णन किया जाएगा।

१. **ज्ञानावरणीय कर्म**—जो आत्मा मे रहने वाले ज्ञानगुण को प्रकट न होने देवे उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। ज्ञान के मुख्य पाँच प्रकारों के आधार पर ज्ञानावरणीय कर्म के भी पाँच अवान्तर भेद बतलाए गए हैं। इन अवान्तर भेदो (उत्तर-प्रकृतियो) के क्रमशः नाम ये है :[2] १. श्रुतज्ञानावरण - शास्त्रज्ञान का आवरक २. आभिनिबोधिकज्ञानावरण[3] (मतिज्ञानावरण)—इन्द्रियजन्य ज्ञान का आव-

---

१. पसत्थजोगपडिवन्ने य ण अणगारे अणतघाइपज्जवे खवेइ।

—उ० २६.७.

वेयणिज्जं आउयं नामं गोत्तं च एए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ।

—उ० २६.७२.

तथा देखिए—उ० २६.४१,५८,६१; ३२.१०६ आदि।

२. उ० ३३.४.

३. व्याख्याप्रज्ञप्ति, स्थानाङ्ग, तत्त्वार्थसूत्र आदि अन्य जैन ग्रन्थों में श्रुतज्ञानावरण के पहले आभिनिबोधिकज्ञानावरण (मतिज्ञानावरण) का उल्लेख मिलता है। जैसे—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्।

—त० सू० ८.६.

रक, ३. अवधिज्ञानावरण—इन्द्रियादि की सहायता के बिना होने वाले रूपी अचेतन विषयक (सीमित पदार्थों के) यौगिक प्रत्यक्ष ज्ञान का आवरक, ४. मन:पर्यायज्ञानावरण—इन्द्रियादि की सहायता के बिना दूसरे के मनोगत भावों को जानने वाले ज्ञान का आवरक[1] और ५. केवलज्ञानावरण—इन्द्रियादि की सहायता के बिना त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों की समस्त अवस्थाओं (पर्यायों) के ज्ञान का आवरक।

२. दर्शनावरणीय कर्म—जो पदार्थों के सामान्यज्ञान या आत्मबोधरूप दर्शन गुण को प्रकट न होने देवे उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।[2] इसके नव अवान्तर भेद गिनाए गए हैं। इनमें प्रथम पांच भेद निद्रा से सम्बन्धित हैं तथा शेष चार दर्शनसम्बन्धी हैं :[3] १. निद्रा—जिस कर्म के प्रभाव से जीव को सामान्य निद्रा आए,

---

१. मन:पर्यायज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध मे जैन श्वेताम्बरो मे दो परम्पराएँ देखी जाती हैं : क. मन.पर्यायज्ञान परकीय मन से चिन्त्यमान अर्थों को जानता है। ख. मन:पर्यायज्ञान चिन्तनव्यापृत मनोद्रव्य की पर्यायों को साक्षात् जानता है और चिन्त्यमान पदार्थ तो पीछे से अनुमान के द्वारा जाने जाते हैं क्योंकि चिन्त्यमान पदार्थ मूर्त की तरह अमूर्त भी हो सकते हैं जिन्हे मन:पर्यायज्ञान विषय नही कर सकता है। पहली परम्परा का दिग्दर्शन हमें आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा ७६) तथा तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (१.२६) मे होता है। दूसरी परम्परा का उल्लेख विशेषावश्यकभाष्य (गाथा ८१४) मे हुआ है। श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्र द्वितीय परम्परा का तथा सभी दिगम्बर जैन आचार्य प्रथम परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

देखिए—प्रमाणमीमांसा, भाषाटिप्पणानि, पृ० ३७-३८.

२. याकोबी (से० बु० ई०. भाग-४५, पृ० १९२-१९३) ने शब्द-साम्य के भ्रम से इसका 'सत्य श्रद्धा का प्रतिबन्धक' अर्थ किया है। याकोबी का यह अर्थ वस्तुतः दर्शनमोहनीय का अर्थ है, न कि दर्शनावरणीय कर्म का। इसी प्रकार चक्षुर्दर्शन के अर्थ में भी उन्हें भ्रम हुआ है।

३. उ० ३३.५-६.

२. निद्रा-निद्रा[1]—जिस कर्म के प्रभाव से जीव को गाढ़ निद्रा आए (ऐसी निद्रा वाला व्यक्ति हलाने पर भी कठिनता से जागता है), ३ प्रचला[2]—जिस कर्म के प्रभाव से खड़े-खड़े या बैठे-बैठे भी कुछ-कुछ निद्रा आती रहे, ४. प्रचलाप्रचला—जिस कर्म के प्रभाव से चलते-फिरते भी नींद आ जाए, ५. स्त्यानगृद्धि—जिस कर्म के प्रभाव से दिन में अथवा रात्रि में सोते हुए ही स्वप्न में कार्यों को कर डाले, ६ चक्षुदर्शनावरण—चक्षु इन्द्रिय से होने वाले दर्शनगुण का प्रतिबन्धक, ७ अचक्षुदर्शनावरण —चक्षु से इतर इन्द्रियों के द्वारा होनेवाले दर्शनगुण में प्रतिबन्धक, ८. अवधिदर्शनावरण—इन्द्रियादि के बिना रूपी अचेतन पदार्थों के विषय में होने वाले आत्मा के दर्शनगुण में प्रतिबन्धक और ९. केवलदर्शनावरण—इन्द्रियादि के बिना त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों के युगपत् दर्शन में प्रतिबन्धक।

ज्ञान के पूर्व की अवस्था दर्शन कहलाती है। यद्यपि दर्शनावरणीय कर्म के चार ही प्रमुख अवान्तर भेद हैं परन्तु निद्रादि के पाँच भेदों को मिला देने से नव भेद हो जाते हैं। निद्रादि के प्रमादरूप होने से उन्हें भी दर्शन में प्रतिबन्धक माना गया है। पाँच प्रकार की निद्राओं में स्त्यानगृद्धि निद्रा सबसे खराब है।

३. **वेदनीय कर्म**—जिस कर्म के प्रभाव से सुख या दुःख की अनुभूति होती है। सुख और दुःखरूप अनुभूति होने के कारण

---

१. यद्यपि उत्तराध्ययन में 'निद्रानिद्रा' का उल्लेख 'प्रचला' के बाद किया गया है परन्तु उत्तरोत्तर निद्रा की तीव्रता की दृष्टि से मैंने प्रचला के पूर्व कथन किया है। तत्त्वार्थसूत्र आदि जैन ग्रन्थों में भी निद्राओं का यही क्रम मिलता है:

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च।

—त० सू० ८.७.

२. याकोबी (से० बु० ई०, भाग-४५, पृ० १९३) ने 'प्रचला' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ (क्रिया-Activity) किया है।
श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परागत अर्थ के लिए देखिए—कर्मप्रकृति प्रस्तावना, पृ० २३.

वेदनीय के दो भेद किए गए हैं :[1] १. प्राणिदया व परोपकारादि से बँधने वाले सुखरूप सातावेदनीय कर्म तथा २. हिंसादि से बँधने वाले दु:खरूप असातावेदनीय कर्म। इन दोनों के अन्य कई अवान्तर भेदों का ग्रन्थ में संकेत मात्र किया गया है। पुण्यरूप और पापरूप जितने भी कर्म संभव हैं वे सब इसके अवान्तर भेद हो सकते हैं।[2] आत्मा की स्वानुभूति से उत्पन्न होने वाला सुख इस कर्म का परिणाम नहीं है क्योंकि उस प्रकार का सुख आत्मा का स्वाभाविक गुण है। अत: मुक्त जीवों में अनन्त सुख की सत्ता मानकर भी उनमें वेदनीय कर्म का अभाव माना गया है। यदि ऐसा न माना जाएगा तो मुक्त जीवों को सुखानुभूति नहीं होगी। वेदनीय कर्म से जो सुखानुभूति होती है वह संसार के रूपादि विषयों से उत्पन्न होने वाली है।

४. **मोहनीय कर्म**—जो हेयोपादेयरूप (स्व-परविवेकात्मक) गुण को प्रकट न होने देवे। इस कर्म के प्रभाव से जीव विषयों में आसक्त (मूर्च्छित) रहता है और उसे अपनी मूर्खता (मूढता) का पता नहीं रहता है। मोहनीय कर्म सब कर्मों में प्रधान है। इस कर्म के दूर होते ही अन्य कर्म जल्दी ही पृथक् हो जाते हैं।[3] इसी कर्म के प्रभाव से वस्तुस्थिति को जानते हुए भी जीव की सत्य मार्गमें प्रवृत्ति नहीं होती है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती संसार की असारता जानकर भी इसी कर्म के प्रभाव से विषयों में आसक्त रहता है। इसीलिए दु:ख के कारणों की परम्परा में रागद्वेष का भी मूल कारण मोह माना गया है। तत्त्वों में श्रद्धान और सदाचार में प्रवृत्ति न होने देने के कारण इसके प्रमुख दो भेद किए गए हैं : १. दर्शनमोहनीय और

---

१. वेयणीयं पि य दुविहं सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया एमेव असायस्स वि॥
—उ० ३३.७.

२. देखिए—कर्मप्रकृति, प्रस्तावना, पृ० २५. ग्रन्थ में भी असातावेदनीयरूप से क्रोध, मान, माया और लोभवेदनीय का उल्लेख मिलता है।
—उ० २९. ६७-७०.

३. उ० २९.५-६,२९,७१.

२. चारित्रमोहनीय। इसके बाद दर्शनमोहनीय के तीन और चारित्रमोहनीय के दो भेद किए गए हैं।[1] दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के स्वरूपादि अधोलिखित हैं :

क. दर्शनमोहनीय—यहाँ पर जो 'दर्शन' शब्द का प्रयोग है वह श्रद्धापरक है। अतः इस कर्म का उदय होने पर जीव को धर्मादि में सच्चा श्रद्धान नही होता है। इसके जिन तीन भेदों का उल्लेख किया गया है उनके नाम ये हैं : १. सम्यक्त्वमोहनीय—चञ्चलता आदि दोषों के संभव होने पर भी तत्त्वों में सच्चा श्रद्धान होना, २. मिथ्यात्वमोहनीय–विपरीत श्रद्धान होना और ३. सम्यक्त्व-मिथ्यात्वमोहनीय—कुछ सम्यक् व कुछ मिथ्या श्रद्धान होना। इसे मिश्र-मोहनीय भी कह सकते हैं। इस विभाजन में सम्यक्-श्रद्धान रूप सम्यक्त्वमोहनीय को भी दर्शनमोहनीय का भेद स्वीकार किया गया है जबकि दर्शनमोहनीय सच्ची श्रद्धा का प्रतिबन्धक है। इससे मालूम पड़ता है कि यहा पर सच्ची श्रद्धा मोहात्मक, धुधली तथा अस्थिर होती होगी। अतः कर्म-ग्रन्थों में इसका लक्षण करते हुए लिखा है : जिसके प्रभाव से तत्त्वश्रद्धा में चञ्चलता आदि दोषों की सभावना हो क्योंकि शुद्ध सच्ची श्रद्धा अर्थ करने पर उसमें मोहनीय-कर्मता नही रहेगी।[2] मोह जड़ता, 'अविवेकता' का नाम है। अत. जो सच्ची श्रद्धा मोह, अविवेक आदि से युक्त हो वह सम्यक्त्व-दर्शनमोहनीय है।[3]

---

१. मोहणिज्जं पि दुविहं दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं चरणे दुविहं भवे ॥
—उ० ३३.८.
तथा देखिए—उ० ३३ ९-१०.

२. कर्मप्रकृति, प्रस्तावना, पृ० २१.

३. जैसे किसी रूपलावण्यवती नायिका के रूपलावण्य का निखार उसके स्वच्छ और अति महीन वस्त्रों में से झलकता है परन्तु वह रूप-लावण्य अति शुभ्र व महीन वस्त्र से आच्छादित रहने के कारण पूर्ण-रूप से प्रतिभासित नही होता है। उसी प्रकार सम्यक्त्वदर्शनमोह-नीय में सच्ची श्रद्धा होने पर भी उसपर मोहनीय कर्म का बहुत ही सूक्ष्म पर्दा पड़ा रहता है जो सामान्यतया प्रतिभासित नहीं होता है।

ख. चारित्रमोहनीय – इस कर्म के उदय से सदाचार में प्रवृत्ति नहीं होती है। सदाचार में मूढ़ता पैदा करने वाले चारित्रमोहनीय के जिन दो भेदों का उल्लेख किया गया है उनके नाम ये हैं: १. कषाय (क्रोधादि मनोविकार) और २. नोकषाय (ईषत् मनोविकार)। कषायमोहनीय वह है जिसके प्रभाव से आत्मा के शान्त-निर्विकार स्वरूप में मलिनता पैदा हो। कषाय के क्रोध, अभिमान, माया और लोभ ये चार प्रमुख भेद हैं। इनमें से क्रोध और अभिमान द्वेषरूप हैं तथा माया और लोभ रागरूप हैं। क्रोधादि चार कषायों में सच्चारित्र को मलिन करने की शक्ति की तीव्रता एवं मन्दता के आधार से प्रत्येक के चार-चार भेद करने पर कषायमोहनीय के सोलह भेद हो जाते हैं।[1] इसके अतिरिक्त नोकषायमोहनीय भी किञ्चित् मानसिक विकाररूप होने के कारण कषायरूप ही है।[2] इनकी अपनी कुछ विशेषता होने के कारण इन्हें पृथक् गिनाया गया है। नोकषायमोहनीय के

---

१. कषायमोहनीय के १६ भेद निम्नोक्त हैं:

क. चार अनन्तानुबन्धी—क्रोध-मान-माया-लोभ (दीर्घकाल-स्थायी तीव्र क्रोधादि करना)।

ख. चार अप्रत्याख्यानावरणी—क्रोध-मान-माया लोभ (अनन्तानुबन्धी की अपेक्षा से कुछ कम काल स्थायी क्रोधादि करना)।

ग. चार प्रत्याख्यानावरणी—क्रोध-मान-माया-लोभ (अप्रत्याख्यानावरणी की अपेक्षा कुछ कम काल स्थायी क्रोधादि करना)।

घ. चार संज्वलन—क्रोध-मान-माया-लोभ (अत्यन्त स्वल्पकाल-स्थायी क्रोधादि करना)।

विशेष—कषायमोहनीय के इन १६ भेदों के चार प्रमुख विभागों में चारित्र को मलिन करने की शक्ति क्रमशः क्षीण होती गई है।

—उ० ३३.११ (टीकाएँ).

२. कषायसहवर्तित्वात् कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता॥

—उद्धृत, उ० आ० टी०, पृ० १५३४.

सात या नव भेदों का ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है। इनके नाम ये हैं: हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (घृणा) और वेद (स्त्री, पुरुष और नपुसक लिङ्ग)। स्त्रीविषयक मानसिक-विकार, पुरुषविषयक मानसिक-विकार तथा उभयविषयक मानसिक-विकार के भेद से वेद के तीन भेद करने पर नोकषाय के ९ भेद हो जाते हैं।[1]

५. आयु कर्म—जिस कर्म के प्रभाव से जीव के जीवन की (आयु की) अवधि निश्चित होती है उसे आयुकर्म कहते हैं। चार गतियों के आधार से इसके भी चार भेद किए गए हैं:[2] १. नरकायु, २. तिर्यञ्चायु, ३. मनुष्यायु और ४. देवायु। ग्रन्थ में सूत्रार्थ-चिन्तन का फल बतलाते हुए लिखा है कि सूत्रार्थ-चिन्तन से जीव आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों के प्रगाढ़ बन्धन को शिथिल कर देता है। इसके अतिरिक्त यदि आयुकर्म का बन्ध करता है तो विकल्प से करता है।[3] इससे स्पष्ट है कि आयुकर्म शेष सात कर्मों से कुछ भिन्नता रखता है। कर्म-सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थों तथा उत्तराध्ययन के टीका-ग्रन्थों आदि के देखने से पता चलता है कि आयुकर्म का जीवन में सिर्फ एक बार बन्ध होता है जबकि अन्य कर्मों का बन्ध हमेशा होता रहता है।[4]

---

१. सोलसविहभेएणं कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा कम्मं नोकसायजं॥

—उ० ३३.११.

कोहं च माणं च तहेव मायं लोहं दुगुंछं अरइं रइं च।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं नपुंसवेयं विविहे य भावे॥

—उ० ३२.१०२.

२. उ० ३३.१२.

३. अणुप्पेहाएणं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ.... आउयं च णं कम्मं सिया बंधइ, सिया नो बंधइ।

—उ० २९.२२.

४. आयु कर्म का बन्ध सम्पूर्ण आयु का तृतीय भाग शेष रहने पर होता है। जैसे किसी जीव की आयु ९९ वर्ष की है तो वह ३३ वर्ष की आयु के शेष रहने पर ही अगले भव के आयु-कर्म का बन्ध करेगा। यदि उस समय आयु-कर्म के बन्ध का निमित्त नहीं मिलेगा तो वह

६. नाम कर्म—जो शरीर, इन्द्रिय आदि की सम्यक् या असम्यक् रचना का हेतु है उसे नाम-कर्म कहते हैं। इसके शुभ और अशुभ के भेद से प्रथमतः दो भेद किए गए हैं। इसके बाद प्रत्येक के अनेक भेदों का सकेत किया गया है।[1]

७. गोत्र कर्म - जिस कर्म के प्रभाव से उच्च अथवा निम्न जाति, कुल आदि की प्राप्ति हो उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इसके उच्च और निम्न ये दो भेद किए गए हैं। इसके बाद प्रत्येक के आठ-आठ भेदों का सकेत किया गया है।[2]

८. अन्तराय कर्म—जिस कर्म के प्रभाव से सभी कारणों के अनुकूल मौजूद रहने पर भी कार्यसिद्धि नही होती उसे अन्तराय-कर्म कहते हैं। इसके ५ भेद बतलाए गए हैं[3]—दान, लाभ, भोग

जीव अवशिष्ट आयु के त्रिभाग में (अर्थात् ११ वर्ष शेष रहने पर) आयु-कर्म का बन्ध करेगा। इस समय पुनः आयु-कर्म के बन्ध का निमित्त न मिलने पर वह जीव अवशिष्ट आयु के त्रिभाग (१$\frac{2}{3}$ वर्ष) शेष रहने पर आयु-कर्म का बन्ध करेगा। इस तरह आयु-कर्म के बन्ध का निमित्त न मिलने पर यह क्रम आयु के अन्तिम क्षण तक चलता रहेगा। विषभक्षण आदि से अकाल-मृत्यु होने पर जीव उपर्युक्त नियम का उल्लंघन करके तत्क्षण ही आयु कर्म का बन्ध कर लेता है। सामान्य अवस्था मे उपर्युक्त क्रमानुसार ही आयुकर्म का बन्ध होता है। इतना अवश्य है कि आयु-कर्म का बन्ध जीवन मे सिर्फ एक बार होता है। आयु-कर्म का बन्ध होने पर जीवन की आयु-सीमा घट-बढ सकती है परन्तु नरकादि चतुर्विधरूप से जो आयु-कर्म का बन्ध हो जाता है वह बहु-प्रयत्न करने पर भी नही टलता है।

—देखिए—उ० आ० टी०, पृ० १२८४.

१. उ० ३३.१३.

२. गोयं कम्मं दुविहं उच्चं नीयं च आहियं।
उच्चं अट्ठविहं होइ एवं नीयं पि आहियं॥
—उ० ३३. १४.

गोत्र-कर्म के आठ भेद हैं—जाति, कुल, बल, तप, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और रूप।

३. उ० ३३.१५.

(जो वस्तु एक बार भोगी जा सके। जैसे—फलादि), उपभोग (जो वस्तु कई बार उपयोग में लाई जा सके। जैसे—स्त्री, वस्त्र आदि) और शक्ति। अतः दानादि करने की अभिलाषा आदि के वर्तमान रहने पर भी दानादि न कर सकना अन्तराय कर्म का प्रभाव है।

इस तरह आठ प्रकार के मूल कर्मों का तथा उनके अवान्तर भेदों का ग्रन्थानुसार वर्णन किया गया। दिगम्बर और श्वेताम्बर कर्म-ग्रन्थों में यद्यपि मूल-कर्म के आठ भेदों में कोई अन्तर नहीं है तथापि उनके अवान्तर भेदों के विभाजन और स्वरूप में कुछ अन्तर अवश्य है।[1] इसके अतिरिक्त कर्म-सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थों में मूल आठ कर्मों के स्वरूप को समझाने के लिए दृष्टान्त तथा क्रम-निर्धारण के लिए तर्क दिए गए है।[2]

कर्मों की संख्या, क्षेत्र, स्थिति-काल आदि :

इन बंधने वाले कर्मों के कर्म-परमाणुओं की संख्या संसारी और मुक्त सभी जीवों की संख्या की अपेक्षा अनन्त है। ग्रन्थ में जो कर्मों की संख्या सिद्ध जीवों की अपेक्षा हीन और कभी न मुक्त होने वाले अभव्य जीवों (ग्रन्थिकसत्त्वातीत) की अपेक्षा कई गुणी अधिक बतलाई है वह एक समय में बंधने वाले कर्मों की संख्या की अपेक्षा

१. देखिए—कर्मप्रकृति, प्रस्तावना, पृ० २३-२५.

२.क. इन कर्मों के स्वरूप के विषय में निम्न दृष्टान्त मिलते हैं– १. देवता के मुख पर पड़े हुए वस्त्र की तरह ज्ञान का आवरक ज्ञानावरणीय, २. राजद्वार पर स्थित प्रतिहारी की तरह दर्शन का प्रतिबन्धक दर्शनावरणीय, ३. मधुलिप्त असिधारा की तरह सुख-दुःख का वेदक वेदनीय, ४. मदिरापान की तरह हिताहित के विवेक का प्रतिबन्धक मोहनीय, ५. शृङ्खलाबन्धन की तरह जीवन का मापक आयु, ६. चित्रकार की तरह नाना प्रकार से शरीर आदि की रचना का हेतु नाम, ७. कुम्भकार के छोटे-बड़े बर्तनों की तरह उच्च-नीच कुल का प्रापक गोत्र और ८. भण्डारी या कोषाध्यक्ष की तरह दानादि का प्रतिबन्धक अन्तराय। देखिए—कर्मप्रकृति, संस्कृत-टीका (१. २१), पृ. १५.

ख. आठों कर्मों के क्रम के लिए देखिए—कर्मप्रकृति १. १७-२१.

से है।[1] कर्मों की संख्या कभी भी सिद्ध जीवों की अपेक्षा कम नहीं हो सकती है क्योंकि वे कभी न कभी संसार में कर्मबद्ध अवश्य रहे होंगे। जब संसार-स्थिति के बिना मुक्त जीवों की कल्पना नहीं की गई है तो फिर कर्मों की संख्या सिद्ध जीवों की अपेक्षा किसी भी तरह कम नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त जब एक-एक जीव के साथ कई-कई कर्म-परमाणु बंधे हुए हैं तो फिर उनकी संख्या कम कैसे हो सकती है? एक समय में बंधने वाले कर्मों की इस संख्या को ग्रन्थ में 'प्रदेशाग्र' कथन द्वारा बतलाया गया है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि कर्म-परमाणुओं का आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह सम्बन्ध है तथा ये कर्म-परमाणु समस्त लोक में व्याप्त हैं। अतः सभी आत्माएँ सब प्रकार के कर्म-परमाणुओं का संचय छहों दिशाओं से कर सकती हैं।[2]

बंधने वाले कर्म आत्मा के साथ कम से कम और अधिक से अधिक कितने समय तक रहते हैं, इस विषय में ग्रन्थ का अभिप्राय निम्न प्रकार है[3] :

कर्मों के नाम	अधिक से अधिक स्थिति-काल	कम से कम स्थिति-काल
ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय[4] और अन्तराय	३० कोटाकोटिसागरोपम (करोड × करोड़ = कोटाकोटि)	अन्तर्मुहूर्त (करीब ४८ मिनट)
मोहनीय	७० कोटाकोटिसागरोपम	,,
आयु	३३ सागरोपम	,,
नाम और गोत्र	२० कोटाकोटिसागरोपम	आठ मुहूर्त

१. सव्वेसिं चेव कम्माणं पएसग्गमणतगं।
गंठियसत्ताईयं अंतो सिद्धाण आहियं॥
—उ० ३३. १७.
तथा देखिए—पृ० १६५, पा० टि० १.

२. सव्वजीवाण कम्मं तु संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्वं सव्वेण बद्धगं॥
—उ० ३३.१८.

३. उ० ३३.१९-२३; त० सू० ८.१४-२०.

४. तत्त्वार्थसूत्र (८ १८) में वेदनीय की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त के स्थान पर १२ मुहूर्त बतलाई है—'अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य'। यहाँ पर

यह जो कर्मों की स्थिति बतलाई गई है वह मूल-प्रकृतियों की अपेक्षा से है। उत्तर-प्रकृतियों की अपेक्षा से इनकी आयु-स्थिति में हीनाधिकता भी हो सकती है।[1] यह कर्मों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति बतलाई गई है। ये कर्म इस सीमा के अन्दर अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं और उनके स्थान पर राग-द्वेषरूप परिणामों के अनुसार नए-नए कर्म आते रहते हैं। यहां एक बात ध्यान रखने योग्य है कि ये कर्म अपनी आयुस्थिति में सदा एकरूप नहीं रहते हैं अपितु यथासंभव उनकी अवस्थाओं मे परिवर्तन आदि होते रहते हैं। जैनदर्शन में कर्म की ऐसी १० अवस्थाएँ बतलाई गई हैं।[2]

इस स्थिति-बन्ध के साथ ही साथ कर्मों में तीव्र या मन्द फल-दायिनी शक्ति भी उत्पन्न होती है। इस उत्पन्न होने वाली शक्ति को अनुभाग या अनुभाग-बन्ध कहते हैं। कर्मों की स्थिति और फल की तीव्रता एवं मन्दता जीव के रागादिरूप परिणामों की तीव्रता एव मन्दता पर निर्भर है। ग्रन्थ में कर्मों के फल (अनुभाग) का

आत्मारामजी अपनी उत्तराध्ययन-टीका (पृ० १५४७-१५४८) मे प्रज्ञापनासूत्र के 'सातावेदणिज्जस्स ˙ ˙˙ अहन्नेणं बारसमुहुत्ता' (२३.२.२९४) पाठ को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र में सातावेदनीय की अपेक्षा से जघन्य-स्थिति १२ मुहूर्त बतलाई गई है।

१. विशेष के लिए देखिए—प्रज्ञापनासूत्र का प्रकृति-पद।

२. कर्मों की १० अवस्थाएँ ये हैं—१. कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध (बन्ध), २. बन्ध के बाद उनकी सामान्य स्थिति (सत्ता या सत्त्व), ३. समय पर उनका फलोन्मुख होना (उदय), ४. तपस्या आदि के द्वारा उन्हें समय के पूर्व फलोन्मुख करना (उदीरणा), ५. कर्मों की स्थिति और फलदायिनी शक्ति में वृद्धि करना (उत्कर्षण), ६. ह्रास करना (अपकर्षण), ७. सजातीय कर्मों में परस्पर परिवर्तन होना (संक्रमण), ८. बद्धकर्मों को कुछ समय के लिए फलोन्मुख होने से रोक देना (उपशम), ९. बद्धकर्मों में फलोन्मुखता एवं संक्रमण न होने देना (निधत्ति) और १०. कर्म जिस रूप में बद्ध हुए हैं उनका उसी रूप में पड़े रहना (निकाचन)।

—जैनदर्शन-डा० मोहनलाल मेहता, पृ० ३७५; जै० ध० द०, पृ० १४२.

वर्णन करते समय सिर्फ कर्म-परमाणुओं की संख्या का निर्देश किया गया है जैसाकि कर्मों के प्रदेशाग्र के वर्णन प्रसङ्ग में किया गया है।[1] यहां यह बात स्मरणीय है कि कर्मों को फलदायक बनाने के लिए कर्मों से पृथक् अन्य शक्ति की कल्पना नहीं की गई है। ये कर्म अचेतन होकर भी एक स्वचालित यंत्र की तरह अपना कार्य करते रहते हैं।

कर्मबन्ध में सहायक लेश्याएँ :

कर्मों के रूपी होने पर भी उन्हें इन नग्न नेत्रों से देखना संभव नहीं है। फिर इन कर्मों के बन्ध को कैसे समझा जाय कि अमुक प्रकार के कर्म का बन्ध हुआ है। इसके लिए ग्रन्थ में कर्म-लेश्याओं का वर्णन किया गया है। कर्म-लेश्या का अर्थ है आत्मा से बंधे हुए कर्मों के प्रभाव से व्यक्ति में उत्पन्न होने वाला अध्यवसाय विशेष अथवा कषायादि से अनुरञ्जित मन-वचन-काय की प्रवृत्ति। तारतम्यभाव की अपेक्षा से व्यक्तियों के अच्छे और बुरे आचरण को छः भागों में विभक्त करके तदनुसार ही छः लेश्याओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है। किस प्रकार के आचरण का फल कितना मधुर या कटु होता है, स्पर्श कितना कर्कश या कोमल होता है, गन्ध कितनी तीव्र या मन्द होती है, रंग किस प्रकार का होता है इत्यादि बातों को इन लेश्याओं के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त इन लेश्याओं का नामकरण रंगों के आधार पर किया गया है। उनके क्रमशः नाम ये हैं[2] : कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल। अब क्रमशः इनके स्वरूपादि का वर्णन ग्रन्थानुसार किया जाएगा।

---

१. सिद्धाणणंतभागो य अणुभागा हवंति उ।
सव्वेसु वि पएसग्गं सव्वजीवेसु इच्छियं ॥
—उ० ३३.२४.
तथा देखिए—पृ० १६३ पा० टि० १.

२. किण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठा य नामाइं तु जहक्कमं ॥
उ० ३४. ३.

१. **कृष्णलेश्या**[1]—हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, धन-संग्रह आदि में प्रवृत्त क्षुद्रबुद्धि, निर्दयी, नृशंस, अजितेन्द्रिय तथा बिना विचारे कार्य करने वाला पुरुष कृष्णलेश्यावाला कहलाता है। अथवा इस प्रकार के आचरण में प्रवृत्ति कराना कृष्णलेश्या का स्वरूप है। इस लेश्या का 'रंग' सजल मेघ, महिषशृंग, काजल और नेत्र-कनीनिका की तरह काला होता है। इसका 'रस' कड़वी तूंबी, नीम और कटुरोहिणी (औषधिविशेष) के कड़वे रस से भी कई गुणा अधिक कड़आ होता है। इसकी 'गन्ध' मृत गौ, कुत्ता और सर्प से भी कई गुनी अधिक दुर्गन्धित होती है। इसका स्पर्श करपत्र (आरा), गौजिह्वा और शाकपत्र की अपेक्षा कई गुणा अधिक कर्कश होता है। इसकी सामान्य-स्थिति (समय) कम से कम अर्धमुहूर्त और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त अधिक ३३ सागरोपम है। इस लेश्यावाला जीव मरकर नरक या तिर्यञ्चगति में जन्म लेता है। यह सबसे खराब लेश्या है।

२. **नीललेश्या**[2]—इस लेश्यावाला जीव ईर्ष्यालु, कदाग्रही, असहिष्णु, अतपस्वी, अविद्वान्, मायावी, निर्लज्ज, द्वेषी, रसलोलुपी, शठ, प्रमादी, स्वार्थी, आरम्भी, क्षुद्र और साहसी होता है। अर्थात

---

१. पंचासवप्पवत्तो तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य।
तिव्वारंभपरिणओ खुद्दो साहसिओ नरो॥
निद्धंसपरिणामो निस्संसो अजिइंदिओ।
एयजोगसमाउत्तो किण्हलेसं तु परिणमे॥
—उ० ३४. २१-२२.
तथा देखिए—उ० ३४.४,१०,१६,१८,२०,३३-३४,४१,४५,४८,५६, ५८-६०.

२. इस्सा अमरिस अतवो अविज्जमाया अहीरिया।
गेही पओसे य सढे पमत्ते रसलोलुए सायगवेसए य॥
आरंभाओ अविरओ खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एयजोगसमाउत्तो नीललेसं तु परिणमे॥
—उ० ३४.२३-२४.
तथा देखिए—उ० ३४. ५, ११, १६, १८, २०, ३१,३५,४२,४९,५६, ५८-६०.

इन गुणों से नीललेश्यावाले की पहचान होती है। इस लेश्या का 'रंग' नीले अशोकवृक्ष, चाषपक्षी के पंख और स्निग्ध वैडूर्यमणि (नीलम) की तरह नीला होता है। इसका 'रस' मिर्च, सोंठ, और गजपीपल के रस से भी अनन्तगुणा तीक्ष्ण होता है। इसकी 'गंध' और 'स्पर्श' कृष्ण-लेश्या की ही तरह हैं परन्तु तीव्रता की मात्रा कुछ कम है। इसकी कम से कम सामान्य-स्थिति अर्धमुहूर्त और अधिक से अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित १० सागरोपम है। इस लेश्यावाला जीव नरक या तिर्यञ्च गति में उत्पन्न होता है।

३. **कापोतलेश्या**[1]—इस लेश्यावाला जीव वक्र-वक्ता, वक्राचारी, छली निजदोषों को छुपाने वाला, निःसरल, मिथ्यादृष्टि, अनार्य, पर-मर्मभेदक, चोर और असूया करने वाला होता है। इस लेश्या का 'रंग' अलसी के पुष्प, कोयल के पँर और कबूतर की ग्रीवा की तरह कापोतवर्ण होता है। इसका 'रस' कच्चे आम, तुवर और कपित्थफल के रस से भी कई गुणा अधिक खट्टा होता है। इसकी 'गन्ध' नीललेश्या की अपेक्षा तीव्रता में कुछ कम होती है और इसका 'स्पर्श' भी नीललेश्या की अपेक्षा तीव्रता में कुछ कम होता है। सामान्य-स्थिति कम से कम अर्धमुहूर्त और अधिक से अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग सहित तीन सागरोपम है। इस लेश्यावाला जीव मरकर आचरण की तरतमता के अनुसार नरक या तिर्यञ्च गति (दुर्गति) में जन्म लेता है।

४. **तेजोलेश्या**[2]—इस लेश्यावाला जीव नम्र, अचपल, अमायी, अकुतूहली, विनीत, जितेन्द्रिय, स्वाध्यायप्रेमी, तपस्वी,

---

१. वंके वंकसमायारे नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचगओवहिए मिच्छदिट्ठी अणारिए॥
उप्फालगदुट्ठवाई य तेणे यावि य मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो काऊलेसं तु परिणमे॥
—उ० ३४. २५-२६.

तथा देखिए—उ० १४.६,१२,१६,१८,२०,३३,३६,४०-४१, ५०, ५६,५८-६०.

२. नीयावित्ती अचवले अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दंते जोगवं उवहाणवं।

धर्मप्रेमी, पापभीरु, सर्वहितैषी आदि गुणों से युक्त होता है। इसका 'रंग' हिंगलधातु (शिगरफ), तरुण सूर्य (मध्याह्न का सूर्य), शुकनासिका और दीपक की शिखा की तरह दीप्तिमान होता है। इसका 'रस' पक्व आम्रफल और पक्व कपित्थफल के खटमीठे रस से भी कई गुना अधिक खट-मीठा होता है। इसकी 'गन्ध' केवड़ा आदि सुगन्धित पुष्पों और चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों से भी कई गुनी अधिक सुगन्धित होती है। इसका 'स्पर्श' बूर (वनस्पति विशेष), नवनीत और सिरस के फूल से भी कई गुना अधिक कोमल होता है। इस लेश्या की सामान्य-स्थिति कम से कम अर्धमुहूर्त और अधिक से अधिक पल्योपम के असख्येयभाग सहित दो सागरोपम है। इस लेश्यावाला जीव मरकर मनुष्य या देवगति (सुगति) को प्राप्त करता है।

५. पद्मलेश्या[1]—इस लेश्यावाला जीव अल्प कषायों वाला, प्रशान्तचित्त, तपस्वी, अत्यल्प-भाषी और जितेन्द्रिय होता है। इसका रग हरताल हरिद्रा के टुकड़े, सन और असन के पुष्पो की तरह पीला होता है। इसका रस श्रेष्ठ मदिरा, नाना प्रकार के आसव आदि से भी अनन्त गुना अधिक मधुर होता है। इसकी गंध तेजोलेश्या से भी अधिक सुगन्धित होती है और इसका 'स्पर्श' तेजोलेश्या से भी अधिक कोमल होता है। इस लेश्या की कम-से-कम स्थिति अन्त-

---

पियधम्मे दढधम्मेऽवज्जभीरू हिएसए।
एयजोगसमाउत्तो तेओलेसं तु परिणमे ॥
—उ० ३४.२७-२८.

तथा देखिए—उ० ३४. ७, १३, १७, १६-२०, ३३, ३७, ४०, ५१-५३, ५७-६०.

१. पयणुकोहमाणे य मायालोभे य पयणुए।
पसंतचित्ते दंतप्पा जोगवं उवहाणव ॥
तहा पयणुवाई य उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो पम्हलेसं तु परिणमे।
—उ० ३४. २६-३०.

तथा देखिए—उ० ३४. ८, १४, १७, १६-२०, ३१,३८,४०,४५,५४, ५७-६०.

मुहूर्त और अधिक से अधिक अर्धमुहूर्त अधिक १० सागरोपम है। इस लेश्यावाला जीव मरकर मनुष्य या देवगति (सुगति) में जन्म लेता है।

६. शुक्ललेश्या[1]—इस लेश्यावाला जीव शुभ ध्यान करने वाला, प्रशान्तचित्त, जितेन्द्रिय, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति में चञ्चलता से रहित, अल्परागी और अहिंसाप्रेमी होता है। इसका 'रंग' शंख, अंक (मणि विशेष), मुचकुन्द पुष्प, दुग्धधारा एवं रजत-हार की तरह श्वेत (उज्ज्वल) वर्ण का होता है। इसका 'रस' खजूर, दाख, दूध, चीनी आदि के मधुर रस से भी कई गुना अधिक मधुर होता है। इसकी 'गन्ध' पद्मलेश्या से भी कई गुनी अधिक सुगन्धित होती है और 'स्पर्श' भी पद्मलेश्या से कई गुना अधिक कोमल होता है। इस लेश्या की कम से कम स्थिति अर्ध-मुहूर्त और अधिक से अधिक एक मुहूर्त अधिक ३३ सागरोपम होती है। इस लेश्यावाला जीव मरकर मनुष्य या देवगति को प्राप्त करता है। यह सर्वश्रेष्ठ लेश्या है।

इस तरह इन छहों लेश्याओं में उत्तरोत्तर चारित्र का विकास दिखलाया गया है। प्रथम तीन लेश्याएँ अशुभ, अधर्मरूप एवं अप्रशस्त है। अन्तिम तीन लेश्याएँ शुभ, धर्मरूप एवं प्रशस्त हैं।[2] इन लेश्याओं के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट गुणरूप परि-

---

१. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता धम्मसुक्काणि झायए।
पसंतचित्ते दंतप्पा समिए गुत्ते य गुत्तिसु॥
सरागे वीयरागे वा उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो सुक्कलेसं तु परिणमे॥

—उ० ३४.३१-३२.

तथा देखिए—उ० ३४.९,१५,१७,१९-२०,३३,३९-४०,४६,५५,५७-६०.

२. किण्हा नीला काऊ तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो दुग्गइं उववज्जई॥
तेऊ पम्हा सुक्का तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो सुग्गइं उववज्जई॥

—उ० ३४.५६-५७.

तथा देखिए—उ० ३४.६१.

णामों के तारतम्यभाव के आधार से ग्रन्थ में तीन, नव, सत्ताईस, इक्यासी और दो सौ तेंतालीस अंशों की कल्पना की गई है।[1] ग्रन्थ में इस अंश-कल्पना का कथन परिणामद्वार द्वारा किया गया है तथा इनके भेदो के प्रकार को 'स्थान' कहा गया है। इनके स्थान कितने है ? इस विषय में कहा है—असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी[2] काल के जितने समय (क्षण) होते हैं तथा असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश होते हैं उतने ही स्थान लेश्याओं के होते है।[3]

मृत्यु के उपरान्त जब जीव परलोक में गमन करता है तो किसी न किसी लेश्या से युक्त होकर ही गमन करता है। यहाँ इतना विशेष है कि जब कोई नवीन लेश्या जीव से सम्बद्ध होती है तो उसके प्रथम समय मे और यदि कोई लेश्या किसी जीव से पृथक् होती है तो उसके अन्तिम समय मे जीव का परलोक-गमन नही होता है अपितु आने वाली लेश्या के अन्तर्मुहूर्त बीत जाने पर और जाने वाली लेश्या के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर ही

---

१. उ० ३४.२०.
प्रज्ञापनासूत्र १७.४.२२६ म भी इसी प्रकार परिणामद्वार का वर्णन है।

२ संसार मे अनुक्रम से समय-सम्बन्धी दो प्रकार के चक्र चल रहे हैं—अवसर्पिणी-काल और उत्सर्पिणी-काल। जिस काल मे जीवो की आयु, स्थिति, आकार, सुख-समृद्धि आदि का उत्तरोत्तर ह्रास होता जाए उसे अवसर्पिणी-काल कहते हैं तथा जिस काल मे जीवो की आयु आदि मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाए उसे उत्सर्पिणी-काल कहते हैं। आयु आदि के ह्रास और विकास के आधार से प्रत्येक को ६-६ भागो (आरो) मे विभक्त किया गया है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनो काल-चक्रों का समय बराबर-बराबर (१०-१० कोटाकोटि सागरोपम) माना गया है। यह अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल-सम्बन्धी क्रम निरन्तर चलता रहता है।

—उ० आ० टी०, पृ० १५७७-१५७८.

३. उ० ३४.३३.

जीव का परलोक-गमन होता है।[1] जीव के परलोक-गमन के एक अन्तर्मुहूर्त पहले लेश्या की उपस्थिति होने के कारण ही कृष्ण और शुक्ल लेश्या की उत्कृष्ट-स्थिति जीव की सामान्य उत्कृष्ट आयु से एक मुहूर्त अधिक (एक मुहूर्त अधिक ३३ सागर) बतलाई गई है।[2] कौन लेश्या किस जीव में कितने समय तक रहती है यह जीव की आयु पर निर्भर करता है। अतः ग्रन्थ में चारों गतियों के जीवों की लेश्याओं की जो आयु बतलाई है वह जीवों की आयु के आधार से बतलाई गई है। मनुष्य और तिर्यञ्च गति के जीवों में छहों लेश्याएँ संभव हैं। उनमें प्रथम पाँच की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त का अर्ध-भाग है। इसके अतिरिक्त शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति अर्धमुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष कम एक करोड़ पूर्व है।[3]

नारकी जीवों में प्रथम तीन लेश्याएँ ही होती हैं। प्रथम तीन नरकों में कापोतलेश्या, तीसरे से पाँचवें में नीललेश्या और पाँचवें से सातवें तक कृष्णलेश्या पाई जाती है।[4] सामान्यतया देवों में

---

१. लेसाहिं सव्वाहिं पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न हु कस्सइ उववत्ति परे भवे अत्थि जीवस्स ॥
लेसाहिं सव्वाहिं चरिमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न हु कस्सइ उववत्ति परे भवे अत्थि जीवस्स ॥
अंतमुहुत्तम्मि गए अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव।
लेसाहिं परिणयाहिं जीवा गच्छंति परलोयं ॥
—उ० ३४.५८-६०.

२. उ० ३४.३४, ३९.

३. उ० ३४.४५, ४६.
शुक्ल-लेश्या की उत्कृष्ट-स्थिति में जो ९ वर्ष कम कर दिया गया है उसका कारण है कि साधु दीक्षा अङ्गीकार करके जब कम से कम एक साल पूर्ण कर लेता है तब इस लेश्या की प्राप्ति संभव है। इसके अतिरिक्त साधु बनने के लिए कम से कम आठ वर्ष की उम्र होना आवश्यक है।
—उ० आ० टी०, पृ० १५९०.

४. उ० ३४.४०-४४.

शुभ-लेश्याएँ ही पाई जाती हैं परन्तु भवनपति और व्यन्तर देवों में कृष्णादि तीन अशुभ-लेश्याएँ भी पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त भवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी, सौधर्म और ईशान देवों में तेजो लेश्या पाई जाती है। सनत्कुमार से लेकर ब्रह्म देव पर्यन्त पद्म-लेश्या होती है। लान्तक देवो से लेकर सर्वार्थसिद्धि के देवों पर्यन्त शुक्ल-लेश्या होती है।[1]

इस तरह इस लेश्या-विषयक वर्णन से ज्ञात होता है कि किस लेश्यावाले जीव कहाँ रहते हैं और कौन जीव किस प्रकार के कर्मों से बद्ध हैं ? इसके अतिरिक्त कर्म और लेश्याओं का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। पुण्यरूप कर्मों से शुभ लेश्याओं की प्राप्ति होती है और पापरूप कर्मों से अशुभ लेश्याओं की प्राप्ति होती है। पुण्य और पापरूप कर्मों से जिस प्रकार की शुभ या अशुभ लेश्या की प्राप्ति होती है जीव तदनुसार ही आचार में प्रवृत होता है। प्रवृत्ति करने से कर्म-बन्ध होता है और कर्म-बन्ध से पुन: लेश्या की प्राप्ति होती है। इस तरह ससार का चक्र चलता रहता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जीव इस चक्र से कभी भी छुटकारा नही पा सकता है अपितु प्रयत्न करने पर इस चक्र से मुक्त भी हो सकता है। वस्तुत: ये लेश्याएँ कर्म-सिद्धान्त की पूरक हैं। कर्मों के विनष्ट हाने पर लेश्याओ का भी अभाव हो जाता है। आत्मा के साथ कर्म-बन्ध की प्रक्रिया को समझाने के लिए इन लेश्याओ का वर्णन किया गया हे। अत: गोम्मटसार में लेश्या का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—'जिसके द्वारा जीव पुण्य और पापरूप कर्मों से लिप्त होवे या कषायोदय से अनुरक्त मन, वचन और काय की प्रवृत्ति लेश्या है।'[2] इस तरह लेश्याएं मनुष्यों के उस आचरण को समझाती हैं जिससे रंजित होने पर शुभाशुभ कर्म आत्मा से बन्ध को प्राप्त होते हैं। इस लेश्या-विषयक निरूपण से भारतीय रंग-विषयक दृष्टिकोण का भी पता चलता है।

---

१. उ० ३४. ४७-५५.

२. लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णिय अपुण्णपुण्णं च।

—गो० जी० ४८८.

तथा देखिए—गो० जी० ५३२.

अनुशीलन

इस प्रकरण में संसार से सम्बन्धित तीन प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा की गई है : १. संसार की दुःखरूपता, २. संसार या दुःख के कारण और ३. कर्म-बन्धन। इन तीनों सिद्धान्तों का विश्लेषण आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है जो क्रमशः इस प्रकार है :

१. भारतीय धार्मिक ग्रन्थों की तरह उत्तराध्ययन में भी इस संसार को जिसमें जीव जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं, दुःखों से पूर्ण बतलाया है। शरीर के नश्वर होने तथा इच्छाओं के अनन्त होने के कारण हमें जो सुख प्रतीति में आते हैं वे भी दुःखरूप ही हैं। देव और मनुष्य पर्याय जो सुगतिरूप एवं श्रेष्ठ मानी जाती हैं उन्हें भी दुर्गतिरूप बतलाने का उद्देश्य है जीवों को विषय-भोगों की तरफ से निरासक्त करके असीम व अनन्त सुख की ओर प्रेरित करना। क्योंकि जब तक सांसारिक विषयभोगों को दुख-रूप एवं नश्वर नहीं चित्रित किया जाएगा तब तक उनसे विरक्ति नहीं हो सकती है। देवपर्याय में जो दुःखों का वर्णन किया गया है उसका कारण है देवपर्याय और उन दैविक भोग्य-विषयों का चिरस्थायी न होना। कई स्थानों पर देवों के ऐश्वर्य को श्रेष्ठ बतलाया गया है तथा उसे श्रेष्ठ गति (सुगति) भी कहा गया है। यही स्थिति मनुष्य गति के जीवों की भी है।

इस विवेचन का यह तात्पर्य नहीं है कि प्रकृत-ग्रन्थ अवास्तविकता का प्रतिपादन करता है। हम स्वयं अनुभव करते हैं कि विषयभोगों की सीमा अनन्त है और कितने ही सुख-साधन हमें क्यों न उपलब्ध हो जाएँ शान्ति नहीं मिलती है। शान्ति एवं सुख अपने अन्दर है। यदि हमारी इच्छाएँ सीमित हैं तो हमें सुख मिलता है अन्यथा हम और अधिक प्राप्त करने के लिए व्यग्र रहते हैं। ये विषय-भोग न तो सुख के और न दुःख के ही कारण हैं परन्तु विषय-भोगों की आसक्ति और घृणा दुःख के कारण बन जाते हैं। अतः ग्रन्थ में निरासक्त होकर विषयभोगों के उपभोग का उपदेश दिया गया है।

आज के विज्ञान ने जो इतनी उन्नति की है उसका कारण है विषय-भोगों में आसक्ति। फिर कैसे कहा जा सकता है कि विषयभोगों में आसक्ति नहीं करनी चाहिए ? इसके विषय में मेरा कहना है कि प्रकृत-ग्रन्थ असीम एव अनन्त सुख की ओर ले जाना चाहता है। अतः इसमें जो आध्यात्मिक पथ का अनुसरण किया गया है, वह ठीक है। शरीर की नश्वरता को देखकर तथा संसार में फैले हुए भ्रष्टाचार को रोकने के लिए ऐसा कथन सत्य है। आज के इस वैज्ञानिक युग में भी प्रकृत-ग्रन्थ के इस उपदेश को ही नये वैज्ञानिक साँचे में ढालकर समाजशास्त्र व धर्मशास्त्र के रूप मे दिया जाता है। यदि हम निष्पक्षदृष्टि से विचार करेंगे तो देखेंगे कि विज्ञान की इतनी उन्नति होने पर भी मानव सुखी नही है अपितु पहले से भी अधिक परेशान और दुःखी नजर आ रहा है। फिर ग्रन्थ में कहे गये इस कटु सत्य का कि संसार के विषयभोगों में सुख नहीं मिलता है, कैसे अपलाप किया जा सकता है ? आज जो भी तर्क हम इसके विरोध मे दे सकते है वे पहले भी दिए जाते थे। परन्तु जो सत्य है वह हमेशा सत्य ही रहेगा। इस कथन की वास्तविकता और अवास्तविकता पर विचार करते समय हमें उस दृष्टि को सामने अवश्य रखना होगा जिसे माध्यम बनाकर इस ग्रन्थ को लिखा गया है। बौद्धदर्शन के प्रवर्तक भगवान् गौतम बुद्ध ने भी जिन चार आर्यसत्यों को खोजा था उनमें प्रथम आर्यसत्य दुःख है। इसके अतिरिक्त दुःख के कारण मौजूद हैं (दुःख-समुदय), दुःख से निवृत्ति सभव है (निरोध-सत्य) और दुःखों से निवृत्ति का उपाय भी है (निरोधगामिनी प्रतिपदा)— ये अन्य तीन आर्यसत्य हैं।[1] प्रकृत-ग्रन्थ मे जिस प्रकार प्रथम दुःखसत्य को स्वीकार किया गया है उसी प्रकार अन्य तीन सत्यों को भी स्वीकार किया गया है जिसका हम आगे के प्रकरणों में यथावसर विचार करेंगे।

२. सांसारिक दुःखों के कारणों का विचार करते हुए ग्रन्थ में जन्म-मरणरूप संसार का साक्षात् कारण कर्मबन्ध स्वीकार

१. देखिए—प्रकरण ३.

किया गया है। इसके बाद कर्मबन्ध का भी कारण राग-द्वेष और रागद्वेष का भी मूलकारण अज्ञान माना गया है। यद्यपि राग-द्वेष और अज्ञान के बीच में क्रमशः मोह, तृष्णा और लोभ को भी कारणरूप से बतलाया गया है परन्तु मोह, तृष्णा और लोभ ये राग की ही उत्कट अवस्थारूप हैं। यदि इन्हें भी पृथक् कारणरूप से गिनाया जाय तो संसार की कार्य-कारणपरम्परा इस प्रकार होती है : जन्ममरणरूप संसार→कर्मबन्ध→रागद्वेष→मोह →तृष्णा→लोभ→अज्ञान।

ग्रन्थ में यद्यपि इस कार्य-कारणशृङ्खला का सुव्यवस्थित रूप नहीं मिलता है क्योंकि कहीं पर अज्ञान को, कहीं राग को, कहीं द्वेष को, कहीं रागद्वेष को, कहीं पापकर्म को, कहीं कर्ममात्र को, कहीं मोह को, कही संसार को, कही मनोज्ञामनोज्ञ वस्तुओं को, कहीं इन सब को एक दूसरे के साथ जोड़कर कार्यकारण का विचार किया गया है। इससे कौन किसका साक्षात् कारण है और कौन परम्परया कारण है इसकी सामान्यतया स्पष्ट प्रतीति नही होती है। परन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने पर इन सबके मूल में उपर्युक्त कार्यकारणशृङ्खला ही कार्य करती है। अतः ग्रन्थ में कहीं-कहीं जो इनका आगे-पीछे या एक-दूसरे के साथ सम्मिलितरूप से उल्लेख किया गया है उसका कारण है—अवसर-विशेष पर कारण-विशेष को महत्त्व देना। तत्त्वार्थसूत्र में कर्मबन्ध के कारणों का विचार करते समय जिन पाँच कारणों को गिनाया गया है उनको देखने से भी इसी कार्य कारणशृङ्खला का समर्थन होता है। तत्त्वार्थसूत्र में बतलाए गए उन पांच कारणों के क्रमशः नाम ये हैं[1]: १. मिथ्यात्व (अपने आत्मस्वरूप को भूलकर शरीरादि पर-द्रव्य में आत्मबुद्धि करना—स्वपरविवेकाभावरूप अज्ञान), २. अविरति (विषयों में राग-द्वेष करना), ३ प्रमाद (असावधानी), ४ कषाय (कलुषित भाव) और ५. योग (मन-वचन-काय की प्रवृत्ति)। यहां मिथ्यात्व अज्ञानरूप ही है।

---

१. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।

—त० सू० ८.१.

अविरति और प्रमाद राग व मोह स्थानापन्न हैं। कषाय राग-द्वेषरूप हैं और योग प्रवृत्तिमात्र में कारण है। इसीलिए उत्तराध्ययन में भी कहीं-कहीं मिथ्यात्व और प्रमाद को संसार एवं कर्मबन्ध का हेतु बतलाया गया है।[1]

बौद्धदर्शन में इस विषय की जो कारण-कार्यशृङ्खला बतलाई गई है उसके भी मूल मे अविद्या (अज्ञान) है। अविद्या और दुःख के बीच जो अन्य कारण गिनाए गए हैं उनमें तृष्णा, भव (अच्छे-बुरे कार्य), जाति और जरा-मरण भी है।[2] इस तरह दुःखों के मूल कारण को खोजते-खोजते दोनों दर्शन एक ही स्थान पर पहुँचकर रुक जाते हैं। परन्तु अज्ञान क्या है ? इस विषय मे दोनों दर्शनों के सिद्धान्त भिन्न-भिन्न हैं। ग्रन्थ में जहा अचेतन से चेतन के पार्थक्य-बोध को ज्ञान कहा गया है वहा बौद्धदर्शन में उस पार्थक्य-बोध को अज्ञान माना गया है क्योकि बौद्धदर्शन में आत्मा नामक कोई स्थायी चेतन-द्रव्य स्वीकृत नहीं है। दुःख का मूल कारण अज्ञान है इसमे शायद किसी को भी विवाद नही होगा। गीता में भी मोह का कारण अज्ञान ही स्वीकार किया गया है।[3]

३. जिस कर्मबन्ध को संसार या दुःख के कारणो में साक्षात् कारण स्वीकार किया गया है वह एक शरीर-विशेष की रचना करता है जो वेदान्तदर्शन में स्वीकृत (स्थूलशरीर के भीतर वर्तमान) सूक्ष्मशरीर[4] स्थानापन्न है क्योकि ये कर्म आत्मा के साथ बद्ध

---

१. उ० २९ ५, ६०, ७१; १०.१५.

२. बौद्धदर्शन मे दुःख के जो बारह कारण गिनाए गए हैं उन्हें भवचक्र, द्वादश-आयतन और प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। उनके क्रमशः नाम ये हैं—अविद्या→संस्कार→विज्ञान→नामरूप→षडायतन (छः इन्द्रियाँ मनसहित)→स्पर्श→वेदना→तृष्णा→उपादान→भव (भले-बुरे कर्म)→जाति→जरा-मरण→दुःख।

—भा० द० ब०, पृ० १५४

३. अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

—गीता ५.१५.

४. वेदान्तसार, पृ० १४.

होकर स्थूलशरीर से पृथक् एक शरीर की रचना करते हैं जिसे जैनदर्शन में कार्मणशरीर कहा गया है। यह कार्मणशरीर स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता है। इसके अतिरिक्त वह अग्रिम जन्म में स्थूल-शरीर की प्राप्ति में कारण भी होता है। इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए कर्मबन्ध में सहायक छः लेश्याओं को स्वीकार किया गया है। इन कर्म और लेश्याओं में घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ही ग्रन्थ में लेश्याओं को कर्मलेश्या कहा गया है। ये लेश्याएँ एक प्रकार के लेप्यद्रव्य का कार्य करती हैं जिससे कर्म-परमाणु आत्मा के साथ चिपक जाते हैं। शुभाशुभ कर्मों से जिस प्रकार की लेश्या प्राप्त होती है तदनुसार ही जीव कर्मों में प्रवृत्त होता है। इसके बाद पुनः शुभाशुभरूप से प्रवृत्ति करने पर पुनः कर्मबन्ध होता है। इस तरह अबाध-संसार का चक्र चलता रहता है। कर्मों का अभाव होने पर इसका भी अभाव हो जाता है।

ग्रन्थ में इस कर्म और लेश्या-विषयक वर्णन के द्वारा सांसारिक सुख और दुःख के कारणों का स्पष्टीकरण किया गया है। इस सिद्धान्त के स्वीकार कर लेने से संसार के वैचित्र्य की गुत्थी को सुलझाने के लिए ईश्वर-कल्पना की आवश्यकता नहीं पड़ती है और एक स्वचालित मशीन की तरह संसार की प्रक्रिया चलती रहती है। कर्मकाण्डी मीमांसादर्शन की तरह वैदिक यागादि क्रियाएँ यहाँ कर्म नहीं हैं क्योंकि मीमांसादर्शन में यागादि क्रियाओं से अदृष्टविशेष की उत्पत्ति होती है और तब उसके प्रभाव से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। प्रकृतग्रन्थ में जीव में हर क्षण होने वाली श्वासादि सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया, मन के विचार आदि सभी कर्म के कारण हैं। यह दूसरी बात है कि सभी क्रियाएँ बन्ध में कारण न हों परन्तु क्रियामात्र कर्म अवश्य है। उनमें से केवल सराग क्रियाएँ (सकाम कर्म) ही कर्मबन्ध में कारण हैं। अतः संसार के आवागमन में कारण होने से वे ही यहाँ पर कर्म शब्द से कही गई हैं। इसके अतिरिक्त शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म बन्ध में कारण होने से हेय बतलाए गए हैं। संसारी जीव में पाई जानेवाली प्रत्येक क्रिया, सुख-दुःखानुभूति, ज्ञानादि की प्राप्ति, जीवन की स्थिति, शुभाशुभ

शरीरादि की प्राप्ति, लाभालाभ की प्राप्ति आदि सभी पहलुओं की व्याख्या इस कर्म-सिद्धान्त द्वारा की गई है और आवश्यकतानुसार कर्मों के अवान्तर भेदों की कल्पना की गई है। कर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होने से इस कर्म-सिद्धान्त को जैन मनोविज्ञान कहा जा सकता है।

इस तरह इस प्रकरण में ग्रन्थानुसार संसार को दुःखों से पूर्ण बतलाकर उसके कारणो पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत किया गया है। पुनर्जन्म, परलोक आदि स्वीकार किए बिना यह वर्णन सगत नही हो सकता है। शरीरादि की नश्वरता और जन्म-मरण की प्राप्ति ही दुःख है। इसीलिए संसार के विषय-भोग-जन्य सुखो को भी दु खरूप माना गया है। ससार के कारणों में कर्मबन्ध को स्वीकार करके यह दिखलाया गया है कि जीव के द्वारा किया गया कोई भी अच्छा या बुरा कर्म किसी भी तरह छिप नही सकता है, उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। संसार में सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने तथा अत्याचार-अनाचार आदि को रोकने के लिए भी ऐसा वर्णन आवश्यक था और है।

★

प्रकरण ३

रत्नत्रय

दुःखों की अनुभूति प्रत्येक प्राणी को कटु मालूम होती है। अतः वे दुःखों से छुटकारा पाने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करते देखे जाते हैं। सांसारिक जितने भी प्रयत्न हैं वे सब क्षणिक सुख को देने के कारण वास्तव में दुःखरूप ही हैं। अविनश्वर सुख की प्राप्ति के लिए चेतन और अचेतन के संयोग और वियोग की आध्यात्मिक-प्रक्रिया को जिन नव तथ्यों (तत्त्वों—सत्यों) में विभाजित किया गया है उनमें पूर्ण विश्वास (सम्यग्दर्शन), उनका पूर्णज्ञान (सम्यग्ज्ञान) और तदनुसार आचरण (सम्यक्चारित्र) आवश्यक है। इस तरह अविनश्वर सुख की प्राप्ति में सहायक सम्यग्दर्शन (सत्य-श्रद्धा), सम्यग्ज्ञान (सत्यज्ञान) और सम्यक्चारित्र (सत्-आचरण) इन तीन साधनों को ही यहां पर 'रत्नत्रय' शब्द से कहा गया है। इन तीनों साधनों पर विचार करने के पूर्व चेतन और अचेतन के संयोग और वियोग की आध्यात्मिक-प्रक्रिया को जिन नौ तथ्यों में विभाजित किया गया है उनका विचार आवश्यक है।

नव तथ्य (तत्त्व) :

चेतन-अचेतन और इनके संयोग-वियोग की कारणकार्यशृङ्खला के त्रिकालवर्ती सत्य होने के कारण इन्हें तथ्य (सत्य या तत्त्व) शब्द से कहा गया है। इन नव तथ्यों के नाम क्रमशः ये हैं:[1] १. जीव (चेतन), २. अजीव (अचेतन), ३. बन्ध (चेतन और अचेतन की सम्बन्धावस्था), ४. पुण्य (अहिंसादि शुभ-कार्य),

---

१. जीवाजीवा य बन्धो य पुण्णं पावाऽऽसवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो संति एए तहिया नव॥
—उ० २८. १४.

५. पाप (हिंसादि अशुभ-कार्य), ६. आस्रव (चेतन के पास अचेतन कर्मों के आने का द्वार), ७. संवर (चेतन के साथ अचेतन का सम्बन्ध कराने वाले कारण का निरोध), ८. निर्जरा (चेतन से अचेतन का अशत पृथक्करण) और ६. मोक्ष (चेतन का अचेतन से पूर्ण स्वातन्त्र्य)। इन्हें मुख्यत· पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है :

१ चेतन व अचेतन तत्त्व—जीव और अजीव।

२. ससार या दुःख की अवस्था—बन्ध।

३. ससार या दुःख के कारण—पुण्य, पाप और आस्रव।

४. ससार या दु.ख से पूर्ण निवृत्ति—मोक्ष।

५ ससार या दु·ख से निवृत्ति का उपाय—संवर और निर्जरा।

संसार या दु.ख का कारण कर्म-बन्धन है और उससे छुटकारा पाना मोक्ष है। चेतन ही बन्धन और मोक्ष को प्राप्त करता है तथा अचेतन (कर्म) से बन्धन और मोक्ष होता है। पुण्य और पापरूप प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अचेतन कर्म चेतन के पास आकर (आस्रवित होकर) बन्ध को प्राप्त होते हैं। इन अचेतन कर्मों के आने को रोकना (संवर) तथा पहले से आए हुए कर्मों को पृथक् करना (निर्जरा) मोक्ष के लिए आवश्यक है। इस तरह बन्ध, मोक्ष, चेतन, अचेतन, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर और निर्जरा ये नौ सार्वभौम सत्य होने से तथ्य (तत्त्व) कहे गए हैं। इनके स्वरूपादि इस प्रकार हैं :

१. **जीव**—चेतन द्रव्य। इसे ही बन्धन और मोक्ष होता है।

२. **अजीव**—अचेतन द्रव्य। विशेषकर वह अचेतन द्रव्य (कर्म-पुद्गल) जिसके सम्बन्ध से चेतन बन्धन को और वियोग से मुक्ति को प्राप्त होता है।

३. **पुण्य**—चेतन के द्वारा किए गए अहिंसा आदि शुभ-कार्य।

४. **पाप**—चेतन के द्वारा किए गए हिंसा आदि अशुभ-कार्य।

५. **आस्रव**—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से पुण्य और पापरूप कर्मों का चेतन के पास आना।[1] आस्रव से सामान्यतया

---

१. कायवाङ्मनःकर्म योग:। स आस्रव:। शुभ: पुण्यस्याशुभ: पापस्य।
—त० सू० ६. १-३.

पापास्रव को समझा जाता है। ग्रन्थ में भी पापास्रव के पाँच भेदों (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और धन-सञ्चय) का संकेत किया गया है।[1] परन्तु पापास्रव की तरह पुण्यास्रव भी मुक्ति के लिए त्याज्य है।

६. **बन्ध**—चेतन के साथ अचेतन कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध होना।[2]

७. **संवर**—पुण्य और पापरूप कर्मों को चेतन के पास आने (आस्रव) से रोकना।[3] सामान्यतया पापास्रव को रोकना संवर का कार्य समझा जाता है। ग्रन्थ में इसके भी पापास्रव विरोधी पाँच भेदों का संकेत है।[4] फल-प्राप्ति की अभिलाषा के बिना किए जाने वाले सत्कर्म संवररूप होते हैं। जब जीव अहिंसादि सत्कार्यों में प्रवृत्त होकर फलप्राप्ति की कामना करता है तो वे पुण्यास्रव होकर बन्ध के भी कारण हो जाते हैं। जैसे पूर्वभव में फलाभिलाषा से युक्त (निदानसहित) ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और फलाभिलाषा से रहित चित्त-मुनि के द्वारा किए गए एक समान अहिंसादि पुण्य-कर्म अगले भव में अलग-अलग फलवाले हुए।[5] इस तरह फलाभिलाषा (निदान)

---

१. देखिए—पृ० १६६, पा० टि० १; उ० १९. ६४; २०.४५, २६.११.

२. अज्झत्थहेउं निययस्स बधो संसार हेउं च वयति बन्धं।
—उ० १४ १९.

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः। सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।
—त० सू० ८. १-२.

आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः।
—सर्वार्थसिद्धि, पृ० १४.

३. आस्रवनिरोधः संवरः।
—त० सू० ९.१.

४. सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं।
—उ० १२ ४२.

५. कम्मा नियाणपगडा तुमे राय! विचिंतिया।
तेसिं फलविवागेण विप्पओगमुवागया।
—उ० १३.८.

तथा देखिए—उ. १३.१,२८-३०.

पूर्वक किए गए सभी पुण्यकर्म आस्रवरूप हैं और फलाभिलाषा के बिना किए गए निष्काम कर्म संवररूप हैं। अतः अनास्रवी का लक्षण बतलाते हुए ग्रन्थ में कहा है—'प्राणिवध, मृषावाद, चोरी, मैथुन, धनसंग्रह, रात्रिभोजन तथा चार कषायों से रहित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति में सावधान जितेन्द्रिय जीव अनास्रवी कहलाता है।'[१] अर्थात् अशुभ-कार्यों का सर्वथा त्याग करके शुभ-कार्यों में सावधानीपूर्वक फलाभिलाषा से रहित होकर प्रवृत्ति करना संवर का कारण है। ग्रन्थ में इस प्रकार के संवर का फल आस्रवनिरोध के बाद ऋद्धि-सम्पन्न देवपद या सिद्धपद (मुक्ति) की प्राप्ति बतलाया है।[२]

८. **निर्जरा**—पूर्वबद्ध कर्मों को आत्मा से अंशतः पृथक् करना।[३] यह मोक्ष के प्रति साक्षात् कारण है। यद्यपि प्रतिक्षण कर्मों की कुछ न कुछ निर्जरा होती रहती है परन्तु कुछ निर्जरा तपस्या आदि के द्वारा बलात् भी की जाती है। इसीलिए इस निर्जरा को दो भागों में बाँट सकते हैं : १. सामान्य-निर्जरा और २. विशेष-निर्जरा। अपने आप स्वाभाविक रीति से बिना प्रयत्न के प्रतिक्षण कर्मों का फल देकर चेतन से पृथक् हो जाना सामान्य-निर्जरा है। इस प्रकार की निर्जरा मे जीव को कोई प्रयत्नविशेष नही करना पड़ता है। अतः प्रकृत में इसका विचार आवश्यक नहीं है। दूसरे प्रकार की निर्जरा का अर्थ है—तपादि साधनों के द्वारा कर्मों को बलात् उदय में लाकर चेतन से पृथक् कर देना। इसीलिए जैन-ग्रन्थों में सामान्य-निर्जरा को सविपाक-निर्जरा तथा अनौपक्रमिक-निर्जरा (अकृत्रिम-निर्जरा) कहा गया है। इसके अतिरिक्त विशेष-निर्जरा

---

१. पाणिवहमुसावाया अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो॥
पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइंदिओ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो होइ अणासवो॥
—उ० ३०. २-३.

२. उ० २९.५५; ५.२५, २८.

३. एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा।
—सर्वार्थसिद्धि १.४.

को अविपाक-निर्जरा और औपक्रमिक-निर्जरा (कृत्रिम-निर्जरा) कहा गया है।[1]

९. मोक्ष—सभी प्रकार के कर्म-बन्धनों से पूर्ण छुटकारा पाना या चेतन के द्वारा स्व-स्वरूप को प्राप्त कर लेना मोक्ष है।[2] यही जीव का अन्तिम लक्ष्य है जिसे प्राप्त कर लेने पर जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और अनन्त-सुख व शक्तिसम्पन्न हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने के बाद चेतन पुनः कभी भी कर्मबन्धन में नहीं पड़ता है।

इन नौ तथ्यों में से पुण्य और पाप के आस्रवरूप होने से तत्त्वार्थसूत्र में इनकी संख्या सात ही गिनाई गई है और इन्हें 'तत्त्व' शब्द से कहा है।[3] जब पुण्य और पाप को आस्रव से पृथक् गिनाया जाता है तब इन्हे ही जैन-ग्रन्थों में 'पदार्थ' शब्द से कहा जाता है।[4] इसके अतिरिक्त जब केवल जीव और अजीव का कथन किया जाता है तब ये 'द्रव्य' शब्द से कहे जाते है। वास्तव में जिस प्रकार वैशेषिकदर्शन में 'द्रव्य' और 'पदार्थ' में भेद है उस प्रकार जैन-ग्रन्थों में द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ (तत्त्वार्थ, अर्थ या तथ्य) इन शब्दों मे भेद नही किया गया है क्योंकि ये आपस में एक-दूसरे से मिले हुए हैं। इसके अतिरिक्त जैन-ग्रन्थो मे जीवादि षड्द्रव्यों को 'तत्त्वार्थ' शब्द से तथा जीवादि नौ तथ्यों (पदार्थों) को 'अर्थ' शब्द से भी कहा गया है।[5] ऐसा होने पर भी 'द्रव्य' शब्द से लोक

---

१. सर्वार्थसिद्धि ८.२३.

२. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।
—त० सू० १०.२.

३. जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।।
—त० सू० १.४.

४. जीवाजीवासवबंधसंवरो णिज्जरा तहा मोक्खो।
तच्चाणि सत्त एदे सपुण्णपावा पयत्था य।।
—लघु-द्रव्यसंग्रह, गाथा ३.

५. जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।।
—नियमसार, गाथा ९.
जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा।।
—पंचास्तिकाय, गाथा १०८.

की रचना के मूल उपकरणों को लिया जाता है तथा 'तत्त्व' शब्द से आध्यात्मिक रहस्य का भावात्मक विश्लेषण किया जाता है।[1] 'तत्त्व' शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का ही विशेष व्याख्यान 'पदार्थ' शब्द के द्वारा किया जाता है। पदार्थ को ही 'तथ्य' शब्द से कहा गया है। ग्रन्थ में इन नौ तथ्यों के विषय में एक नाव का दृष्टान्त भी दिया गया है :[2]

एक नौका संसाररूपी समुद्र में तैर रही है जिसमें दो छिद्र हैं, उनमें से एक से गन्दा और दूसरे से साफ पानी आ रहा है। पानी के आते रहने से नाव अब डूबने ही वाली है कि नाव का मालिक उन दोनो छिद्रो को बन्द कर देता है जिनसे पानी अन्दर प्रवेश कर रहा था और फिर दोनो हाथो से उस भरे हुए पानी को उलीचकर निकालने लगता है। धीरे-धीरे वह नौका पानी से खाली हो जाती है और पानी की सतह पर आकर अभीष्ट स्थान को प्राप्त करा देती है। इस तरह इस दृष्टान्त में नौका शरीर स्थानापन्न (अजीव) है, नाविक जीव है, गन्दे और साफ पानी आने के दोनों छिद्र क्रमशः पाप और पुण्यरूप है, जल का नाव मे प्रवेश करना आस्रव है, जल का नाव मे एकत्रित होना बन्ध है, पानी आने के स्रोतो (छिद्रो) को बन्द करना संवर है, पानी को उलीचना निर्जरा है और

---

१. तत्त्व शब्दो भावसामान्यवाची। कथम् ? तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते। तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्य कस्य ? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः। अर्यत इत्यर्थो निश्चीयत इत्यर्थः। तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः। अथवा भावेन भाववतोऽभिधानं, तदव्यतिरेकात् तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः।

—सर्वार्थसिद्धि १.२.

२. जा उ अस्साविणी नावा न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा सा उ पारस्स गामिणी॥
. ...
सरीरमाहु नावत्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरंति महेसिणो॥

—उ० २३.७१-७३.

जल के पूर्णरूप से पृथक् कर देने पर नाव का पानी की सतह पर आ जाना मोक्ष है।

भगवान् बुद्ध ने भी इसी तथ्य का साक्षात्कार करके इसका ही चार आर्यसत्यों के रूप में उपदेश दिया है। चूंकि बौद्धदर्शन में कोई स्थायी चेतन व अचेतन पदार्थ स्वीकार नहीं किया गया है अतः उत्तराध्ययन में प्रतिपादित नौ तथ्यों को जिन पाँच भागों में विभक्त किया गया है उनमें से प्रथम भाग में गिनाए गए जीव और अजीव को छोड़कर शेष सात तथ्यों को ही उपर्युक्त क्रम से निम्नोक्त चार आर्य-सत्यों के रूप में विभक्त किया गया है :[1]

१. दुःख सत्य—ससार मे जन्म, जरा, मरण, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-सयोग आदि दुःख देखे जाते हैं। अतः दुःख सत्य है।

२. दुःख-कारण सत्य (दुःख-समुदय सत्य)—जब दुःख हैं तो दुःख के कारण भी अवश्य हैं।

३. दुःख-निरोध सत्य—यदि दुःख और दुःख के कारण हैं तो कारण के नाश होने पर कार्यरूप दुःख का भी विनाश होना चाहिए। इस तरह दुःख-निरोध भी सत्य है।

४. दुःख-निरोधमार्ग सत्य—दुःखों को दूर करने का रास्ता भी है। अतः दुःख-निरोधमार्ग भी सत्य है।

इस तरह चेतन-अचेतन द्रव्य हैं या नहीं, परमार्थ में सुख है या नहीं ? इसका कोई समुचित उत्तर न देकर भगवान् बुद्ध ने यह कहा कि उपर्युक्त चार बातें सत्य हैं। दुःख से छुटकारा चाहते हो तो इन चार आर्यसत्यो पर विश्वास करके दुःख-निरोध के मार्ग का अनुसरण करो। दुःख-निरोध के मार्ग में जिन उपायों को बौद्ध-दर्शन में बतलाया गया है वे ही उपाय प्रायः उत्तराध्ययन में भी हैं, परन्तु मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ बौद्धदर्शन मुक्ति के लिए

---

१. सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा।
निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमयं क्रमः॥
—अभिधर्मकोष ६.२.

आत्मा के अभाव (नैरात्म्य) की भावना पर जोर देता है[1] वहाँ उत्तराध्ययन आत्मा के सद्भाव की भावना पर जोर देता है।[2]

मुक्ति का साधन—रत्नत्रय :

उपर्युक्त नौ तथ्यों मे 'संवर' और 'निर्जरा' जो संसार से निवृत्ति की व्याख्या करते हैं उनमे क्रमशः बतलाया गया है कि किस प्रकार आनेवाले नवीन कर्मों को रोका जा सकता है और किस प्रकार एकत्रित हुए पुराने कर्मों को नष्ट किया जा सकता है। इस तरह संवर और निर्जरा ये दोनों तत्त्व आचरणीय आचारशास्त्र या धर्मशास्त्र का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु आचार (धर्म) की पूर्णता और सम्यक्रूपता के लिए इन नौ तथ्यों का सच्चाज्ञान और उन पर दृढ़-विश्वास की भी आवश्यकता है। क्योंकि आचार के सम्यक्पने के लिए आवश्यक है कि उसका सच्चाज्ञान हो और ज्ञान की प्राप्ति के लिए उस ज्ञान को प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा के साथ दृढ़ विश्वास। ग्रन्थ मे इसी कथन को पुष्ट करते हुए लिखा है—'सच्चे विश्वास (दर्शन) के बिना सच्चा ज्ञान नही होता, सच्चे ज्ञान क बिना सच्चा चारित्र नही होता, सच्चे

---

१. तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिका।
उत्खातमूलाङ्कुरुत सत्त्वदृष्टिमुमुक्षव.।
—प्रमाणवार्तिक २ २५७-२५८

य: पश्यत्यात्मान तत्राहमिति शाश्वत: स्नेह.।
....'

आत्मनिसतिपरसज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयो संप्रतिबद्धा: सर्वे दोषा: प्रजायन्ते ॥
—प्रमाणवार्तिक २ २१८-२२१.

२. एवं लोए पलित्तम्मि जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि तुब्भेहि अणुमन्निओ ॥
—उ० १६ २४.

तथा देखिए—उ० १५.१,३,५,१५, १८.३०-३१,३३,४६ आदि।

चारित्र के बिना कर्म से मुक्ति नहीं मिलती और कर्म से मुक्ति के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। सच्चे विश्वास के अभाव में सम्यक्चारित्र हो ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त जहाँ सच्चा विश्वास है वहाँ सच्चा चारित्र हो या न हो उभय कोटियाँ (भजनीय) संभव हैं। किन्च, सच्चे विश्वास (सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन) और सच्चे चारित्र के साथ-साथ उत्पन्न होने पर पहले विश्वास (सम्यक्त्व) की ही उत्पत्ति होगी।[1] इस तरह मुक्ति के लिए सर्वप्रथम तथ्यों में श्रद्धा फिर उनका सम्यक्ज्ञान और तदनुसार आचरण आवश्यक है। यद्यपि ग्रन्थ में ऐसे भी स्थल हैं जहाँ पर विश्वास (श्रद्धा या सम्यग्दर्शन), ज्ञान और सदाचार को पृथक्-पृथक् तथा उनके प्रत्येक अंश को लेकर (साक्षात् या परम्परया) मोक्ष के प्रति स्वतन्त्ररूप से कारण बतलाया गया है; कहीं-कहीं इन तीन के अतिरिक्त तप, क्षमा निर्लोभता आदि कारणों को भी पृथक्रूप से जोड़कर चार, पांच, छः आदि कारणो को गिनाया गया है।[2] परन्तु परीक्षण से ज्ञात होता है कि जहाँ-जहाँ पृथक्-पृथक् अश को लेकर मुक्ति के प्रति कारणता बतलाई गई है वहाँ-वहाँ उन-उन अंशो में अन्य अंश गतार्थ है तथा उस अशविशेष का महत्त्व बतलाने के लिए ऐसा किया गया है। इसी प्रकार जहाँ श्रद्धा, ज्ञान और सदाचार के साथ तप, क्षमा आदि का सन्निवेश किया गया है वहाँ भी तपादि अंशों के महत्त्व पर जोर देने के लिए उन्हें अलग से जोड़ा गया है अन्यथा तप, क्षमा आदि अन्य सभी कारण सदाचार, ज्ञान एवं विश्वासरूप कारणत्रय मे ही गतार्थ हैं। इस कथन की पुष्टि मे में यहाँ पर उत्तराध्ययन से कुछ प्रसङ्ग उद्धृत करता हूँ :

---

१. नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥
नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

—उ० २८.२९-३०.

२. विशेष के लिए देखिए—उ०, अध्ययन २८-२९, ३१.

१. केशि-गौतम संवाद में बतलाया गया है कि निश्चय से ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्ष के सद्भूत साधन हैं, अन्य बाह्य वेष-भूषादि नहीं। ऐसी दोनों जैन उपदेशकों (भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर) की प्रतिज्ञा है।[1]

२. मोक्षमार्गगति नामक २८वें अध्ययन के प्रारम्भ में कहा है—'ज्ञान और दर्शन जिसके लक्षण हैं ऐसे चार कारणों से युक्त यथार्थ मोक्षमार्ग की गति को तुम मुझसे सुनो। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप–यह मोक्ष-मार्ग है। जो इस मार्ग का अनुसरण करता है वह सुगति[2] (मोक्ष) को प्राप्त करता है। ऐसा भगवान् जिनेन्द्र ने कहा है।'[3] आगे इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए ग्रन्थ में लिखा है - 'ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धा करता है, चारित्र से कर्मास्रवों को रोकता है और तप से शुद्धता को प्राप्त करता है। इस तरह जो सब प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाना चाहते हैं वे सयम और तप से पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करते है।'[4] कर्मों के क्षय करने मे विशेष उपयोगी होने के कारण यहाँ

---

१. अह भवे पइन्ना उ मोक्खसब्भूयसाहणा।
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं चेव निच्छए॥
—उ० २३.३३.

२. चत्तारि सुग्गईओ पण्णत्ताओ, त जहा–सिद्धसुग्गई, देवसुग्गई, मणुय-सुग्गई, सुकुलपच्चायाई।
—स्थानाङ्गसूत्र ४.१.२६.

३. मोक्खमग्गगइं तच्च सुणेह जिणभासियं।
चउकारणसजुत्तं नाणदंसणलक्खणं॥
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एयंमग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छंति सोग्गइं॥
—उ० २८.१-३.

४ नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई॥
खवेत्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो॥
—उ० २८.३५-३६.

तप को सदाचार से पृथक् गिनाया गया है। अन्यथा तप सदाचार से पृथक् अन्य कारण नहीं है। इसके अतिरिक्त यहाँ ज्ञान और दर्शन को मोक्षमार्ग का लक्षण बतलाया गया है जिससे स्पष्ट है कि ज्ञान और दर्शन के अभाव में किया गया सदाचार अभीष्ट साधक नहीं है।

३. रथनेमी अध्ययन में जब अरिष्टनेमी दीक्षा ले लेते हैं तो वासुदेव कहते हैं—'हे जितेन्द्रिय ! तू शीघ्र ही अभीष्ट मनोरथ को प्राप्त कर। ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप, क्षमा और निर्लोभता से वृद्धि को प्राप्त कर।'[1] यहाँ तप, क्षमा और निर्लोभता ये भी चारित्र के ही अंश हैं।

४. जब मृगापुत्र सिद्धगति को प्राप्त करता है तो उस समय ग्रन्थ में कहा गया है—'इस तरह ज्ञान सदाचार, विश्वास, तप और विशुद्ध भावनाओं के द्वारा अपनी आत्मा को परिशुद्ध करके, बहुत वर्षों तक साधु-धर्म का पालन करके तथा एक मास का उपवास करके उसने अनुत्तर सिद्ध-गति को प्राप्त किया।'[2] यहाँ साधु-धर्म का पालन, भावनाओं का चिन्तन, उपवास आदि रत्नत्रय की ही वृद्धि में सहायक अङ्ग हे।

५. 'बोधिलाभ' को भगवान की स्तुति का फल बतलाते हुए कहा गया है—'ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधिलाभ से युक्त होकर जीव या तो संसार के आवागमन का अन्त करने वाले स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करता है या कल्पविमानवासी देव-पद को प्राप्त करता है।'[3] इसी तरह सर्वगुणसम्पन्नता (ज्ञान-दर्शन-चारित्र) का फल अपुनरावृत्तिपद (मोक्ष) की प्राप्ति बतलाया गया है।[4]

---

१. वासुदेवो य णं भणइ लुत्तकेसं जिइंदियं।
इच्छियमणोरहे तुरियं पावेसू तं दमीसरा॥
नाणेणं दंसणेणं च चरित्तेण तहेव य।
खंतीए मुत्तीए वड्ढमाणो भवाहि य॥
—उ० २२.२५-२६.

२. उ० १९ ९५-९६.

३. उ० २९ १४.

४. सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणरावित्तिं जणयइ। अपुणरावित्तिं पत्तए य णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ।
—उ० २९.४४.

६ प्रमादस्थानीय अध्ययन के प्रारम्भ में सम्पूर्ण दुःखों से मुक्ति का एकान्त हितकारी उपाय बतलाते हुए कहा है—'सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान और मोह के त्याग से, राग और द्वेष के क्षय से एकान्त सुखरूप मोक्ष प्राप्त होता है।'[1] इसी तरह इसके आगे भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए लिखा है—'श्रेष्ठ और वृद्ध लोगों (स्थविर-मुनियों) की सेवा (सदाचार), मूर्ख पुरुषों की संगति का त्याग (सम्यग्दर्शन), एकान्त में निवास, स्वाध्याय, सूत्रार्थ-चिन्तन (सम्यक्ज्ञान) और धैर्य यह मोक्ष का मार्ग है।'[2]

इस तरह विश्वास (सम्यग्दर्शन—सम्यक्त्व), ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) और सदाचार (सम्यक्चारित्र) रूप रत्नत्रय ही मुक्ति का प्रधान साधन है। यहाँ इतना विशेष है कि ये तीनो मिलकरके ही मुक्ति के साधन हैं, पृथक्-पृथक् तीन साधन नही हैं। अतः ये गीता के भक्तियोग (विश्वास—सम्यक्त्व), ज्ञानयोग (सम्यग्ज्ञान) और कर्मयोग (सदाचार) की तरह पृथक्-पृथक् तीन मार्ग नही हैं।[3] तत्त्वार्थसूत्रकार ने इसीलिए रत्नत्रय को मोक्ष का मार्ग बतलाते हुए 'मार्ग' शब्द में एकवचन का प्रयोग किया है।[4]

ज्ञानमात्र से मुक्ति संभव नहीं—'ज्ञान के बिना मुक्ति संभव नहीं है'[5] इस वैदिक-संस्कृति में विश्वास करने वाले और ज्ञानमात्र

---

१. अच्चंतकालस्स समूलगस्स सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो।
त भासओ मे पडिपुण्णचित्ता सुणेह एगग्गहिय हियत्थं ॥
नाणस्स सव्वस्स पगासणाए अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥
—उ० ३२.१-२.

२. उ० ३२.३.

३. भा० द० व०, पृ० ८१.

४. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।
—त० सू० १.१.

५. तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति।
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.१५.
तथा देखिए—वही ३.८.

से मुक्ति को मानने वालों के प्रति ग्रन्थ में कहा है—'कुछ लोग यह मानते हैं कि पापाचार का त्याग किए बिना मात्र आर्यकर्मों का ज्ञान कर लेने से दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। इस तरह ज्ञान-मात्र से बन्धन और मोक्ष का कथन करने वाले ये आचारहीन व्यक्ति स्वयं को सिर्फ अपने वचनों से आश्वस्त करते हैं क्योंकि जब अनेक प्रकार की भाषाओं का ज्ञान रक्षक नहीं हो सकता है तब मंत्रादि विद्याओं का सीखनामात्र (विद्यानुशासन) कैसे रक्षक हो सकता है? इस तरह पाप-कर्म में निमग्न और अपने आपको पण्डित मानने वाले ये लोग वास्तव में मूर्ख हैं।'[1] इससे स्पष्ट है कि ज्ञानमात्र से मुक्ति की कल्पना करना मूर्खता है। वास्तव में चारित्र के बिना ज्ञान पंगु एवं भाररूप है, ज्ञान के बिना चारित्र अन्धा है तथा दृढ विश्वास के बिना ज्ञान और चारित्र में प्राण-रूपता (दृढता) का अभाव है। यदि आचाररूप क्रिया के अभाव मे मात्र ज्ञानसे कार्य-सिद्धि मान ली जाए तो एक डाक्टर जोकि सब रोगों की दवा जानता है, बिना दवा खाए ही स्वस्थ हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि जब ग्रन्थ में संसार एवं दुःख का मूल कारण अज्ञान बतलाया गया है तो फिर उससे निवृत्ति का उपाय भी ज्ञान ही होना चाहिए; श्रद्धा एवं चारित्र को मानने की क्या आवश्यकता है? यद्यपि यह कथन ठीक है परन्तु उस सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिए दृढ़-श्रद्धा और आचार भी अपेक्षित है। जब तक दृढ़-श्रद्धा नहीं होगी तब तक ज्ञान की प्राप्ति के लिए झुकाव भी नहीं हो सकता है तथा जब तक इन्द्रियों की चञ्चलता को रोककर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं किया जाएगा तब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

---

१. इहमेगे उ मन्नंति अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ता णं सव्वदुक्खा विमुच्चई॥
भणंता अकरेंता य बंधमोक्खपइण्णिणो।
वायाविरियमेत्तेण समासासेंति अप्पयं॥
न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणुसासणं।
विसण्णा पावकम्मेहिं बाला पंडियमाणिणो॥

—उ० ६.९-११.

इस तरह ज्ञान और चारित्र दोनों साथ-साथ आगे बढ़ते हैं। जब साधक को सच्चा व पूर्ण ज्ञान हो जाता है तो वह संसार के बन्धन से छुटकारा पा जाता है क्योंकि जब सच्चा एवं पूर्ण ज्ञान हो जाता है तो वह कभी भी गलत आचरण नहीं कर सकता है। इसीलिए भृगुपुरोहित के दोनों पुत्र अपने पिता से कहते हैं—'जिस प्रकार हम लोगों ने धर्म को न जानते हुए अज्ञानवश (मोह-वश) पहले पाप-कर्म किए थे उस प्रकार अब हम आपके द्वारा रोके जाने पर और रक्षा किए जाने पर पुनः उन कर्मों को नहीं करेंगे।'[1] इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में पूर्णज्ञानी को जीवन्मुक्त (केवली) कहा गया है।[2] इसका यह तात्पर्य नहीं है कि केवल ज्ञानमात्र से मुक्ति हो जाती है क्योंकि पूर्वबद्ध कर्मों का फल अवश्य भोक्तव्य होने के कारण पूर्ण-मुक्ति के लिए पूर्णज्ञान के बावजूद भी सदाचार की आवश्यकता है। यदि पूर्णज्ञान मात्र से ही मुक्ति मान ली जाती तो जिनेन्द्र देवों का उपदेश प्रामाणिक नहीं होता क्योंकि पूर्णज्ञान हो जाने पर वे संसार में न रहेंगे और पूर्णज्ञान के पूर्व दिया गया उनका उपदेश प्रामाणिक न होगा। इस तरह ज्ञान के बिना चारित्र और चारित्र के बिना ज्ञान दोनों पङ्गु हैं। ग्रन्थ में ज्ञान की अपेक्षा कहीं-कहीं आचार को प्रधानता देने का मुख्य प्रयोजन था कि उस समय लोग मात्र वेद-ज्ञान को मुक्ति का साधन मानकर अपने आचार से पतित हो रहे थे। शब्दज्ञान मात्र से चारित्र शुद्ध नहीं होता है। अतः उस ज्ञान में दृढ़ विश्वास भी आवश्यक है। इसीलिए ज्ञान और आचार के पूर्व श्रद्धापरक सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन आवश्यक माना गया है क्योंकि किसी भी जीव का ज्ञान कितना ही उच्च-कोटि का क्यों न हो वह तब तक सम्यक् नहीं कहला सकता है जब तक उसे सम्यग्दर्शन न हो।[3]

---

१. जहा वयं धम्ममजाणमाणा पावं पुरा कम्ममकासि मोहा।
ओरुब्भमाणा परिरक्खियंता तं नेव भुज्जो वि समायरामो॥
—उ० १४.२०.

२. देखिए—प्रकरण ६.

३. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि॥
—द्रव्यसंग्रह, गाथा ४१.

ग्रन्थ में यद्यपि छन्दोबद्धता या प्रधानता प्रकट करने के कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र का व्युत्क्रम से भी उल्लेख किया गया है परन्तु जहां इनके क्रम का विचार किया गया है वहां स्पष्ट कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना सच्चारित्र नहीं होता तथा सच्चारित्र के बिना कर्मों से मुक्ति नही मिलती ।[1] गीता में भी यही क्रम बतलाते हुए कहा है : 'श्रद्धावान् ही पहले ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञान-प्राप्ति के बाद संयतेन्द्रिय (सदाचार में प्रवृत्ति करने वाला) बनता है ।'[2] इसी प्रकार बौद्धदर्शन में भी ज्ञान (प्रज्ञा), आचार (शील) और तप (समाधि) को रत्नत्रय (तीनरत्न) कहा गया है तथा इन तीन रत्नों की प्राप्ति के पूर्व सम्यक्त्व[3] को आवश्यक माना गया है।[4] इस तरह दुःखों से छुटकारा पाने के लिए रत्नत्रय की साधना आवश्यक है ।[5]

जैनदर्शन में 'रत्नत्रय' के नाम से प्रसिद्ध मोक्ष के इन तीन साधनों का ही सम्मिलित नाम ग्रन्थ में 'धर्म' भी मिलता है। अतः

---

१. देखिए—पृ० १८७, पा० टि० १.

२. श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
—गीता ४. ३९.

३ सम्यक्ज्ञान, सम्यक्संकल्प (दृढ़ निश्चय), सम्यक्वचन (सत्यवचन), सम्यक्कर्मान्त (हिंसादि से रहित कर्म), सम्यक्आजीव (सदाचारपूर्ण जीविका), सम्यक्व्यायाम (भलाई के लिए प्रयत्न), सम्यक्स्मृति (अनित्य की भावना) तथा सम्यक्समाधि (चित्त की एकाग्रता)। इस तरह सम्यक्त्व आठ प्रकार का है ।

४. भा० द० ब०, पृ० १५५.

५. अज्ञान से विषाक्त भोजन कर लेने वाले रोगी के स्वास्थ्यलाभ के लिए आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम डाक्टर या औषधि आदि पर विश्वास करे, औषधिसेवन की विधि आदि का ज्ञान हो और तदनुसार उसका सेवन करे। इनमें से एक की भी कमी होने पर जैसे स्वास्थ्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है वैसे ही संसार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए रत्नत्रय की आराधना आवश्यक है ।
—देखिए—सर्वार्थसिद्धि १.१.

चतुरङ्गीय नामक तीसरे अध्ययन में धर्म के साधनभूत उत्तरोत्तर सर्वश्रेष्ठ चार दुर्लभ-अङ्गों का प्रतिपादन करते हुए इन तीन रत्नों को ही गिनाया गया है। वे चार दुर्लभ-अङ्ग इस प्रकार हैं :[1]

१. **मनुष्यत्व**—यहाँ मनुष्यत्व से तात्पर्य श्रेष्ठ-जाति व श्रेष्ठ-कुल आदि से सम्पन्न मनुष्यपर्याय की प्राप्ति से है। मनुष्यपर्याय में ही पूर्ण चारित्र का पालन कर सकना संभव होने से इस पर्याय की प्राप्ति देवादि अन्य पर्यायों की प्राप्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाई गई है। अतः प्रथम तो मनुष्य-जन्म पाना ही कठिन है फिर उसमें भी श्रेष्ठ कुल आदि का प्राप्त होना और भी अधिक कठिन है। इस तरह इस दुर्लभ-अङ्ग में रत्नत्रयरूप धर्म को धारण करने वाले अधिकारी की दुर्लभता का प्रतिपादन किया गया है।

२. **श्रुतिश्रवण**—शास्त्रज्ञान। यदि किसी तरह मनुष्यता की प्राप्ति हो भी गई तो भी धर्मशास्त्र का ज्ञान मिलना सबको सुलभ नहीं होता है। इस तरह यहाँ सम्यग्ज्ञान की दुर्लभता का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि शास्त्र ज्ञान-प्राप्ति के साधन हैं।

३. **श्रद्धा**—शास्त्रज्ञान की सत्यता में दृढ़ विश्वास का होना। शास्त्रज्ञान हो जाने पर भी उसकी सत्यता में सबको विश्वास होना कठिन है क्योंकि बहुत से लोग शास्त्रज्ञ होकर भी दृढ़-श्रद्धा के अभाव में आचारहीन देखे जाते हैं। इसमें श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन की दुर्लभता का कथन किया गया है।

४. **संयम में पुरुषार्थ**—सदाचार में प्रवृत्ति। शास्त्रज्ञान और उसकी सत्यता में विश्वास होने पर भी रागादिरूप प्रवृत्ति के कारण सदाचार का पालन करना अत्यधिक कठिन है। यहाँ सम्यक्-चारित्र की दुर्लभता का कथन किया गया है।

इस तरह धर्म के साधनभूत इन चार दुर्लभ अंगों की प्राप्ति में ज्ञानरूप श्रुतिश्रवण का जो श्रद्धा के पूर्व कथन किया गया है वह ज्ञान की प्राप्ति के साधनभूत श्रुति-श्रवण की दुर्लभता की अपेक्षा से है क्योंकि श्रुतिश्रवण और श्रद्धा के बाद ही ज्ञान की

१. देखिए—पृ० १०८, पा० टि० २; उ० ३.८-११; आचाराङ्गसूत्र २.१.

पूर्णता संभव है। बिना श्रद्धा के ज्ञान की प्राप्ति में प्रयत्न ही संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है वैसे-वैसे श्रद्धा में भी दृढ़ता आती जाती है तथा सदाचार में भी प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। यद्यपि ज्ञान की प्राप्ति में सदाचार भी आवश्यक है परन्तु चारित्र की पूर्णता ज्ञान की पूर्णता होने पर ही सम्भव होने से उसे ज्ञान से अधिक दुर्लभ और श्रेष्ठ कहा गया है। धर्म के साधनभूत इन चारों दुर्लभ-अङ्गों की प्राप्ति का फल मुक्ति या ऋद्धिसम्पन्न देवता-पद की प्राप्ति बतलाया गया है।[1]

अन्यत्र भी मोक्ष के साधनभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को 'धर्म' शब्द से कहा गया है।[2] यह 'धर्म' शब्द प्रथम प्रकरण में प्रयुक्त गति में सहायक 'धर्मद्रव्य' से पृथक् है। इस रत्नत्रयरूप 'धर्म' को संसाररूपी समुद्र में शरणभूत-द्वीप,[3] परलोक-यात्रा में सहायक पाथेय[4] और मृत्यु-समय का रक्षक[5]

---

१. माणुसत्तम्मि आयाओ जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धं संवुडे निद्धुणेर यं ॥
सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ घयसित्तिव्व पावए ॥
—उ० ३.११-१२.

२. समीचीन धर्मशास्त्र १.२-३; मनुस्मृति २.१; यशस्तिलकचम्पू ६.२६८.

३. जरामरणवेगेणं वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा गइ सरणमुत्तमं ॥
—उ० २३.६८.

४. अद्धाणं जो महंतं तु सपाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो सुही होइ छुहातण्हाविवज्जिओ ॥
एवं धम्मं पि काऊणं जो गच्छइ परं भवं ।।
गच्छंतो सो सुही होइ अप्पकम्मे अवेयणे ॥
—उ० १९.२१-२२.

५. एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं न विज्जई अन्नमिहेह किंचि।
—उ० १४.४०.

कहा गया है। जो धर्म से युक्त है उसका जीवन सफल है[1] और वह स्वयं का स्वामी होते हुए दूसरों का भी स्वामी है।[2] वही सबान्धव एवं नाथों का भी नाथ (स्वामी) है[3] जो धर्म से युक्त है। इसके अतिरिक्त जो धर्म से हीन है वह अनाथ है।[4] 'धर्म' एक राजमार्ग है जिस पर चलकर प्रत्येक प्राणी सुख का अनुभव करता है तथा 'अधर्म' एक कण्टकाकीर्णमार्ग है जिस पर चलने से प्राणी परेशानियों का अनुभव करता है।[5] धर्म सुन्दर है तथा इसका आश्रयण करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह धर्म देदीप्यमान अग्नि की तरह शुद्ध एवं सरल हृदय में ही ठहरता है।[6] अत: इसके ग्रहण करने में विलम्ब न करने को कहा गया है।[7]

---

१. जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जंति राइओ॥
—उ० १४.२५
तथा देखिए—उ० १४.२४; ४.१; ६.११.

२. खंतो दंतो निरारम्भो पव्वईओऽणगारियं।
तो हं नाहो जाओ अप्पणो य परस्स य॥
—उ० २०.३४-३५.

३. तुब्भे सणाहा य सबंधवा य जं भे ठिया मग्गि जिणुत्तमाणं।
तंसि नाहो अणाहाणं सव्वभूयाण संजया॥
—उ० २०.५५-५६.

४. उ० २०.८-१६.

५. जहा सागडिओ जाणं समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो अक्खे भग्गम्मि सोयई॥
एवं धम्मं विउक्कम्म अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहं पत्ते अक्खे भग्गे व सोयई॥
—उ० ५.१४-१५.
तथा देखिए—उ० १३.२१.

६. देखिए—पृ० १९५, पा० टि० १.

७. धम्मं च पेसलं णच्चा तत्थ ठवेज्ज भिक्खु अप्पाणं।
—उ० ८.१९.
अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
—उ० १४.२८.

इस तरह इस 'धर्म' शब्द का प्रयोग यहां पर मुक्ति के साधक रत्नत्रय के अर्थ में ही किया गया है। सामान्य व्यवहार में भी अहिंसादि शुभ-कार्यों के करने को 'धर्म' कहा जाता है। मीमांसादर्शन में जिस वैदिक यागादि-क्रिया को 'धर्म' शब्द से कहा गया है[1] वह यहां पर एक प्रकार के 'कर्म' के रूप मे स्वीकृत है। भारतीय धर्म-परम्परा में माने गए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थों में 'धर्म' का ही प्रमुख स्थान है क्योकि धर्म से ही अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस तरह 'धर्म' शब्द का अर्थ है—'मुक्ति का मार्ग' और मुक्ति का मार्ग है—'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।'

अब क्रमशः इन तीनों का ग्रन्थानुसार वर्णन किया जाएगा :

सम्यग्दर्शन (सत्य-श्रद्धा)

सामान्यतौर से सम्यक्-दर्शन शब्द का सम्मिलित अर्थ है—सत्य का देखना या सत्य का साक्षात्कार करना। सत्य का पूर्ण साक्षात्कार चक्षु इन्द्रिय के द्वारा समव न होने से सत्यभूत जो नव तथ्य बतलाए गए हैं उनके सद्भाव में विश्वास करना सम्यग्दर्शन है।[2] इन तथ्यो में श्रद्धा करने पर चेतन-अचेतन का भेदज्ञान, ससार के विषयों से विरक्ति, मोक्ष के प्रति झुकाव, परलोकादि के सद्भाव में विश्वास, और चेतनमात्र के प्रति दयादिभाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के भावों के उत्पन्न होने पर जीव धीरे-धीरे सत्य का पूर्ण साक्षात्कार कर लेता है। अतः जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन के गुणरूप पांच चिह्न स्वीकार किए गए हैं जिनका

---

१. अथ को धर्मः .... .यागादिरेव धर्मः..... .'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मं' इति।
—अर्थसंग्रह, लोगाक्षीभास्कर, पृ० ६-८.

२. तहियाणं तु भावाण सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहतस्स सम्मत्तं तं वियाहियं॥
—उ० २८ १५.

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।
—त० सू० १.२.

तथा देखिए—पृ० १८८, पा० टि० ४.

ग्रन्थ में शब्दत: स्पष्टरूप से कथन न होने पर भी उनतीसवें अध्ययन में सम्यक्त्व के प्रसङ्ग में उन चिह्नों से युक्त गुणों का फल अवश्य बतलाया गया है।

सम्यग्दर्शन के चिह्न—सम्यग्दर्शन के गुणरूप चिह्नों के नाम इस प्रकार हैं :[1]

१. संवेग (मोक्ष के प्रति झुकाव), २. निर्वेद (सांसारिक विषय-भोगों से विरक्ति), ३. अनुकम्पा (प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव), ४. आस्तिक्य (जीव, अजीव, परलोक आदि की सत्ता में विश्वास) और ५. प्रशम (राग-द्वेषात्मक वृत्तियों के उपस्थित होने पर भी शान्त-परिणामों से विचलित न होना)। सम्यग्दर्शन के इन पाँच चिह्नों में से ग्रन्थ में 'संवेग', 'निर्वेद' और 'आस्तिक्य' (अनुत्तर-धर्मश्रद्धा) को परस्पर एक-दूसरे का पूरक बतलाते हुए तृतीय-जन्म का अतिक्रमण किए बिना कर्मों का क्षय करके (आत्म-विशुद्ध होकर) मोक्षप्राप्तिका अधिकारी बतलाया है।[2] कहीं-कहीं ग्रन्थ में संवेग व निर्वेद की प्राप्ति को सम्यक्त्व की प्राप्ति के रूप में बतलाया गया है।[3] 'अनुकम्पा' अहिंसा का ही प्रतिफल है तथा प्रशमभाव के बिना सवेगादि भाव नही हो सकते हैं क्योंकि जब चित्त रागादि वृत्तियों के उपस्थिन होने पर अपने शान्त-

---

१. भा० सं० जै०, पृ० २४२; यशस्तिलकचम्पू, पृ० ३२३.

२. संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ। अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेग हव्वमागच्छइ। अणंताणुबंधिकोहमाण-मायालोभे खवेइ। नव च कम्मं न बंधइ। तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्त-विसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ। दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थे गइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झई। विसोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ।

—उ० २९.१.

तथा देखिए—उ० २९.२-३.

३. सोऊण तस्स सोधम्मं अणगारस्स अंतिए।
महया संवेगनिव्वेयं समावन्नो नराहिवो ॥

—उ० १८.१८.

तथा देखिए—उ० २१.१०; २९.६०.

परिणामों से युक्त न रहेगा तो विषयों से विरक्ति और संवेगादि-भाव कैसे हो सकते हैं? इस तरह सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन पाँच गुणों से युक्त होता है। जब तक पाँचों गुणों की प्राप्ति नहीं होगी तब तक जीवादि तथ्यों में श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती है। अतः सम्यग्दर्शन का लक्षण आस्तिक्य गुण-विशेष को लेकर तथ्यों में श्रद्धा किया गया है। आगे चलकर जैनदर्शन में यही श्रद्धापरक सम्यग्दर्शन का लक्षण व्यावहारिक-सम्यग्दर्शन कहलाने लगा तथा स्व और पर (चेतन और अचेतन) का भेदज्ञान निश्चय-सम्यग्दर्शन (परमार्थ-सम्यग्दर्शन)।[1] इस तरह अपेक्षा-भेद से सम्यग्दर्शन के लक्षण में भेद होने पर भी ग्रन्थ में स्वीकृत लक्षण में कोई बाधा नहीं पड़ती है क्योंकि अचेतन से चेतन का पृथक् प्रतीतिरूप स्व-परभेदज्ञान सम्यग्दर्शन के आस्तिक्यगुण का ही रूप-विशेष है तथा स्व-परभेदज्ञान हुए बिना तथ्यो मे श्रद्धा नहीं हो सकती है। जीवादि तथ्यों में श्रद्धा होने पर स्व-परभेदज्ञान स्वतः हो जाता है। अतः जीवादि तथ्यों में श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है तथा इनमें श्रद्धा न होना मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन है। इस तरह यदि हम दूसरे शब्दो में सम्यग्दर्शन का स्वरूप बतलाना चाहें तो कह सकते हैं कि धर्म की ओर प्रवृत्त होना, सत्य का बोध होना, विषयों से विरक्ति होना, शरीर से पृथक् जीव (चेतन) के अस्तित्व का बोध होना आदि सब सम्यग्दर्शन है। इसीलिए ग्रन्थ में संवेगादि की प्राप्ति को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के अर्थ में प्रयोग किया गया है।

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग :

सम्यग्दर्शन निम्नोक्त आठ विशेष बातोंपर निर्भर करता है जो सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग कहलाते हैं। उन आठ अङ्गों के नाम ये हैं :[2]

---

१. छहढाला ३.१-३.

२. निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥
—उ० २८.३१.

विशेष के लिए देखिए—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २३-३०; समीचीन धर्मशास्त्र, श्लोक ११-१८,२१.

१. निःशंकित (तत्त्वों मे किसी प्रकार की शङ्का न होना), २. निःकांक्षित (सांसारिक विषय-भोगो की इच्छा न करना), ३. निर्विचिकित्सा (धर्म के फल मे सन्देह न करना), ४. अमूढ़-दृष्टि (नाना प्रकार के मत-मतान्तरों को देखकर भी तथ्यों में अविश्वास न करना अर्थात् मूढता को प्राप्त न होकर धर्म में श्रद्धा को दृढ़ बनाए रखना), ५ उपबृंहा[1] (गुणी पुरुषो की प्रशंसा करना), ६. स्थिरीकरण[2] (धर्म से पतित होने वाले को सन्मार्ग में दृढ़ करना), ७. वात्सल्य (सहधर्मियों से प्रेमभाव रखना) और ८. प्रभावना (धर्म के प्रचार एवं उन्नति के लिए प्रयत्न करना)।

इस तरह इन आठ अङ्गो मे प्रथम चार निषेधात्मक हैं और अन्य चार विधानात्मक है। सम्यक्त्व की दृढ़ता के लिए ग्रन्थ में इनके अतिरिक्त तीन अन्य गुण भी आवश्यक बतलाए हैं[3] : १. जीवादि तथ्यों का पुन. पुनः अनुचिन्तन करना, २. परमार्थदर्शी महापुरुषों की सेवा करना और ३. सन्मार्ग से पतित एव मिथ्या उपदेश देने वाले मिथ्यादृष्टियो के सपर्क का त्याग करना।

इन गुणों के अतिरिक्त सम्यक्त्व के विघातक जितने भी दोष संभव हो सकते हैं उन सबका त्याग भी जरूरी है। ग्रन्थ में सम्यक्त्व के विघातक ऐसे कुछ दोषो का कथन भी किया गया है जिनका त्याग करना आवश्यक है। जैसे[4]—मन से, वचन से एव

---

१. 'उपबृंहा' को 'उपगूहन' भी कहा जाता है। इसका अर्थ है—अपने गुणो और गुरु आदि के दुर्गुणो को प्रकट न करना।

—समीचीन धर्मशास्त्र, श्लोक १५.

२. जैसे राजीमती ने रथनेमी को धर्म मे स्थिर किया था।

देखिए—परिशिष्ट २.

३. परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणं वावि।
वावन्नकुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ॥

—उ० २८.२८.

४. दंडाणं गारवाणं च सल्लाणं च तियं तियं।
जे भिक्खू चयई निच्चं से न अच्छइ मंडले ॥

—उ० ३१.४.

तथा देखिए—उ० १६.६०,६२; २७.६; ३०.३;३१.१०.

काया से दूसरों को पीड़ित करने के कारण तीन प्रकार का **दण्ड** (Hurtful acts); माया (कुटिलता), निदान (पुण्यकर्म की फलाभिलाषा) और मिथ्यात्व ये तीन **शल्य** (Delusive acts); धन-सम्पत्ति या ऋद्धि आदि की प्राप्ति का घमण्ड, रसना इन्द्रिय की संतुष्टि का घमण्ड और सुख-प्राप्ति (साता) का घमण्ड ये तीन **गौरव** (Conceited acts) तथा जाति, कुल, सौन्दर्य, शक्ति, लाभ (धनादि की प्राप्ति), श्रुतज्ञान, ऐश्वर्य और तपस्या ये आठ प्रकार के **मद** (Pride)। इन १७ प्रकार के दोषों में से तीन प्रकार के गौरव तथा आठ प्रकार के मद अहंकाररूप हैं। तीन प्रकार के दण्ड क्रोध-कषायरूप और तीन प्रकार के शल्य माया तथा लोभ-कषायरूप हैं। अतः सम्यक्त्व की दृढ़ता के लिए इन दोषरूप कषायों का त्याग आवश्यक है।

सम्यग्दर्शन के भेद :

सामान्यतया कर्म-सिद्धान्त के अनुसार सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति दर्शनमोहनीय कर्म के उदय (फलोन्मुख) में न होने से (क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से) एक ही प्रकार से होती है। उत्पत्ति में निमित्तकारण की अपेक्षा से ग्रन्थ में सम्यक्त्व के जिन १० प्रकारों को गिनाया गया है वे अधोलिखित हैं:[1]

१. **निसर्गरुचि**—स्वतः उत्पन्न। गुरु आदि के उपदेश के बिना ही जाति-स्मरण आदि के होने पर स्वतः जीवादि तथ्यों में श्रद्धा होना कि ये वैसे ही हैं जैसे जिनेन्द्र भगवान् ने देखे हैं, अन्यथा नहीं हैं।[2]

---

१. निसग्गुवएसरुई आणारुई सुत्त बीयरुइमेव ।
अभिगम वित्थाररुई किरिया-संखेव धम्मरुई ॥
—उ० २८.१६.

२. भूयत्थेणाहिगया जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
सहसम्मुइयासवसंवरो य रोएइ उ निसग्गो ॥
जो जिणदिट्ठे भावे चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव ।
एमेव नन्नहत्ति य स निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥
—उ० २८.१७-१८.

२. **उपदेशरुचि**—गुरु आदि के उपदेश से जीवादि तथ्यों में श्रद्धा होना।[1] इसकी उत्पत्ति में परोपदेश निमित्तकारण है।

३. **आज्ञारुचि**—गुरु आदि के आदेश (आज्ञा) से तथ्यों में श्रद्धा करना अर्थात् गुरु ने ऐसा कहा है अतः सत्य है, ऐसी श्रद्धा होना।[2] उपदेशरुचि में गुरु के उपदेश की प्रधानता रहती है और आज्ञारुचि में गुरु के आदेश की प्रधानता रहती है। उपदेश-रुचि में गुरु तथ्यों को सिर्फ समझाता है और आज्ञारुचि में आदेश देता है कि तुम ऐसी श्रद्धा करो। यही दोनों में भेद है।

४. **सूत्ररुचि**—'सूत्र' शब्द का अर्थ है—अंग या अंगबाह्य जैन-आगम सूत्र-ग्रन्थ। अतः सूत्र-ग्रन्थो के अध्ययन से जीवादि तथ्यों में श्रद्धा होना सूत्ररुचि है।[3]

५. **बीजरुचि**—जो सम्यग्दर्शन एक पद-ज्ञान से अनेक पदार्थ-ज्ञानों मे फैल जाता है उसे बीजरुचि कहते हैं।[4] इस प्रकार

यो हि जातिस्मरणप्रतिभादिरूपया स्वमत्याऽवगतान् सद्भूतान् जीवादीन् पदार्थान् श्रद्दधाति स निसर्गरुचिरिति भावः।

—स्थानाङ्गसूत्र (१०.७५१) वृत्ति, पृ० ४७७.

१. एए चेव उ भावे उवइट्ठे जो सद्दहई।
छउमत्थेण जिणेण व उवएसरुइ त्ति नायव्वो॥

—उ० २८.१९.

२. रागो दोसो मोहो अन्नाणं जस्स अवगयं होइ।
आणाए रोयंतो सो खलु आणारुई नाम॥

—उ० २८.२०

जो हेउमयाणतो आणाए रोयए पवयणं तु।
एमेव नन्नहत्ति य एसो आणारुई नाम॥
—प्रज्ञापनासूत्र, १.७४.५ (पृ० १७६).

३. जो सुत्तमहिज्जंतो सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं।
अंगेण बाहिरेण व सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो॥

—उ० २८.२१.

४. एगेण अणेगाइं पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं।
उदए व्व तेल्लबिंदु सो बीयरुइ त्ति नायव्वो॥

—उ० २८.२२.

के सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए अंग और अंगबाह्य आगमग्रन्थों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं पड़ती है अपितु जल में डाली गई बीजरूप तेल की एक बूंद की तरह थोड़े से ही पदार्थ-ज्ञान से यह उत्पन्न होकर सर्वत्र फैल जाता है।

६ **अभिगमरुचि**—अंग और अंगबाह्य सूत्र-ग्रन्थों के अर्थज्ञान से उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दर्शन।[1] सूत्ररुचि सम्यग्दर्शन में अर्थ-ज्ञान अपेक्षित नहीं है जबकि अभिगमरुचि में सूत्र-ग्रन्थों का अर्थज्ञान भी अपेक्षित है। यही इन दोनों में भेद है।

७. **विस्ताररुचि**—ज्ञान के सभी स्रोतों[2] के द्वारा जीवादि द्रव्यों के समझने पर उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दर्शन।[3] इस तरह यह विस्तार के साथ जीवादि द्रव्यों के समझने के बाद उत्पन्न होता है। अतः अभिगमरुचि की अपेक्षा यह अधिक विलम्ब से होता है। यही इन दोनों मे भेद है।

८. **क्रियारुचि**—रत्नत्रयसम्बन्धी धार्मिक क्रियाओं को करते रहने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे 'क्रियारुचि' कहते हैं।[4] कभी-कभी ऐसा होता है कि व्यक्ति परम्परावश या किसी अन्य निमित्तवश धार्मिक-क्रियाओं को करता रहता है परन्तु उसकी

---

१. सो होइ अभिगमरुई सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं।
एक्कारस अंगाइं पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ॥
—उ० २८.२१.

२. ज्ञान के मुख्य दो स्रोत हैं—प्रमाण और नय। वस्तु के सकलदेश को विषय करने वाला 'प्रमाण' तथा एकदेश को विषय करने वाला 'नय' कहलाता है।
देखिए—त० सू० १.६.

३. दव्वाण सव्वभावा सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा।
सव्वाहिं नयविहीहिं वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥
—उ० २८.२४.

४. दंसणनाणचरित्ते तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई सो खलु किरियारुई नाम ॥
—उ० २८.२५.

श्रद्धा दृढ नही होती है। धीरे-धीरे उन क्रियाओं को करते रहने पर एक दिन उसे दृढ-श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है। अतः धार्मिक-क्रियाएँ करते रहने से इसकी उत्पत्ति होने के कारण इसे क्रियारुचि कहा गया है।

९. **संक्षेपरुचि**—नाना प्रकार के मतवादो में न पड़कर जैन-प्रवचन में श्रद्धा करना सक्षेपरुचि है।[1] बीजरुचि में संक्षेप से विस्तार की ओर प्रवृत्ति होती है और सक्षेपरुचि में विस्तार नही होता है क्योंकि संक्षेपरुचिवाला न तो नाना प्रकार के मतवादों में पड़ता है और न जिन-प्रवचन में पाण्डित्य ही प्राप्त करता है जबकि बीजरुचिवाला शीघ्र ही पाण्डित्य को प्राप्त कर लेता है। यही दोनों मे अन्तर है।

१०. **धर्मरुचि**—जिन-प्रणीत धर्म में श्रद्धा करना धर्मरुचि है। इसकी उत्पत्ति धार्मिक विश्वास से होती है।[2] क्रियारुचि में धार्मिक-क्रियाओ की प्रधानता है और धर्मरुचि मे धार्मिक-भावना की प्रधानता है। यही दोनो मे भेद है।

उपर्युक्त १० प्रकार के सम्यक्त्व के भेदो को देखने से ज्ञात होता है कि ये सभी भेद उत्पत्ति की निमित्तकारणता को लेकर किए गये हैं। इनके साथ जो 'रुचि' शब्द जोड़ा गया है वह श्रद्धापरक है क्योंकि सम्यग्दर्शन के जो ये १० भेद किए गए हैं वे यह बतलाते हैं कि निसर्गादि की विशेषता को लिए हुए जीवादि तथ्यो मे रुचिरूप सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।[3]

स्थानाङ्ग और प्रज्ञापना इन दो सूत्र-ग्रन्थों में भी सम्यग्दर्शन के इन १० भेदों का इसी प्रकार से उल्लेख मिलता है। परन्तु

---

१. अणभिग्गहियकुदिट्ठी संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो।
अविसारओ पवयणे अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥
—उ० २८.२६.

२. जो अत्थिकायधम्मं सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च।
सद्दहइ जिणाभिहियं सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥
—उ० २८.२७.

३. देखिए—पृ० २०१, पा० टि० २.

वहाँ पर सामान्य सम्यग्दर्शन के ये भेद नहीं गिनाए हैं अपितु सम्यग्दर्शन के धारक सम्यग्दृष्टि के प्रथमतः 'सराग' और 'वीतराग' के भेद से दो भेद करके सराग-सम्यग्दृष्टि के ये भेद गिनाए गए हैं।[1] इसके अतिरिक्त इन १० भेदों का व्याख्यान करते समय स्थानाङ्ग-सूत्र के वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि तथा प्रज्ञापना-सूत्र के रचयिता श्री आर्यश्याम उत्तराध्ययन की गाथाओं को ज्यों की त्यों उद्धृत करते हैं।[2]

गुणभद्ररचित आत्मानुशासन में भी सम्यक्त्व के इन १० भेदों का उल्लेख मिलता है परन्तु वहाँ पर उनके साथ रुचि शब्द नहीं जोड़ा गया है तथा उनके नाम एवं क्रम में भी कुछ अन्तर है।[3] आत्मानुशासन के हिन्दी टीकाकार प० वशीधर ने इन भेदों का आधार न केवल उत्पत्ति की निमित्तकारणता को स्वीकार किया है अपितु स्वरूप की हीनाधिकता को भी कारण बतलाया है।[4] परन्तु याकोबी ने ग्रन्थोक्त सभी भेदों को उत्पत्तिमूलक ही माना है।[5]

निमित्तकारण की विविधता के कारण यद्यपि सम्यग्दर्शन के अनेक भेद हो सकते हैं तथापि उत्पत्ति के प्रति निमित्तकारण की अपेक्षा और अनपेक्षा की दृष्टि से संक्षेप में इन्हें दो भागों में बाँटा

---

१ दसविधे सरागसम्मद्दंसणे पन्नत्ते, तं जहा—
निसग्गुवतेसरुई आणरुती सुत्त बीजरुतिमेव ।
अभिगम वित्थाररुती किरिया सखेव धम्मरुती ॥
—स्थानाङ्गसूत्र १०.७५१ (पृ० ४७६).
से किं तं सरागदंसणारिया ? सरागदंसणारिया दसविहा पन्नत्ता। तं जहा—निसग्गुव० ।
—प्रज्ञापना, पद १, सूत्र ७४, पृ. १७८.

२. वही ।

३. आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात् सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढे च ॥
—आत्मानुशासन, श्लोक ११.
तथा देखिए—वही, श्लोक १२-१४.

४. आत्मानुशासन, पृ० १८.

५. से० बु० ई०, पृ० १५४.

जा सकता है, जैसा कि सम्यक्त्व के लक्षण से भी स्पष्ट है :[1] १. स्वतः उत्पन्न होने वाला और २. पर के निमित्त से उत्पन्न होने वाला। तत्त्वार्थसूत्र में भी ऐसा ही कहा है।[2] यदि उपर्युक्त १० भेदों को इन दो भागों में विभक्त किया जाए तो निसर्गरुचि को छोड़कर शेष सभी पर-सापेक्ष हैं। इसके अतिरिक्त आवरक कर्मों के क्षय, उपशम एवं क्षयोपशम (मिश्र) के भेद से सम्यग्दर्शन के अन्य तीन भेद भी सम्भव हैं।[3]

महत्त्व–यह सम्यग्दर्शन धर्म का मूलाधार है। इसके अभाव में ज्ञान और चारित्र आधारहीन हैं। यद्यपि यह सत्य है कि ज्ञान और चारित्र में वृद्धि होने पर सम्यग्दर्शन में वृद्धि होती है परन्तु ज्ञान और चारित्र में सम्यक्पना तभी संभव है जब सम्यग्दर्शन हो। अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति को ग्रन्थ में 'बोधिलाभ' शब्द से भी कहा गया है।[4] इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर जीव मुक्ति के पथ पर अग्रसर हो जाता है और धीरे-धीरे ज्ञान और चारित्र की पूर्णता को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[5] सम्यग्दर्शन का इतना महत्त्व होने के ही कारण ग्रन्थ के २९ वें अध्ययन का नाम 'सम्यक्त्व-पराक्रम' रखा गया है जबकि उसमें सम्यक्त्व

---

१. देखिए—पृ० १९७, पा० टि० २.

२. तन्निसर्गादधिगमाद्वा।

—त० सू० १-३

३. कर्मणां क्षयतः शान्तेः क्षयोपशमतस्तथा।
श्रद्धानं त्रिविधं बोध्यं ·····।

—यशस्तिलकचम्पू, पृ० ३२३.

४. सम्मद्दंसणरत्ता ····· तेसिं सुलहा भवे बोही।

—उ० ३६.२५९.

तथा देखिए—उ० ३६. २५८-२६२.

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥

—मनुस्मृति ६.७४.

५. वही; तथा पृ० १९८, पा० टि० २.

के साथ ज्ञान और चारित्र का भी वर्णन किया गया है। परवर्ती जैन-साहित्य में इसके महत्त्व की काफी चर्चा मिलती है।[1]

सम्यग्ज्ञान (सम्यग्ज्ञान)

सम्यग्ज्ञान का अर्थ है—सत्यज्ञान। यहाँ सत्यज्ञान से तात्पर्य घट-पटादि सांसारिक वस्तुओं को जानना मात्र नहीं है अपितु मोक्ष-प्राप्ति में सहायक ९ तथ्यों का ज्ञान अभिप्रेत है अर्थात् सम्यग्दर्शन से जिन ९ तथ्यों पर विश्वास किया गया था उनको विधिवत जानना।[2] इसके अतिरिक्त जितना भी सांसारिक फलाभिलाषा वाला ज्ञान है वह सब मिथ्या है क्योंकि वह दुःख-निवृत्तिरूप मुक्ति के प्रति अनुपयोगी है। अतः 'स्त्री, पुत्र, धन आदि सुख के साधन हैं' ऐसा ज्ञान भी मिथ्या है। सत्यज्ञान वही है जो हमेशा रहे। ग्रन्थ में उल्लिखित सांसारिक विषयभोगों से सम्बन्धित २९ प्रकार के मिथ्याशास्त्रों[3] (पापश्रुत—मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करने

---

१. देखिए—समीचीन धर्मशास्त्र, पृ० ३१-४१.

२. देखिए—पृ० १८८, पा० टि० ४; उ० २८.५.

३. उनतीस प्रकार के मिथ्याशास्त्र (पापश्रुत) ये हैं: १. दिव्य-अट्टहासादि को बतलाने वाले, २. उल्कापात आदि का इष्टानिष्ट फल बतलाने वाले, ३. अन्तरिक्ष में होने वाले चन्द्रग्रहण आदि का फल बतलाने वाले, ४. अङ्गस्फुरण का शुभाशुभ फल बतलाने वाले, ५. स्वरों का फल बतलाने वाले, ६. स्त्री-पुरुषों के लक्षणों का शुभाशुभ फल बतलाने वाले, ७. तिल, माषा आदि का फल बतलाने वाले, ८. भूकम्प-विषयक शुभाशुभ फल बतलाने वाले। ये ८ प्रकार के शास्त्र ही मूल, टीका और भाष्य (सूत्र-वृत्ति-वार्तिक) के भेद से २४ प्रकार के हैं। २५. अर्थ और काम-भोग के उपायों को बतलाने वाले अर्थशास्त्र, कामसूत्र आदि, २६. रोहिणी आदि विद्याओं की सिद्धि बतलाने वाले, २७. मन्त्रादि से कार्यसिद्धि बतलाने वाले, २८. वशीकरण आदि योगविद्या को बतलाने वाले और २९. जैनेतर उपदेशकों द्वारा उपदिष्ट हिंसादिप्रधान शास्त्र।
—उ० ने० वृ०, पृ० ३४९; आ० टी०, पृ० १४०२; श्रमणसूत्र, पृ० १९२; समवायाङ्ग, समवाय २९.

वाले) से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।[1] इस तरह जो ज्ञान संसार के विषयसुखों की ओर ले जाता है वह मिथ्या है तथा जो मुक्ति की ओर अभिमुख करता है वह सत्य है। इसका कारण है कि सांसारिक विषयभोग व तज्जन्य सुख अनित्य व आभासमात्र (मिथ्या) हैं जबकि मुक्ति व जीवादि नवतथ्य त्रिकालसत्य हैं।

ज्ञान के प्रमुख पाँच प्रकार :

ज्ञान के आवरक पाँच प्रकार के कर्मों के स्वीकार करने से तत्तत् आवरक कर्मों के उदय में न रहने रूप पाँच प्रकार के ज्ञान स्वीकार किए गए हैं। जैसे : १. शास्त्रज्ञान (श्रुतज्ञान), २. इन्द्रिय-मनोनिमित्तक ज्ञान (आभिनिबोधिकज्ञान–मतिज्ञान), ३. कुछ सीमा को लिए हुए रूपी पदार्थ विषयक प्रत्यक्षात्मक दिव्यज्ञान (अवधिज्ञान), ४. दूसरे व्यक्ति के मन के विकल्पों में चिन्तनीय रूपी-पदार्थ को जाननेवाला रूपी-पदार्थविषयक प्रत्यक्षात्मक दिव्यज्ञान (मन:पर्यायज्ञान) और ५. त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों का पूर्ण व असीम प्रत्यक्षात्मक दिव्यज्ञान (केवलज्ञान)।

इनमें अन्त के तीन ज्ञान क्रमशः उच्च, उच्चतर और उच्चतम दिव्यज्ञान की अवस्थाएँ हैं तथा इन तीनों ज्ञानों में इन्द्रियादि की सहायता आवश्यक नहीं होती है। यद्यपि ग्रन्थ में इनके स्वरूपादि का विशेष विचार नहीं किया गया है तथापि इनके विषय में कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं :

१. **श्रुतज्ञान**—इसका सामान्य अर्थ है—शब्दजन्य शास्त्रज्ञान। परन्तु सम्यक् श्रुतज्ञान वही है जो जिनोपदिष्ट प्रामाणिक शास्त्रों से होता है। जिनोपदिष्ट प्रामाणिक ग्रन्थ अङ्ग (प्रधान) और अङ्गबाह्य (अप्रधान) के भेद से दो प्रकार के हैं। अतः श्रुतज्ञान भी जैनदर्शन में प्रथमतः दो प्रकार का माना गया है। अङ्ग

---

१. पावसुयपसंगेसु

—उ० ३१.१९.

२. तत्थ पंचविहं नाणं सुयं आभिनिबोहियं।
ओहिनाणं तु तइयं मणनाणं च केवलं॥

—उ० २८.४.

ग्रन्थों की संख्या १२ होने से अङ्ग-विषयक श्रुतज्ञान भी १२ प्रकार का है तथा अङ्गबाह्य-ग्रन्थों की कोई सीमा नियत न होने से अङ्गबाह्य-विषयक श्रुतज्ञान भी अनेक प्रकार का है।[1] अङ्ग-ग्रन्थों की प्रधानता होने से ग्रन्थ में समस्त श्रुतज्ञान को द्वादशाङ्ग का विस्तार बतलाया गया है।[2] इसके अतिरिक्त द्वादशाङ्ग के वेत्ता को 'बहुश्रुत' कहा गया है तथा 'बहुश्रुत' के महत्त्व को प्रकट करने के लिए ग्रन्थ में निम्नोक्त १६ दृष्टान्तों से उसकी प्रशंसा की गई है :[3]

१. शंख में रखे हुए दूध की तरह अनिर्वचनीय शोभा-सम्पन्न, २. कम्बोजदेशोत्पन्न श्रेष्ठ अश्व की तरह कीर्ति-सम्पन्न, ३. श्रेष्ठ अश्व पर सवार सुभट की तरह अपराजेय, ४. हथिनियों से घिरे हुए साठ वर्ष के बलवान् हाथी की तरह अपने शिष्य-परिवार से परिवृत्त, ५. तीक्ष्ण शृङ्ग (सींग) और उन्नत स्कन्धवाले बैल की तरह शोभा-सम्पन्न, ६. तीक्ष्ण दंष्ट्रावाले प्रबल सिंह की तरह प्रधान, ७. शंख-चक्र-गदाधारी अप्रतिहत बलवान् योद्धा वासुदेव की तरह विजेता, ८. चौदह रत्नधारी व ऋद्धिधारी चक्रवर्ती राजा की तरह श्रेष्ठ, ९. हजार नेत्रों वाले वज्रपाणि देवाधिपति इन्द्र की तरह श्रेष्ठ, १०. अन्धकारविनाशक उदीयमान तेजस्वी सूर्य की तरह दीप्ति-सम्पन्न, ११. नक्षत्रों से घिरे हुए पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह शोभा-सम्पन्न, १२. अनेक प्रकार के धन-धान्य से भरे हुए सुरक्षित कोष्ठागार की तरह परिपूर्ण, १३. वृक्षों में श्रेष्ठ सुदर्शन नामधारी जम्बूवृक्ष की तरह श्रेष्ठ, १४. नीलवंत

---

१. श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।
—त० सू० १.२०.
तथा देखिए—पृ० २०२, पा० टि० १; पृ० २०३, पा०टि० १.

२. देखिए—पृ० ३, पा० टि० २.

३. जहा संखम्मि पयं निहियं दुहओ वि विरायइ ।
एवं बहुस्सुए भिक्खू धम्मो कित्ती तहा सुयं ॥
....
समुद्दगंभीरसमा दुरासया अचक्किया केणइ दुप्पहंसया ।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥
—उ० ११. १५-३१.

पर्वत से निकली हुई व समुद्र की ओर जानेवाली नदियों में श्रेष्ठ 'शीता' नदी की तरह शोभा-सम्पन्न, १५ नाना औषधियों से देदीप्यमान पर्वतों में श्रेष्ठ अतिविस्तृत 'सुमेरु' (मन्दार) पर्वत की तरह प्रधान और १६. अक्षय जल व नाना रत्नों से भरे हुए 'स्वयम्भूरमण' समुद्र की तरह गम्भीर।

ये सभी दृष्टान्त साभिप्राय विशेषणों से युक्त हैं जिनसे श्रुतज्ञानी के स्वाभाविक गुणों पर प्रकाश पड़ता है। जैसे[1] श्रुतज्ञानी समुद्र की तरह गम्भीर, प्रतिवादियो से अपराजेय, अतिरस्कृत, विस्तृत श्रुतज्ञान से पूर्ण, जीवों का रक्षक, कर्म-क्षयकर्त्ता, उत्तम अर्थ की गवेषणा करने वाला और स्व-पर को मुक्ति प्राप्त कराने वाला होता है। इसी तरह श्रुतज्ञानी के अन्य अनेक गुण स्वतः समझे जा सकते हैं। सत्यज्ञान की प्राप्ति में शास्त्रों का स्थान प्रमुख होने से श्रुतज्ञानी की बहुत्र प्रशसा करके उसका फल मुक्ति बतलाया गया है।[2]

२. **आभिनिबोधिकज्ञान**—चक्षु आदि इन्द्रियों और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'आभिनिबोधिक' कहलाता है। जैन-दर्शन में इसका प्रचलित नाम 'मतिज्ञान' है क्योंकि यह इन्द्रियादि की सहायता से होता है। तत्त्वार्थसूत्र में मति (वर्तमान को विषय करने वाली), स्मृति (अतीत-विषयक अर्थात् पूर्व में अनुभव की गई वस्तु को स्मरण कराने वाली), संज्ञा (अतीत और वर्तमान को विषय करनेवाली अर्थात् 'यह वही है' इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञानरूप), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (सामान्यज्ञानरूप अनुमान) को एकार्थवाचक बतलाया है[3] क्योंकि इन सब ज्ञानों की उत्पत्ति में इन्द्रियादि की सहायता रहती है। इसी प्रकार आवश्यक-निर्युक्ति में भी अभिनिबोध के ईहा (प्रथम क्षण देखे गए पदार्थ के विषय में विशेष जानने की चेष्टारूप ज्ञान) आदि कई पर्याय-

१. वही; तथा उ० ११. ३२; २६.२४,५६; १०.१८; ३. १, २०.

२. वही (उ० ११.३१; २६.५६)।

३. मतिः स्मृतिःसंज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।
—त० सू० १.१३.

वाची नाम मिलते हैं।[1] इससे प्रतीत होता है कि इन्द्रिय और मन की सहायता से होनेवाला समस्त ज्ञान आभिनिबोधिक ही है। दिगम्बर[2] और श्वेताम्बर प्राचीन ग्रन्थों में 'मतिज्ञान' के अर्थ में 'आभिनिबोधिक' नाम मिलने से प्रतीत होता है कि इसका प्राचीन प्रचलित नाम आभिनिबोधिक ही था। इस ज्ञान के विषय में एक अन्य अन्तर दृष्टिगोचर होता है, वह यह कि सामान्यरूप से जैनदर्शन में सर्वत्र शब्दज्ञान के पूर्व इन्द्रियज्ञान (आभिनिबोधिक—मतिज्ञान) को स्वीकार किया गया है[3] जबकि प्रकृत ग्रन्थ में इन्द्रियज्ञान के पूर्व शब्दज्ञान को गिनाया गया है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि 'शास्त्रज्ञान' का महत्त्व प्रकट करने के लिए प्रकृत ग्रन्थ में शास्त्रज्ञान को पहले गिनाया गया हो और बाद में ज्ञान की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता के आधार से क्रम निर्धारित किया गया हो। इसी प्रकार इनके आवरक कर्मों के नाम व क्रम में भी अन्तर है। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जैनदर्शन में श्रुतज्ञान और आभिनिबोधिकज्ञान की उत्पत्ति पर-सापेक्ष (शास्त्र व इन्द्रियादि सापेक्ष) होने से इन दोनों को 'परोक्षज्ञान' (अप्रत्यक्ष) माना गया है तथा बाद के तीन ज्ञानों को साक्षात् आत्मा से ही प्रकट होने के कारण (पर-सापेक्ष न होने से) प्रत्यक्ष स्वीकार किया गया है।[4] वर्तमान में व्यवहार को चलाने के

---

१. ईहा अपोह वीमंसा मग्गणा य गवेसणा।
सण्णा सई मई पण्णा सव्वं आभिणिबोहियं॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२.

२. मावपमाणं पंचविहं, आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं मणपज्ज-वणाणं केवलणाणं चेदि।
धवलाटीका—षट्खण्डागम, पुस्तक १ (१.१.१), पृ० ८०.
आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते॥
—पञ्चास्तिकाय, गाथा ४१.

३. श्रुतं मतिपूर्वम्।
—त० सू० १.२०.

४. आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।
—त० सू० १.११-१२.

लिए इन्द्रियज्ञान को सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष कहा जाने लगा है और बाद के तीन ज्ञानों को परमार्थ (मुख्य) प्रत्यक्ष। इतना विशेष है कि स्मृति आदि सभी आभिनिबोधिकज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नहीं माना जाता है अपितु इन्द्रिय-मनोनिमित्तक वर्तमान-विषयक ज्ञान (मतिज्ञान) को ही सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष माना जाता है[1] और शेष अतीतादिविषयक स्मृति आदि सभी ज्ञानों को परोक्ष ही माना जाता है।[2]

३. अवधिज्ञान—अवधि का अर्थ है—सीमा। अतः इन्द्रियादि की सहायता के बिना कुछ सीमा को लिए हुए जो रूपी-पदार्थ के विषय में अन्तःसाक्ष्यरूप ज्ञान होता है वह 'अवधिज्ञान' कहलाता है।[3] इस ज्ञान में अरूपी द्रव्यों का साक्षात्कार नहीं होता है। यह दिव्य-ज्ञान की प्रथम अवस्था है।

४. मनःपर्यायज्ञान—दूसरों के मनोगत विचारों को जानने की शक्ति के कारण इसे 'मनःपर्यायज्ञान' कहा जाता है। यह दिव्यज्ञान

---

१. तत्प्रत्यक्षं द्विविधम्—सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति। तत्र देशतो विशदं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्॥

—न्यायदीपिका, पृ० ११.

विशदः प्रत्यक्षम्। प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्। तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम्।...तत्ता-रतम्येऽवधिमनःपर्यायौ च। ... ...इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावाय-धारणात्मा सांव्यवहारिकम्।

—प्रमाणमीमांसा १.१.१३-२०.

२. अविशदः परोक्षम्। स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः।

—प्रमाणमीमांसा १.२.१-२.

३. रूपिष्ववधेः।

—त० सू० १.२७.

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्। क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।

—त० सू० १. २१-२२.

की दूसरी अवस्था है और अवधिज्ञान से श्रेष्ठ है। इस ज्ञान की उत्पत्ति भावों की विशेष निर्मलता और तपस्या आदि के प्रभाव से होती है।[1] सरल और जटिल इन दो प्रकार के विचारों को जानने के कारण तत्त्वार्थसूत्र में इस ज्ञान के दो भेद किये गए हैं।[2] इतना विशेष है कि इस ज्ञान के द्वारा दूसरे के मन में चिन्तनीय रूपी-द्रव्यों का ही बोध होता है, अरूपी का नहीं।[3]

५. **केवलज्ञान**—त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों का एक साथ ज्ञान होना।[4] यह दिव्यज्ञान की सर्वोच्च अवस्था है। इस ज्ञान के उत्पन्न होने पर त्रिकालवर्ती ऐसा कोई भी द्रव्य नही बचता है जो इस ज्ञान का विषय न होता हो। यह पूर्ण एवं असीम ज्ञान है। इससे श्रेष्ठ कोई अन्य ज्ञान न होने के कारण ग्रन्थ मे इसे अनुत्तर, अनन्त, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, आवरण-रहित, अन्धकार-रहित, विशुद्ध तथा लोकालोक-प्रकाशक बतलाया गया है।[5] इसके अतिरिक्त इस ज्ञान के धारणकरनेवाले को केवली, केवलज्ञानी तथा सर्वज्ञ कहा गया है।[6] इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर जीव उसी प्रकार सुशोभित होता है जिस प्रकार आकाश में सूर्य।[7]

---

१. विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्ययोः।
—त० सू० १.२५.

२. ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः।
—त० सू० १.२३-२४.

३ देखिए—पृ० १५५, पा टि० १.

४. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।
—त०सू० १.२९.

५. तओ पच्छा अणुत्तरं, अणंतं, कसिणं, पडिपुण्णं, निरावरणं, वितिमिरं, विसुद्धं लोगालोगप्पभावं केवलवरनाणदंसणं समुप्पादेइ।
—उ० २९.७१.

६. उग्गं तवं चरित्ताणं जाया दोण्णि वि केवली।
—उ० २२. ५०.

तथा देखिए—उ० २३.१ आदि।

७. स नाण नाणोवगए महेसी अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं।
अणुत्तरे नाणधरे जसंसी ओभासई सूरिए वन्तलिक्खे॥
—उ० २१.२३.

इस ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर जीव शेष कर्मों को शीघ्र नष्ट करके नियम से मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।[1]

इस तरह इन पाँच प्रकार के ज्ञानों में प्रथम दो ज्ञान इन्द्रियादि की सहायता से उत्पन्न होते हैं और ये किसी न किसी रूप में प्रायः सभी जीवों में पाए जाते हैं।[2] यदि ऐसा न माना जाएगा तो जीव में जीवत्व ही न रहेगा क्योंकि चेतना को जीव का लक्षण स्वीकार किया गया है और चेतना दर्शन व ज्ञानरूप स्वीकार की गई है। शेष तीन ज्ञान दिव्यज्ञान की उच्च, उच्चतर और उच्चतम अवस्थाएँ है। इनकी प्राप्ति तपस्या आदि के प्रभाव से किन्हीं-किन्हीं को होती है। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जैनदर्शन में इन पाँचों ज्ञानों में ही प्रमाणता स्वीकार की गई है, नैयायिकों की तरह इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष में नहीं।[3]

गुरु-शिष्यसम्बन्ध :

ज्ञानप्राप्ति के प्रमुख साधन शास्त्र थे और शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु के समीप जाना पड़ता था। गुरु प्रायः अरण्य में रहते थे और वे सांसारिक विषय-भोगों से विरक्त साधु हुआ करते थे। विद्यार्थी उनके समीप में रहकर उनकी आज्ञानुसार अध्ययन किया करते थे। उन विद्यार्थियों में कुछ विनम्र (विनीत) और कुछ अविनम्र (अविनीत) होते थे।

---

१. जाव सजोगी भवइ, ताव इरियावहियं कम्मं निबंधइ, सुहफरिसं दुसमयठिइयं। तं जहा – पढमसमये बद्धं, बिइयसमए वेइयं, तइयसमये निज्जिण्णं, तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ।

—उ० २९.७१

तथा देखिए—उ० २९.७२.

२. एकादीनी भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः।

—त० सू० १.३१.

तथा देखिए—सर्वार्थसिद्धि १.३१, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ४७४-४७६.

३. तत्प्रमाणे।

—त० सू० १.१०.

तथा देखिए—सर्वार्थसिद्धि १.१०.

विनीत (उत्तम) विद्यार्थी के गुण—ग्रन्थ में उत्तम विद्यार्थी को विनीत कहा गया है और विनीत विद्यार्थी के निम्नोक्त १५ गुण आवश्यक बतलाए हैं :[1]

१. हर प्रकार से नम्र, २. चपलता से रहित, ३. छल-कपट से रहित, ४. कौतूहल से रहित, ५. अल्पभाषी, ६. अतिक्रोध को अधिक समय तक न रखना, ७. मित्रता का व्यवहार करना, ८. ज्ञान प्राप्त करके घमण्ड न करना, ९. दूसरों के दोषों को प्रकट न करना, १०. मित्रों पर क्रोध न करना, ११. शत्रु के प्रति परोक्ष में भी कल्याण की भावना रखना, १२. कलह व हिंसा न करना, १३. ज्ञान के विषय में जागरूक रहना, १४. लज्जाशील होना और १५. सहनशील होना ।

इन १५ गुणों के समान ही ग्रन्थ में गुरु के प्रति शिष्य के कुछ अन्य कर्तव्यों का भी उल्लेख मिलता है जिनसे उत्तम व विनीत विद्यार्थी के गुणो पर प्रकाश पड़ता है । वे कर्तव्य इस प्रकार हैं :

१ बिना पूछे व्यर्थ न बोलना (अल्पभाषी)[2], २. सत्य बोलना (क्रोधादि के वशीभूत होकर कुछ छिपाना नहीं)[3], ३. गुरु के प्रिय एव अप्रिय वचनो को कल्याणकारी समझते हुए उन्हें चुपचाप सुनना तथा किसी प्रकार भी उन्हें क्रोधित न करते हुए क्षमा-याचना करना[4], ४. गुरु के दोषों का अन्वेषण न करना[5], ५. गुरु की

---

१. अह पन्नरसहिं ठाणेहिं सुविणीए त्ति वुच्चई ।
नीयावत्ती अचवले अमाई अकुऊहले ॥
—उ० ११.१०.

तथा देखिए—उ० ११. ११-१३.

२. नापुट्ठो वागरे किंचि पुट्ठो वा नालियं वए ॥
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा धारेज्जा पियमप्पियं ।
—उ० १.१४.

तथा देखिए—उ० १.९,११,३९-४१.

३. वही ।

४. वही ।

५. बुद्धोवघाई न सिया न सिया तोत्तगवेसए ।
—उ० १.४०.

आज्ञा का गुप्त या प्रकटरूप से कभी भी उल्लंघन न करके उनके कथनानुसार उसी प्रकार प्रवृत्ति करना जिस प्रकार एक सुशिक्षित घोड़ा चाबुक के इशारे से प्रवृत्ति करता है,[1] ६. गुरु के द्वारा प्रेरित किए बिना ही प्रेरित किए हुए की तरह गुरु के भावों को जानकर सदा सुन्दर कार्य करना[2], ७. गुरु की आज्ञा के बिना कुछ भी कार्य न करना[3], ८. गुरु के वचनों को अनसुना न करके बुलाए जाने पर उत्तर देना (मौन न रहना),[4] ९. गुरु के उपदेश को एकाग्रचित्त से सुनकर अर्थयुक्त बातों को ग्रहण करते हुए निरर्थक बातो को छोड़ देना[5], १०. किसी प्रकार का सन्देह होने पर विनम्रतापूर्वक गुरु से स्पष्ट कहना[6], ११. गुरु की सेवा करते हुए गुरु पर आए हुए विघ्नो का निवारण करना[7], १२. पाँच प्रकार के विनय, पाँच प्रकार के स्वाध्याय और दस प्रकार की

---

१. पडिणीयं च बुद्धाणं वाया अदुव कम्मुणा ।
आवी वा जइ वा रहस्से नेव कुज्जा कयाइवि ॥
—उ० १.१७

मा गलियस्सेव कसं वयणमिच्छे पुणो पुणो ।
कसं व दट्ठुमाइण्णे पावगं परिवज्जए ॥
—उ० १.१२.

तथा देखिए—उ० २६.१०.

२. वित्ते अचोइए निच्चं खिप्पं हवइ सुचोइए ।
जहोवइट्ठं सुकयं किच्चाई कुव्वई सया ॥
—उ० १.४४.

३. पुच्छिज्ज पजलिउडो कि कायव्व मए इह ।
—उ० २६.९.

४. आपरिएहिं वाहितो तुसिणीओ न कयाइवि ।
उ० १.२०.

तथा देखिए—उ० १.२१.

५. अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा निरट्ठाणि उ वज्जए ।
—उ० १.८.

तथा देखिए—उ० २०.१७,३८; ३०.१,४.

६. उ० २३.१३-१४; २५.१३.

७. उ० १२.१६,२४.

वैयावृत्य में यत्नवान रहना[१], १३. दूसरों से अपनी प्रशंसा सुनकर अभिमान न करते हुए और अधिक नम्रीभूत हो जाना—जैसे नमिराजर्षि इन्द्र के द्वारा स्तुति किए जाने पर और अधिक नम्रीभूत हो गये[२], १४. क्षुद्र-जनों का संसर्ग व उनके साथ हास्यादि क्रीड़ा न करना[३], १५ गुरु की अपेक्षा निम्न आसन ग्रहण करना—गुरु की बराबरी से, आगे, दृष्टि से ओझल होकर, अंग स्पर्श करते हुए, अधिक समीप, पैर फैलाकर, दोनों भुजाओं को जांघों पर रखकर, जांघों पर वस्त्र लपेटकर, अति समीप, अति दूर एवं अन्य इसी प्रकार के अविनय-सूचक आसनों से गुरु के पास न बैठना,[४] इसके अतिरिक्त जिस आसन पर वह बैठे वह चूं-चूं करने वाला, चलायमान एवं अस्थिर न हो[५], १६. आसन पर बैठे हुए निष्प्रयोजन न उठना, हाथ-पैर न चलाना तथा उत्तर-प्रत्युत्तर न करना अपितु आवश्यकता होने पर उठकर के गुरु से वार्तालाप करना[६], १७. शिक्षा-प्राप्ति के बाद उनके उपकार की कृतज्ञता को स्वीकार करते हुए विनयभाव से स्तुति करना आदि।[७]

---

१. उ० १०.३२-३४.

२. नमी नमेई अप्पाणं सक्खं सक्केण चोइओ।
—उ० ९.६१.

३. खड्डेहिं सह संसग्गिं हासं कीडं च वज्जए।
—उ० १.९.

४. न पक्खओ न पुरओ नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं सयणे नो पडिस्सुणे॥
नेव पल्हत्थियं कुज्जा पक्खपिण्डं च संजए।
पाए पसारिए वावि न चिट्ठे गुरुणंतिए॥
—उ० १.१८-१९.

तथा देखिए—उ० २०.७.

५. आसणे उवचिट्ठेज्जा अणुच्चे अकुए थिरे।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई निसीएज्जप्पकुक्कुए॥
—उ० १.३०.

६. वही।

७. उ० २०.५४-५९.

उपर्युक्त सभी गुणों का एकत्र समावेश करते हुए संक्षेप में ग्रन्थ में विनीत शिष्य का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—'गुरु की आज्ञा का पालन करनेवाला, उनके समीप रहनेवाला तथा उनके मनोगत-भाव व कायचेष्टा (इङ्गिताकार) को जाननेवाला विनयी कहलाता है।'[1] अर्थात् गुरु के मनोगतभावों को जानकर नम्रभाव से सदाचार में प्रवृत्ति करते हुए अध्ययन करने वाला शिष्य विनयी कहलाता है।

अविनीत विद्यार्थी के दोष—जो विनीत शिष्य के गुणों से रहित है वह 'अविनयी' कहलाता है। अतः ग्रन्थ में अविनयी शिष्य का स्वरूप बतलाते हुए कहा है--'गुरु की आज्ञानुसार न चलनेवाला, उनके समीप न रहनेवाला, विपरीत आचरण करनेवाला तथा विवेकहीन (जागरूक न रहनेवाला) अविनयी कहलाता है।'[2] अर्थात् गुरु के हार्दिक-भावों को न जानकर उनके विपरीत आचरण करते हुए स्वच्छन्द विचरण करनेवाला अविनीत शिष्य कहलाता है। बहुश्रुत अध्ययन मे अविनीत शिष्य के १४ दुर्गुण गिनाए हैं :[3]

१. बार-बार क्रोध करना, २. क्रोध को चिरस्थायी रखना, ३ मित्रता को त्यागना, ४ अपने ज्ञान का घमण्ड करना, ५ दूसरे के दोषों को खोजना और अपने दोषों को छिपाना, ६. मित्रो पर क्रोध करना, ७. प्रिय मित्र की परोक्ष में निन्दा

---

१. आणानिद्देसकरे गुरूणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने से विणीए त्ति वुच्चई॥
—उ० १.२.

२. आणाऽनिद्देसकरं गुरूणमणुववायकारए।
अडिणीए असंबुद्धे अविणीए त्ति वुच्चई॥
—उ० १.३.

३. अह चउद्दसहिं ठाणेहिं वट्टमाणे उ संजए।
अविणीए वुच्चई सो उ निव्वाणं च न गच्छइ॥
....
पइन्नवाई दुहिले थद्धे लुद्धे अनिग्गहे।
असंविभागी अवियत्ते अविणीए त्ति वुच्चई॥
—उ० ११.६-९.

करना, ८. असम्बद्ध व अधिक बोलना, ९. द्रोह करना, १०. अभिमान करना, ११. लोभ करना, १२. इन्द्रियों को अनुशासन में न रखकर स्वच्छन्द आचरण करना, १३. सहपाठियों के साथ सहयोग न करना, १४. दूसरों का अप्रिय करना।

इसी तरह अविनीत के और भी अनेक दुर्गुण हो सकते हैं। ग्रन्थ में अविनीत शिष्यों के इसी प्रकार के कुछ अन्य कार्यों का भी उल्लेख मिलता है जिनसे अविनीत शिष्य के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जैसे :

१. गुरु के द्वारा धर्मोपदेश दिए जाने पर बीच में बोलना, उनके वचनों में दोष निकालना व प्रतिकूल आचरण करना,[1] २. विषय-भोगों में निमग्न रहना, ३. चिरस्थायी क्रोध व अभिमान करना, ४. भिक्षा लाने में आलस्य करना, ५ भिक्षा माँगना अपमान-द्योतक समझकर भिक्षा लेने नहीं जाना,[2] ६. दुष्ट-वृषभ की तरह संयम में प्रवृत्ति न करना—जैसे कोई दुष्ट-वृषभ बैलगाड़ी में जोते जाने पर तथा गाड़ीवान द्वारा प्रेरित किए जाने पर भी आगे नहीं बढ़ता है तथा कभी समिला (जुए के छोर पर लगी लकड़ी या बाँस की छोटी कील) को तोड़ देता है, कभी क्रोधित होकर गाड़ी को लेकर उत्पथ में भाग जाता है, कभी समीप में बैठ जाता है, कभी गिर पड़ता है, कभी सो जाता है, कभी मडूक (मेंढक) की तरह उछलता-कूदता है, कभी तरुण गाय के पीछे भाग जाता है, कभी मृत की तरह स्थिर हो जाता है, कभी पीछे को भागता है, कभी लगाम

---

१ सो वि अंतरभासिल्लो दोसमेव पकुव्वई।
आयरियाणं तु वयणं पडिकूलेइऽभिक्खणं॥
—उ० २७.११.

२. इड्ढीगारविए एगे एगेऽत्थ रसगारवे।
सायागारविए एगे एगे सुचिरकोहणे॥
भिक्खालसिए एगे एगे ओमाणभीरुए।
थद्धे एगे अणुसासम्मी हेऊहिं कारणेहि य॥
—उ० २७.९-१०.

तोड़ देता है और अपने मालिक (गाड़ीवान) को भी पीड़ित करता है वैसे ही अविनीत शिष्य गुरु के द्वारा संयम में प्रवृत्ति के लिए प्रेरित किए जाने पर नाना प्रकार की कुचेष्टाएँ करते हुए गुरु को पीड़ित करता है,[1] ७. किसी कार्य के लिए आज्ञा देने पर नाना प्रकार के बहाने बनाना, जैसे—अमुक गृहस्थ या गृहिणी मुझे पहचानती नही, वह मुझे अन्नादि नही देगी, वह घर पर नही होगी, वहा जाना बेकार है, यदि भेजना ही है तो किसी दूसरे को भेज दो, यदि किसी तरह जाना भी तो इधर-उधर घूमकर वापिस आ जाना और पूछने पर बहाने बनाना अथवा राजाज्ञा की तरह अनिच्छापूर्वक भ्रकुटि चढ़ाकर कार्य करना,[2] ८. स्वादिष्ट अन्न को छोडकर विष्टा को खाने वाले शूकर की तरह सदाचार को छोड़कर स्वच्छन्द विचरण मे आनन्द मनाना[3] और ६. तैंतीस प्रकार की अविनयभूत अनुशासनहीनताओं (आशातनाओ) का आचरण करना ।[4]

---

१. उ० २७.४-८, १.१२.

२. न सा ममं वियाणाइ न वि सा मज्झ दाहिई ।
निगाया होहिई मन्ने साहू अन्नोत्थ वच्चउ ॥
पेसिया पलिउंचंति ते परियंति समंतओ ।
रायवेट्ठिं च मन्नंता करेंति भिउडिं मुहे ॥
—उ० २७ १२-१३.

तथा देखिए—उ० २७.१४.

३. कणकुण्डगं चइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरे ।
एवं सील चइत्ताण दुस्सीले रमई मिए ॥
—उ० १.५.

४. तैंतीस प्रकार की आशातनाएँ (आय सम्यक्त्वलाभं शातयति विनाशयति इत्याशातना) इस प्रकार है: १. गुरु के आगे-आगे चलना, २. गुरु की बराबरी से चलना, ३. गुरु के पीछे अविनयपूर्वक चलना, ४-६. चलने की तरह बैठने व खड़े होने से सम्बन्धित तीन-तीन आशातनाएँ, १०. यदि गुरु व शिष्य एक ही पात्र में जल लेकर कही बाहर गए हुए हो तो गुरु से पहले उस पात्र में से जल लेकर

विनीत और अविनीत विद्यार्थी का गुरु पर प्रभाव—जहाँ अविनीत शिष्य अपनी कुप्रवृत्तियों के कारण विनम्र और सरल स्वभावी गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं वहाँ विनीत शिष्य गुरु की इच्छा के अनुकल कार्य को शीघ्र व चतुरतापूर्वक करके

आचमन करना, ११. बाहर से आकर गुरु से पहले ही ध्यान करने बैठ जाना, १२. गुरु से बात करने के लिए किसी के आने पर पहले स्वयं ही उससे बातचीत करना, १३. रात्रि को गुरु के बुलाने पर भी न बोलना, १४. अन्न-पानी लाकर पहले छोटों के सामने आलोचना करना, १५. अन्न-पानी लाकर पहले छोटों को दिखलाना, १६. अन्न-पानी की निमन्त्रणा पहले छोटों को करना व बाद में गुरु को करना, १७. गुरु से पूछे बिना किसी को सरस भोजन देना, १८. गुरु के साथ भोजन करने पर स्वयं जल्दी-जल्दी व अच्छा-अच्छा आहार करना, १९. गुरु के बुलाने पर न बोलना, २०. बुलाने पर आसन पर बैठे हुए ही उत्तर देना, २१. आसन पर बैठे हुए ही यह कहना कि क्या कहते हो, २२. गुरु को 'तू' शब्द से पुकारना, २३. गुरु के द्वारा किसी काम के करने को कहने पर उनसे कहना कि तुम ही कर लो, २४. गुरु के उपदेश को प्रसन्नचित्त से न सुनना, २५. गुरु के उपदेश में भेद पैदा करना, २६. कथा में छेद उत्पन्न करना, २७. गुरु को बुद्धि से न्यून दिखलाने के लिए सभा में उनके द्वारा प्रतिपादित विषय का विस्तृत कथन करना, २८. गुरु के आसन (शय्या-संस्तारक) आदि से पैर का स्पर्श हो जाने पर भी बिना क्षमा-याचना के चले जाना, २९. गुरु के आसन पर बिना आज्ञा के बैठना, ३०. बिना आज्ञा के गुरु के आसन पर शयन करना, ३१. गुरु से ऊँचे आसन पर बैठना, ३२. बड़ों की शय्या पर खड़े रहना व बैठना और ३३. गुरु के बराबर आसन करना।

इन आशातनाओं के नाम व क्रम में कुछ अन्तर भी पाया जाता है परन्तु सबका तात्पर्य एकसा है—गुरु के प्रति आदरभाव न रखना।
—देखिए, उ० आ० टी० ३१.२०; २९.४,११; श्रमणसूत्र, पृ० १९७-२०३,४२९-४३१; समवायाङ्गसूत्र, समवाय ३३.

क्रोधी स्वभाव वाले गुरु को भी सरल और प्रसन्न बना देते हैं।[1] गुरु भी ऐसे विनीत शिष्य को पाकर उसे शिक्षा देने में उसी प्रकार आनन्द का अनुभव करता है जिस प्रकार उत्तम घोड़े को शिक्षा देने वाला सारथी। परन्तु इसके विपरीत अविनीत शिष्य को पाकर गुरु उसे शिक्षा देने में उसी प्रकार दुःखी होता है जिस प्रकार अभद्र (अड़ियल) घोड़े को शिक्षा देनेवाला सारथी।[2] इसके अतिरिक्त अविनीत शिष्यों को पाकर गुरु चिन्तित होते हुए सोचते हैं कि इन्हे पढाया, पाला-पोसा और यहां तक कि इनके साथ सब कुछ किया फिर भी अब ये उसी प्रकार स्वेच्छाचारी हो गये हैं जिस प्रकार पंख निकल आने पर हंस पक्षी। अतः इन्हें छोड़ देने में ही कल्याण है। इस तरह अविनीत शिष्य गुरु को हमेशा चिन्तित ही किया करते हैं।[3]

गुरु के द्वारा दिए गए उपालम्भ, भर्त्सना, दण्ड आदि को विनीत शिष्य ऐसा मानता है कि ये (गुरु) मुझे अपना छोटा भाई, पुत्र या स्वजन समझकर कल्याण के लिए ही कहते हैं परन्तु इसके विपरीत अविनीत शिष्य ये मेरे शत्रु हैं, 'ये मुझे गालियां

---

१. अणासवा थूलवया कुसीला मिउंपि चण्डं पकरंति सीसा।
चित्ताणुया लहुदक्खोववेया पसायए ते हु दुरासयंपि॥
—उ० १.१३.

२. रमए पंडिए सासं हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो गलियस्सं व वाहए॥
—उ० १.३७.

३. वाइया संगहिया चेव भत्तपाणेण पोसिया।
जायपक्खा जहा हंसा पक्कमंति दिसो दिसिं॥
अह सारही विचिन्तेइ खलुंकेहिं समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं अप्पा मे अवसीयई।
—उ० २७.१४-१५.

तथा देखिए—उ० २७.१६.

देते हैं', 'ये मुझे गुलाम समझते हैं' ऐसा विचार करके स्वयं को पीड़ित करता हुआ गुरु को भी हतोत्साहित करता है।[1]

शिक्षाशील के कुछ अन्य गुण—इस तरह शिक्षा वही प्राप्त कर सकता है जो विनीत हो और जिसमें वे सभी गुण मौजूद हों जो एक विनीत शिष्य में होने चाहिए। ग्रन्थ में फिर शिक्षाशील के निम्न आठ विशेष-गुण बतलाए गए हैं :[2]

१. अहसनशील, २. जितेन्द्रिय, ३. अमर्मभाषी, ४. अनुशासनशील, ५. खंडित-आचार से रहित, ६. अतिलोलुपता से रहित, ७. क्रोध से रहित और ८. सत्यवक्ता। इन आठ गुणों के अतिरिक्त ग्रन्थ में अन्य पाँच गुण भी बतलाए हैं[3] : १. गुरुकुलवासी, २. सदाचारी, ३. अध्ययन में उत्साही (उपधानवान्), ४. प्रिय करने वाला और ५ प्रिय बोलने वाला। इसी प्रकार समाधि के इच्छुक साधु के जो गुण ग्रन्थ में आवश्यक बतलाए गए हैं वे सब ज्ञानार्थी को भी आवश्यक हैं। जैसे : गुरु और वृद्ध जनों की सेवा, बाल (मूर्ख) जीवों की संगति का त्याग, स्वाध्याय, एकान्तसेवन, सूत्रार्थ-चिन्तन, धैर्य, परिमित-भोजन और निपुण

---

१. पुत्तो मे भाय नाइ त्ति साहू कल्लाण मन्नई।
पावदिट्ठी उ अप्पाणं सासं दासि त्ति मन्नई॥
—उ० १.३९.

तथा देखिए—उ० १.२७-२९,३७-३८.

२. अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीले त्ति वुच्चई।
अहस्सिरे सया दंते न य मंममुदाहरे॥
नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई॥
—उ० ११.४-५

३. वसे गुरुकुले निच्चं जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई से सिक्खं लद्धुमरिहई॥
—उ० ११.१४.

साथी का सहवास।[1] इसके अतिरिक्त विद्याग्रहण में पाँच प्रतिबन्धक कारण भी गिनाए गए हैं जिन कारणों के मौजूद रहने पर विद्या प्राप्त नहीं की जा सकती है। उनके नाम इस प्रकार हैं[2] : अहंकार, क्रोध, असावधानता (प्रमाद), रोग और आलस्य।

इस तरह जो उपर्युक्त गुणों से युक्त है वही शिक्षा (ज्ञान) प्राप्त कर सकता है। जो इन गुणों से रहित (अविनीत) है वह शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता है। इसीलिए ग्रन्थ में अविनीत और अबहुश्रुत को ज्ञानहीन, अहंकारी, लोभी, इन्द्रियवशवर्ती, असम्बद्ध-प्रलापी व बहुप्रलापी कहा है।[3]

इस सम्पूर्ण वर्णन से स्पष्ट है कि जो विनीत है वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है तथा जो अविनीत है वह ज्ञानप्राप्ति के सर्वथा अयोग्य है। अतः ग्रन्थ में विनीत शिष्य को प्राज्ञ, मेधावी, पण्डित, धीर, बुद्धपुत्र (महावीर का शिष्य), मोक्षाभिलाषी, प्रसादप्रेक्षी (मोक्ष की ओर दृष्टि रखनेवाला), साधु, विगत-भयबुद्ध (भय से रहित बुद्धिमान्) आदि शब्दों[4] से तथा अविनीत शिष्य को असाधु, अज्ञ, मन्द, मूढ़, बाल, पापदृष्टि, अबहुश्रुत आदि शब्दों[5] से सम्बोधित किया गया है।

---

१. तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगंतनिसेवणा य सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य॥
आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं समाहिकामे समणे तवस्सी॥
—उ० ३२.३-४.

२. अह पंचहि ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएणं रोगेणालस्सएण य॥
—उ० ११.३.

३. जे यावि होइ निव्विज्जे "अविणीए अबहुस्सुए।
—उ० ११.२.

४. उ० १.७,६,२०-२१,२७,२६,३७,३६,४१,४५.

५. उ० १.२८,३७-३६; ८.५; ११.२; १२.३१.

विनय के पाँच प्रकार—ग्रन्थ में गुरु के प्रति सम्मान प्रकट करने के पाँच प्रकार बतलाए गए हैं:[1] १. गुरु के आने पर खड़े होना (अभ्युत्थान), २. दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करना (अंजलिकरण), ३. बैठने के लिए आसन देना (आसनदान), ४. स्तुति (सम्मान) करना (गुरुभक्ति) और ५. भावपूर्वक सेवा करना (भावशुश्रूषा)।

अविनय व विनय का फल—ग्रन्थानुसार विनीत और अविनीत शिष्य के कर्त्तव्यों आदि का वर्णन करने के बाद अब अविनीत और विनीत शिष्यों को प्राप्त होने वाला फल बतलाते हैं। सर्वप्रथम अविनीत शिष्य को प्राप्त होनेवाला फल बतलाते हैं। जैसे :

१ जिस प्रकार सड़े कानों वाली कुतिया प्रत्येक घर से निकाल दी जाती है उसी प्रकार अविनीत शिष्य भी सर्वत्र अपमानित करके छात्रावास से निकाल दिया जाता है।[2] २. जिस प्रकार कोई अड़ियल बैल गाड़ी में जोते जाने पर भी यदि नहीं चलता है तो उसे चाबुक आदि से मारा जाता है उसी प्रकार अविनीत शिष्य गुरु से प्रताड़ित होकर दुःखी होता है।[3] ३. ज्ञानादि को प्राप्त नहीं करता है।[4] ४. ज्ञानादि की प्राप्ति न होने से मुक्ति का भी अधिकारी नहीं होता है।[5]

इसके विपरीत विनीत शिष्य निम्न फल को प्राप्त करता है :

---

१. देखिए—प्रकरण ५, विनय-तप।

२. जहा सुणी पूइकण्णी निक्कसिज्जई सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई॥
—उ० १.४.

३. खलुंके जो उ जोएइ विहम्माणो किलिस्सई।
असमाहिं च वेएइ तोत्तओ से य भज्जई॥
—उ० २७.३.

४. देखिए—पृ० २२४, पा० टि० ३.

५. देखिए—पृ० २१८, पा० टि० ३.

१. देव, मनुष्य आदि से सर्वत्र आदर प्राप्त करता है[१], २. कीर्ति का विस्तार करके सबका आश्रयदाता बन जाता है,[२] ३. गुरु प्रसन्न होकर उसे समस्त ज्ञान दे देते हैं,[३] ४. सन्देह-रहित होकर तथा तपादि करके दिव्यज्योति प्राप्त कर लेता है,[४] ५ जिस प्रकार सुशील बैल गाड़ी में जोते जानेपर स्वयं को और मालिक को जंगल से निकालकर अच्छे स्थान पर ले जाता है उसी प्रकार विनीत शिष्य भी स्व और पर का कल्याण करता है[५] ६. मृत्यु के उपरान्त या तो मोक्ष प्राप्त करता है या शक्तिशाली (ऋद्धि-धारी) देव बनता है।[६]

गुरु के कर्त्तव्य :

ग्रन्थ में गुरु के लिए आचार्य, बुद्ध, गुरु, पूज्य, धर्माचार्य, उपाध्याय, भन्ते, भदन्त आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है[७] जिससे

---

१. स देवगंधव्वमणुस्सपूइए चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं ।
सिद्धे वा हवइ सासए देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥
—उ० १.४८.

तथा देखिए—उ० १.७.

२. नच्चा नमइ मेहावी लोए कित्ती से जायए ।
हवई किच्चाणं सरणं भूयाणं जगई जहा ।.
—उ० १.४५.

३. पुज्जा जस्स पसीयंति संबुद्धा पुव्वसंथुया ।
पसन्ना लाभइस्संति विउलं अट्ठियं सुयं ॥
—उ० १.४६.

४. स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए⋯महज्जुई पंचवयाइं पालिया ।
—उ० १.४७.

५. वहणे वहमाणस्स ⋯संसारो अइवत्तई ।
—उ० २७.२.

६. देखिए—पा० टि० १ और ४

७. आचार्य—उ० ८.१३; १.४०-४१, ४३; १७.४; २७.११. बुद्ध—१.८, १७, २७,४०,४२,४६. गुरु—१.२-३,१९-२०; २६.८. पूज्य—१.४६. धर्माचार्य—१६.२६६. उपाध्याय—१४.४. भन्ते—भदन्त—६.१८; १२. ३०; २०.११; २३.२२; २६.६; २९ वाँ अध्ययन ।

गुरु के गुणों आदि का पता चलता है। इस प्रकार के गुरु को यदि विनीत या अविनीत शिष्य मिलता है तो उसे क्या करना चाहिए ? इस विषय में ग्रन्थ में गुरु के निम्नोक्त कर्तव्य बतलाए गए हैं :

१. विनीत शिष्य पाकर गुरु को चाहिए कि वह स्पष्ट और सरल शब्दों में अपनी कमजोरी को छिपाए बिना शिष्य को सही-सही ज्ञान करा देवे।[१]

२. सारगर्भित प्रश्नों का ही उत्तर देवे। असम्बद्ध, असार-गर्भित और निश्चयात्मक वाणी न बोले।[२]

३. निपुण एवं विनीत शिष्य की ही अभिलाषा करे। यदि ऐसा योग्य शिष्य न मिले तो व्यर्थ का शिष्य परिवार न बढ़ाकर एकाकी विचरण करे।[३]

४ गुरु का उपदेश पापनाशक, कल्याणकारक, शांति और आत्मशुद्धि करनेवाला होता है। अतः उपदेश देते समय शिष्य को पुत्र-तुल्य मानकर उसके लाभ को दृष्टि में रखे।[४]

---

१. एवं विणयजुत्तस्स सुत्तं अत्थं च तदुभयं।
पुच्छमाणस्स सीसस्स वागरिज्ज जहासुयं॥
—उ० १ २३.

२. मुसं परिहरे भिक्खू न य ओहारिणीं वए।
भासादोसं परिहरे मायं च वज्जए सया॥
न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा उभयस्सन्तरेण वा॥
—उ० १.२४-२५.

तथा देखिए—उ० अध्ययन ९,१२,२३,२५ आदि।

३. न वा लभेज्जा निउणं सहायं गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एगो वि पावाइ विवज्जयंतो विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥
—उ० ३२.५.

तथा देखिए—उ० २७.१४-१७.

४. जं मे बुद्धाणुसासन्ति सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए पयओ तं पडिस्सुणे॥
—उ० १.२७.

तथा देखिए—पृ० २२३, पा० टि० १.

५. ऐसे शिष्य को उपदेश न देवे जो उस उपदेश का पालन न करे अपितु विनीत शिष्य को ही उपदेश देवे। जैसे चित्त का जीव संभूत के जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को उपदेश देकर सोचता है कि मैंने इसे व्यर्थ उपदेश दिया क्योंकि इस पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।[1]

इस तरह ग्रन्थ में शास्त्रज्ञान की प्राप्ति के लिए शिष्य के जिन गुणों का उल्लेख किया गया है उन सबका अन्तर्भाव विनम्रता, जितेन्द्रियता एवं ज्ञानप्राप्ति के लिए उत्कट-प्रयत्नशीलता इन तीन गुणों में किया जा सकता है। इन तीन गुणों में से विनय गुण शिष्य के लिए सर्वाधिक आवश्यक है क्योंकि विनम्रता ज्ञानप्राप्ति के लिए आधार-स्तम्भ है। किञ्च, अविनीत को ज्ञानी होने पर भी 'अपण्डित' कहा गया है तथा विनीत को 'पण्डित'। ग्रन्थ में विनीत शिष्य के जिन गुणों का उल्लेख किया गया है वे सब गुरु के पूर्ण अनुशासन में रहने, गुरु की सम्मानादि से सेवा करने, हित-मित-प्रिय बोलने तथा सकेतमात्र से तदनुकूल आचरण करने रूप हैं। इन गुणो से रहित जो स्वच्छन्द विचरण करनेवाले उद्दण्ड छात्र हैं वे सब अविनीत हैं और ज्ञानप्राप्ति के सर्वथा अयोग्य हैं। इसके अतिरिक्त विनीत विद्यार्थी को ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी विनय को नही त्यागना चाहिए क्योंकि विनय ही सब प्रकार की सफलता का मूलाधार है। ग्रन्थ का प्रारम्भ भी विनय अध्ययन से किया गया है। इसके अतिरिक्त विनय और गुरुसेवा को पृथक्-पृथक् तप के रूप में भी स्वीकार किया गया है जिसका आगे विचार किया जाएगा। इस तरह के विनीत व योग्य शिष्य को पाकर गुरु का भी कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उसके साथ पुत्रवत् व्यवहार करे तथा अपना समस्त ज्ञान उसे दे देवे। ज्ञान का महत्त्व प्रकट करने के लिए ही ग्रन्थ में गुरु की महत्ता पर बहुत जोर दिया गया है।

सम्यक्चारित्र (सदाचार)

आचार व्यक्ति का वह मूल्य है जिसके द्वारा वह महान् से महान् और निम्न से भी निम्न बन सकता है। सदाचार व्यक्ति

१. मोहं कओ एत्तिउ विपलावो गच्छामि रायं आमंतिओ सि।
—उ० १३.३३.

को नीचे से ऊपर उठाकर उच्च सिंहासन पर बैठा देता है और दुराचार उच्च सिंहासन से उठाकर नीचे गर्त में ढकेल देता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के होने पर भी यदि किसी में सदाचार नहीं है तो उसके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कार्यसाधक नहीं हो सकते हैं क्योंकि उनका प्रयोजन सदाचार में प्रवृत्ति कराना है। अतः ग्रन्थ में कहा गया है कि पढ़े हुए वेद व्यक्ति की रक्षा नहीं कर सकते हैं।[1] अब प्रश्न है कि सदाचार क्या है? यदि सदाचार को सामान्यरूप से एक वाक्य में कहना चाहे तो कह सकते हैं कि दूसरे के साथ हमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि हम दूसरों से स्वयं के प्रति चाहते हैं। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर ही सदाचार को ग्रन्थ में अहिंसा के रूप में उपस्थित किया गया है तथा इस अहिंसा के साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (धन-सम्पत्ति का त्याग) इन चार अन्य आचार-परक नियमों को जोड़ा गया है। इसके अतिरिक्त जितने भी नियम और उपनियम बतलाए गए हैं जिनका आगे वर्णन किया जाएगा, वे सब इन पांच व्रतों की ही पूर्णता एवं निर्दोषता के लिए हैं। जैसे-जैसे इन व्रतों के पालन से सदाचार में वृद्धि होती जाती है तैसे-तैसे व्यक्ति वीतरागता की ओर बढ़ता जाता है, जैसे-जैसे वीतरागता की ओर अग्रसर होता जाता है तैसे-तैसे पूर्वबद्ध-कर्म भी आत्मा से पृथक् होते जाते हैं और जैसे-जैसे पूर्वबद्ध-कर्म आत्मा से पृथक् होते जाते हैं तैसे-तैसे आत्मा निर्मल से निर्मलतर अवस्था को प्राप्त करती हुई मुक्ति को प्राप्त कर लेती है।[2]

---

१. वेया अहीया न हवंति ताणं।

—उ० १४.१२.

पसुबन्धा सव्वेया जट्ठं च पावकम्मुणा।
न तं तायंति दुस्सीलं कम्माणि बलवंति हि।

—उ० २५.३०.

२. चारित्तमायार गुणन्निए तओ अणुत्तरं संजम पालियाणं।
निरासवे संखवियाण कम्मं उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं॥

—उ० २०.५२.

तथा देखिए—उ० २८.३१; २९.५८,६१.

सम्यक्चारित्र के प्रमुख पाँच प्रकार :

चारित्र के विकासक्रम को दृष्टि में रखकर सदाचार को पाँच भागों में विभक्त किया गया है:[1] १. अशुभात्मक-प्रवृत्ति को रोककर समताभाव में स्थिर होना (सामायिकचारित्र), २. पहले लिए गए व्रतों को पुनः ग्रहण करना (छेदोपस्थापनाचारित्र), ३. आत्मा की विशेष शुद्धि के लिए तपश्चरण करना (परिहार-विशुद्धिचारित्र), ४. संसार के विषयों में अत्यल्प राग रहना (सूक्ष्मसम्परायचारित्र) और ५. पूर्ण वीतरागी होना (यथाख्यात-चारित्र)। इनके स्वरूप वगैरह इस प्रकार हैं :

१. **सामायिकचारित्र**—समताभाव में स्थित होने के लिए पापात्मक (हिंसामूलक) प्रवृत्तियों को रोककर अहिंसादि पाँच नैतिक व्रतों का पालन करना। यह सदाचार की प्रथम अवस्था है। सद्गृहस्थ का सदाचार भी इसी कोटि में आता है। सामाजिक सदाचार-परक जितने भी नियम-उपनियम हैं वे सभी इसी चारित्र के अन्तर्गत आते हैं। वास्तव में सामायिकचारित्र का प्रारम्भ साधु-धर्म में दीक्षा लेने के बाद से प्रारम्भ होता है क्योंकि सामा-यिकचारित्र आदि जो चारित्र के ५ भेद किए गए हैं वे सब साधु के आचार की अपेक्षा से किए गए हैं। अतः साधु बनने के पूर्व का जो भी अहिंसात्मक सदाचार है वह भी सामायिक-चारित्र की पूर्व-पीठिकारूप होने से इसी के अन्तर्गत आता है।

२. **छेदोपस्थापनाचारित्र**—छेद का अर्थ है—भेदन करना या छोड़ना। उपस्थापना का अर्थ है—पुनः ग्रहण करना। अर्थात् सामायिकचारित्र का पालन करते समय लिए गए अहिंसादि पाँच नैतिक व्रतों को पुनः जीवनपर्यन्त के लिए विशेषरूप से ग्रहण करना। अब अहिंसादि नैतिक-व्रतों को जीवन-पर्यन्त के लिए पुनः

---

१. सामाइयत्थ पढमं छेदोवट्ठावणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीयं सुहुमं तह संपरायं च ॥
अकसायमहक्खायं छउमत्थस्स जिणस्स वा ।
एयं चयरित्तकरं चारित्तं होइ आहियं ॥
—उ० २८.३२-३३.

ग्रहण किया जाता है तो उनका विशेष सावधानीपूर्वक पालन करना पड़ता है। इसमें साधक पहले ग्रहण किए गए व्रतों का छेदन करके पुनः उपस्थापना करता है। अतः इसे छेदोपस्थापनाचारित्र कहते हैं। यह सदाचार की दूसरी अवस्था है।

३. **परिहारविशुद्धिचारित्र**—एक विशिष्ट प्रकार के तपश्चरण[1] द्वारा आत्मा की विशेष शुद्धि करने को परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं। चारित्र के तपप्रधान होने के कारण ही इस परिहारविशुद्धिचारित्र को स्वीकार किया गया है। यह चारित्र की तृतीय अवस्था है।

४ **सूक्ष्मसम्परायचारित्र**—यह चारित्र की चौथी अवस्था है। इस अवस्था तक पहुँचने पर साधक को सांसारिक विषयों के प्रति बहुत ही स्वल्प राग-बुद्धि रह जाती है और सभी कषाय शान्त हो जाते हैं। सूक्ष्म-सम्पराय का अर्थ है—स्वल्पेच्छा की धारा बहती रहना। अर्थात् इस अवस्था में स्वल्प राग की धारा मौजूद रहने से कर्मों का थोड़ा-थोड़ा आना बना रहता है।

५ **यथाख्यातचारित्र**—यह चारित्र की अन्तिम अवस्था है। जब स्वल्पराग का भी अभाव हो जाता है तब इस प्रकार के चारित्र की प्राप्ति होती है। यहाँ राग के अभाव से तात्पर्य सर्वथा उसके क्षय से नहीं है अपितु उसकी उपशान्त अवस्था भी अभिप्रेत है। इसीलिए इस चारित्र का धारी सर्वज्ञ (जिन) की

---

१. तप की विधि – जब कोई नौ साधु किसी एक तप को १८ मास तक मिलकर करते हैं तो उनमें से कोई चार साधु ६ मास तक तप करते हैं, अन्य चार उनकी सेवा करते हैं तथा अवशिष्ट एक साधु निरीक्षक (वाचनाचार्य) होता है। छः मास के बाद सेवा करनेवाले चारों साधु तप करते हैं और तप करनेवाले चारों साधु उनकी सेवा करते हैं। इस तरह पुनः छः मास बीत जाने पर वाचनाचार्य छः मास तक तप करता है तथा अन्य आठ साधुओं में से कोई एक वाचनाचार्य बन जाता है और शेष सभी उसकी सेवा करते हैं। इस तरह यह १८ मास के तप की एक विधि है।

देखिए—उ० आ० टी०, पृ० १२४२.

तरह असर्वज्ञ (छद्मस्थ—जो पूर्ण ज्ञानी नहीं है) भी स्वीकार किया गया है।[1] इस चारित्र का धारी जिनोपदिष्ट चारित्र का उसी रूप में पालन करता है जैसा उन्होंने कहा है। अतः इसे यथाख्यात-चारित्र कहते हैं। यह पूर्ण वीतरागता की अवस्था है। इस यथाख्यातचारित्र की -पूर्णता होने पर (चरमावस्था में) सब कर्म नष्ट हो जाते हैं और तब साधक सब प्रकार के दुःखों का अन्त करके सिद्ध, बुद्ध एव मुक्त हो जाता है।[2]

इस तरह सदाचार के इन भेदो को देखने से प्रतीत होता है कि ये क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। यह सदाचार अहिंसा की भावना से प्रारम्भ होकर पूर्ण वीतरागता की अवस्था में पूर्ण हो जाता है। इन सदाचार के भेदो मे ससार के विषयो के प्रति राग की भावना उत्तरोत्तर कम होती गई है। वीतरागता को सदाचार की पराकाष्ठा स्वीकार करने के कारण 'राग' की हीनाधिकता को लेकर यह चारित्र का विभाजन किया गया है।

जैनदर्शन में राग की हीनाधिकता का लेकर अन्य प्रकार से भी जीव की १४ अवस्थाएँ (गुणस्थान) बतलाई गई हैं जिनमें जीव के निम्नतम आचार से लेकर उच्चतम आचार तक के विकास-क्रम को आध्यात्मिक-प्रक्रिया के द्वारा समझाया गया है। जिसे ससार के विषयो म सबसे अधिक राग है वह सबसे निम्नदर्जे-वाला व्यक्ति है और जिसे ससार के विषयो मे सबसे कम राग (या राग का अभाव) है वह सबसे उच्चदर्जेवाला व्यक्ति है। सामायिक आदि पाँच प्रकार के चारित्र से ये अवस्थाएँ सर्वथा भिन्न नही हैं अपितु उनका ही यहाँ १४ अवस्थाओं में विस्तार किया गया है। इनमें यही बतलाया गया है कि जीव किस प्रकार धीरे-

---

१. देखिए—पृ० २३०, पा० टि० १.

२. चारित्तपज्जवे विसोहित्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ। अहक्खायचरित्तं विसोहित्ता चत्तारि कम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वयाइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।

—उ० २९. ५८.

तथा देखिए—उ० ३१. १; पृ० २२६, पा० टि० २.

धीरे चारित्र का विकास करते हुए नीचे से ऊपर की ओर मुक्ति के लिए बढ़ता है।[1]

---

१. जीवों के आध्यात्मिक विकासक्रम की १४ अवस्थाएँ (गुणस्थान—जीवस्थान) ये हैं : १. मिथ्यादृष्टि—संसारासक्त होकर अधार्मिक-जीवन यापन करनेवाला, २. सासादन—धार्मिक-जीवन से अधार्मिक-जीवन की ओर पतन करने वाला अर्थात् जो अभी मिथ्यादृष्टि तो नहीं है परन्तु मिथ्यादृष्टि होने वाला है, ३. सम्यक्त्वमिथ्यादृष्टि (मिश्र)—कुछ धार्मिक और कुछ अधार्मिक-जीवन यापन करने वाला, ४. अविरतसम्यग्दृष्टि—सामान्य गृहस्थ का जीवन जो अभी संसार के विषयों से विरक्त नहीं है, ५. विरताविरत (देशविरत)—सांसारिक विषयों से अंशतः विरत और अंशतः अविरत गृहस्थ, ६. प्रमत्तसंयत—नवदीक्षित साधु जो संसार के विषयों से सर्वविरत तो है परन्तु कभी-कभी प्रमाद करता रहता है, ७. अप्रमत्तसंयत—प्रमादरहित होकर सदाचार का पालन करने वाला।

इसके बाद आगे बढ़ने की दो श्रेणियाँ हैं: क. उपशमश्रेणी (जिसमें मोहनीय कर्म भस्माच्छन्न अग्नि की तरह दबा पड़ा रहता है और बाद में समय आने पर उदय में आता है जिससे उस जीव का नीचे की ओर पतन होता है) और ख. क्षपकश्रेणी (जिसमें सदा के लिए कर्मों को नष्ट कर दिया जाता है और जीव आगे की ओर ही बढ़ता जाता है)। उपशमश्रेणी आठवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक ही है तथा क्षपकश्रेणी अन्त तक है। इनके नामों में कोई भेद नहीं है, सिर्फ मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय की अपेक्षा से ही भेद है। क्षपकश्रेणी वाला दसवें गुणस्थान के बाद सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। ८. निवृत्तिबादर (अपूर्वकरण)—स्थूल कषायों के उपशम या क्षय से प्राप्त जीव की स्थिति। इस अवस्था की प्राप्ति पहले कभी न होने के कारण इसे 'अपूर्वकरण' भी कहते हैं। ९. अनिवृत्तिबादर (अनिवृत्तिकरण)—अप्रत्याख्यानावरणी (स्थूल की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म) कषायों एवं नोकषायों के उपशम या विनाश से प्राप्त जीव की स्थिति, १०. सूक्ष्मसम्पराय—जिसके अत्यन्त सूक्ष्म कषाय मात्र रह गया है ऐसे जीव की स्थिति, ११. उपशान्त-मोह—

चारित्र के विभाजन का दूसरा प्रकार :

सदाचार का पालन करने वाले गृहस्थ और साधु की अपेक्षा से ग्रन्थ में अन्य प्रकार से भी चारित्र का विभाजन किया गया है जिसे गृहस्थाचार और साध्वाचार के नाम से कहा जा सकता है। इस प्रकार के विभाजन का यह तात्पर्य नहीं है कि गृहस्थाचार और साध्वाचार परस्पर पृथक्-पृथक् हैं अपितु गृहस्थाचार साध्वाचार की प्रारम्भिक अभ्यास की अवस्था है। गृहस्थ सामाजिक एवं कुटुम्ब-सम्बन्धी कार्यों को करता हुआ अहिंसादि पाँच व्रतों का स्थूलरूप से पालन करता है जबकि साधु उन्हीं अहिंसादि व्रतों का सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूप से पालन करता है। गृहत्यागी साधु का समाज

जिसने सब मोहनीय कर्मों का उपशम कर दिया है ऐसे जीव की स्थिति (यह गुणस्थान सिर्फ उपशमश्रेणी वाले जीव को ही होता है), १२. क्षीण-मोह—जिसने सम्पूर्ण मोहनीय कर्मों को हमेशा के लिए नष्ट कर दिया है, १३. सयोगकेवली—जो-मन-वचन-काय की क्रिया (योग) से युक्त है ऐसे केवलज्ञानी (जीवन्मुक्त) जीव की स्थिति और १४. अयोग-केवली—सब प्रकार की क्रियाओं से रहित केवलज्ञानी (जीवन्मुक्त) की चरमावस्था।

जीव की इन १४ अवस्थाओं में से मिथ्यादृष्टि सबसे निम्नकोटि के आचारवाला व्यक्ति है तथा अयोग-केवली सर्वोच्च सदाचार-सम्पन्न जीव है। इनमें उत्तरोत्तर संसार के विषयों से ममत्व (मोह) घटता गया है। वस्तुतः सदाचार का विकास चौथी अवस्था से प्रारम्भ होता है और क्षीणमोह की अवस्था में पूर्ण हो जाता है। अन्तिम दो अवस्थाएँ मन-वचन-काय की क्रिया (योग) से सहित व रहित ऐसे दो प्रकार के जीवन्मुक्तों की हैं। इस तरह सामायिक-चारित्र कथंचित् चौथे और पाँचवें गुणस्थान में, छेदोपस्थापनाचारित्र ६ ठे और ७ वें में, परिहारविशुद्धिचारित्र ८ वें और ९ वें में, सूक्ष्मसम्परायचारित्र १० वें में और यथाख्यातचारित्र ११ वें से अन्त तक पाया जाता है। अन्तिम दो अवस्थाओं का विशेष वर्णन मुक्ति के प्रकरण में किया जाएगा।

देखिए—समवा०, समवाय १४; गोम्मटसार-जीवकाण्ड, परिच्छेद १.

एवं कुटुम्ब से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता है। गृहस्थ का भी उद्देश्य इसी अवस्था (साध्वाचार) की ओर बढ़ना है परन्तु गृहस्थ पर गृहस्थी का भार होने के कारण वह उस अवस्था तक पहुँचने में असमर्थ होता हुआ अहिंसादि व्रतों का स्थूलरूप से पालन करता है।

गृहस्थाचार—गृहस्थ-धर्म का उपदेश उन्हें ही दिया गया है जो साध्वाचार का पालन करने में असमर्थ हैं। अतः चित्त का जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से कहता है—'हे राजन् ! यदि तुम भोगों को त्यागने (सर्वविरतिरूप साधु-धर्म स्वीकार करने) में असमर्थ हो तो गृहस्थोचित आर्य-कर्म (सदाचार करो तथा धर्म में स्थित होकर सम्पूर्ण प्रजा पर अनुकम्पा करने वाले बनो।'[1] यहाँ पर गृहस्थ का आचार 'आर्य-कर्म' तथा 'दया' बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में गृहस्थ के ११ नियमों (प्रतिमाएँ) तथा माह मे कम से कम एक बार उपवास (प्रोषध) करते हुए सम्यक्त्व का पालन करने का उल्लेख मिलता है।[2] नमि-प्रव्रज्या नामक अध्ययन में इन्द्र गृहस्थधर्म मे स्थित व्यक्ति को 'घोराश्रमी' कहता है[3] क्योंकि गृहस्थ के ऊपर अन्य सभी आश्रमवासियों का तथा कुटुम्ब आदि का भार रहता है और उसे उन सब का पालन-पोषण

---

१. जइ तं सि भोगे चइउं असत्तो अज्जाइं कम्माइं करेहि राय ।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकंपी तो होहिसि देवो इओ विउव्वी ॥
—उ० १३. ३२.

तथा देखिए—उ० १४.२६-२७; २२.३८; उपासकदशाङ्ग १. १२; सागारधर्मामृत २. १.

२. अगारि सामाइयंगाइं सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं एगरायं न हावए ॥
—उ० ५.२३.

उवासगाणं पडिमासु······से न अच्छइ मंडले ।
—उ० ३१. ११.

३. घोरासमं चइत्ताणं अन्नं पत्थेसि आसमं ।
इहेव पोसहरओ भवाहि मणुयाहिवा ॥
—उ० ९. ४२.

करना पड़ता है। इसीलिए अन्य आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम को अत्यन्त कठिन कहा गया है। गृहस्थ माता-पितादि परिवार के साथ अपने गृह मे निवास करता है, साधुओं की भोजन-पान आदि से सेवा करता है और स्थूलरूप से अहिंसादि धार्मिक नियमों का पालन करता है। अत. उसे ग्रन्थ मे गृहस्थ, सागार, उपासक, श्रावक, असयत आदि शब्दो से सम्बोधित किया गया है।[1] गृहस्थ की जिन ग्यारह प्रतिमाओ का ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है उनमे गृहस्थ के आचार-सम्बन्धी उपवास, दया, दान आदि सभी व्रत आ जाते है। टीका-ग्रन्थो तथा गृहस्थाचार के प्रतिपादक ग्रन्थो को देखने से पता चलता है कि गृहस्थ इन ग्यारह प्रतिमाओ (नियमो) का क्रमश धारण करता हुआ आगे की ओर बढता है। आगे-आगे की प्रतिमा को धारण करने वाला गृहस्थ पीछे की प्रतिमाओ के सभी नियमो का पालन करता हुआ साध्वाचार की ओर बढने का निरन्तर प्रयत्न करता रहता है।[2] दिगम्बर-परम्परा मे भी इसी प्रकार की गृहस्थ की ११

---

१ देखिए—पृ० २३५, पा० टि० २-३, उ० २१ १-२, ५; २६. ४५.

२ गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाएँ ये हैं . १ दर्शन—जिनोपदिष्ट तत्त्वों में विश्वास, २. व्रत—अहिंसा आदि बारह व्रतो के पालन करने में यत्नवान् होना। वे अहिंसादि बारह व्रत इस प्रकार हैं : स्थूलरूप से अहिंसा का पालन करना, सत्यबोलना, चोरी न करना, परस्त्रीसेवन न करना, धनादि का अधिक सग्रह न करना, चारो दिशाओ में गमनागमनसम्बन्धी सीमा निर्धारित करना, भोग्य और उपभोग्य वस्तुओं के सेवन की मर्यादा करना, सर्वदा अनुपयोगी वस्तुओं और क्रियाओ का त्याग करना, प्रात.-साय तथा मध्याह्न में आत्मगुणो का चिन्तन करते हुए समताभाव म स्थिर होना (सामायिक), देश व नगर में परिभ्रमण की सीमा को नियत करना, मास म दो बार या कम से कम एक बार उपवास करना (प्रोषध), और आगन्तुक दीन-दुःखी व साधु आदि की अपनी शक्त्यनुसार दानादि मे सेवा करना। इनमे से प्रथम पाँच व्रत 'अणुव्रत' कहलाते हैं क्योंकि इनमें अहिंसादि पाँच महाव्रतो का स्थूलरूप से पालन किया जाता है। आत्मविकास के लिए मूलभूत व गुणरूप होने के कारण श्वेताम्बर-परम्परा मे इन्हे 'मूलगुण' कहते हैं। इनके अति-

प्रतिमाएँ गिनाई गई हैं। यद्यपि उनके क्रम, नाम एवं अर्थ में थोड़ा अन्तर पाया जाता है[1] परन्तु दोनों का उद्देश्य एक है—आत्म-विकास करते हुए सर्वविरतिरूप साध्वाचार की अवस्था को प्राप्त करना।

गृहस्थाचार पालन करने का फल—इस प्रकार के गृहस्थधर्म का पालन करने वाला व्यक्ति जिस फल को प्राप्त करता है वह उसके आत्मविकास की हीनाधिकता पर निर्भर करता है। अतः ग्रन्थ में कहा है कि जो गृहस्थधर्म का पालन करता है वह मनुष्य-

---

रिक्त शेष सात व्रत अहिंसादिव्रतों की रक्षा के लिए हैं जो 'गुणव्रत' एवं 'शिक्षाव्रत' के नाम से कहे जाते हैं। ये बारह व्रत आगे की प्रतिमाओं की दृढ़ता में सहायक-कारण होते हैं, ३. सामायिक—सामायिकव्रत का दृढ़ता से पालन करना, ४. प्रोषध—प्रोषधव्रत का दृढ़ता से पालन करना, ५. नियम—रात्रिभोजन-त्याग आदि नियम-विशेष लेना, ६. ब्रह्मचर्य—पूर्ण-ब्रह्मचर्य का पालन करना, ७. सचित्तविरत—कन्दमूल, आदि हरी वनस्पतियों का त्याग करना, ८. आरम्भविरत—जिसमें जीवों की हिंसा हो ऐसी सावद्य (पापात्मक) क्रियाओं को स्वयं न करना, ९. प्रेष्यारम्भविरत—दूसरों को भी गृहस्थीसम्बन्धी सावद्यक्रियाएँ करने के लिए प्रेरित न करना, १०. उद्दिष्टभक्तविरत—स्वयं के उद्देश्य से बनाए गए भोजनादि को न खाना अथवा गृहस्थों के कार्यों की अनुमोदना न करना और ११. श्रमणभूत—जैन साधु की तरह आचरण करना। इस प्रतिमाधारी गृहस्थ और साधु में यह अन्तर है कि इस प्रतिमा का धारी स्व-कुटुम्बी जनों के यहाँ से ही आहारादि लेता है जबकि साधु स्व-कुटुम्ब से पूर्ण ममत्व छोड़कर सर्वत्र विचरण करता हुआ सब जगह से आहार लेता है।

देखिए—दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ६-७; समवा०, समवाय ११; उपासकदशाङ्ग, पृ० ११५-१२२; जैन-योग (आर० विलियम्स), पृ० ५०-५१,५६.

१. दिगम्बर-परम्परा में गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं: दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रिभोजन-विरत, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रह-विरत, अनुमतिविरत तथा उद्दिष्ट-विरत।

देखिए—जैनआचार, डा० मोहनलाल मेहता, पृ० ११०.

जन्म से लेकर देव और मुक्त अवस्था को भी प्राप्त कर सकता है।[1]

गृहस्थ और साधु के आचार में भेद का कारण वीतरागता—गृहस्थधर्म पालन करने का फल जो मुक्ति बतलाया गया है वह साक्षात्-फल संभव नहीं है क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है कि जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं होगी तबतक मुक्ति नहीं मिल सकती है। यह संभव है कि गृहस्थ मृत्यु के समय संसार के विषयों से पूर्ण वीतरागी होकर मुक्ति प्राप्त कर लेवे परन्तु जब गृहस्थ पूर्ण वीतरागी हो जाएगा तो वह वस्तुत: गृहस्थ नहीं रहेगा।[2] अत: ग्रन्थ में साधु का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि जो बालभाव को छोड़कर अबालभाव को धारण करते हैं वे साधु हैं। जो ससारासक्त हैं वे बाल (मूर्ख) हैं और जो निरासक्त हैं वे अबाल (पण्डित) हैं। केवल शिर मुड़ाने से श्रमण, ओंकार का जाप करने से ब्राह्मण, जंगल में रहने से मुनि और कुशा आदि धारण करने से तपस्वी नहीं कहलाते हैं अपितु समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप करने से तपस्वी कहलाते हैं।[3] इसके अतिरिक्त

---

१. वेमायाहिं सिक्खाहिं जे नरा गिहिसुव्वया।
उवेंति माणुसं जोणिं कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥
—उ० ७. २०.

तथा देखिए—उ० ५. २४; पृ० २३५, पा० टि० १-२

२. विशेष के लिए देखिए—प्रकरण ७.

३. तुलिया ण बालभावं अबालं चेव पंडिए।
चइऊण बालभावं अबालं सेवए मुणि ॥
—उ० ७. ३०.

न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो ॥
समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होई तवेण होइ तावसो ॥
—उ० २५.३१-३२.

जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं न तं सुदिट्ठं कुसला वयंति।
—उ० १२.३८.

अन्तरङ्ग-शुद्धि के अभाव में बाह्य-शुद्धि (बाह्यलिङ्ग) पोली-मुट्ठी, खोटी-मुहर और कांच की मणि की तरह सारहीन है।[1] जिस-प्रकार पान किया गया अतितीव्र विष, उलटा पकड़ा हुआ अस्त्र और अवशीकृत मन्त्रादि का प्रयोग स्वयं का विघातक होता है उसी प्रकार दिखावटी साधु कंठ का छेदन करने वाले शत्रु से भी अधिक स्वयं का अनर्थ करके पश्चात्ताप को प्राप्त होता हुआ नरकादि योनियों में जन्म-मरण प्राप्त करता है।[2] अतः ग्रन्थ में कहा है कि सयमहीन साधु की अपेक्षा संयमी गृहस्थ श्रेष्ठ है।[3]

इस तरह गृहस्थ का सम्पूर्ण आचार साध्वाचार की प्रारम्भिक-अवस्था के रूप में है। गृहस्थ गृहस्थी में रहकर सामाजिक कार्यों को करता हुआ अहिंसादि उन सभी नियमों का स्थूलरूप से पालन करता है जिनका साधु विशेषरूप (सूक्ष्मता) से पालन करता है।

अनुशीलन

इस प्रकरण में संसार के दुःखों से निवृत्ति पाने का एवं अविनश्वर सुख की प्राप्ति के आध्यात्मिक-मार्ग का वर्णन किया गया है। जिस

---

१. पुल्लेव मुट्ठी जह से असारे अयंतिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे अमहग्घए होइ हु जाणएसु॥
—उ० २०.४२.

२. विसं तु पीयं जह कालकूडं हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो वि धम्मो विसओववन्नो हणाइ वेयाल इवाविवन्नो॥
—उ० २०. ४४.

न तं अरी कंठछित्ता करेइ जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥
—उ० २०.४८.

३. नाणासीला अगारत्था विसमसीला य भिक्खुणो॥
—उ० ५.१९

संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा।
—उ० ५. २०.

प्रकार किसी कार्य की सफलता के लिए इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न इन तीन बातों का संयोग आवश्यक होता है उसी प्रकार संसार के दुःखों से निवृत्ति पाने के लिए भी विश्वास, ज्ञान और सदाचार के संयोग की आवश्यकता है। इसे ही ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के नाम से कहा गया है। यहाँ इतना विशेष है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों गीता के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग की तरह पृथक्-पृथक् मुक्ति के तीन मार्ग नहीं हैं अपितु तीनों मिलकर एक ही मार्ग का निर्माण करते हैं। इन तीनों का सम्मिलित नाम 'रत्नत्रय' है। ग्रन्थ में यद्यपि कहीं-कहीं ज्ञान के पूर्व चारित्र का तथा दर्शन के पूर्व ज्ञान व चारित्र का भी प्रयोग मिलता है परन्तु इनकी उत्पत्ति क्रमशः होती है। यह अवश्य है कि विश्वास में ज्ञान व चारित्र से, ज्ञान में विश्वास व चारित्र से तथा चारित्र में ज्ञान व विश्वास से दृढता आती है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में कही दर्शन के एक अग से, कही ज्ञान के एक अग से और कही चारित्र के एक अग से मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है परन्तु ऐसा सिर्फ उस अंग-विशेष का महत्त्व प्रकट करने के लिए ही किया गया है।

ज्ञान की पूर्णता हो जाने पर भी जीव की ससार मे कुछ समय के लिए स्थिति स्वीकार करने के कारण एव फैले हुए दुराचार को रोकने के लिए चारित्र को सर्वोपरि स्थान दिया गया है, अन्यथा जब ससार का मूलकारण अज्ञान है तो सच्चा-ज्ञान ही मुक्ति का प्रधान कारण हो सकता है। यह अवश्य है कि विश्वास एव चारित्र से उसमें दृढता आती है परन्तु जब किसी को सम्यक् व पूर्णज्ञान हो जाएगा तो वह दुराचार मे क्यो प्रवृत्त होगा? दुराचार मे प्रवृत्ति तभी तक संभव है जब-तक सच्चा-ज्ञान न हो। यदि सच्चा-ज्ञान होने पर भी कोई दुराचार में प्रवृत्त होता है तो वह वास्तव में सच्चा-ज्ञानी नही है। इसीलिए ज्ञान की पूर्णता हो जाने पर केवलज्ञानी को 'जीवन्मुक्त' माना गया है तथा वह शेष कर्मों को शीघ्र नष्ट करके नियम से पूर्ण-मुक्त हो जाता है। अतः ज्ञान हो जाने के बाद भी जीव की स्थिति कुछ काल तक रहने के कारण चारित्र को बाद में गिनाया गया है। इसका यह तात्पर्य नही है कि ज्ञान मात्र से मुक्ति मिलती

है अपितु उसमें विश्वास व चारित्र भी अपेक्षित है। अतः रत्नत्रय की त्रिपुटी को जो मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है वह उचित ही है। इन तीनों का सम्मिलित नाम 'धर्म' भी है और यह धर्म शब्द पहले प्रकरण में वर्णित 'धर्मद्रव्य' से पृथक् है। यह पुण्यकर्म का भी वाचक नहीं है क्योंकि पुण्यकर्म बन्धन का कारण है। यह धर्म शब्द निष्काम एवं शुद्ध सदाचार के अर्थ का वाचक है। चूंकि पूर्ण एवं शुद्ध सदाचार बिना विश्वास एवं सत्यज्ञान के संभव नहीं है अतः यहाँ पर धर्म शब्द का अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-परक माना गया है। जो इस प्रकार के धर्म से युक्त हैं वे ही 'सनाथ' एवं 'धार्मिक' हैं और जो इस प्रकार के धर्म से रहित हैं वे 'अनाथ' एवं 'अधार्मिक' हैं। इस तरह यह धर्म शब्द मीमांसादर्शन के यज्ञ-यागादिक्रियारूप धर्म शब्द से भी भिन्न है। गीता का यह उपदेश कि 'श्रद्धावान् ही पहले ज्ञान प्राप्त करता है और फिर संयतेन्द्रिय बनता है'[1] यहाँ पूर्णरूप से लागू होता है।

रत्नत्रय में पहला स्थान सम्यग्दर्शन का है जो भक्ति (श्रद्धा) स्थानापन्न है। बिना श्रद्धा के कोई भी व्यक्ति किसी भी क्रिया में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। यदि प्रवृत्त होता भी है तो उसमें दृढ़ता का अभाव होने से पतित होने की सम्भावना रहती है। अतः आवश्यक था कि ज्ञान और चारित्र के पूर्व श्रद्धा को उत्पन्न करने वाले सम्यग्दर्शन को स्वीकार किया जाए। यह मुक्ति की ओर बढ़ने के लिए प्रथम सीढ़ी है तथा ज्ञान और चारित्र की आधार-शिला भी है। सृष्टिकर्ता ईश्वर को स्वीकार न करने के कारण तथा अपने ही कर्म से जीव में उत्थान और पतन की शक्ति को मानने के कारण यद्यपि श्रद्धा व भक्ति की कोई आवश्यकता नहीं थी परन्तु ज्ञान और चारित्र में प्रवृत्ति बिना श्रद्धा के सम्भव न होने से सम्यग्दर्शन का अर्थ 'ईश्वर-भक्ति' न करके जिनप्रणीत ९ परमार्थ सत्यों में विश्वास किया गया है। जैनदर्शन में 'जिनेन्द्रभक्ति' को जो सम्यग्दर्शन का अंग माना जाता है उसका कारण है कि उससे जिनप्रणीत तत्त्वों में श्रद्धा उत्पन्न होती है। यहाँ परमार्थसत्य से

---

१. गीता ४.३९.

तात्पर्य किसी ठोस द्रव्य से नहीं है अपितु चेतन और अचेतन में होने वाले परस्पर सम्बन्धों की कारणकार्यशृंखला से है जो बौद्धदर्शन में बतलाए गए चार आर्यसत्यों के ही समान हैं। बौद्धदर्शन में आत्म-अनात्मविषयक कोई भेद नहीं है और न उनकी परमार्थ सत्ता है। अतः उन आर्यसत्यों में चेतन और अचेतन का सन्निवेश नहीं किया गया है। परन्तु यहाँ पर आत्म-अनात्मविषयक भेद उतना ही परमार्थसत्य है जितने अन्य सत्य क्योंकि आत्म-अनात्म को परमार्थसत्य स्वीकार किए बिना किसे बन्धन, किसे मुक्ति, किससे बन्धन और किससे मुक्ति मानी जाएगी ? अतः ग्रन्थ में जीवादि ९ परमार्थसत्यों में विश्वास करने को सम्यग्दर्शन कहा गया है। इस सम्यग्दर्शन शब्द में एक और अर्थ निहित है। वह है—सत्-दृष्टि को प्राप्त करना। सत्-दृष्टि प्राप्त करने का अर्थ है—परमार्थ में स्थित होना। अतः सम्यग्दर्शन को रत्नत्रय का उपलक्षण मानकर रत्नत्रयधारी को सम्यग्दृष्टि कहा गया है। बौद्धदर्शन में भी मुक्ति के साधनभूत प्रज्ञा, शील और समाधि के पूर्व इस सत्-दृष्टि को स्वीकार किया गया है जो बौद्धदर्शन में 'आर्य-अष्टाङ्गमार्ग' के नाम से प्रसिद्ध है। ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन के जो १० भेद गिनाए गए हैं वे उसकी उत्पत्ति की निमित्त-कारणतारूप उपाधि की अपेक्षा से हैं क्योंकि सत्दृष्टि का प्राप्त करना या परमार्थसत्यों में विश्वास करना सर्वत्र अपेक्षित है।

यहाँ मैं एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला 'दर्शन' गुण-विशेष श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन नहीं है क्योंकि श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय का प्रतिफल है, न कि दर्शनावरणीय कर्म के क्षय का परिणाम। दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला 'दर्शन' गुण-विशेष ज्ञान की पूर्वावस्था है अर्थात् विषय और विषयी के सन्निपात होने पर जो सर्वप्रथम निराकार सामान्यबोध होता है उसे 'दर्शन' कहते हैं और दर्शन के बाद (विषय-विषयी के सन्निपात के उत्तरकाल में) होने वाले साकार (विशेष) बोध को 'ज्ञान' कहते हैं। इस तरह 'दर्शन' गुण का अर्थ है 'निराकारात्मक सामान्य ज्ञान' और सम्यग्दर्शन शब्द का अर्थ है 'परमार्थभूत सत्यों

में विश्वास।' इसके अतिरिक्त सम्यग्ज्ञान का अर्थ है—सम्यग्दर्शन के द्वारा श्रद्धान किए गए पदार्थों का यथावस्थित साकारात्मक विशेष ज्ञान।

रत्नत्रय में द्वितीय स्थान सम्यग्ज्ञान का है जिसके अभाव में सम्यक्चारित्र स्थिर नहीं रह सकता है क्योंकि जबतक सत्यज्ञान नहीं होगा तबतक सदाचार में सम्यक् प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? ज्ञान के अभाव में श्रद्धा भी चिरस्थायी नहीं हो सकती है। जब सत्यज्ञान हो जाता है तो फिर दुराचार में प्रवृत्ति का कोई कारण नहीं रह जाता है क्योंकि दुराचार में प्रवृत्ति का कारण अज्ञान है। यहां पर चेतन से अचेतन का पार्थक्य-बोध ही सत्यज्ञान है, जबकि बौद्धदर्शन में चेतन की पृथक् प्रतीति होना मिथ्याज्ञान है। बौद्धदर्शन में चेतन द्रव्य स्वीकार न करने के कारण 'आत्मज्ञान' को मिथ्या कहा गया है और प्रकृत ग्रन्थ में अचेतनरूप भौतिक शरीरादि से चेतन की पृथक् प्रतीति कराने के लिए 'आत्मज्ञान' को सम्यग्ज्ञान माना गया है। जबतक भेदात्मक आत्मज्ञान नहीं होगा तबतक संसार के विषयों से विरक्ति नहीं हो सकती है। अतः आत्मज्ञान को सत्यज्ञान के रूप में प्रदर्शित करके ज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक गुण माना गया है जो कर्मरूपी आवरण (ज्ञानावरणीयकर्म) के हटने पर प्रकट होता है।

उत्तराध्ययन में ज्ञान का विभाजन उसकी विभिन्न पाँच अवस्थाओं के आधार से किया गया है। ज्ञान के इस विभाजन में इतना विशेष है कि शास्त्रज्ञान का महत्त्व प्रकट करने के लिए प्रकृत ग्रन्थ में श्रुतज्ञान को प्रथम गिनाया गया है। जबकि जैनदर्शन में श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में मतिज्ञान (आभिनिबोधिकज्ञान) को निमित्त मानकर मतिज्ञान को श्रुतज्ञान के पूर्व बतलाया गया है।[1] इन्द्रियजन्य मतिज्ञान सभी संसारी जीवों में हीनाधिकरूप में अवश्य पाया जाता है क्योंकि सभी संसारी जीवों के कम से कम स्पर्शन इन्द्रिय अवश्य होने के कारण तज्जन्य ज्ञान अवश्यम्भावी है। इसीलिए ज्ञान को जीव का स्वरूप

---

१. देखिए—पृ० २०८, पा० टि० १.

माना गया है। इसके अतिरिक्त श्रुतज्ञान भी सभी जीवों में किसी न किसी रूपमें अवश्य पाया जाता है। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि यदि किसी को एक ज्ञान होता है तो वह 'केवलज्ञान' होगा। अन्यथा संसारी जीवों को कम से कम दो ज्ञान (मति व श्रुतज्ञान) अवश्य होते हैं।[1] यह श्रुतज्ञान शास्त्रजन्यज्ञान या आगमज्ञान है न कि समस्त श्रवणेन्द्रियजन्यज्ञान क्योंकि श्रवणेन्द्रियजन्य सामान्यज्ञान तो मतिज्ञान का एक भेद है। यह अवश्य है कि श्रुतज्ञान में सामान्यतया श्रवणेन्द्रिय की अपेक्षा रहती है। परन्तु समस्त श्रवणेन्द्रियज्ञान श्रुतज्ञान नहीं है। यहाँ इतना विशेष है कि शब्द और श्रवणेन्द्रिय का प्रथम स्पर्श होने पर जो ज्ञान होता है वह श्रवणेन्द्रियजन्य मतिज्ञान है तथा इसके बाद मन की सहायता से जो अर्थादि का विचार होता है वह श्रुतज्ञान है। अतः श्रुतज्ञान को जैनदर्शन में अनिन्द्रिय (मन) निमित्तक मानकर मतिपूर्वक स्वीकार किया गया है। यह श्रुतज्ञान केवल अक्षरात्मक ही होता है, ऐसी बात नहीं है। यह श्रुतज्ञान अनक्षरात्मक भी होता है। अतः ऐसी स्थिति में ही यह श्रुतज्ञान एकेन्द्रियादि जीवों के स्वीकार किया गया है। जहाँ तक सम्यक्-श्रुतज्ञान का प्रश्न है वह संज्ञी (मनसहित) पंचेन्द्रिय जीवों के ही संभव है और वह भी किन्हीं-किन्हीं को होता है, सबको नहीं होता है।

ग्रन्थ में शास्त्रज्ञान का महत्त्व बतलाने का कारण यह है कि ये शास्त्र सत्-दृष्टिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में प्रमुख बाह्य निमित्त-कारण हैं। जिस प्रकार शास्त्र सत्-दृष्टिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कारण हैं उसी प्रकार शास्त्रज्ञानी गुरु भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कारण हैं क्योंकि गुरूपदेश ही शास्त्रज्ञान व सत्-दृष्टिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में सहायक होते हैं। अतः ग्रन्थ में गुरु के भी महत्त्व को बतलाया गया है। शास्त्रज्ञान प्राप्त करने के लिए शिष्य को गुरु के समीप जाना पड़ता है और गुरु भी विनीत व योग्य शिष्य को पाकर समस्तज्ञान उसे दे देता है। जो शिष्य गुरु की अविनय करते हैं वे उस ज्ञान की प्राप्ति से वञ्चित रह जाते हैं। अतः ज्ञानप्राप्ति के लिए शिष्य को जिन

१. देखिए—पृ० २१४, पा० टि० २.

गुणों से युक्त होना चाहिए उनमें कुछ इस प्रकार हैं : विनय, सदाचार, कर्त्तव्यपरायणता, जितेन्द्रियता आदि।

रत्नत्रय में तृतीय स्थान सम्यक्चारित्र का है जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और धनादि-संग्रहत्याग (अपरिग्रह) रूप पाँच नियमों के पालन करने में पूर्ण होता है। इन सभी नियमों के मूल में अहिंसा की भावना है और अहिंसा की पूर्णता पूर्ण वीतरागता (अपरिग्रहता) की अवस्था में होती है। अतः वीतरागतारूप चारित्र के उत्तरोत्तर विकास की दृष्टि से साधु के सम्यक्चारित्र को पाँच भागों में विभक्त किया गया है जिन्हें साधक क्रमशः प्राप्त करता है। सदाचार का पालन करने वाले गृहस्थ या साधु स्त्री-पुरुष होते हैं। अतः इस सदाचार को दो भागों में भी विभक्त किया गया है : १. गृहस्थाचार और २. साध्वाचार।

गृहस्थाचार साध्वाचार की प्रारम्भिक अभ्यासावस्था है क्योंकि गृहस्थ धीरे-धीरे अपने चारित्र का विकास करता हुआ साधु के आचार की ओर अग्रसर होता है। गृहस्थाचार पालन करने का उपदेश उन्हें ही दिया गया है जो साध्वाचार का पालन नहीं कर सकते हैं। अतः चारित्र के सामायिक आदि जो पाँच भेद किए गये हैं वे साधु के आचार की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं। सामायिकचारित्र के अन्तर्गत जिन अहिंसादि व्रतो का साधु सूक्ष्मरूप से पालन करता है गृहस्थ उन्हीं व्रतों को अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करता हुआ स्थूलरूप से पालन करता है। अतः गृहस्थ के अहिंसादि व्रत 'अणुव्रत' कहलाते हैं और साधु के 'महाव्रत'। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि ग्रन्थ में गृहस्थ को जो मुक्ति का अधिकारी बतलाया गया है उसका कारण है बाह्यलिङ्ग की अपेक्षा आभ्यन्तर-शुद्धि का महत्त्व। अन्यथा गृहस्थ गृहस्थावस्था से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता है क्योंकि वह पूर्ण वीतरागी नहीं होता है। जबतक कोई गृहस्थ या साधु पूर्ण वीतरागी नही होगा तबतक वह मुक्ति का भी अधिकारी नहीं हो सकता है। यह सत्य है कि वीतरागता व सदाचार की पूर्णता बाह्यलिङ्ग से नहीं होती है अपितु वह आत्मा की शुद्धि पर निर्भर है। चूंकि गृहस्थ कौटुम्बिक

प्रपञ्चों में उलझा रहता है जिससे उसे आत्मशुद्धि का अवसर कम मिलता है, जबकि साधु सांसारिक सभी प्रपञ्चों से दूर रहता है जिससे उसे आत्मविशुद्धि के लिये अधिक अवसर मिलता है। अत: जब गृहस्थ गार्हस्थ्य-जीवन में रहते हुए भी उससे उसी प्रकार अलग सा रहता है जिस प्रकार जल में रहकर भी कमल जल से भिन्न रहता है तब वह गृहस्थ वास्तव में गृहस्थ नहीं है अपितु वीतरागी ही है। गृहस्थी में रहने के कारण उसका जो गार्हस्थ्य-जीवन के साथ सूक्ष्म रागात्मक सम्बन्ध बना रहता है वह भी जब अन्तिम समय (मृत्युसमय) छूट जाता है तब वह पूर्ण वीतरागी होकर मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। इसका विशेष विचार मुक्ति के प्रकरण में किया जाएगा।

इस तरह इस प्रकरण में संसार के दु:खों से निवृत्ति पाने के लिए तथा अविनश्वर सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय का सक्षेप में वर्णन किया गया है। प्रसगवश सम्यग्ज्ञान के प्रकरण मे ज्ञान की प्राप्ति में निमित्तभूत गुरु-शिष्य के सम्बन्धों तथा उनके कर्त्तव्यों आदि का भी वर्णन किया गया है।

★

प्रकरण ४

सामान्य साध्वाचार

जिन अहिंसादि पाँच नैतिक व्रतों को गृहस्थ अंशतः (स्थूलरूप से) पालन करता है उनको ही साधु सर्वात्मना (सूक्ष्मरूप से) पालन करता है। साधु के बाह्यवेष आदि में परिस्थितियों के अनुसार नियमों व उपनियमों के रूप में परिवर्तन होते रहे हैं। इसका स्पष्ट संकेत हमें केशिगौतम-संवाद में मिलता है। वहाँ बतलाया गया है कि भगवान् महावीर ने किस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म में देश-कालानुरूप परिवर्तन किए। इस प्रकार के परिवर्तनों के होने पर भी साधु के मूल आचार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ क्योंकि जो भी परिवर्तन किए गए वे देश-काल की परिस्थिति को ध्यान में रखकर सिर्फ बाह्य-उपाधिभूत नियमों व उपनियमों में किए गए ताकि साधु अन्तरङ्ग आत्म-विशुद्धि में दृढ़ बना रहे। इसीलिए ग्रन्थ में सर्वत्र बाह्य-उपाधि की अपेक्षा अन्तरङ्ग आत्म-विशुद्धि को श्रेष्ठ बतलाया गया है। साधु के आचार को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए इसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है: १. सामान्य साध्वाचार और २. विशेष साध्वाचार।

सामान्य साध्वाचार :

साधु के द्वारा प्रतिदिन जिस प्रकार के सदाचार का सामान्य-रूप से पालन किया जाता है उसे सामान्य साध्वाचार कहा गया है। इसमें मुख्यरूप से निम्नोक्त विषयों पर विचार किया जाएगा :

१. दीक्षा की उत्थानिका—दीक्षा के पूर्व की स्थिति।
२. बाह्य-उपकरण (उपधि)—वस्त्र, पात्र आदि बाह्य-साधन।
३. महाव्रत—अहिंसादि पाँच नैतिक नियम।
४. प्रवचनमाताएँ (गुप्ति व समिति)—महाव्रतों की रक्षार्थ प्रवृत्ति और निवृत्ति में सावधानी।

५. आवश्यक—छः नित्य-कर्म ।
६. सामाचारी—सम्यक् दिनचर्या और रात्रिचर्या ।
७. वसति या उपाश्रय—ठहरने का स्थान ।
८. आहार—खान-पान ।

विशेष साध्वाचार :

जिस आचार का साधु विशेष अवसरों पर आत्मा की विशेष शुद्धि के लिए विशेषरूप से पालन करता है उसे विशेष साध्वाचार कहा गया है। इसमें मुख्यरूप से निम्नोक्त विषयों पर विचार किया जाएगा :

१. तपश्चर्या—तप ।
२. परीषहजय—क्षुधादि बाईस प्रकार के कष्टों को सहना ।
३. साधु की प्रतिमाएँ—तप-विशेष ।
४. समाधिमरण—मृत्यु-समय विधिपूर्वक अनशनव्रत के साथ शरीर-त्याग ।

विषय की अधिकता होने के कारण इस प्रकरण में साधु के केवल सामान्य आचार का ही वर्णन किया जाएगा और विशेष आचार का वर्णन अगले प्रकरण में किया जाएगा ।

दीक्षा की उत्थानिका

इसमें दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व की स्थितियों का प्रस्तुतीकरण किया गया है। जैसे : दीक्षा लेने का अधिकारी, दीक्षा के पूर्व माता-पितादि की अनुमति आदि ।

दीक्षा लेने का अधिकारी :

संसार के विषयों से निरासक्त एवं मुक्ति का अभिलाषी प्रत्येक व्यक्ति इस दीक्षा को ग्रहण कर सकता है। इसमें जाति, कुल, आयु, लिङ्ग आदि का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। संसार के विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति श्रेष्ठ जाति व कुल में उत्पन्न होकर भी इसके अयोग्य है। इसीलिए चाण्डाल जैसी नीच जाति में उत्पन्न हरिकेशिबल संसार के विषय-भोगों से निरासक्त होने के कारण

साधु होकर देवादि के द्वारा भी पूजनीय हो जाता है। इसी प्रकार मृगापुत्र, अनाथी और भृगु-पुरोहित के दोनों पुत्र युवावस्था में तथा भृगु-पुरोहित, उसकी पत्नी, इषुकार राजा और उसकी पत्नी आदि युवावस्था के बाद दीक्षा लेते हैं। अरिष्टनेमी और राजीमती विवाह की मङ्गलबेला में ही संसार से विरक्त होकर दीक्षित हो जाते हैं।[1] इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में एक समय में मुक्त होनेवाले जीवों की संख्या-गणना के प्रसङ्ग में विभिन्न-स्थानों, विभिन्न-धर्मावलम्बियों एवं विभिन्न-लिङ्गवालों की पृथक्-पृथक् संख्या गिनाई है।[2] इससे स्पष्ट है कि दीक्षा में स्थान, जाति, लिङ्ग आदि कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं है क्योंकि जो मुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है वह दीक्षा लेने का अधिकारी क्यों नही हो सकता है? अत: ग्रन्थ में जन्मना जातिवाद का खण्डन करके कर्मणा जातिवाद की स्थापना करते हुए लिखा है—'कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र होता है।'[3] यदि ब्राह्मण नीच-कार्य करता है तो वह सच्चा-ब्राह्मण नहीं है और साधु सच्चा-साधु नहीं है क्योंकि बाह्यशुद्धि की अपेक्षा अन्तरङ्ग की शुद्धि एवं सत्कार्यों से ही व्यक्ति उच्च होता है।[4] अतः सिद्ध है कि सदाचार पालन करने की सामर्थ्यवाला प्रत्येक व्यक्ति जो संसार के विषयों से विरक्त होकर मुक्ति की अभिलाषा रखता है, दीक्षा लेने का अधिकारी है। यह कोई एकान्त नियम नही है कि युवावस्था में भोगों को भोगना चाहिए और फिर वृद्धावस्था में दीक्षा लेना चाहिए।[5] यद्यपि यह सत्य है कि युवावस्था में युवकों की चित्तवृत्ति सांसारिक विषय-भोगों की ओर अधिक आकर्षित रहती है जिससे उस अवस्था में दीक्षा लेना कठिन होता है परन्तु यह भी सत्य है कि वृद्धावस्था

---

१. देखिए—परिशिष्ट २.

२. देखिए—प्रकरण ६.

३. कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा होई सुद्दो हवइ कम्मुणा॥
—उ० २५. ३३.

४. देखिए—पृ० २३८, पा० टि० ३; पृ० २३९, पा० टि० १-३.

५. उ० १४.९, २६; १९.४४; २२.३८.

में शरीर के शिथिल हो जाने पर धर्म का पालन कर सकना और भी अधिक कठिन है, जबकि युवावस्था में शक्य है। युवावस्था से ही यदि धर्म के पालन करने का प्रयत्न किया जाए तो वृद्धावस्था में भी उसके धारण करने की सामर्थ्य बनी रहती है। अतः ग्रन्थ में कहा है कि कल की प्रतीक्षा वही व्यक्ति करे जिसकी मृत्यु से मित्रता है या जो मृत्यु से बच सकता है।[1]

दीक्षार्थ माता-पिता की अनुमति :

दीक्षा लेने के पूर्व माता-पिता व सम्बन्धीजनों से अनुमति लेना चाहिए।[2] यदि वह घर का ज्येष्ठ व्यक्ति हो तो पुत्रादि को सम्पत्ति वगैरह सौंपकर दीक्षा ले लेना चाहिए।[3] यदि माता-पिता पुत्र को दीक्षा के लिए अनुमति न देकर भोगों के प्रति प्रलोभित करें तो दीक्षा लेनेवाले का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि वह माता-पिता को समझाने का प्रयत्न करे। पश्चात् आत्म-कल्याणार्थ दीक्षा ले लेवे।[4] अरिष्टनेमी और राजीमती ने दीक्षा के पूर्व माता-पिता से अनुमति ली थी या नहीं इसका यद्यपि ग्रन्थ में उल्लेख नहीं है परन्तु दीक्षा ले लेने पर वासुदेव आदि उनके कुटुम्बीजन उन्हें अभिलषित मनोरथप्राप्ति का आशीर्वाद अवश्य देते हैं।[5] इससे उनकी अनुमति की पुष्टि हो जाती है। दीक्षा के पूर्व माता-पिता से आज्ञा लेना उनके प्रति विनय एवं कर्त्तव्यपरायणता का सूचक है।

परिवार एवं सांसारिक विषय-भोगों का त्याग :

माता-पिता की आज्ञा लेने के बाद साधक को माता-पिता, भाई, पत्नी, पुत्र आदि सभी कुटुम्बीजनों तथा संसार के सभी

---

१. जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि सो हु कंखे सुए सिया॥
—उ० १४.२७.

२. उ० १४.६-७; १९.१०-११, २४, ८६, ८७; २०.१०, ३४.

३. पुत्तं ठवेत्तु रज्जे अभिनिक्खमई नमी राया।
—उ० ९.२.

४. उ० अध्ययन १४, १९.

५. उ० २२.२५-२६, ३१.

पदार्थों को महामोह एवं महाभय को पैदा करनेवाले जानकर उसी प्रकार त्याग देना चाहिए जिस प्रकार हाथी बन्धन को तोड़कर वन में चला जाता है,[1] मनुष्य वमन की हुई वस्तु को छोड़ देते हैं,[2] सर्प केंचुली को त्याग देता है,[3] रोहित मत्स्य जाल का भेदन करके चला जाता है,[4] धूलि कपड़े से निकालकर फेंक दी जाती है,[5] क्रौञ्च पक्षी आकाश में अव्याहत गति से चला जाता है,[6] हंस विस्तृत जाल का भेदन करके चला जाता है।[7] इसके अतिरिक्त

---

१. नागो व्व बंधणं छित्ता अप्पणो वसहिं वए।

—उ० १४.४८.

जहित्तु संगं च महाकिलेसं०।

—उ० २१.११.

तथा देखिए—उ० १.१; ६.१५, ६१; १५.६-१०,१६; १८.३१; १६.१०; ३५.२-३ आदि।

२. चिच्चा ण धणं च भारियं पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आविए..............................।

—उ० १०.२६.

तथा देखिए—उ० १२.२१-२२.

३. जहा य भोई तणुयं भुयंगो निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो।
एमेए जाया पयहंति भोए..............................।

—उ० १४.३४.

तथा देखिए—उ० १६.८७.

४. छिंदित्तु जालं अबलं व रोहिया मच्छा जहा कामगुणे पहाया।

—उ० १४.३५.

५. इड्ढी वित्तं च मित्ते य पुत्तदारं च नायओ।
रेणुयं व पडे लग्गं निद्धुणित्ता ण निग्गओ॥

—उ० १६.८८.

६. नहेव कुंचा समइक्कमंता तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा।
पलेंति पुत्ता य पई य मज्झं ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्का।

—उ० १४.३६.

७. वही।

यदि देव आदि की प्रेरणा से किसी अलभ्य वस्तु की भी प्राप्ति हो तो उसे प्राप्त करने की मन में कल्पना भी न करे।[1] यदि वह राजा है तो उसे यह भी नहीं सोचना चाहिए कि मेरे बाद इस गृह, देश, नगर आदि की रक्षा कैसे होगी ? क्योंकि विगतमोहवाले को कुछ भी कार्य करना शेष नहीं रह जाता है। दीक्षा लेते समय यदि उसके आश्रित प्राणी निराश्रित होकर रोने-चिल्लाने भी लगें तो यह सोचकर कि यह तो मैंने इन लोगों के साथ अच्छा नहीं किया, दीक्षा का विचार नहीं छोड़ना चाहिए, अपितु यह सोचना चाहिए कि जिस प्रकार फलवाले वृक्ष के गिर जाने पर उसके आश्रित जीवों के निराश्रित हो जाने से वृक्ष को दोषी नहीं ठहराया जाता है उसी प्रकार किसी व्यक्ति के दीक्षा ले लेने पर उसके आश्रित जीवो के निराश्रित होकर चिल्लाने से दीक्षा लेनेवाले पर कोई दोष नही आता है। आश्रित व्यक्तियों के रोने-चिल्लाने का कारण है उनका अपना स्वार्थ। अतः ग्रन्थ के नमि-प्रव्रज्या अध्ययन में राजा नमि के हृदय में दीक्षा के समय उत्पन्न होनेवाले इसी प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व को इन्द्रनमिसंवाद के द्वारा समाधान के रूप में उपस्थित किया गया है।

दीक्षा पलायनवाद नहीं :

साधु-धर्म में दीक्षा लेना गृहस्थाश्रम की कठिनाइयों से घबड़ा-कर पलायन नही है। इसीलिए राजा नमि की दीक्षा के समय जब इन्द्र उनसे यह कहता है कि गृहस्थाश्रम को त्यागकर अन्य आश्रम (सन्यासाश्रम) की प्रार्थना करने की अपेक्षा उत्तम है कि आप गृहस्थोचित कर्त्तव्यो को करे तो राजा नमि का यह उत्तर कि जो अज्ञानी मास में केवल एक बार कुशाग्रप्रमाण आहार करता है वह भी इस सर्वविरतिरूप सुविख्यात धर्म (सन्यासाश्रम) की सोलहवीं

---

१. देवाभिओगेण निओइएणं दिन्नासु रन्ना मणसा न झाया।
नरिंददेविंदभिवंदिएणं जेणामि वंता इसिणा स एसो॥
—उ० १२.२१.

तथा देखिए—उ० १२.२२.

कला को भी प्राप्त नहीं कर सकता है।[1] इससे स्पष्ट है कि दीक्षा लेना गृहस्थाश्रम से पलायन नहीं है। यदि संन्यास लेने पर भी राग-द्वेष की भावना बनी रहती है तो उसे पलायन कहा जा सकता है। अतः जैन-साधु के लिए सब प्रकार के ममत्व के साथ अपने शरीर से भी ममत्व न करने को कहा गया है।[2]

दीक्षागुरु :

दीक्षा लेते समय सामान्यतया दीक्षा देने वाले गुरु की आवश्यकता पड़ती है। साधक जिसके सान्निध्य में दीक्षित होता है वह उसका 'दीक्षागुरु' कहलाता है।[3] यदि ऐसा कोई दीक्षा-गुरु न मिले तो समर्थ होने पर वह स्वयं दीक्षा ले सकता है और दीक्षित होकर अन्य लोगों का भी दीक्षागुरु बनकर उन्हें साधुधर्म में दीक्षित कर सकता है। जैसे राजीमती पहले स्वयं दीक्षा लेती है और बाद में अन्य जीवों की दीक्षागुरु बनती है।[4] यहां इतना विशेष है कि जो उम्र में बड़ा होता है वह गुरु नहीं होता है अपितु जो पहले दीक्षा लेता है वही गुरु होता है। जिसकी दीक्षा जितने अधिक समय की होती है वह उतना ही अधिक पूज्य भी होता है।

---

१. मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं॥
—उ० ९.४४.

२. जे कम्हिवि न मुच्छिए स भिक्खू
—उ० १५.२.

वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा।
—उ० १२.४२.

३. संजओ चइउं रज्जं निक्खंतो जिणसासणे।
गद्दभालिस्स भगवओ अणगारस्स अंतिए॥
—उ० १८.१९.

४. सा पव्वइया संती पव्वावेसी तहिं बहुं।
—उ० २२.३२.

अत: दीक्षा ले लेने पर वह अपने माता-पिता आदि सभी कुटुम्बीजनों के द्वारा भी पूज्य हो जाता है।[1]

वस्त्राभूषण का त्याग एवं केशलौंच :

दीक्षित होने वाले साधक को सर्वप्रथम अपने सभी वस्त्राभूषणों का त्याग करना पड़ता है। तदनन्तर अपने सिर एवं दाढ़ी के बालों को दोनों मुट्ठियों से स्वयं या दूसरे की सहायता से उखाड़ना पड़ता है जिसे केशलौंच कहा जाता है।[2]

इस तरह साधक को दीक्षा लेने के पूर्व सर्वप्रथम अपने कुटुम्बीजनों की आज्ञा लेनी पड़ती है। इसके बाद वह कुटुम्ब एवं परिवार के स्नेहीजनों का मोह छोड़कर तथा संसार के विषय-भोगों का परित्याग करके दीक्षागुरु के समीप जाता है। वहाँ पहुँचकर वह अपने सभी वस्त्र एवं आभूषण आदि को त्यागकर दोनों हाथों से अपने बालों को भी उखाड़कर अलग कर देता है। इसके बाद वह साधु के नियमों आदि को ग्रहण करता है। यह दीक्षा संसार के कष्टमय जीवन से पलायन नहीं है तथा इसे कोई भी ग्रहण कर सकता है।

बाह्य उपकरण या उपधि

ग्रन्थ में साधु के बाह्यवेष व उपकरण आदि के विषय में जो संकेत मिलते हैं उनसे पता चलता है कि साधु गृहस्थ के द्वारा प्राप्त साधारण वस्त्रों को पहिनते थे तथा पात्र आदि कुछ अन्य

---

१. एवं ते रामकेसवा दसारा य बहूजणा।
अरिट्ठनेमिं वंदित्ता अइगया बारगाउरिं ॥
—उ० २२. २७.

२. आभरणाणि य सव्वाणि सारहिस्स पणामई।
—उ० २२. २०.

सयमेव लुंचई केसे पंचमुट्ठीहिं समाहिओ।
—उ० २२. २४.

तथा देखिए—उ० २२. ३०-३१.

उपकरण भी अपने पास में रखते थे। कुछ साधु वस्त्र से रहित भी होते थे। केशिगौतम-संवाद में भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के शिष्यों और भगवान् महावीर की परम्परा के शिष्यों में 'सान्तरोत्तर'[1] (वस्त्रसहित) और 'अचेल' (वस्त्ररहित) के

---

१. सान्तरोत्तर—केशि ने भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म को जो संतरुत्तर (सान्तरोत्तर) बतलाया है वह विचारणीय है क्योंकि इस शब्द के अर्थ में विद्वानों में विचार-भेद पाया जाता है। जैसे :

क. सान्तराणि—वर्धमानस्वामियत्यपेक्षया मानवर्णविशेषत: सविशेषाणि, उत्तराणि—महामूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमात् वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्मः पार्श्वेन देशित: ।

—उ० (२३. १३) ने० टी०, पृ० २९५.

ख. अपगते शीते वस्त्राणि त्याज्यानि अथवा······शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो भवेत्। सान्तरमुत्तरं—प्रावरणीयं यस्य स तथा क्वचित् प्रावृणोति क्वचित् पार्श्ववर्ति बिभर्ति शीताशङ्कया नाद्यापि परित्यजति, अथवाऽवमचेल एक-कल्प-परित्यागात् द्विकल्पधारीत्यर्थ:, अथवा शनै: शनै: शीतेऽपगच्छति सति द्वितीयकल्पमपि परित्यजेत् तत एकशाटक: संवृत्त:, अथवाऽऽत्यन्तिके शीताभावे तदपि परित्यजेदतोऽचेलो भवति असौ मुखवस्त्रिकारजोहरणमात्रोपधि: ।

—आचाराङ्गसूत्र २०९ (शीलांकवृत्ति, पृ० २५१).

ग. The Law taught by Vardhamāna forbids clothes, but that of the great sage Pārsva allows an under and upper garment.

—से० बु० ई०, भाग–४५, पृ० १२३.

भगवान् महावीर के धर्म को 'अचेल' (वस्त्ररहित) कहने से प्रतीत होता है कि 'सान्तरोत्तर' का अर्थ 'सचेल' (वस्त्र-सहित) होना चाहिए परन्तु उपर्युक्त उद्धरणों से तथा 'सचेल' के अर्थ में 'अचेल' की तरह 'सचेल' शब्द का प्रयोग न करके 'सान्तरोत्तर' शब्द का प्रयोग करने से प्रतीत होता है कि 'सान्तरोत्तर' का अर्थ उत्तरीय-वस्त्र और अधो-वस्त्र इन दो वस्त्रों के धारण करने से है। आचाराङ्गसूत्र-वृत्ति (अथवाऽवमचेल एक-कल्प-परित्यागात् द्विकल्पधारीत्यर्थ:) से भी इसी

भेद को लेकर एक संवाद होता है।[1] इसमें पार्श्वनाथ की परम्परा के प्रधान शिष्य केशि-श्रमण महावीर के प्रधान शिष्य गौतम से पूछते हैं कि एक ही धर्म के मानने वालों में यह वस्त्रसम्बन्धी भेद कैसा ? इसके उत्तर में गौतम कहते हैं कि विज्ञान से जानकर धर्म के साधनभूत उपकरणों की आज्ञा दी जाती है। बाह्यलिङ्ग तो लोक में मात्र प्रतीति कराते हैं कि अमुक साधु है परन्तु मोक्ष के प्रति सद्‌भूत-साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही हैं।[2] इसका आशय यह है कि यह वस्त्रसम्बन्धी भेद भगवान् महावीर

मत की पुष्टि होती है। अथवा आचाराङ्गसूत्रवृत्ति के अनुसार ही 'सान्तरोत्तर' शब्द का यह अर्थ भी उचित है कि सान्तरोत्तर वह साधु है जो वस्त्र रखता तो अवश्य है परन्तु उसका उपयोग कभी-कभी समय पड़ने पर ही करता है। उत्तराध्ययन-नेमिचन्द्रवृत्ति के अनुसार सान्तरोत्तर शब्द का अर्थ जो (महावीर के वस्त्रों की अपेक्षा से) बहुमूल्य व श्रेष्ठ-वस्त्र किया गया है वह उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि अचेल के साथ उसकी कोई संगति नहीं बैठती है। यद्यपि 'अचेल' शब्द का अर्थ टीकाओं में 'निम्नकोटि के वस्त्र' भी किया गया है परन्तु यहाँ पर 'अचेल' शब्द का सीधा-सा अर्थ है—वस्त्ररहित। यदि ऐसा अर्थ न होता तो यहाँ पर 'सान्तरोत्तर' की तरह ही 'अचेल' शब्द का प्रयोग न करके 'अवमचेल' (देखिए—पृ० २५६, पा० टि० २) शब्द का प्रयोग किया जाता जैसा कि हरिकेशिबल मुनि के लिए किया गया है।

१. अचेलगो य जो धम्मो जो इमो सन्तरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महाजसा॥

—उ० २३.२९.

२. विन्नाणेण समागम्म धम्मसाहणमिच्छियं।

—उ० २३.३१.

पच्चयत्थं च लोगस्स नाणाविहविगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च लोगे लिंगपओयणं॥

—उ० २३.३२.

तथा देखिए—उ० २३.२५.

मे लोगों की बदलती हुई सामान्यप्रवृत्ति को ध्यान में रखकर किया है। लोगों की बदलती हुई प्रवृत्ति को बतलाते हुए लिखा है कि प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् आदिनाथ के समय में मनुष्य सरल-प्रकृति के साथ मूर्ख थे (ऋजुजड़), चौबीसवें (अन्तिम) तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के समय में मनुष्य कुटिलप्रकृति के साथ मूर्ख थे (वक्रजड़) तथा दोनों तीर्थङ्करों के मध्यकाल (दूसरे से लेकर तेईसवें तीर्थङ्कर के काल) में मनुष्य सरल-प्रकृति के साथ व्युत्पन्न (ऋजुप्राज्ञ) थे।[1] इसका यह तात्पर्य है कि मध्यकाल के व्यक्ति सरल व व्युत्पन्न होने के कारण धर्म को आसानी से ठीक-ठीक समझ लेते थे तथा उसमें कुतर्क आदि न करके यथावत् उसका पालन करते थे। अतः मध्यकाल में वस्त्रादि के नियमों में शिथिलता दे दी गई थी परन्तु आदिनाथ तथा महावीर के काल में व्यक्तियों के मूर्ख (अल्पज्ञ) होने के कारण यह सोचकर कि कहीं वस्त्रादिक में रागबुद्धि न करने लगें वस्त्रादि के विषय में प्रतिबन्ध लगा दिए गए। महावीर के काल में ऐसा करना और भी अधिक आवश्यक हो गया क्योंकि इस काल के व्यक्ति वक्र होने के कारण कुतर्क द्वारा धर्म में भेद करने लगे थे। अतः महावीर के काल में स्थविरकल्प (अपवादमार्ग) की अपेक्षा से साधारणकोटि के वस्त्र धारण करने की तथा जिनकल्प (उत्सर्गमार्ग) की अपेक्षा से नग्न रहने की अनुमति दी गई।[2] इससे प्रतीत होता है कि साधु या तो साधारण-कोटि के वस्त्रधारी होते थे या नग्न। साधु के लिए सहनीय प्रमुख २२ कष्टों (परीषहों) में अचेल होना भी एक कष्ट है जिसका वर्णन करते हुए लिखा है कि साधु वस्त्र फट जाने पर या नग्न हो जाने पर भी नूतन वस्त्र की अभिलाषा न करे।[3]

---

१. पुरिमा उज्जुजड्डा उ वक्कजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ तेण धम्मे दुहा कए॥
पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु सुविसोज्झो सुपालओ॥
—उ० २३. २६-२७.

२. देखिए—पृ० २५५, पा० टि० १.

३. देखिए—पृ० ३२, पा० टि० २.

यद्यपि साधु सब प्रकार के परिग्रह से रहित होता है तथापि जीविका-निर्वाह, धर्मपालन तथा लोक में प्रतीति कराने के लिए वह जिन आवश्यक बाह्य उपकरणों को ग्रहण करता है उन्हें उपधि या उपकरण कहते हैं। इन्हें मुख्यत: दो भागों में विभक्त किया गया है :[1] १. सामान्य-उपकरण (ओघोपधि) और २. विशेष-उपकरण (औपग्रहिकोपधि)।

सामान्य उपकरण :

जो वस्त्रादि साधु के उपयोग में हमेशा आते रहते हैं वे सामान्य-उपकरण (ओघोपधि) कहलाते हैं। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में स्थविरकल्पी साधु के लिए वतमान में ऐसे १४ उपकरणों के रखने की छूट है।[2] परन्तु ग्रन्थ मे इस प्रकार के जिन उपकरणो का उल्लेख मिलता है, वे इस प्रकार हैं :[3]

१. **मुखवस्त्रिका**—श्वेत कपडे की पट्टी जिसे जैन श्वेताम्बर (स्थानकवासी और तेरापन्थी) साधु हमेशा मुख पर बाधे रहते हैं। दिगम्बर-परम्परा के साधु इस उपकरण को नही धारण करते हैं।

---

१. ओहोवहोवग्गहियं भण्डगं दुविहं मुणी।

—उ० २४.१३

२. वे चौदह उपकरण इस प्रकार हैं . १. पात्र, २. पात्रबन्ध, ३. पात्र-स्थापन, ४. पात्रप्रमार्जनिका, ५. पटल, ६ रजस्त्राण, ७. गुच्छक, ८-९. दो चादरें, १०. ऊनीवस्त्र (कम्बल), ११. रजोहरण, १२. मुखवस्त्रिका, १३. मात्रक (पात्र-विशेष) और १४ चोलपट्टक, (लंगोटी)।

—जै० सा० इ० पू०, पृ० ४२४.

३. पुव्विल्लम्मि चउब्भाए पडिलेहित्ताण भण्डयं।

....

मुहपोत्तिं पडिलेहित्ता पडिलेहिज्ज गोच्छगं।
गोच्छगलइयंगुलिओ वत्थाइं पडिलेहए॥

—उ० २६.२१-२३.

२. **रजोहरण** (**गोच्छक**)—जीवों की रक्षा करने तथा धूलि आदि साफ करने की मार्जनीविशेष। यह भी साधु के पास हमेशा रहती है क्योंकि प्रत्येक कायिक-क्रिया के प्रारम्भ में इसकी आवश्यकता पड़ती है। दिगम्बर-परम्परा के साधुओं का भी यह आवश्यक उपकरण है।

३. **पात्र** (**भाण्डक**)—लकड़ी, तूंबी या मिट्टी आदि के बर्तन। इनका उपयोग आहार, जल आदि के लाने एवं रखने में होता है। आचाराङ्गसूत्र में आवश्यकतानुसार दो-चार पात्र रखने का उल्लेख मिलता है।[1] यह भी एक आवश्यक उपकरण है। दिगम्बर-परम्परा के साधु सिर्फ एक पात्र रखते हैं जिसे 'कमण्डलु' कहते हैं।

४. **वस्त्र**—पहिनने के कपड़े। ये वस्त्र साधारणकोटि के होते थे जिससे उनके प्रति ममत्व नहीं होता था। यद्यपि महावीर ने अचेल धर्म (नग्न रहने) का उपदेश दिया था परन्तु हरिकेशिबल को 'अवमचेलए' (साधारणकोटि के वस्त्रवाला) कहा है।[2] इसके अतिरिक्त वस्त्रों को प्रतिदिन खोलकर उन्हें ठीक से देखने एवं रजोहरण से उनका प्रमार्जन (सफाई) करने का विधान किया गया है।[3] इससे स्पष्ट है कि साधु को वस्त्र रखने की छूट अवश्य थी परन्तु उनकी सीमा निश्चित थी।

५. **पादकम्बल**—इसका ग्रन्थ मे दो जगह उल्लेख मिलता है।[4] आत्मारामजी ने दोनों स्थानों पर भिन्न-भिन्न दो अर्थ किए

---

१. आचाराङ्गसूत्र २.१.६.

२. ओमचेलए पंसुपिसायभूए संकरदूसं परिहरिय कण्ठे।
—उ० १२.६.

३. देखिए—पृ० २५८, पा० टि० ३.

४. संथारं फलगं पीढं निसिज्जं पायकंबलं।
अप्पमज्जियमारुहई पावसमणि त्ति वुच्चई॥
—उ० १७.७.
पडिलेहेइ पमत्ते अवउज्झइ पायकंबलं।
पडिलेहाअणाउत्ते पावसमणि त्ति वुच्चई॥
—उ० १७.९.

हैं : १. पादप्रोंछन[1] (पैर साफ करने का वस्त्रखण्ड) और २ पात्र व कम्बल। इन दोनों अर्थों में प्रथम अर्थ (पादप्रोंछन) अधिक उपयुक्त मालूम पड़ता है क्योंकि ग्रन्थ में कहा है कि जो साधु पादकम्बल को ठीक से साफ किए बिना उस पर बैठ जाता है वह पापश्रमण है।[2]

विशेष उपकरण :

जो उपकरण उपयोग करने के बाद गृहस्थ को वापिस लौटा दिए जाते हैं या जो अवसरविशेष होने पर कुछ समय के लिए ग्रहण किए जाते हैं वे विशेष उपकरण (औपग्रहिकोपधि) कहलाते हैं। जैसे :[3]

१ पीठ—बैठने के लिए लकड़ी की चौकी।

२. फलक—सोने के लिए लकड़ी का पाटा।

३. शय्या—ठहरने का स्थान (उपाश्रय)।

४. संस्तारक—घास, तृण आदि का बनाया गया आसन (बिस्तर)।

इस तरह साधु के इन सभी उपकरणों में मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि आवश्यक उपकरण हैं और पीठ, फलक आदि विशेष। आगम-ग्रन्थों में स्त्रियों के लिए कुछ अधिक उपकरण रखने की अनुमति है।[4] ये उपकरण संयम में सहायक होने के कारण ही आवश्यक हैं। इनसे साधु की पहचान भी होती है।[5]

पाँच महाव्रत

साधु दीक्षा लेने के बाद सर्वप्रथम पाँच नैतिक महाव्रतों को धारण करता है। ये महाव्रत साधु के सम्पूर्ण आचार के आधार-स्तम्भ हैं। इनके नाम क्रमश: इस प्रकार हैं :[6]

---

१. डा० मोहनलाल मेहता ने पादप्रोंछन का अर्थ रजोहरण किया है।
—देखिए, जैन आचार, पृ० १६५

२. देखिए—पृ० २५६, पा० टि० ४.

३. वही; उ० २५.१.

४. जै० सा० बृ० इ०, भाग-२, पृ० २०६.

५. देखिए—पृ० २५६, पा० टि० २.

६. अहिंस सच्चं च अतेणगं च तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंचमहव्वयाणि चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ॥
—उ० २१.१२.

तथा देखिए—उ० १.४७; १२.४१; १६.११,८९; २०.३९; ३१.७.

१. अहिंसा-महाव्रत—सब प्रकार के प्राणातिपात से विरमण।
२. सत्य-महाव्रत—सब प्रकार के मृषावाद से विरमण।
३. अचौर्य-महाव्रत—सब प्रकार के अदत्तादान से विरमण।
४. ब्रह्मचर्य-महाव्रत—सब प्रकार के यौन सम्बन्धों से विरमण।
५. अपरिग्रह-महाव्रत—सब प्रकार के धनादि-संग्रह से विरमण।

इन पाँच नैतिक व्रतों का अतिसूक्ष्मरूप से पालन करना ही महाव्रत कहलाता है। इनके स्वरूपादि इस प्रकार हैं :

अहिंसा महाव्रत :

मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से किसी भी परिस्थिति में त्रस एवं स्थावर जीवों को दुःखित न करना अहिंसा-महाव्रत है।[1] मन में किसी दूसरे को पीड़ित करने की सोचना तथा किसी दूसरे के द्वारा किसी अन्य को पीड़ित करने पर उसका समर्थन करना भी हिंसा है। अतः ग्रन्थ में कहा है कि जो हिंसा की अनुमोदना करते हैं वे भी उसके फल को भोगे बिना नहीं रह सकते हैं।[2] भगवान् अरिष्टनेमी जब अपने विवाह के अवसर पर देखते हैं कि बहुत से पशुओं को मेरे निमित्त से (विवाह की खुशी में खाने के लिए) मारा जाएगा तो वे कहते हैं कि मेरे लिए यह परलोक में कल्याणप्रद नहीं है।[3] जो हिंसा में सुख मानते हैं उनके विषय में ग्रन्थ में बहुत ही सुन्दर कहा है कि सुख-दुःख अपनी आत्मा में ही रहते हैं तथा सब जीवों को अपने प्राण अति प्रिय लगते हैं। अतः हिंसावृत्ति को छोड़कर

---

१. जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं मणसा वयसा कायसा चेव॥
—उ० ८.१०.
तथा देखिए—उ० १२.३९,४१; २५.२३ आदि।

२. न हु पाणवहं अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं।
—उ० ८.८.

३. जइ मज्झ कारणा एए हम्मंति सुबहुजिया।
न मे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविस्सई॥
—उ० २२.१९.

उनकी रक्षा करनी चाहिए।[1] अहिंसाव्रती साधु के लिए इतना ही नहीं अपितु अपना भी अहित करने वाले के प्रति क्षमाभाव रखना, उसे अभयदान देना, सदा विश्वमैत्री व विश्वकल्याण की भावना रखना तथा वध करने के लिए तत्पर होने पर भी उसके प्रति जरा भी क्रोध न करना, यह भी आवश्यक है।[2] इसके अतिरिक्त गृह-निर्माण, अन्नपाचन, शिल्पकला, क्रय-विक्रय, अग्नि जलाना आदि क्रियाएँ भी अहिंसाव्रती साधु को न तो स्वयं करना चाहिए और न दूसरे से करवाना चाहिए क्योंकि इन क्रियाओं के करने से सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है।[3] इसीलिए साधु को भिक्षा आदि लेते समय इन सब दोषों का बचाना

---

१. अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए॥
—उ० ६.७.

तथा देखिए—उ० ६ २; १३.२६ आदि।

२. पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
—उ० १२.३२.

महप्पसाया इसिणो हवंति न हु मुणी कोवपरा हवंति।
—उ० १२.३१.

हओ न संजले भिक्खू मणं पि न पओसए।
—उ० २ २६.

मेत्तिं भूएसु कप्पए।
—उ० ६.२.

हियनिस्सेसाए सव्वजीवाणं।
—उ० ८.३.

तथा देखिए—उ० २.२३-२७; १३.१५; १५.१६; १८ ११; १९.९०, ९३; २०.५७; २१.१३ आदि।

३. न सयं गिहाइं कुव्विज्जा णेव अन्नेहिं कारए।
गिहकम्मसमारंभे भूयाणं दिस्सए वहो॥
—उ० ३५.८.

तथा देखिए—उ० ३५.९-१५; ९.१५; १५.१६; २१.१३ आदि।

आवश्यक बतलाया गया है।[1] मल-मूत्र आदि का त्याग करते समय भी सूक्ष्म जीवों की हिंसा न हो एतदर्थ बहुत नीचे तक अचित्तभूमि में मल-मूत्र विसर्जन का निर्देश किया गया है।[2] इसके साथ ही वैदिक यागादि क्रियाओं के हिंसारूप होने से ग्रन्थ में अहिंसा-यज्ञ के करने का उपदेश दिया गया है। इस अहिंसा व्रत का ठीक से पालन करने के लिए आवश्यक है कि अहिंसाव्रती प्रमाद (असावधानी) से रहित होकर आचरण करे क्योंकि प्रमादपूर्वक किया गया आचरण अहिंसा से युक्त होने पर भी हिंसारूप है तथा अप्रमादपूर्वक किया गया आचरण हिंसा से युक्त होने पर भी अहिंसारूप है। अतः प्रमादरहित होकर आचरण करने का उपदेश दिया गया है[3] तथा अहिंसा व्रत के पालन करने को दुष्कर बतलाया गया है।[4] इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में अहिंसा व्रत का पालन करनेवाले को ब्राह्मण कहा गया है[5] तथा इसके पालन न करने का फल जन्मान्तर में नरक की

---

१. देखिए—एषणा एवं उच्चारसमिति।

२. देखिए—प्रकरण ७ तथा मेरा निबन्ध 'यज्ञ : एक अनुचिन्तन' श्रमण, सित०-अक्टू०, १९६६.

३. खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी अप्पाणरक्खी चरेऽप्पमत्तो॥
—उ० ४.१०.

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स॥
—उद्धृत, सर्वार्थसिद्धि १.११.

तथा देखिए—उ० २.२२; ४.६-८; ६.११; १०.१-३६; २१.१४-१५; २६.२२ आदि।

४. समया सव्वभूएसु सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायाविरई जावज्जीवाए दुक्करं॥
—उ० १९.२६.

५. तस पाणे वियाणेत्ता संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेण तं वयं बूम माहणं॥
—उ० २५.२३.

प्राप्ति बतलाया गया है।[1] वैदिक-संस्कृति में भी अहिंसा को समस्त धार्मिक-कार्यों का श्रेष्ठ अनुशासन माना गया है।[2] इस तरह अहिंसाव्रती साधु को ऐसी कोई भी क्रिया या मानसिक-संकल्प आदि न करना चाहिए जो दूसरों के लिए दुःख का हेतु बन सके। इसका कारण यह है कि सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन महाव्रतों के मूल में तथा अन्य आचारपरक साधु के जितने भी नियमोपनियम हैं उन सब के मूल में अहिंसा ही है।

सत्य महाव्रत :

क्रोध, लोभ, हास्य, भय एवं प्रमाद आदि इन झूठ बोलने के कारणों के मौजूद रहने पर भी मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से कभी भी झूठ न बोलकर हमेशा सावधानीपूर्वक हितकारी, सार्थक और प्रिय वचनों को ही बोलना सत्य-महाव्रत है।[3] अतः निरर्थक और अहितकर बोला गया वचन सत्य होने पर भी त्याज्य है। इसी प्रकार सत्य महाव्रती को असभ्य-वचन भी नहीं बोलना चाहिए।[4] इसके अतिरिक्त 'अच्छा भोजन बना है', 'अच्छी तरह पकाया गया है' इस प्रकार की सावद्य वाणी (दोषयुक्त वचन) तथा 'आज मैं यह कार्य अवश्य कर लूंगा', 'अवश्य ही ऐसा होगा' इस प्रकार की निश्चयात्मक

---

१. पाणवहं मिया अयाणंता मंदा नरयं गच्छंति ।

—उ० ८.७.

२. अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।

—मनुस्मृति २.१५६.

३. कोहा व जइ वा हासा लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ तं वयं बूम माहणं ॥

—उ० २५.२४.

निच्चकालप्पमत्तेणं मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं निच्चाउत्तेण दुक्करं ॥

—उ० १६.२७.

४. वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु ।

—उ० २१.१४.

वाणी भी साधु को नहीं बोलना चाहिए[1] क्योंकि सावद्य वाणी बोलने से हिंसा की और निश्चयात्मक वाणी बोलने से मिथ्या होने की आशंका रहती है। इस तरह सत्यमहाव्रती के लिए मन-वचन-काय से एवं कृत-कारित-अनुमोदना से किसी भी अवस्था में उपयोगहीन (निरर्थक), सावद्य, निश्चयात्मक, असभ्य (अशोभन) एवं अहितकर वचन नहीं बोलना चाहिए अपितु उपर्युक्त दोषों को बचाते हुए हमेशा सावधानीपूर्वक हितकारी, अल्प और प्रियवचन ही बोलना चाहिए।

त्रिविधसत्य और उसका फल—ग्रन्थ में वचन बोलने की क्रमिक तीन अवस्थाएँ बतलाई गई हैं :[2] १. मन में बोलने का संकल्प (संरम्भ), २ बोलने का प्रयत्न (समारम्भ) और ३. बोलने में प्रवृत्ति (आरम्भ)। वचन बोलने की इन तीन क्रमिक अवस्थाओं में सत्य बोलनेरूप से प्रवृत्ति करने पर इनके ही क्रमशः नाम भावसत्य, करणसत्य और योगसत्य हैं। अर्थात् मन में सत्य बोलने का संकल्प करना 'भावसत्य', सत्य बोलने का प्रयत्न करना 'करणसत्य' और सत्य बोलना 'योगसत्य' है। इस त्रिविध-सत्य से जिस फल की प्राप्ति होती है वह इस प्रकार है :

१. भावसत्य का फल—भावसत्य से साधक का अन्तःकरण विशुद्ध होता है और वह धर्म का सेवन करके इस जन्म को तथा आगामी जन्म को भी सफल कर लेता है।[3]

---

१. मुसं परिहरे भिक्खू ण य ओहारिणीं वए।
माला दोसं परिहरे मायं य वज्जए सया॥
—उ० १.२४.
सुकडित्ति सुपक्कित्ति सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति सावज्जं वज्जए मुणी॥
—उ० १.३६.

२. संरंभसमारंभे आरंभे य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु नियतेज्ज जयं जई॥
—उ० २४.२३.

३. ......भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ। भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोयधम्मस्स आराहए भवइ।
—उ० २९.५०.

२. करणसत्य का फल—इससे जीव सत्यरूप क्रिया के करने की शक्ति को प्राप्त करता है और वह जैसा कहता है वैसा ही करके प्रामाणिक पुरुष बन जाता है।[1]

३. योगसत्य का फल—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति (क्रिया) का नाम योग है। अतः जो क्रियारूप में भी सत्य का ही पालन करता है वह अपने योगों को विशुद्ध कर लेता है।[2]

इस तरह इस सत्यमहाव्रत के मूल में भी अहिंसा की भावना निहित है। इसीलिए सत्य होने पर भी अहितकारी वचन बोलने का निषेध किया गया है। इसके अतिरिक्त झूठ बोलनेवाला व्यक्ति एक झूठ को छिपाने के लिए अन्य अनेक झूठ बोलता है और हिंसा, चोरी आदि क्रियाओ मे प्रवृत्त होता हुआ सुखी नही होता है।[3] इसके विपरीत सत्य बोलनेवाला साधु जैसा बोलता है वैसा ही करता है और प्रामाणिक पुरुष होकर सुखी होता है। वैदिक-सस्कृति मे भी सत्यव्रत को हजारों अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया गया है तथा इस सत्यव्रत के पालन करनेवाले को ब्रह्म की प्राप्ति बतलाई गई है।[4] ग्रन्थ में इस व्रत से युक्त जीव को ब्राह्मण कहा गया है तथा इस व्रत का पालन करना दुष्कर बतलाया गया है।[5]

अचौर्य महाव्रत :

तुच्छ से तुच्छ वस्तु को भी स्वामी की आज्ञा के बिना ग्रहण न करना अचौर्यमहाव्रत है। मन-वचन-काय एवं कृत-

---

१. '''करणसच्चेणं करणसत्ति जणयइ। करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ।

—उ० २९.५१.

२. ''जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ।

—उ० २९.५२.

३. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

—उ० ३२.३१.

४. उ० आ० टी०, पृ० ११२२.

५. देखिए—पृ० २६४, पा० टि० ३.

कारित-अनुमोदना से इस व्रत का भी पालन करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जो वस्तु ग्रहण करे वह निर्दोष भी हो[1] क्योंकि सदोष वस्तु के ग्रहण करने पर हिंसा का दोष लगता है। साधु के लिए सभी सचित्त वस्तुओं के ग्रहण करने का निषेध है। अतः किसी के द्वारा सचित्त वस्तु के दिए जाने पर भी उसका ग्रहण करना चोरी है। स्वीकृत व्रतों का ठीक से पालन न करना भी चोरी है। इस अचौर्यव्रत की दृढ़ता के लिए ग्रन्थ में बहुत ही सुन्दर कहा है—'धनादि ग्रहण करना नरक का हेतु है (हिंसादि में प्रवृत्ति कराने के कारण) ऐसा समझकर साधु एक तृण को भी ग्रहण न करे। आहार के बिना शरीर का निर्वाह नहीं हो सकता है। अत अपनी निन्दा करता हुआ पात्र में दिए गए निर्दोष आहार को ही ग्रहण करे।'[2] वैदिक-सस्कृति में इसका पालन करनेवाले को ब्रह्मत्व की प्राप्ति बतलाई गई है।[3] ग्रन्थ में इस व्रत का पालन करने वाले को ब्राह्मण कहा गया है तथा इस व्रत का पालन करना दुष्कर बतलाया गया है।[4]

ब्रह्मचर्य महाव्रत :

मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से मनुष्य, तिर्यञ्च एवं देव शरीरसम्बन्धी सब प्रकार के मैथुनसेवन का त्याग करना

---

१. दंतसोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स गिण्हणा अवि दुक्करं ॥
—उ० १६.२८.

चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गिण्हाइ अदत्तं जे तं वयं बूम माहणं ॥
—उ० २५.२५.

२. आयाणं नरयं दिस्स नायइज्ज तणामवि।
दोगुंछी अप्पणो पाए दिण्णं भुंजिज्ज भोयणं ॥
—उ० ६.७.

३. उ० आ० टी०, पृ० ११२३.

४. देखिए—पृ० २१६, पा० टि० १.

ब्रह्मचर्य महाव्रत है।[1] ग्रन्थ में इसके १८ भेदों का संकेत मिलता है।[2] औदारिकशरीर (मनुष्य व तिर्यञ्च-सम्बन्धी शरीर) और वैक्रियकशरीर (देवसम्बन्धी शरीर) से मैथुन सेवन संभव होने से टीकाकारों ने इन दोनों प्रकार के शरीरों के साथ मैथुन सेवन का कृत-कारित-अनुमोदना तथा मन-वचन-काय से त्याग करनेरूप ब्रह्मचर्य के १८ भेद गिनाए हैं।[3] ये जो ब्रह्मचर्य के १८ भेद गिनाए गए हैं वे सामान्य अपेक्षा से हैं अन्यथा प्रति व्यक्ति के शरीर-भेद से इसके अनेक भेद संभव हैं। इस ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए निम्नोक्त दस प्रकार के समाधिस्थानों का अनुपालन आवश्यक है :

समाधिस्थान—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जिन दस विशेष बातों का त्याग आवश्यक बतलाया गया है उन्हें ग्रन्थ में 'समाधिस्थान' के नाम से कहा गया है।[4] चित्त को एकाग्र करने में इनका विशेष महत्त्व होने के कारण इन्हें समाधिस्थान कहा गया है। समाधिस्थान के दस प्रकार निम्नोक्त हैं :

१. स्त्री आदि से संकीर्ण स्थान के सेवन का त्याग—स्त्री, पशु आदि का जहा पर आवागमन सभव है ऐसे मन्दिर, सार्वजनिक स्थान, दो घरों की सन्धियां, राजमार्ग आदि स्थानों में साधु अकेला

---

१. दिव्वमाणुस्सतेरिच्छं जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा कायवक्केणं तं वयं बूम माहणं ॥
—उ० २५.२६.

विरई अबंभचेरस्स कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बंभं धारेयव्वं सुदुक्करं ॥
—उ० १६.२६.

२. उ० ३१. १४.

३. वही, आ० टी०, पृ० १३६६.

४. इमे खलु ते थेरेहिं भगवतेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिदिए गुत्तबंभयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ।
—उ० १६. १ (गद्य).

खड़ा न होवे[1] क्योंकि स्त्री आदि से आकीर्ण स्थानों पर ठहरने से उनकी कामक्रीडाएँ देखकर ब्रह्मचारी को कामेच्छा जाग्रत हो सकती है। पूर्ण संयमी को स्त्री के संपर्क से बचना चाहिए अन्यथा रथनेमी की तरह कामजन्य चञ्चलता का होना संभव है।[2] जैसे बिल्लियों के पास चूहों का रहना उचित नहीं है उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष का स्त्री के पास (स्त्री का पुरुष के पास) रहना ठीक नहीं है।[3] अतः ब्रह्मचारी साधु के लिए एकान्तस्थान ही उपयुक्त है।[4]

२. कामराग को बढ़ाने वाली स्त्री-कथा का त्याग—मन में आह्लाद को पैदा करने वाली तथा कामराग को बढ़ाने वाली स्त्री-कथा कहने व सुनने से ब्रह्मचर्य टिक नहीं सकता है। अतः ब्रह्मचारी को स्त्री-कथा से दूर रहना चाहिए।[5] जिस स्त्री-कथा

---

१. जं विवित्तमणाइण्णं रहियं इत्थिजणेण य।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा आलयं तु निसेवए॥
—उ० १६.१.

समरेसु अगारेसु संधीसु य महापहे।
एगो एगित्थिए सद्धिं णेव चिट्ठे न संलवे॥
—उ० १.२६.

तथा देखिए—उ० ८.१९; १६.१ (गद्य), ११; २२.४५; ३२.१३.

२. देखिए—परिशिष्ट २.

३. जहा बिरालावसहस्स मूले न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे न बंभयारिस्स खमो निवासो॥
—उ० ३२.१३.

४. कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं न चाइया खोभइउं तिगुत्ता।
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो॥
—उ० ३२.१६.

५ मणपल्हायजणणी कामरागविवड्ढणी।
बम्भचेररओ भिक्खू थीकहं तु विवज्जए॥
—उ० १६.२.

तथा देखिए—उ० १६. २ (गद्य), ११.

से धर्म में रुचि बढ़े ऐसी पतिव्रता या ब्रह्मचारिणी स्त्री की कथा कही जा सकती है परन्तु ऐसी कथा भी एकान्त में नहीं कहना चाहिए क्योंकि कभी-कभी उसका विपरीत प्रभाव भी संभव होता है।

३ स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठने का त्याग—स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठकर कथा, वार्तालाप, परिचय आदि करने से कामपीड़ा उत्पन्न हो सकती है। अतः ब्रह्मचारी को स्त्रियों के साथ परिचयादि न बढ़ाकर उनके साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए।[1] वृत्तिकार नेमिचन्द्र ने पूर्व-परम्परा का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस स्थान पर कोई स्त्री बैठ चुकी हो उस स्थान पर उसके उठने के समय से लेकर एक मुहूर्त तक नहीं बैठना चाहिए[2] क्योंकि तत्काल वहां पर बैठने से शंका आदि दोष होने की सभावना रहती है।

४. रागपूर्वक स्त्रियो के रूपादि-दर्शन का त्याग—स्त्रियों के अङ्गों (मस्तकादि), प्रत्यङ्गों (कुच, कुक्षि आदि), मम्यानो (कटिप्रदेश आदि) तथा नाना प्रकार की मनोहर मुद्राओ को देखने से चक्षुराग उत्पन्न होता है। अत ब्रह्मचारी को चक्षु इन्द्रिय के विषयभूत स्त्रियों के रूपादि का दर्शन नहीं करना चाहिए।[3] चक्षु का स्वभाव है—देखना। अतः इस प्रकार के प्रसङ्ग उपस्थित होने पर वीतरागतापूर्वक शुभ-ध्यान करना चाहिए।[4] स्त्रियों के रूप-लावण्य में पुरुष को

---

१. तंहा खलु नो निग्गंथे इत्थीहिं सद्धि सन्निसेज्जागए विहरेज्जा।

—उ० १६.३.

तथा देखिए—उ० १६.३ (गद्य), ११.

२. उत्थितास्वपि तासु मुहूर्तं तत्र नोपवेष्टव्यमिति सम्प्रदायः।

—वही, ने० वृ०, पृ० २२०.

३. अंगपच्चंगसंठाणं चारुल्लवियपेहियं।

बंभचेररओ थीणं चक्खुगिज्झं विवज्जए॥

—उ० १६.४.

तथा देखिए—उ० १६.४ (गद्य), ११; ३२.१४-१५; ३५.१५.

४. इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं।

—उ० ३२.१५.

आसक्ति न हो इसीलिए ग्रन्थ में स्त्रियों को 'राक्षसी' एवं 'पङ्कभूत' (कीचड़) तक कहा है—'राक्षसी स्त्रियों में साधु को प्रलोभित नहीं होना चाहिए क्योंकि ये नाना प्रकार के चित्तवाली हैं तथा वक्षस्थल में मांस-पिण्ड (कुच) को धारण करती हैं। ये पहले पुरुष को प्रलोभित करती हैं, पश्चात् उनसे दास की तरह व्यवहार करती हैं। अतः इनको कीचड़रूप जानकर साधु अपने आपका हनन न करे तथा आत्मगवेषी बनकर संयम का पालन करे।[1]

५. स्त्रियों के विविध प्रकार के शब्दों के श्रवण का त्याग—ब्रह्मचारी साधु को श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य स्त्रियों के कूजित (सुरतकाल में होनेवाले कपोतादि पक्षियों की तरह अव्यक्त शब्द), रुदित (रति-कलह), गीत (गानयुक्त शब्द), हसित (हास्ययुक्त शब्द), स्तनित (गम्भीर शब्द या सुरतकाल में होनेवाला सीत्कार), क्रन्दित (करुण रोदन), विलाप (पतिवियोगजन्य पीड़ा) आदि कामराग-वर्धक वचनों को नहीं सुनना चाहिए[2] क्योंकि इस प्रकार के कामवर्धक वचनों का श्रवण करने से मन चलायमान हो जाता है।

६. पूर्वानुभूत कामक्रीड़ा के स्मरण का त्याग—ब्रह्मचारी साधु को ब्रह्मचर्यव्रत लेने के पूर्व अनुभव की गई कामक्रीड़ा का स्मरण नहीं करना चाहिए[3] क्योंकि ऐसा करने से मन विचलित हो सकता है।

---

१. पंकभूयाओ इत्थिओ।

—उ० २.१७.

नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा गंडवच्छासु णेगचित्तासु।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता खेल्लंति जहा व दासेहिं॥

—उ० ८.१८.

२. कुइयं रुइयं गीयं हसियं थणियकंदियं।
बंभचेररओ थीणं सोयगिज्झं विवज्जए॥

—उ० १६.५.

तथा देखिए—उ० १६.५ (गद्य), १२.

३. हासं किड्डं रइं दप्पं सहसाऽवत्तासियाणि य।
बंभचेररओ थीणं नाणुचिंते कयाइवि॥

—उ० १६.६.

तथा देखिए—उ० १६.६ (गद्य), १२; ३२.१४.

७. सरस आहार का त्याग—जिस प्रकार स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष को पक्षीगण पीड़ित करते हैं उसी प्रकार घी, दूध आदि रस-वान् द्रव्यों के सेवन से कामवासना उद्दीपित होकर पीड़ित करती है। अतः ब्रह्मचारी के लिए सरस आहार का त्याग आवश्यक है।[1]

८. अतिभोजन का त्याग—जिस प्रकार प्रचुर ईंधनवाले वन में उत्पन्न हुई दावाग्नि वायु के वेग के कारण शान्त नहीं होती है उसी प्रकार प्रमाण से अधिक भोजन करनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि (कामाग्नि) शान्त नहीं होती है। अतः ब्रह्मचारी साधु को ब्रह्मचर्य की रक्षा एवं चित्त की स्थिरता के लिए थोड़ा आहार करना चाहिए।[2] यदि अल्पाहार से भी ब्रह्मचर्य में बाधा आए तो ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए कभी-कभी आहार का त्याग भी करना चाहिए। अतः ग्रन्थ में साधु के आहारग्रहण न करने के कारणों में ब्रह्मचर्य की रक्षा को भी एक कारण माना गया है।[3]

---

१. पणीयं भत्तपाणं च खिप्पं मयविवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए॥
—उ० १६.७

रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥
—उ० ३२.१०.

तथा देखिए—उ० १६.७ (गद्य), १२.

२. धम्मलद्धं मियं काले जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजिज्जा बंभचेररओ सया॥
—उ० १६.८.

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो न बंभयारिस्स हियाय कस्सई॥
—उ० ३२.११.

तथा देखिए—उ० १६.८ (गद्य), १३.

३. देखिए—आहार, प्रकरण ४.

९. शरीर की विभूषा का त्याग—शरीर का शृङ्गार करने से कामेच्छाएँ जाग्रत होती हैं। अतः ब्रह्मचारी साधु को मण्डन, स्नान आदि से शरीर को अलंकृत नहीं करना चाहिए।[1]

१०. शब्दादि पाँचों इन्द्रियसम्बन्धी विषयों के भोगोपभोग का त्याग—मधुर शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँचों विषय कामवासना को जाग्रत करने के कारण 'कामगुण' कहे जाते हैं। अत: इन सभी प्रकार के कामगुणों का ब्रह्मचारी के लिए त्याग आवश्यक है।[2]

इस तरह ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जितने भी ब्रह्मचर्य से डिगानेवाले शंकास्थल हैं उन सबका त्याग आवश्यक है क्योंकि ये बहुत ही स्वल्पकाल में तालपुट विष (अति उग्र विष) की तरह ब्रह्मचारी के लिए घातक होते हैं।[3] ग्रन्थ में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जो 'स्त्री' शब्द का सन्निवेश किया गया है वह कामसंतुष्टि का उपलक्षण है। अत: जिसे जिस किसी से भी कामसंतुष्टि हो उसे उसीका त्याग करना चाहिए। इन समाधिस्थानों का ब्रह्मचर्य की रक्षा में विशेष महत्त्व होने के कारण इन्हें ही ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ कहा गया है।[4] दसवां समाधिस्थान अन्य ९ समाधिस्थानों का संग्रह-

---

१. विभूसं परिवज्जेज्जा सरीरपरिमंडणं।
बंभचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए॥

—उ० १६.९.

तथा देखिए—उ० १६.९ (गद्य), १३.

२. सद्दे रूवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए॥

—उ० १६.१०.

तथा देखिए—उ० १६.१० (गद्य), १३.

३. नरस्सऽत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा।

—उ० १६.१३.

संकट्ठाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं।

—उ० १६.१४.

४. उ० ११.१०.

रूप होने से उसे पृथक् न मानकर ६ ही ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ बतलाई गई हैं।[1]

ब्रह्मचर्य की दुष्करता—ब्रह्मचर्य को ग्रन्थ में अन्य सभी व्रतों की अपेक्षा अधिक दुष्कर बतलाया गया है। यह वह अमोघ कवच है जिसके धारण कर लेने पर अन्य सभी व्रत आसानी से धारण किए जा सकते हैं। अतः इसकी दुष्करता का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थ में लिखा है—'संसारभीरु, धर्म में स्थित, मोक्षाभिलाषी मनुष्य के लिए इतना दुस्तर इस लोक में अन्य कुछ भी नहीं है जितना कि मूर्खों के मन को हरण करने वाली स्त्रियाँ। जो इनको पार कर लेता है उसके लिए शेष पदार्थ सुखोत्तर हो जाते हैं। जैसे महासमुद्र के पार कर लेने पर गंगा जैसी विशाल नदियाँ आसानी से पार करने योग्य हो जाती हैं।'[2] यह दुस्तरता अधीर पुरुषों के लिए ही बतलाई गई है क्योंकि वे श्लेष्मा में फँसने वाली मक्षिका की तरह उनमें उलझ जाते हैं और तब जिस प्रकार कीचड़वाले तालाब में फँसा हुआ हाथी कीचड़ से रहित तीर प्रदेश को देखकर भी वहाँ से नहीं निकल पाता है उसी प्रकार कामादि में आसक्त वे लोग कामादि विषयों को नहीं छोड़ पाते हैं। इसके विपरीत ये विषय-भोग स्वयं पुरुष को छोड़कर उसी प्रकार अन्यत्र चले जाते हैं जिस प्रकार फलों से रहित वृक्ष को छोड़कर पक्षी अन्यत्र चले जाते हैं। परन्तु जो सुव्रती साधु हैं वे

---

१. वही, आ० टी०, पृ० १३६१.

२. मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए जहित्थिओ बालमणोहराओ॥
एए य संगे समइक्कमित्ता सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता नई भवे अवि गंगासमाणा॥
—उ० ३२.१७-१८.

तुलना कीजिए—
जहा नई वेयरणी दुत्तरा इह संमया।
एवं लोगंसि नारीओ दुत्तरा अमईमया॥
—सूत्रकृताङ्ग ३ ४.१६.

तथा देखिए—पृ० २६८, पा० टि० १; उ० १३.२७,२६; १६.१३-१४,१६; १६.२१,३४ आदि।

कामभोगरूपी समुद्र को उसी प्रकार पार कर लेते हैं जिस प्रकार कोई कुशल वणिक् समुद्र को पार कर लेता है।[1]

इस तरह जो इस व्रत के धारण करने में समर्थ हो जाता है वह अन्य व्रतों को सरलतापूर्वक धारण कर लेता है क्योंकि कामवासना पाँचों इन्द्रियों के विषयों के सेवन से उद्दीपित होती रहती है। अतः समाधिस्थानों की प्राप्ति के लिए पाँचों इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति का त्याग आवश्यक बतलाया गया है। इस तरह जब पाँचों इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं तो वह जितेन्द्रिय हो जाता है और तब जितेन्द्रिय के लिए कोई भी व्रत धारण करना कठिन नहीं रह जाता है। इसीलिए ग्रन्थ में बहुत्र पाँचों इन्द्रियों के विषयों से प्रलोभित न होकर जितेन्द्रिय, संयत और सुसमाहित होने का उपदेश दिया गया है।[2] रथनेमी जैसे संयमी के द्वारा प्रार्थित होने पर भी राजीमती का संयम में दृढ़ रहना एवं उसे भी संयम में दृढ़ करना ब्रह्मचर्य व्रत में दृढ़ रहना है। इसके बाद ब्रह्मचर्य में दृढ़ होकर दोनों अन्य व्रतों का भी सरलतापूर्वक पालन करके मुक्ति को प्राप्त करते हैं।[3] यद्यपि इस व्रत का भी उद्देश्य अहिंसा की भावना को दृढ़ करना है तथापि जो इसे सबसे अधिक कठिन बतलाया गया है वह इसलिए कि कामसुख से प्रेरित

---

१. भोगामिसदोसविसन्ने हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मंदिए मूढे बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥
दुप्परिच्चया इमे कामा नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह संति सुव्वया साहू जे तरंति अतरं वणिया व ॥
—उ० ८.५-६.

नागो जहा पंकजलावसन्नो दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं ।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥
अच्चेइ कालो तूरंति राइओ न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।
उविच्च भोगा पुरिसं चयंति दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥
—उ० १३.३०-३१.

२. उ० १२.१-३,१७; १३.१२; १४.४७; १५.२-४,१५-१६; १६.१५; १८.३०-५१ आदि ।

३. देखिए—परिशिष्ट २.

होकर जीव प्रायः हिंसा, झूठ, चोरी, धनादि-संग्रह आदि में प्रवृत्त होता हुआ चक्षु-दृष्ट रति को ही सत्य मानता है।[1]

महत्त्व—ग्रन्थ में इसके महत्त्व को प्रकट करने के लिए ही सोलहवें अध्ययन को गद्य तथा पद्य में पुनरावृत्त किया है। इस व्रत का पालन करने वाले को श्रमण एवं ब्राह्मण कहा गया है।[2] साधु के लिए जिन बाईस प्रकार के परीषहों (कष्टों) पर विजय पाने का विधान किया गया है उनमें स्त्री-परीषह भी एक है जो काम-जन्य पीड़ा पर विजय पाने के लिए है।[3] इस व्रत के पालन करने से अन्य व्रत सुखोत्तर तो हो ही जाते हैं, इसके अतिरिक्त जिन गुणों की प्राप्ति होती है उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

१. आत्मशुद्धि में प्रधानकारण होने से आत्म-प्रयोजन की प्राप्ति।[4]
२. साधु-धर्म (श्रामण्य) की सफलता।[5]
३. देवों के द्वारा भी पूज्य हो जाना।[6]
४. संवर की आधारशिला होने से संयमबहुल, संवरबहुल, समाधिबहुल, मन-वचन-काय से गुप्त, गुप्तेन्द्रिय, गुप्त-ब्रह्मचारी तथा अप्रमत्तता की प्राप्ति।[7]

---

१. न मे दिट्ठे परे लोए चक्खुदिट्ठा इमा रई।
—उ० ५. ५.
तथा देखिए—उ० ५.६-१०.

२. देखिए—पृ० २६८, पा० टि० १.

३. देखिए—परीषहजय, प्रकरण ५.

४. इह कामणियट्टस्स अत्तट्ठे नावरज्झई।
—उ० ७.२६.

५. सुकडं तस्स सामण्णं।
—उ० २. १६.

६. देवदाणवगंधव्वा जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति दुक्करं जे करंति तं॥
—उ० १६. १६.

७. देखिए—पृ० २६८, पा० टि० ४.

५. संसार-भ्रमणाभावरूप मुक्ति की प्राप्ति।[1]

जो इस व्रत का ठीक से पालन नहीं करता है वह इन गुणों के विपरीत जिन दोषों को प्राप्त करता है वे इस प्रकार हैं :

१. आत्मप्रयोजन (आत्मज्ञान या सुख) की प्राप्ति न होना।[2]
२. अस्थिरचित्त (अस्थिरात्मा) होना।[3]
३. धर्माराधना में शंका आदि दोष उत्पन्न होना।[4]
४. संयमविराधना, उन्माद, दीर्घकालिक रोगादि की प्राप्ति।[5]
५. परलोकभय, कर्मसंचय, दुःख एवं नरक की प्राप्ति।[6]

इस तरह ग्रन्थ में अन्य व्रतों की अपेक्षा ब्रह्मचर्य पर अधिक जोर दिया गया है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने जिन चार व्रतों का पालन करने का उपदेश दिया था उनमें ब्रह्मचर्य व्रत नहीं था फिर क्या कारण था कि भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य पर इतना जोर दिया और उसे सब व्रतों में दुस्तर कहा। इस विषय में ग्रन्थ में वही तर्क दिया गया है जो साधु को सान्तरोत्तर वस्त्र के स्थान पर पुराने वस्त्र (या अचेल) पहिनने के विषय में दिया गया है।[7] इसका तात्पर्य यह है

---

१. एस धम्मे धुवे निच्चे सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झंति चाणेण सिज्झिस्संति तहा वरे॥
—उ० १६. १७.
तथा देखिए—उ० ३१. १४.

२. इह कामाणियट्टस्स अत्तट्ठे अवरज्झई।
—उ० ७. २५.

३. जइ तं काहिसि भावं जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हडो अट्ठिअप्पा भविस्ससि॥
—उ० २२. ४५.

४. आयरियाह—निग्गंथस्स खलु इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नताओ धम्माओ वा भंसेज्जा………।
—उ० १६. १ (गद्य)।

५. वही।

६. उ० ५. ५-११.

७. देखिए—पृ० २५६, पा० टि० २; पृ० २५७, पा० टि० १.

कि महावीर के काल में लोगों की प्रवृत्ति कामवासना की ओर बहुत अधिक बढ़ रही थी और यहां तक कि पशुओं के साथ भी काम-संतुष्टि करने में प्रयत्नशील देखे जाते थे। इसीलिये ब्रह्मचर्य के लक्षण में एवं समाधिस्थानों के वर्णन में तिर्यञ्च शब्द को जोड़ा गया है। इसके अतिरिक्त इस समय के लोग वक्रजड़ स्वभाव के होने के कारण कुतर्क द्वारा यह सिद्ध करने लगे थे कि स्त्री-सेवन का त्याग आवश्यक नहीं है, जबकि अपरिग्रह व्रत के अन्दर ही स्त्री के एक प्रकार की सम्पत्ति होने के कारण स्त्री-संपर्कजन्य मैथुन-सेवन का त्याग भी सन्निविष्ट था। मनुष्यों की इस प्रकार कामवासना की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति को देखकर ही इसे अहिंसादि व्रतों से पृथक् व्रत के रूप में स्वीकार किया गया तथा इस पर विशेष जोर भी दिया गया। कामवासनाएँ बढ़ जाने से लोग अहिंसादि व्रतों की ओर उन्मुख नहीं होते थे। अतः अहिंसा और अपरिग्रह व्रत की सर्वाधिक प्रधानता रहने पर भी इनका पालन करने में कामवासनाएँ प्रमुख बाधक होने के कारण ब्रह्मचर्य को दुस्तर कहा गया और अन्य व्रतों को सुखोत्तर। इसी तरह रात्रिभोजन की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति को देखकर रात्रिभोजन-त्याग को भी महाव्रतों के ही साथ में कहा जाने लगा था।[1]

अपरिग्रह महाव्रत :

धन-धान्य, दासवर्ग आदि जितने भी निर्जीव एवं सजीव द्रव्य हैं उन सबका कृत-कारित-अनुमोदना एवं मन-वचन-काय से निर्मोही होकर त्याग करना अपरिग्रह (अकिञ्चन) महाव्रत है।[2] अतः सर्व-विरत साधु के लिये आवश्यक है कि वह क्षुधाशान्ति के लिये भी

---

१. चउव्विहेऽवि आहारे राईभोयणवज्जणा।
सन्निहीसंचओ चेव वज्जेयव्वो सुदुक्करं॥
—उ० १९.३१.

२. धणधन्नपेसवग्गेसु परिग्गहविवज्जणं।
सव्वारंभपरिच्चागो निम्ममत्तं सुदुक्करं॥
—उ० १९.३०.

तथा देखिए—उ० ८.४; १२.९; १४.४१, ४९; २१.२१; २५.२७-२८; ३५.३, १९ आदि।

अन्नादि का लेशमात्र भी संचय न करे और न रात्रि के लिये कुछ बचाकर रखे। इसके अतिरिक्त हिरण्य आदि की मन से भी कामना न करे तथा हिरण्य और पत्थर में समदृष्टि रखता हुआ पक्षी की तरह आशारहित होकर अप्रमत्तभाव (सावधानीपूर्वक) से विचरण करे।[1] इस तरह सभी प्रकार के धन-धान्यादि का परित्याग करके तृणमात्र का भी संग्रह न करना तथा पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञ व अमनोज्ञ विषयों के उपस्थित होने पर भी जल से भिन्न कमल की तरह उनमें लिप्त (राग-द्वेषयुक्त) न होना ही अपरिग्रह महाव्रत है।[2] अपरिग्रही ही वीतरागी हैं क्योंकि जब तक विषयों से विराग नहीं होगा तब तक जीव अपरिग्रही नहीं हो सकता है। विषयों के प्रति रागबुद्धि (लोभबुद्धि) का होना ही परिग्रह है। ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है और लोभ के बढ़ने पर परिग्रह भी बढ़ता जाता है।[3] जब शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन विषयों से सम्बन्धित सचित्त एवं अचित्त सभी द्रव्यों से विराग हो जाता है तो उसके लिए संसार में कुछ भी दुष्कर नहीं रह जाता है।[4] यह निष्परिग्रहता या वीतरागता अतिविस्तृत एवं सुस्पष्ट राजमार्ग

---

१. सन्निहिं च न कुव्वेज्जा लेवमायाए संजए।
पक्खी पत्तं समादाय निरवेक्खो परिव्वए॥
—उ० ६.१६.

तथा देखिए—उ० ३५. १३.

२. जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं तं वयं बूम माहणं॥
—उ० २५.२७.

तथा देखिए—उ० १०.२८; १२.२२, ३५.

३. जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं कोडीए वि न निट्ठियं॥
—उ० ८.१७.

४. इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किंचिवि दुक्करं।
—उ० १९.४५.

तथा देखिए—उ० २९.४५.

है।[1] इस अपरिग्रह व्रत के समक्ष अज्ञानमूलक जप-तपादि षोडशीकला को भी प्राप्त नहीं करते हैं ।[2] जो इन विषयों के प्रति ममत्व नहीं रखता है वह इस लोक में दुःखों से अलिप्त होकर आनन्दमय जीवन व्यतीत करता है तथा परलोक में भी देव या मुक्ति पद को प्राप्त करता है।[3]

इस तरह इस व्रत को दृढ़ रखने के लिये आवश्यक है कि पाँचों इन्द्रियों के तत्तत् विषयों में रागबुद्धि न की जाए क्योंकि किसी भी विषय के प्रति राग होने पर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना पड़ता है और उस विषय की प्राप्ति के प्रयत्न में हिंसा, झूठ, चोरी आदि नाना प्रकार के पापों को करना पड़ता है। अतः अहिंसादि व्रतों का पालन करने के लिये भी आवश्यक है कि धन-धान्यादि से ममत्व न किया जाए। इस तरह इस अपरिग्रह व्रत के भी मूल में अहिंसा की भावना निहित है। रजोहरण आदि जो भी उपकरण साधु के पास रहते हैं उनसे उसे ममत्व नहीं होता है क्योंकि वे उपकरण संयम की आराधना में सहायक होने से आवश्यक हैं। इसीलिए सर्वविरत साधु को उनकी प्राप्ति होने पर हर्ष एवं नष्ट होने पर खेद नहीं होता है। अतः साधु रजोहरण आदि उपकरणों से युक्त होने पर भी सर्वविरत कहलाता है। यदि साधु को रजोहरण आदि उपकरणों में भी ममत्व होता है तो वह सर्वविरत नहीं है क्योंकि वह पूर्ण अपरिग्रह व्रत का ठीक से पालन नहीं करता है। अपरिग्रह या वीतरागता की पूर्णता होने पर जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अतः ग्रन्थ में कहा है कि वीतरागी साधु ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में प्रवृत्त होकर आठों प्रकार के कर्मों के बन्धन (ग्रन्थि) को खोलने का प्रयत्न करता है। सर्वप्रथम वह मोहनीय कर्म को पृथक् करके पूर्ण वीतरागता की

---

१. अवसोहिय कंटगापहं ओइण्णोऽसि पहं महालयं ।
—उ० १०.३२.

२. देखिए—पृ० २५३, पा० टि० १.

३. उ० ४.१२; ६.५; ७.२६-२७; ८.४; १४.४४; १९.१०,१६; ३२.१६, २६, ११.

अवस्था को प्राप्त करता है। जब मोहनीय कर्म को पूर्णतः नष्ट करके पूर्ण वीतरागी हो जाता है तो फिर वह अन्तर्मुहूर्त के बाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों का युगपत् क्षय करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वतः सुखी एवं सर्वशक्तिसम्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति (योग) होते रहने से वह 'सयोगकेवली' कहलाता है। इसके बाद आयु (आयुकर्म) के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर वह मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के साथ ही साथ श्वासोच्छ्वासरूप क्रिया का भी निरोध करके अतिस्वल्प क्षण में ही अवशिष्ट चार अघातिया कर्मों का युगपत् क्षय कर देता है। इस तरह वह सब कर्मों का क्षय हो जाने पर सिद्ध, एवं मुक्त अवस्था को प्राप्त करके तथा सब प्रकार के दुःखों का हमेशा के लिए अन्त करके कृतकृत्य होता हुआ अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है।[१] ग्रन्थ में ऐसे कई राजाओं एवं महापुरुषों के नाम गिनाए गए हैं जिन्होंने सम्पत्तिरूप विपुल साम्राज्य को छोड़कर (सर्वविरत होकर) मुक्ति को प्राप्त किया है।[२]

इस तरह अपरिग्रह से तात्पर्य यद्यपि पूर्ण वीतरागता से है परन्तु ब्रह्मचर्य व्रत को इससे पृथक् कर देने के कारण यह धन-धान्यादि अचेतन द्रव्य और दास आदि सचेतन द्रव्यों के त्यागरूप रह गया है। ग्रन्थ में इस अपरिग्रह व्रत से युक्त जीव को ब्राह्मण कहा गया है।[३]

महाव्रतों के मूल में अहिंसा व अपरिग्रह की भावना :

अहिंसा आदि जिन पाँच नैतिक नियमों को महाव्रत शब्द से कहा गया है उन सबके मूल में अहिंसा की भावना निहित है तथा इस अहिंसा व्रत की पूर्णता बिना अपरिग्रह के संभव

---

१. उ० २९.७१-७३.

२. देखिए—परिशिष्ट २.

३. देखिए—पृ० २७६, पा० टि० २.

नहीं है क्योंकि सांसारिक विषयों के प्रति मोह होने पर ही उनकी प्राप्ति के लिये जीवों की हिंसादि क्रियाओं में प्रवृत्ति देखी जाती है। इसीलिये पाँच महाव्रतों में सबसे पहले अहिंसा को और अन्त में अपरिग्रह को गिनाया गया है। मूलतः ये दो ही महाव्रत हैं जो एक-दूसरे के पूरक हैं। इन्हीं का विस्तार करके भगवान् पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों के रूप में और भगवान् महावीर ने पाँच महाव्रतों के रूप में उपदेश दिया। केशि-गौतम संवाद में ब्रह्मचर्य महाव्रत को पृथक् मानने के लिए जो तर्क दिया गया है यह तर्क अन्य व्रतों के लिए भी लागू होता है क्योंकि जो पूर्ण अहिंसक और अपरिग्रही होगा वह झूठ, चोरी, मैथुनसेवन आदि अनैतिक आचरणों में कभी भी प्रवृत्त नहीं होगा। यदि पूर्ण अहिंसक और अपरिग्रही होकर भी वह झूठ, चोरी आदि मे प्रवृत्ति करता है तो वह वास्तव में पूर्ण अहिंसक व अपरिग्रही नहीं है। अहिंसा और अपरिग्रह इन दो व्रतों का सम्यक्रूप से पूर्णतः पालन करने के लिए सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य इन तीन व्रतों का भी पालन करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त न केवल इन पाँच व्रतो का ही पालन करना आवश्यक है अपितु ऐसे अन्य कई नैतिक व्रतो का भी पालन करना आवश्यक है। अतः ग्रन्थ मे वीतरागी साधु को हजारों गुणो को धारण करनेवाला कहा गया है।[1] ग्रन्थ के इकतीसवें अध्ययन में साधु के जो १० धर्म और २७ गुण बतालाए गए हैं वे सब इन पाँच महाव्रतों के विस्ताररूप ही हैं।[2]

---

१. गुणाण तु सहस्साइं धारेयव्वाइं भिक्खुणा।
— उ० १९.२५.

२. साधु के दस धर्म और सत्ताईस गुण टीका-ग्रन्थों के अनुसार निम्नोक्त हैं :

क. साधु के दस धर्म—१. क्षमा, २. मृदुता, ३. ऋजुता (सरलता), ४. मुक्ति (लोभ न करना), ५. तप, ६ संयम, ७. सत्य, ८. शौच (पवित्रता), ९. अकिञ्चन (अपरिग्रह) और १० ब्रह्मचर्य।

ख. साधु के सत्ताईस गुण—१-५. पाँच महाव्रत, ६. रात्रिभोजनत्याग, ७-११. पञ्चेन्द्रियनिग्रह, १२. भाव सत्य, १३. करण सत्य, १४. क्षमा,

अब यहाँ इस बात का विचार करना है कि अहिंसा और अपरिग्रह इन दो महाव्रतों का पाँच महाव्रतों के रूप में क्यों और कैसे विस्तार हुआ ? अहिंसा से द्वेषात्मक क्रोध और मान कषाय का तथा अपरिग्रह से रागात्मक माया और लोभ कषाय का त्याग हो जाता है। राग-द्वेषरूप ये चार कषाय ही संसार के कारण हैं। अतः अहिंसा और अपरिग्रह से ही संसार के कारणों का निरोध हो जाने पर अन्य व्रतों की आवश्यकता नहीं रह जाती है परन्तु जनसामान्य की बदलती हुई कुटिल मनोवृत्ति को देखकर नियमों और उपनियमों के रूप में अनेक व्रतों का विस्तार किया गया। जैसाकि केशि-गौतम संवाद और यज्ञविषयक संवादों से पता चलता है कि महावीर के काल में मनुष्यों की मनोवृत्ति विषय-भोगों और हिंसाप्रधान यज्ञादि क्रियाओं की ओर अधिक थी जिससे वे अपने स्वार्थ से अन्धे होकर विश्वबन्धुत्व की भावना भूल चुके थे और विषय-भोगों तथा हिंसा-प्रधान यज्ञों को करके ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मानते थे। अतः अहिंसा और अपरिग्रह का उपदेश आवश्यक हुआ। अपनी कुटिल मनोवृत्ति के कारण कहीं झूठ बोलकर अपने दोषों को छिपा न लेवें तथा लुके-छिपे (अप्रकटरूप से) स्वच्छन्द आचरण न करें अतः सत्य और अचौर्य इन दो व्रतों को भी मूल महाव्रतों में जोड़ दिया गया। इसके बाद कामवृत्ति की ओर बढ़ती हुई मनोवृत्ति को देखकर ब्रह्मचर्य को भी पृथक् महाव्रत के रूप में जोड़ दिया गया। इस तरह महाव्रतों की संख्या पाँच हो गई। इसी प्रकार रात्रिभोजन की

---

१५. विरागता (लोभत्याग), १६-१८. मन-वचन-काय निरोध, १९-२४. षट्काय (पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और द्वीन्द्रियादि त्रस) के जीवों की रक्षा, २५. संयम, २६. वेदना सहिष्णुता और २७. मारणान्तिक सहिष्णुता। इननामों में कुछ अन्तर भी पाया जाता है।

देखिए—उ० ३१.१०, १८; ने० टी०, पृ० ३४४, ३४९; आ० टी०, पृ० ११९२, १४०१; श्रमणसूत्र, पृ० १७१-१७३; समवायाङ्ग, समवाय २७.

ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने के लिए रात्रिभोजनत्याग को भी महाव्रतों के साथ कहा जाने लगा। परन्तु महाव्रतों की पांच संख्या में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। वैदिक और बौद्ध संस्कृति मे भी इन पाँच महाव्रतों के प्रति समान आदरभाव दिखलाई पड़ता है।[1]

इन पाँच नैतिक व्रतों का जितना आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्व है उतना ही व्यावहारिक दृष्टि से भी महत्त्व है। अहिंसा, सत्य और अचौर्य ये तीन नैतिक महाव्रत तो स्पष्टरूप से व्यवहार में आवश्यक हैं। ब्रह्मचर्य और लोभत्यागरूप अपरिग्रह व्रत भी व्यभिचार रोकने एवं विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रसारित करने के लिये आवश्यक हैं। लोक में व्यसनी तथा कजूस को हीन दृष्टि से देखा भी जाता है। यद्यपि जितनी सूक्ष्मता से प्रकृत ग्रन्थ मे नैतिक व्रतो का पालन करने का विधान किया गया है उतनी सूक्ष्मता से सामान्य व्यवहार मे अपेक्षित नहीं है और न सभव ही है तथापि इनके व्यावहारिक महत्त्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है। ग्रन्थ में इन महाव्रतों का जो उपदेश दिया गया है वह साधुओं के लिए है। गृहस्थ के लिए तो इन व्रतों का अंशत. पालन करना ही आवश्यक है जैसा कि पिछले प्रकरण में बतलाया जा चुका है।

इस तरह अहिंसादि इन पाँच महाव्रतों में साधु के सभी नैतिक गुणो का समावेश किया गया है। गृहस्थ एवं साधु का सम्पूर्ण आचार इन्ही की परिधि मे घूमता है।

प्रवचनमाताएँ-गुप्ति और समिति

अशुभात्मक प्रवृत्ति को रोकना और सदाचाररूप शुभात्मक प्रवृत्ति में सावधानीपूर्वक प्रवृत्त होना महाव्रतों की रक्षा एवं

---

१. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा :।
—पा० यो० २. ३०.
बौद्धो के पंचशील के लिए देखिए—भा० द० ब०, पृ० १५६.

विशुद्धता के लिए आवश्यक है। मन, वचन और काय-सम्बन्धी सभी अशुभात्मक प्रवृत्तियों को रोकना 'गुप्ति' है।[1] शुभात्मक प्रवृत्ति में सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना 'समिति' है।[2] ग्रन्थ में इन दोनों का सम्मिलित नाम 'प्रवचनमाता' मिलता है। इन्हें 'प्रवचनमाता' क्यों कहा जाता है, यह विचारणीय है। प्रवचन शब्द का अर्थ है—जिनदेव-प्रणीत सिद्धान्त। 'माता' शब्द का अर्थ है—माता की तरह संरक्षक एवं उत्पादक। जिनदेव-प्रणीत सिद्धान्त (प्रवचन) १२ अंग ग्रन्थों में समाविष्ट है। गुप्ति और समिति का सम्यक्रूप से पालन करने वाला साधु ही गुरु-परम्परा से प्राप्त द्वादशाङ्गरूप समस्त शास्त्रज्ञान (प्रवचन) को सुरक्षित रख सकता है। अतः ग्रन्थ में गुप्ति और समिति के समुच्चय को 'प्रवचनमाता' कहा गया है अथवा समस्त द्वादशाङ्ग गुप्ति और समितियों में समाविष्ट होने से 'प्रवचनमाता' शब्द सार्थक है।[3] निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति की प्रधानता है क्योंकि सावधानीपूर्वक शुभाचार में प्रवृत्ति करने पर अशुभाचार से

---

१ गुत्ती नियत्तणे वुत्ता असुभत्थेसु सव्वसो।

—उ० २४.२६.

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः।

—त० सू० ९.४.

२. एयाओ पंच समिईओ चरणस्स य पवत्तणे।

—उ० २४.२६.

समिति—सम—एकीभावेन, इति—प्रवृत्तिः समितिः = शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थः।

—श्रमणसूत्र, पृ० १५०.

३. अट्ठ पवयणमायाओ समिई गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिईओ तओगुत्तीउ आहिया॥
इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समिई इय।
मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती य अट्ठमा॥
एयाओ अट्ठ समिईओ समासेण वियाहिया।
दुवालसंगं जिणक्खायं मायं जत्थ उ पवयणं॥

—उ० २४.१-३.

तथा देखिए—उ० २९.११.

निवृत्ति स्वतः हो जाती है। अतः ग्रन्थ में प्रवचनमाता को 'समिति' शब्द से भी कहा गया है।[१]

गुप्ति और समिति के प्रमुख आठ भेद होने से प्रवचनमाताओं की भी संख्या आठ मानी गई है।[२] ग्रन्थ में इनके विषय में सावधान रहने का उपदेश दिया गया है तथा इनके सम्यक् प्रकार से पालन करने का फल संसार से शीघ्र मुक्ति बतलाया गया है।[३]

अब क्रमशः गुप्तियों और समितियों का पृथक्-पृथक् विचार किया जाएगा।

गुप्तियाँ—प्रवृत्ति-निरोध :

मन, वचन और काय-सम्बन्धी अशुभ-प्रवृत्तिनिरोधरूप जो गुप्ति का लक्षण बतलाया गया है उसमें अशुभ-प्रवृत्ति से तात्पर्य सांसारिक विषय-भोगों की ओर उन्मुख होनेवाली प्रवृत्ति से है। कषायरूपी शत्रु के आक्रमण से रक्षा करने के लिए इन गुप्तियों को अमोघशस्त्र (अजेयशस्त्र) कहा गया है।[४] प्रवृत्ति मन, वचन एवं काय से संभव होने से गुप्ति के भी तीन भेद किए गए

---

१. वही।

यत्तु भेदेनोपादानं तत् समितीनां प्रविचाररूपत्वेन गुप्तीनां तु प्रवीचाराऽप्रवीचारात्मकत्वेन कथञ्चित् भेदख्यापनार्थम्।......सर्वा अप्यमूश्चारित्ररूपाः, ज्ञानदर्शनाऽविनाभावि च चारित्रम्, न चैतत्त्र्यातिरिक्तमन्यदर्थतो द्वादशाङ्गमित्येतासु प्रवचनं मातमुच्यते।

—उ० ने० वृ०, पृ० १०२.

२. वही।

३. अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते।

—उ० २९. ११.

एयाओ पवयणमाया जे सम्मं आयरे मुणी।
सो खिप्पं सव्वसंसारा विप्पमुच्चइ पंडिए।

—उ० २४.२७.

४. सद्धं नगरं किच्चा तवसंवरमग्गलं।
खंति निउणपागारं तिगुत्तं दुप्पधंसयं॥

—उ० ९.२०.

हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।[1] इन्हें ही योगदर्शन के शब्दों में क्रमशः मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग कहा जा सकता है क्योंकि योगदर्शन में चित्तवृत्ति के निरोध को 'योग' शब्द से कहा जाता है।[2] इस तरह योगदर्शन का यह 'योग' शब्द जैनदर्शन के 'योग' शब्द से भिन्न है क्योंकि जैनदर्शन में प्रवृत्ति मात्र को योग कहा जाता है तथा उसके निरोध को 'गुप्ति'।

१. मनोगुप्ति—संरम्भ, समारम्भ एवं आरम्भ में प्रवृत्त हुए मन के व्यापार को रोकना मनोगुप्ति है।[3] किसी को मारने की इच्छा करना 'संरम्भ', मारने के साधनों पर विचार करना 'समारम्भ' एवं मारने के लिए क्रिया प्रारम्भ करने का विचार 'आरम्भ' है। मन के ये क्रमिक तीन विकल्प हैं। अतः इन तीनों को रोकना आवश्यक है। मन के विचारों की प्रवृत्ति सत्य, असत्य, मिश्र (सत्य और असत्य से युक्त) और अनुभय (सत्यासत्य से रहित) इन चार विषयों में सम्भव होने से मनोगुप्ति के चार प्रकार बतलाए हैं :[4] १. सत्यमनोगुप्ति (सद्भूत पदार्थों में प्रवर्तमान मन की वृत्ति को रोकना), २. असत्यमनोगुप्ति (मिथ्या पदार्थों में प्रवर्तमान मन की वृत्ति को रोकना), ३. सत्यमृषामनोगुप्ति (मिश्र—सत्य एवं असत्य से मिश्रित मन के विचारों को रोकना) और ४. असत्यमृषामनोगुप्ति (अनुभय—सत्य, असत्य

---

१. देखिए—पृ० २८५, पा० टि० ३; उ० ९.२०; १२.३,१७; १९.८९; २४.१,१९; २६.३५; ३०; ३; ३२.१६ आदि।

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

—पा० यो० १.२.

३. संरंभसमारंभे आरंभे य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जई॥

—उ० २४.२१.

४. सच्चा तहेव मोसा य सच्चमोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा य मणगुत्तीओ चउव्विहा॥

—उ० २४.२०.

एवं सत्यासत्य से रहित मन के विचारों को रोकना)।[1] मन को एकाग्र करना (एकाग्रमनःसन्निवेश) और मन को समाधिस्थ करना (मनःसमाधारण) ये दोनों मनोगुप्ति के ही प्रतिफल हैं। एकाग्रमनःसन्निवेश आदि से ध्यान तप में सहायता मिलती है।[2]

२. **वचनगुप्ति**—संरम्भ, समारम्भ एवं आरम्भ में प्रवृत्त हुए वचन के व्यापार को रोकना वचनगुप्ति है।[3] वचन के सत्यादि चार प्रकार संभव होने से मनोगुप्ति की तरह इसके भी चार भेद बतलाए गए हैं। इनके क्रमशः नाम ये हैं:[4] १. सत्यवाग्गुप्ति, २. मृषावाग्गुप्ति, ३. सत्यमृषावाग्गुप्ति (मिश्र) और ४. असत्यमृषावाग्गुप्ति। यह वचनगुप्ति विशेषकर सत्य महाव्रत की रक्षा करती है। वाक्समाधारण (वाणी को समाधिस्थ करना) वचनगुप्ति का ही प्रतिफल है।[5]

३. **कायगुप्ति**—खड़े होने में, बैठने में, शयन करने में, त्वक्-परिवर्तन में, लांघने में, प्रलंघन करने में, इन्द्रियों का विषय के साथ संयोग करने आदि में जो शरीर की प्रवृत्ति सरम्भ, समारम्भ एवं आरम्भरूप होती है उसे रोकना कायगुप्ति है[6] अर्थात् शरीर-सम्बन्धी व्यापार को रोकना कायगुप्ति है। कायसमाधारण काय-गुप्ति का प्रतिफल है। इससे कायोत्सर्ग (शरीर का ममत्व छोड़कर

---

1. First three refer to assertions and fourth to injunctions.
—से० बु० ई०, भाग-४५, पृ० १५०.

२. उ० २९.२५-२६,५६,६२-६६.

३. देखिए—पृ० २६५, पा० टि० २.

४. सच्चा तहेव मोसा य ...... वइगुत्ती चउव्विहा ॥
—उ० २४.२२.

५. उ० २९.५७.

६. ठाणे निसीयणे चेव तहेव य तुयट्टणे ।
... .
कायं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जइ ॥
—उ० २४.२४-२५,

निश्चल होना) तप में सहायता मिलती है।[1] मनोगुप्ति एवं वचन-गुप्ति की तरह कायगुप्ति के सत्यादि के भेद से चार प्रकार नहीं गिनाए गए हैं।

इस तरह गुप्ति में न केवल अशुभ-प्रवृत्ति का निरोध बतलाया गया है अपितु यावन्मात्र प्रवृत्ति का निरोध बतलाया गया है। अतः पूर्वोल्लिखित गुप्ति के लक्षण में अव्याप्तिदोष (लक्षण का लक्ष्य के सभी अंशों में न पाया जाना) आता है। मालूम पड़ता है कि व्यवहार की दृष्टि से प्रधानता अशुभार्थों के निरोध में ही होने से गुप्ति का लक्षण सिर्फ अशुभ-अर्थों में प्रवृत्त मन, वचन और काय के व्यापार का निरोध बतलाया गया है। यदि यावन्मात्र शुभाशुभ प्रवृत्ति का निरोध कर दिया जाएगा तो किसी भी क्रिया में प्रवृत्ति न होने से सदाचाररूप महाव्रतों का पालन करना संभव न हो सकेगा। इसके अतिरिक्त श्वासादि क्रिया का भी निरोध कर देने पर जीवनधारण करना भी संभव न हो सकेगा। अतः गुप्ति का कार्य प्रवृत्ति-निरोध-रूप होने पर भी प्रधानरूप से अशुभ प्रवृत्ति को रोकना है। यदि शुभकार्यों में प्रवृत्ति की आवश्यकता पड़े तो आगे कही जानेवाली 'समिति' का आश्रय लेना चाहिए। इसीलिए नेमिचन्द्राचार्य अपनी वृत्ति में लिखते हैं कि जो समिति और गुप्ति का भेदपूर्वक कथन किया गया है वह समितियों के केवल प्रवृत्तिरूप (प्रविचार) होने एव गुप्तियों के प्रवृत्ति एव निवृत्ति उभयरूप होने से कथञ्चित् भेद बतलाने के लिए किया गया है। ये गुप्तियाँ और समितियाँ सब चारित्ररूप हैं और वह चारित्र ज्ञान और दर्शन के होने पर ही होनेवाला (अविनाभावी) है। इस तरह नेमिचन्द्राचार्य के अनुसार गुप्तियाँ न केवल अशुभ-अर्थों से निवृत्तिरूप हैं अपितु शुभ-अर्थों में प्रवृत्तिरूप भी हैं।[2] गुप्ति शब्द रक्षार्थक 'गुप्' धातु (गुपुरक्षणे)

---

१. उ० २१.५८.

२. 'गुत्ति' त्ति गुप्तयो निवर्तनेऽप्युक्ताः, 'असुभत्थेसु' त्ति 'अशुभार्थेभ्यः' अशोभनमनोयोगादिभ्यः 'सव्वसो' त्ति सर्वेभ्यः, अपि शब्दात् चरणप्रवर्तनेऽपीति सूत्रार्थः।

—उ० ने० वृ०, पृ० ३०४.

तथा देखिए—पृ० २८६, पा० टि० १.

से बना है। इससे सिद्ध होता है कि जो रत्नत्रय की रक्षा करता है वह गुप्तिवाला है। रत्नत्रय की रक्षा के लिए आवश्यक है कि अशुभाचार को रोककर शुभाचार में प्रवृत्ति की जाए। इस तरह गुप्तियाँ अशुभ अर्थों से निवर्तक तथा शुभ-अर्थों में प्रवर्तक भी हैं। शुभ मन, वचन एवं काय के व्यापाररूप बत्तीस प्रकार के योगसंग्रहों[1] के विषय में ग्रन्थ में यत्नवान् होने का विधान किया गया है।[2] इससे भी प्रतीत होता है कि ये गुप्तियाँ मुख्यरूप से अशुभ-अर्थों से निवृत्ति करानेवाली हैं। इसी दृष्टि से ग्रन्थ में गुप्तियों को अशुभ-अर्थों से निवर्तक बतलाया गया है।

ग्रन्थ में मनोगुप्ति आदि का पृथक्-पृथक् फल बतलाते हुए लिखा है—'मनोगुप्ति से जीव चित्त को एकाग्र करके संयम का आराधक हो जाता है। वचनगुप्ति से निर्विकारता को प्राप्त करके चित्त की एकाग्रता (अध्यात्मयोग) को प्राप्त कर लेता है और कायगुप्ति से सब प्रकार के पापास्रवों को रोककर संवरवाला हो जाता है।'[3] इससे प्रतीत होता है कि गुप्तियों का प्रधान कार्य अशुभ-अर्थों में प्रवृत्त मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों को रोकना है। इस तरह जब अशुभात्मक प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है तो फिर रत्नत्रयरूप शुभ-अर्थों में प्रवृत्ति को करता हुआ साधक धीरे-धीरे आयु के अन्तिम समय में शुभ-अर्थों में प्रयुक्त मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों का भी निरोध करके मुक्त हो जाता है। अतः ग्रन्थ में गुप्ति का फल कर्मक्षय के बाद संसार से मुक्ति बतलाया गया है।[4] यदि परमार्थरूप से विचार किया जाए तो सब

---

१. 'योगे' त्ति सूचकत्वात् सूत्रस्य योगसङ्ग्रहा यैः योगाः शुभमनोवाक्कायव्यापारः सङ्गृह्यन्ते—स्वीक्रियन्ते, ते च द्वात्रिंशद्।

—उ० ने० वृ०, पृ० ३५०.

तथा देखिए—समवायाङ्ग, समवाय ३२; श्रमणसूत्र, पृ० १६६.

२. उ० ३१.२०.

३. उ० २६.५३-५५.

४. चारित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगंतरए मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ।

—उ० २६.३१.

प्रकार के शुभाशुभ अर्थों में होनेवाली शुभाशुभ प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है।

समितियाँ—प्रवृत्ति में सावधानी :

गमन आदि क्रियाओं के करते समय सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है। अर्थात् साधु जो भी क्रियाएँ करे उनमें प्रमाद न करते हुए सावधानी रखे ताकि जीवादि की हिंसा न हो। साधु को प्रतिदिन सामान्यरूप से जिन गमनादि क्रियाओं को करना पड़ता है उन्हें पाँच भागों में विभक्त करके समिति के भी पाँच भेद गिनाए गए हैं। इनके नामादि इस प्रकार हैं :[1] १. गमन क्रिया में सावधानी (ईर्यासमिति), २. वचन बोलने में सावधानी (भाषासमिति), ३. आहारादि साधन-सामग्री के अन्वेषण, ग्रहण एवं उपभोग में सावधानी (एषणासमिति), ४. वस्त्रादि के उठाने व रखने आदि में सावधानी (आदान-निक्षेपसमिति) और ५. मलमूत्रादि का त्याग करते समय सावधानी (उच्चारसमिति)।

१. ईर्यासमिति—वर्षाकाल को छोड़कर शेष काल में साधु के लिए अपने शिष्य-परिवार के साथ या एकाकी (पक्षी की तरह निरपेक्षी होकर) ग्रामानुग्राम विचरण करने का विधान है।[2] अतः मार्ग में गमन करते समय जिस प्रकार की सावधानी आवश्यक होती है उसे ईर्यासमिति कहते हैं। इस समिति की परिशुद्धि के लिए चार बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है: १. आलम्बन, २. समय, ३. मार्ग और ४. उपयोग (सावधानी)। अतः ग्रन्थ

---

१. देखिए—पृ० २८५, पा० टि० ३; उ० १२. २; १९. ८९; २०.४०; २४.१,२६; ३०.३.

२. विगिंच कम्मुणो हेउं कालकंखी परिव्वए।

—उ० ६.१५.

चिच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू।

—उ० १५.१६.

मग्गगामी महामुणी।

—उ० २५.२.

तथा देखिए—उ० १०.३६; २२.३१; २३.३,७ आदि।

में कहा है कि साधु को ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का आलम्बन करके, दिन में उत्पथ (ऊँचा-नीचा) से रहित मार्ग में चार हाथ प्रमाण भूमि को चक्षु के द्वारा एकाग्रचित्त से सावधानीपूर्वक देखते हुए गमन करना चाहिए जिससे जीवों की हिंसा न हो। गमन करते समय सावधानी बनाए रखने के लिये आवश्यक है कि रूपादि विषयो तथा अध्ययन (स्वाध्याय) में लगी हुई चित्तवृत्ति को वहाँ से हटाकर गमन के प्रति ही चित्तवृत्ति को सावधानी से लगाए रखें।[1] ऐसा करने से अहिंसा महाव्रत का पालन होता है। इन्द्र-नमि संवाद में ईर्यासमिति को धनुष की प्रत्यञ्चा कहा है।[2] इससे इसकी उपयोगिता और महत्त्व का पता चलता है।

२. भाषासमिति—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मुखरता (वाचालता) और विकथा (धर्मविरुद्ध कथा) इन आठ दोषों से रहित समयानुकूल अदुष्ट एवं परिमित वचन बोलना भाषासमिति है।[3] अर्थात् सावधानीपूर्वक समयानुकूल, हित-मित-प्रिय

---

१. आलंबणेण कालेण मग्गेण जयणाइ य।
चउकारणपरिसुद्धं संजए इरियं रिए॥
तत्थ आलंबणं नाणं दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते मग्गे उप्पह वज्जिए॥
....
दव्वओ चक्खुसा पेहे जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीइज्जा उवउत्ते य भावओ॥
इंदियत्थे विवज्जित्ता सज्झायं चेव पंचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते रियं रिए॥
—उ० २४.४-८.
तथा देखिए—उ० २०.४०; २५.२; २६.३३ आदि।

२. धणुं परक्कमं किच्चा जीवं च ईरियं सया।
धिइं च केयणं किच्चा सच्चेण पलिमंथए॥
—उ० ९.२१.

३. कोहे माणे य मायाए लोभे य उवउत्तया।
हासे भये मोहरिए विकहासु तहेव य॥
एयाइं अट्ठ ठाणाइं परिवज्जित्तु संजए।
असावज्जं मियं काले भासं भासिज्ज पन्नवं॥
—उ० २४.९-१०.

एवं सत्य वचन बोलना सत्य महाव्रत का पालन करने में सहायक है।

३. एषणासमिति—यद्यपि साधु सब प्रकार की धन-सम्पत्ति का परित्याग कर देता है परन्तु जीवन-निर्वाह के लिए आहारादि की आवश्यकता पड़ती ही है। अतः वह गृहस्थ के घर से नियमानुकूल आहारादि को मांगकर अपना जीवन-निर्वाह करता है। इस आहार आदि की प्राप्ति में एवं उसके उपभोग आदि में जिस प्रकार की सावधानी आवश्यक होती है उसे एषणासमिति कहते हैं। इस विषय में ग्रन्थ में सामान्यरूप से बतलाया गया है कि साधु आहार, उपकरण (वस्त्र, पात्र आदि) और शय्या (उपाश्रय—निवासस्थान) आदि की गवेषणा करते समय गवेषणा के उद्गम एवं उत्पादन-सम्बन्धी, ग्रहण करने के ग्रहणैषणा-सम्बन्धी एवं उपभोग करने के परिभोगैषणा-सम्बन्धी दोषों को बचाए[1] अर्थात् आहारादि के खोजने सम्बन्धी, ग्रहण करने सम्बन्धी एवं उपभोग करने सम्बन्धी शास्त्रोक्त छियालीस दोषों[2] को जिनसे साधु हिंसादि दोषों का भागी हो सकता है, बचाने का प्रयत्न करे।

---

१ गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहिसेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥
उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयम्मि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई॥

—उ० २४.११-१२.

२. एषणासमिति में ध्यान रखने योग्य छियालीस दोष इस प्रकार हैं :

क. गवेषणा-सम्बन्धी ३२ दोष—इनमें १६ दोष उद्गम-सम्बन्धी हैं जिनका निमित्त गृहस्थ होता है तथा १६ दोष उत्पादन-सम्बन्धी हैं जिनका निमित्त साधु होता है। जैसे: उद्गम-सम्बन्धी १६ दोष—१. आधाकर्म (साधु को उद्देश्य करके बनाया गया आहारादि), २. औद्देशिक (सामान्य याचकों के उद्देश्य से बनाया गया), ३. पूतिकर्म (शुद्ध आहार को आधाकर्मादि से मिश्रित करके बनाया गया), ४. मिश्रजात (स्वयं को एवं साधु को एकसाथ मिलाकर बनाया गया), ५. स्थापना (साधु के लिए अलग सुरक्षित रखा गया),

४ आदान-निक्षेपसमिति—आदान का अर्थ है—किसी वस्तु को उठाना या लेना तथा निक्षेप का अर्थ है—किसी वस्तु को

---

६. प्राभृतिका (किसी जीमनवार आदि के लिए बनाया गया), ७. प्रादुष्करण (अन्धकारयुक्त स्थान से दीपक आदि का प्रकाश करके लाया गया), ८. क्रीत (खरीदकर लाया गया), ९. प्रामित्य (उधार माँगकर लाया गया), १० परिवर्तित (परिवर्तन करके लाया गया), ११. अभिहृत (दूर स्थान से लाया गया), १२. उद्भिन्न (बंद पात्र का मुंह खोलकर लाया गया), १३ मालापहृत (ऊपर से उतारकर लाया गया) १४. आच्छेद्य (दुर्बल से छीनकर लाया गया), १५. अनिसृष्ट (साझे का पदार्थ साझेदार से पूछे बिना लाया गया) और १६. अध्यवपूरक (साधु को गाँव मे आया जानकर अपने लिए बनाए जाने वाले भोजन की मात्रा बढ़ा देना)। उत्पादन-सम्बन्धी १६ दोष — १. धात्रीकर्म (धाय की तरह गृहस्थ के बच्चे को खिलाकर आहारादि प्राप्त करना), २. दूतीकर्म (दूत की तरह सन्देशवाहक बनकर), ३. निमित्त (शुभाशुभ निमित्त बताकर), ४. आजीव (अपनी जाति, कुल आदि बताकर), ५. वनीपक (गृहस्थ की प्रशंसा करके), ६. चिकित्सा (बीमारी की दवा बताकर), ७ क्रोध-पिण्ड (क्रोध बताकर), ८. मान-पिण्ड (अपना प्रभुत्व जमाकर), ९. माया-पिण्ड (छल-कपटपूर्वक), १०. लोभ-पिण्ड (सरस एवं अच्छे भोजन की अभिलाषा से अधिक दूर से माँगकर लाया गया), ११. संस्तव-पिण्ड (सस्तुति करके), १२. विद्या-पिण्ड (विद्या के बल से), १३. मन्त्र-दोष (मन्त्र प्रयोग से), १४. चूर्ण-योग (वशीकरण-चूर्ण आदि का प्रयोग करके), १५. योग-पिण्ड (योग-विद्या आदि का प्रयोग करके), १६. मूलकर्म (गर्भ-स्तम्भन आदि का प्रयोग बताकर)।

ख. ग्रहणैषणा-सम्बन्धी १० दोष—इनके निमित्तकारण गृहस्थ और साधु दोनों होते हैं। जैसे : १. शंकित (आधाकर्मादि दोष की शंका होने पर आहारादि लेना), २. म्रक्षित (सचित्त से युक्त), ३. निक्षिप्त (सचित्त वस्तु पर रखा हुआ), ४. पिहित (सचित्त वस्तु से ढका हुआ), ५. संहृत (किसी पात्र में पहले से रखे हुए अकल्पनीय

रखना। अतः साधु के पास जो भी रजोहरण आदि उपकरण होते हैं उन्हें आखों से अच्छी तरह देखकर (प्रतिलेखना करके) तथा प्रमार्जन (सफाई) करके उठाना एवं रखना 'आदान-निक्षेप' समिति है।[1] अर्थात् पात्रादि उपकरणों को उठाते एवं रखते समय अच्छी प्रकार देख-भाल (प्रतिलेखना)कर प्रमार्जन कर लेना चाहिए जिससे जीवों की हिंसा न हो। इस तरह इस समिति का सम्यक्-रूप से पालन करने के लिये प्रतिलेखना (निरीक्षण) एवं प्रमार्जना (धूलि आदि साफ करना) को समझ लेना आवश्यक है।

प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना—प्रतिलेखना का अर्थ है—चक्षु से देखना और प्रमार्जना का अर्थ है—साफ करना। ये दोनो क्रियाएँ साधु को प्रातः एवं सायं रोज करनी पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त पात्र आदि उपकरणों के उठाते एवं रखते समय भी इन्हें करना पड़ता है। इनके करने से षट्काय के जीवों की रक्षा होती

पदार्थ को निकालकर उसी पात्र से देने पर), ६. दायक (शराबी, गर्भिणी आदि अनधिकारी के द्वारा देने पर), ७. उन्मिश्र (शुद्ध और अशुद्ध से मिश्रित), ८. अपरिणत (शाकादि के पूर्णरूप से पके हुए न होने पर), ९. लिप्त (दूध, दही आदि से लिप्त पात्र या हाथ से देने पर) और १०. छर्दित (जिसके अन्नकण नीचे गिर रहे हो)।

ग. परिभोगैषणा (ग्रासैषणा)-सम्बन्धी ४ दोष—इनका निमित्त साधु ही होता है। जैसे : १. संयोजना (सरसता की लोलुपता से दूध, शक्कर आदि को परस्पर मिलाकर खाना), २. अप्रमाण (प्रमाण से अधिक खाना), ३. अंगार (सरस आहार होने पर दाता की प्रशंसा करते हुए तथा नीरस होने पर निन्दा करते हुए खाना) और ४. अकारण (बलवृद्धि आदि की भावना से खाना)।

—देखिए—वही, टीकाएँ; श्रमणसूत्र, पृ० ४३१-४३५.

१. चक्खुसा पडिलेहित्ता पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा दुहओवि समिए सया।।

—उ० २४.१४.

तथा देखिए—उ० २४.१३; २०.४०; १२.२.

है और न करने से उन जीवों की हिंसा संभव है।[1] अतः अहिंसाव्रत पालन करने वाले साधु को इन्हें करना आवश्यक है। जो साधु प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना को उचितरूप से नहीं करता हुआ अपने उपकरणों को जहाँ-तहाँ रख देता है तथा शय्या आदि पर धूलि-धूसरित पैर होने पर भी सो जाता है वह साधु सच्चा साधु नहीं है।[2] जो समय पर प्रतिलेखना एव प्रमार्जना करता है उसके ज्ञानावरणीयादि कर्म नष्ट हो जाते हैं।[3]

प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना की विधि—साधु को समय का अतिक्रमण किये विना अपने सभी उपकरणों की प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना करनी चाहिए। प्रतिलेखना करते समय सर्वप्रथम मुखवस्त्रिका की, फिर रजोहरण (गोच्छक) की प्रतिलेखना करनी चाहिए। इसके बाद अंगुलियों से रजोहरण को ग्रहण करके वस्त्रों की प्रतिलेखना करनी चाहिए।[4] वस्त्रों की प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को भूमि से ऊँचा रखते हुए दृढ़ता से स्थिर पकड़कर शीघ्रता न करते हुए सावधानीपूर्वक पहले वस्त्र का निरीक्षण करना चाहिए। इसके बाद यत्नपूर्वक वस्त्र को झटकारना चाहिए जिससे जीव-जन्तु निकल जाएँ। यदि न निकलें तो यत्नपूर्वक हाथ में लेकर एकान्तस्थान में छोड़ देना चाहिए। इस क्रिया को करते समय शरीर एवं वस्त्र आदि को इधर-उधर नचाना नहीं चाहिए। वस्त्र कहीं से मुड़ा हुआ नहीं होना चाहिए। असावधानीपूर्वक जल्दी-जल्दी नहीं करना चाहिए। दीवाल आदि से संपर्क नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त जिस वस्त्र की प्रतिलेखना की

---

१. पुढवी आउक्काए तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं।

....

पडिलेहणा आउत्तो छण्हं संरक्खओ होइ॥

—उ० २६.३०-३१.

२. देखिए—पृ० २५९, पा० टि० ४; उ० १७.१०,१४.

३. उ० २९.१५.

४. देखिए—पृ० २५८, पा० टि० ३.

आ रही हो उसके तीन भाग करके प्रत्येक भाग को दोनों तरफ से देखना चाहिए या फिर प्रत्येक भाग को तीन-तीन बार (षट्पुरिम व नवखोटक) देखना चाहिए। यदि फिर भी जीव उसमें रह आए तो हाथ से निकालकर जीव की रक्षा करनी चाहिए।[1] इस तरह सावधानीपूर्वक की गई प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना प्रशस्त कहलाती है और असावधानीपूर्वक की गई प्रतिलेखना व प्रमार्जना अप्रशस्त कहलाती है। ग्रन्थ में अप्रशस्त प्रतिलेखना के कुछ प्रकार बतलाए गए हैं जिनका त्याग आवश्यक है। अप्रशस्त प्रतिलेखना के कुछ प्रकार ये हैं :[2]

१. आरभटा (प्रतिलेख्यमान वस्त्र की पूर्ण प्रतिलेखना किए बिना ही बीच में दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना करने लगना), २. सम्मर्दा (वस्त्र के कोने को पकड़कर या उसके ऊपर बैठकर प्रतिलेखना करना), ३. मोसली (वस्त्र को दीवाल आदि के सहारे से ऊपर, नीचे व तिरछे करके प्रतिलेखना करना), ४. प्रस्फोटना (वस्त्र को जोर से फटकारना), ५. विक्षिप्ता (प्रतिलेखना किए हुए और प्रतिलेखना बिना किए हुए वस्त्रों को मिला देना), ६. वेदिका (जानु के ऊपर, नीचे, तिरछे एवं

---

१. उड्ढं थिरं अतुरियं पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे ।
तो बिइयं पप्फोडे तइयं च पुणो पमज्जिज्जा ।।
अणच्चावियं अवलियं अणाणुबंधिममोसलिं चेव ।
छप्पुरिमा नव खोडा पाणीपाणिविसोहणं ।।
—उ० २६.२४-२५.

तथा देखिए—श्रमणसूत्र, पृ० ४०९-४१०.

२. आरभडा सम्मद्दा वज्जेयव्वा य मोसली तइया ।
पप्फोडणा चउत्थी विक्खित्ता वेइया छट्ठी ।।
पसिढिलपलंबलोला एगामोसा अणेगरूवधुणा ।
कुणइ पमाणे पमायं संकियगणणोवगं कुज्जा ।।
—उ० २६.२६-२७.

पडिलेहणं कुणंतो मिहो कहं कुणइ जणवयकहं वा ।
देइ व पच्चक्खाणं वाएइ सयं पडिच्छइ वा ।।
—उ० २६.२९.

मध्य भाग में वस्त्र को रखकर प्रतिलेखना करना), ७. प्रशिथिल (वस्त्र को शिथिलता से पकड़ना), ८. प्रलम्ब (वस्त्र के एक कोने को पकड़कर शेष भाग को प्रलम्बमान रखना), ९. लोल (वस्त्र का जमीन पर लटकते रहना), १०. एकामर्षा (वस्त्र को घसीटना), ११. अनेकरूपधूना (अनेक प्रकार से वस्त्र को हिलाना), १२. प्रमाण-प्रमाद (प्रतिलेखना के प्रमाण में प्रमाद करना), १३. शङ्कित गणनोपयोग: (कितनी बार प्रतिलेखना हो चुकी है इस प्रकार के प्रमाण मे शङ्का हो जाने पर पुन: अंगुलियों पर गिनने लगना), १४. अदत्तचित्त (प्रतिलेखना करते समय वार्तालाप, कथा, नित्यकर्म, पठन-पाठन आदि में ध्यान को लगाना) और १५. न्यूनाधिक (किसी अंश में कम व अधिक बार प्रतिलेखना करना) ।

इस तरह कम, अधिक एवं विपरीत प्रतिलेखना न करते हुए शास्त्रोक्त विधि से ही प्रतिलेखना करना प्रशस्त है और अन्य सब अप्रशस्त हैं। अत: प्रशस्त प्रतिलेखना के लिए सब प्रकार की सावधानी जरूरी है जिससे न तो जीवों की हिंसा हो और न शास्त्रोक्त विधि मे प्रमाद हो ।[1]

५. उच्चारसमिति—मल (उच्चार), मूत्र (प्रस्रवण) आदि (मुख का मैल, नाक का मैल, शरीर की गन्दगी, फेंकने योग्य आहार, उपयोगहीन उपकरण, मृत शरीर आदि) फेंकने योग्य पदार्थों को विधिपूर्वक फेंकने योग्य (व्युत्सर्जन योग्य) एकान्त भूमि में त्यागना उच्चारसमिति है ।[2] अर्थात् मल-मूत्रादि त्यागने योग्य घृणित पदार्थों को ऐसे स्थान पर छोड़ना जिससे न तो जीवों की हिंसा हो और न किसी को उससे घृणा हो ।

---

१. अणूणाइरित्तपडिलेहा अविवच्चासा तहेव य ।
पढमं पयं पसत्थं सेसाणि उ अप्पसत्थाइं ॥
—उ० २६.२८.

२. उच्चारं पासवणं खेलं सिंघाणजल्लियं ।
आहारं उवहिं देहं अन्नं वावि तहाविहं ॥
—उ० २४.१५.

व्युत्सर्जन के योग्य (स्थण्डिल) भूमि—त्याज्य पदार्थों के फेंकने योग्य स्थान इस प्रकार का होना चाहिये :[1] १. आवागमन से सर्वथा शून्य (जहाँ पर न तो कोई आ रहा हो और न कोई दूर से देख रहा हो—अनापातअसंलोक। इसके अतिरिक्त ऐसा भी न हो कि कोई आता तो न हो परन्तु दूर से देख रहा हो—अनापात संलोक; या आ तो रहा हो परन्तु देखता न हो—आपात असंलोक; या आता भी हो और देख भी रहा हो—आपात संलोक। इस तरह आवागमन से सर्वथा शून्य स्थान होना चाहिए), २. जहाँ क्षुद्र जीवादि की भी हिंसा संभव न हो, ३. सम हो (ऊँची-नीची न हो), ४. तृणादि से आच्छादित न हो, ५. अधिक समय पहले अचित्त किए गए स्थान में जीवादि की उत्पत्ति संभव होने से जिस स्थान को कुछ समय पूर्व ही अचित्त किया गया हो, ६. विस्तृत हो, ७. बहुत नीचे तक अचित्त हो, ८ ग्रामादि के समीप न हो, ९. छिद्ररहित हो और १०. त्रस जीव एवं अङ्कुरोत्पादक शाल्यादि के बीज से रहित हो।

इस तरह ये पाँचों प्रकार की समितियाँ साधु को सावधानी-पूर्वक सदाचार में प्रवृत्ति करने की शिक्षा देती हैं। जीवों की हिंसा न हो और अहिंसादि व्रतों का ठीक से पालन किया जा सके इसके लिये ही इन समितियों का और इसके साथ ही गुप्तियों का प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थ में समितिवाले साधु का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो किसी के प्राणों का विघात नहीं करता है तथा उनकी रक्षा करने में तत्पर रहता है वह समितिवाला कहलाता है। उसके पास पाप कर्म उसी प्रकार नहीं ठहरते हैं जिस प्रकार उच्चस्थान में जल नहीं ठहरता

---

१. अणावायमसंलोए अणावाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए आवाए चेव संलोए ॥
अणावायमसंलोए परस्सणुवघाइए।
समे अज्झुसिरे यावि अचिरकालकयम्मि य ॥
वित्थिण्णे दूरमोगाढे नासन्ने बिलवज्जिए।
तसपाणबीयरहिए उच्चाराईणि वोसिरे ॥
—उ० २४.१६-१८.

है। समितिवाले साधु का संसार-भ्रमण रुक जाता है और समिति से रहित साधु संसार में भटकता रहता है।[1] इस तरह गुप्ति और समितिरूप आठ प्रवचनमाताएँ महाव्रतों के रक्षण में तथा मुक्ति-मार्ग के प्राप्त कराने में प्रमुख हेतु हैं।

षट्-आवश्यक

वैदिक संस्कृति में जिस प्रकार ब्राह्मण को प्रातःकाल एवं संध्याकाल में सन्ध्यावन्दना आदि नित्यकर्म करने पड़ते हैं उसी प्रकार जैन साधु को भी सामायिक आदि छः नित्यकर्म करने पड़ते हैं। अवश्यकरणीय नित्यकर्म होने से इन्हें 'आवश्यक' कहा जाता है।[2] इन छः आवश्यकों के नामादि इस प्रकार हैं।[3]

१. समताभाव रखना (सामायिक), २. चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति करना (चतुर्विंशतिस्तव), ३. गुरु की वन्दना (वन्दन), ४. सदाचार में लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त करना (प्रतिक्रमण), ५. चित्त को एकाग्र करके शरीर से ममत्व हटाना (कायोत्सर्ग) और ६. आहार आदि का त्याग करना (प्रत्याख्यान)।

१. सामायिक आवश्यक—सम् + आय + इक = सामायिक अर्थात् रागद्वेष से रहित होकर समताभाव में स्थिर होना। इससे जीव सब प्रकार की पापात्मक प्रवृत्तियों (सावद्य-योग) से विरक्त हो

---

१. आउत्तया जस्स न अत्थि कावि इरियाइ भासाइ तहेसणाए।
आयाणनिक्खेवदुगुंछणाए न वीरजायं अणुजाइ मग्ग॥
—उ० २०.४०.

पाणे य नाइवाएज्जा से समीय त्ति वुच्चई ताई।
तओ से पावयं कम्मं निज्जाइ उदगं व थलाओ॥
—उ० ८.९.

तथा देखिए—उ० १२.१७; ३१.७; ३४.३१.

२. अवश्यं कर्त्तव्यं आवश्यकं, श्रमणादिभिरवश्यं उभयकालं क्रियते।
—आवश्यकसूत्र, मलयगिरि-टीका, पृ० ८६.

तथा देखिए—मूलाचार, अधिकार ७; श्रमणसूत्र, पृ० ८३-८५.

३. उ० २९.८-१३.

जाता है।[1] जिनभद्र ने सामायिक को चौदह पूर्वों (जिनवाणी) का सार बतलाया है।[2]

२. चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक—जैनधर्म के प्रवर्तक चौबीस तीर्थङ्करों एवं सिद्धों की स्तुति करना चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है। इससे जीव दर्शन की विशुद्धि करता है।[3] इस आवश्यक में जो जैन तीर्थङ्करों की स्तुति का विधान किया गया है उसका कारण यह है कि उनके गुणों का चिन्तन करके अपनी अन्तश्चेतना को जाग्रत करना चाहिए क्योंकि जैन तीर्थङ्कर वीतराग होने के कारण उपासक का किसी प्रकार का उपकार नहीं करते हैं।

३. वन्दन आवश्यक—गुरु का अभिवादन करना वन्दन आवश्यक है। यदि गुरु उपस्थित न हो तो उनका मन में संकल्प करके अभिवादन कर लेना चाहिए। ग्रन्थ में प्रत्येक 'आवश्यक' के पहले और बाद में गुरु की वन्दना अवश्यकरणीय बतलाई गई है।[4] इस वन्दन आवश्यक का फल बतलाते हुए लिखा है—'गुरु-वन्दना से जीव नीचगोत्र कर्म का क्षय करके उच्चगोत्र कर्म का बन्ध करता है और अप्रतिहत सौभाग्यवाला तथा सफल आज्ञावाला होता हुआ सर्वत्र आदर प्राप्त करता है।'[5]

---

१. सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ।
—उ० २९.८.

२. सामाइयं संखेवो चोद्दसपुव्वत्थपिंडो त्ति।
—विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २७९६.

३. चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।
—उ० २९.९.

तथा देखिए—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०७६.

थयथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्त बोहिलाभं जणयइ।......एवं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ।
—उ० २९.१४.

४. देखिए—सामाचारी।

५. वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं निबंधइ। सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ। दाहिणभावं च णं जणयइ।
—उ० २९.१०.

४. **प्रतिक्रमण आवश्यक**—'प्रति' उपसर्गपूर्वक गमनार्थक 'क्रमु' धातु से प्रतिक्रमण शब्द बना है। इसका अर्थ है—प्रतिकूल पादनिक्षेप अर्थात् सदोष आचरण में जितने आगे बढ़ गए थे उतने ही पीछे हटकर स्वस्थान पर जाना।[1] अतः प्रतिक्रमण का अर्थ हुआ—दोषों का प्रायश्चित्त (पश्चात्ताप) करना। यह प्रतिक्रमण प्रातःकाल तथा सायंकाल तो किया ही जाता है, इसके अतिरिक्त दैनिक छोटी से छोटी क्रिया करने पर तथा विशेष अवसरों पर भी किया जाता है।[2] इसके फल का वर्णन करते हुए ग्रन्थ में लिखा है—'प्रतिक्रमण से जीव व्रतों के छिद्रों (दोषों) को दूर करता है, फिर शुद्धव्रतधारी होकर कर्मास्रवों को रोकता हुआ तथा आठ प्रवचनमाताओं में सावधान होता हुआ विशुद्ध चारित्र को प्राप्त करके संयम में विचरण करता है।'[3]

यह प्रतिक्रमण आवश्यक प्रायश्चित्त तप का एक भेदविशेष है जिसका आगे तप के प्रकरण में वर्णन किया जाएगा। प्रतिक्रमण एक छोटा प्रायश्चित्त है और यह 'मेरा पाप मिथ्या हो' (मिच्छा मि दुक्कडं) इतना कहने मात्र से पूरा हो जाता है। अर्थात् स्वयं के दोष को स्वयं से कहकर आत्मनिन्दा करना। इस आत्मनिन्दारूप पश्चात्ताप से जीव क्षपकश्रेणी (करणगुणश्रेणी)[4] को प्राप्त करता हुआ मोहनीय कर्म का क्षय कर देता है।[5] प्रतिक्रमण का जैनशास्त्रों में बहुत महत्त्व है। इसीलिये समस्त आवश्यक क्रिया को 'प्रतिक्रमण' शब्द से भी कहा जाता है।[6]

---

१. प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणं, अयमर्थः शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम्।

—हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र-स्वोपज्ञवृत्ति, तृतीय प्रकाश।

२. देखिए—सामाचारी; आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२४४.

३. पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ।

—उ० २९.११.

४. देखिए—पृ० २३३, पा० टि० १.

५. उ० २९.६.

६. देखिए—श्रमणसूत्र, पृ० २०९-२१०.

५. कायोत्सर्ग आवश्यक—इसमें दो शब्द हैं—काय और उत्सर्ग। इनका अर्थ है—शरीर का त्याग करना अर्थात् शरीर से ममत्व को छोड़कर तथा स्व-स्वरूप में लीन होकर निश्चल होना कायोत्सर्ग है। यह भी एक प्रकार का तप है जिसका आगे वर्णन किया जाएगा। कायोत्सर्ग से साधक प्रतिक्रमण की तरह अतीत एवं वर्तमान के दोषों का शोधन करता है, फिर प्रायश्चित्त से विशुद्ध होकर कर्मभार को हल्का कर देता है। तदनन्तर वह चिन्तारहित होकर शुभ (प्रशस्त) ध्यान में लगा हुआ सुखपूर्वक विचरण करता है।[1] अतः इस कायोत्सर्ग को सब प्रकार के दुःखों से छुड़ानेवाला भी कहा गया है।[2] सामायिक और कायोत्सर्ग में यह अन्तर है कि सामायिक में साधु हलन-चलनादि क्रिया कर सकता है परन्तु कायोत्सर्ग में हलन-चलन नहीं कर सकता है।

६. प्रत्याख्यान आवश्यक—प्रत्याख्यान शब्द का अर्थ है—परित्याग करना। यद्यपि साधु सर्वविरत होता है फिर भी आहारादि का अमुक समयविशेष के लिए त्याग करना प्रत्याख्यान आवश्यक है। इसके करने से मन, वचन और काय की दूषित प्रवृत्तियाँ रुक जाती हैं और फिर कर्मों का आस्रवद्वार भी बन्द हो जाता है।[3] ग्रन्थ के 'सम्यक्त्व-पराक्रम' अध्ययन में कुछ प्रत्याख्यानों के पालन करने का फल बतलाया गया है। जैसे :

क. संभोग प्रत्याख्यान—साधुओं के द्वारा एकत्रित किये गए भोजन को एकसाथ मण्डलीबद्ध बैठकर खाने का त्याग करना।

---

१. काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ।

—उ० २९.१२.

२. काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणं।

—उ० २६.३९.

तथा देखिए—उ० २६.४२.

३. पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ।

—उ० २९.१३.

इससे जीव स्वावलम्बी हो जाता है और फिर अपने लाभ से ही संतुष्ट रहता है।[१]

ख. उपधि प्रत्याख्यान—वस्त्रादि उपकरणों का त्याग करना। इससे स्वाध्याय आदि के करने में निर्विघ्नता की प्राप्ति होती है तथा आकांक्षारहित होने से वस्त्रादि के मांगने, उनकी रक्षा करने आदि का कष्ट नही होता है।[२]

ग. आहार प्रत्याख्यान—आहार का त्याग करने से जीवन के प्रति ममत्व नही रहता है और निर्ममत्व हो जाने पर आहार के बिना भी उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है।[३]

घ. योग प्रत्याख्यान—मन, वचन और कायसम्बन्धी प्रवृत्ति (योग) को रोकना योग प्रत्याख्यान है। इससे जीव जीवन्मुक्त (अयोगी) की अवस्था को प्राप्त करता है तथा नवीन कर्मों का बन्ध न करता हुआ पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करता है।[४]

ङ. सद्भाव प्रत्याख्यान—इसका अर्थ है—सभी प्रकार की प्रवृत्ति को त्यागकर पूर्ण वीतरागता की अवस्था को प्राप्त करना। इससे जीव सब प्रकार के कर्मों को नष्ट करके मुक्त हो जाता है।[५]

---

१. संभोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ।.....सएणं लाभेणं संतुस्सइ परलाभं नो आसादेइ।
—उ० २९.३३.

२. निरुवहिए णं जीवे निक्कंखी उवहि मंतरेण य न संकिलिस्सई।
—उ० २९.३४.

३. आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदइ।
—उ० २९.३५.

४. जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ।
—उ० २९.३७.

५. सब्भावपच्चक्खाणेणं अणियट्टिं जणयइ.....सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।
—उ० २९.४१.

तथा देखिए—उ० २९.४२,४५ आदि।

च. शरीर प्रत्याख्यान—इसका अर्थ है—शरीर से ममत्व हटाना। संसारी अवस्था में जीव हर समय किसी न किसी प्रकार के शरीर से युक्त रहता है और जब वह शरीर का प्रत्याख्यान कर देता है तो अशरीरी सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[1]

छ. सहाय प्रत्याख्यान—अपने कार्य में किसी की सहायता न लेना सहाय प्रत्याख्यान है। इससे जीव एकत्वभाव को प्राप्त करता है। एकत्वभाव प्राप्त कर लेने पर वह अल्प शब्दवाला, अल्प कलहवाला और अल्प कषायवाला होता हुआ संयमबहुल, संवरबहुल और समाधिबहुल हो जाता है।[2]

ज. कषाय प्रत्याख्यान—यद्यपि साधु सामान्यतया रागद्वेषरूप कषाय से रहित होता है फिर भी रागद्वेष का प्रसङ्ग आने पर संयम से च्युत न होना अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों को जीतना कषाय प्रत्याख्यान है। इससे साधक तत्तत् कर्मों का बन्ध नहीं करता हुआ पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करके क्रमशः क्षमा, मृदुता, ऋजुता एवं निर्लोभता को प्राप्त कर लेता है।[3] क्षमा से सब प्रकार के कष्टों को सहन करता है। मार्दव (मृदुता) से अभिमानरहित होकर मद के आठ स्थानों का क्षय कर देता है। आर्जव (ऋजुता) से सरल प्रकृति का होकर धर्म का पालन करता है। निर्लोभता से अकिञ्चनभाव (अपरिग्रहपना) को प्राप्त करके विषयों से अप्रार्थनीय (लुभाया न जाने वाला) हो जाता है। इस तरह इन कषायों पर विजय पाने से वीतरागता की प्राप्ति होती है। वीतराग पुरुष सुख और दुःख में समान स्थितिवाला होता है। उसे मनोज्ञामनोज्ञ विषयों के प्रति ममत्व या द्वेष नहीं रहता है।[4]

---

१. सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं निव्वत्तेइ।
—उ० २९.३८.

२. सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ''' संवरबहुले समाहिए यावि भवइ।
—उ० २९.३९.

३. उ० २९.६७-७०.

४. कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ''''' समसुहदुक्खे भवइ।
—उ० २९.३६.

तथा देखिए—उ० २९.४५-४६; ९.५७-५८; ३१.३,७.

इस तरह ग्रन्थ में कुछ प्रत्याख्यानों के प्रकार और उनके फल बतलाए गए हैं। इसी तरह प्रत्याख्यान आवश्यक के अन्य प्रकार समझ लेने चाहिए।[1]

उपर्युक्त सामायिक आदि छः आवश्यकों के ही नाम अनुयोगद्वार में प्रकारान्तर से मिलते हैं जिनसे इनके स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। उनके क्रमशः नाम ये हैं :[2] १. सावद्ययोगविरति (सामायिक), २. उत्कीर्तन (चतुर्विंशतिस्तव), ३. गुणवत्प्रतिपत्ति (वन्दन), ४. स्खलितनिन्दना (प्रतिक्रमण), ५ व्रणचिकित्सा (कायोत्सर्ग) और ६ गुणधारण (प्रत्याख्यान)। 'आवश्यक' नामक एक सूत्रग्रन्थ भी है जिसमे इन छः आवश्यको का ही विशेष वर्णन किया गया है।

इन छः आवश्यकों के अतिरिक्त एक आवश्यक क्रिया और है जिसका नाम है वस्त्रादिक की प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना। यह प्रतिक्रमण आवश्यक में ही गतार्थ है। इन छः नित्यकर्मों की आवश्यक संज्ञा रूढ है, अन्यथा ग्रन्थ में साधु के अन्य भी नित्यकर्म बतलाए गए हैं जिनका स्पष्टीकरण आगे बतलाई जानेवाली साधु की दिन एवं रात्रिचर्या से हो जाएगा। वस्तुतः ये छः आवश्यक या नित्यकर्म साधु के सामान्य नित्यकर्म हैं और अध्ययन, मनन आदि विशेष कार्य हैं।

सामाचारी

प्रतिदिन साधु को जिस प्रकार का आचरण करना पड़ता है उसे 'सामाचारी' कहा गया है। सामाचारी शब्द का सामान्य अर्थ है—सम्यक्चर्या या आचरण। ग्रन्थ में सामाचारी के दस

---

१. विशेष के लिए देखिए—भगवतीसूत्र ७.२.

२. सावज्जजोगविरई उक्कित्तण गुणवओय पडिवत्ती।
खलियस्स निंदणा वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव॥
—अनुयोगद्वार, पृ० १०.

अङ्ग बतलाए गए हैं जिनका पालन करने से साधु संसाररूपी समुद्र से पार उतर जाता है।[1]

सामाचारी के दस अङ्ग :

संसाररूपी समुद्र से पार उतारनेवाली सामाचारी के दस अङ्ग इस प्रकार हैं :[2]

१. आवश्यकी— निवास-स्थान (उपाश्रय) से बाहर जाते समय आवश्यक कार्य से बाहर जा रहा हूँ एतदर्थ 'आवस्सही' ऐसा कहना।

२. नैषेधिकी—बाहर से उपाश्रय के अन्दर आते समय 'निसिही' ऐसा कहना।

३. आपृच्छना—गुरु आदि से अपना कार्य करने के लिए पूछना या आज्ञा लेना।

४. प्रतिपृच्छना—दूसरे के कार्य के लिए गुरु से पूछना।

५. छन्दना – भिक्षा के द्वारा प्राप्त द्रव्य सधर्मियों को देने के लिए आमन्त्रित करना।

६. इच्छाकार—गुरु आदि की इच्छा को जानकर तदनुकूल कार्य करना।

७. मिथ्याकार—कोई अपराध हो जाने पर अपनी निन्दा करना।

८ तथाकार – गुरु के वचनों को सुनकर 'तहत्ति' (जैसी आपकी आज्ञा) ऐसा कहकर आदेश को स्वीकार करना।

९. अभ्युत्थान—सेवायोग्य गुरु आदि की सेवा-शुश्रूषा करना।

१०. उपसम्पदा—ज्ञानादि की प्राप्ति के लिये किसी अन्य गुरु की शरण में जाना।

---

१. सामायारिं पवक्खामि सव्वदुक्खविमोक्खणिं।
जं चरित्ताण निग्गंथा तिण्णा संसारसागरं॥
—उ० २६.१.
तथा देखिए—उ० २६.५३.

२. पढमा आवस्सिया नाम बिइया य निसीहिया।
....
एवं दुपंचसंजुत्ता सामायारी पवेइया॥
—उ० २६.२-७.

वट्टकेरकृत दिगम्बर ग्रन्थ मूलाचार में तथा श्वेताम्बर ग्रन्थ भगवतीसूत्र में भी इन्हीं दस अवयवोंवाली सामाचारी का वर्णन मिलता है।[1] प्रकृत ग्रन्थ में सामान्यरूप से सामाचारी के १० अवयवों के वर्णन के साथ साधु के दिन एवं रात्रि के सामान्य कार्यों का भी समयविभाग के अनुसार वर्णन मिलता है।

दिनचर्या एवं रात्रिचर्या :

साधु को सर्वप्रथम दिन एवं रात्रि को समानरूप से चार-चार भागों में बाँट लेना चाहिए। इसके बाद प्रत्येक भाग में अपने-अपने कर्त्तव्यों (उत्तरगुणों) का पालन करना चाहिये।[2] ग्रन्थ में प्रत्येक भाग को पौरुषी (प्रहर) शब्द से कहा गया है।[3] प्रत्येक प्रहर मे किए जाने वाले साधु के सामान्य कर्त्तव्य इस प्रकार हैं :[4]

दिन का प्रथम प्रहर—यह सामान्यतः स्वाध्याय (अध्ययन) का समय है। इस प्रहर के आदि के चतुर्थ भाग में वस्त्र, पात्र

---

१. इच्छामिच्छाकारो तधाकारोयआसिआणिसिही।
आपुच्छापडिपुच्छाछंदणसणिमंतणाय उवसंपा॥
—मूलाचार, अधिकार ४.१२५.

दसविहा सामायारी पण्णत्ता तं जहा'' ''।
—भगवती, २५.७.१०१.

२. दिवसस्स चउरो भागे भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा दिणभागेसु चउसु वि॥
—उ० २६.११.

तथा देखिए—उ० २६.१७.

३. उ० २६.१३-१६,१९-२०.

४. पढमं पोरिसि सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीइ सज्झायं॥
—उ० २६.१२.

पढमं पोरिसि सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं॥
—उ० २६.१८.

तथा देखिए—उ० २६.३६-५२.

(भाण्ड) आदि की प्रतिलेखना करे, फिर गुरु को नमस्कार करके पूछे कि 'हे भदन्त ! मैं स्वाध्याय करूं या वैयावृत्य (सेवा-शुश्रूषा)', फिर गुरु जिसकी आज्ञा देवें उसी का ग्लानिरहित होकर पालन करे।[1]

दिन का द्वितीय प्रहर—इसमें साधु चित्त को एकाग्र करके ध्यान करे। इस ध्यान का वर्णन आगे तपश्चर्या में किया जाएगा।

दिन का तृतीय प्रहर—इसमें साधु भोजन-पान (आहार) की गवेषणार्थ गृहस्थों के घर जाए और गृहस्थ से प्राप्त आहार का उपभोग करे। भिक्षार्थ जाते समय अपने पात्रों की पुनः प्रतिलेखना कर लेना चाहिये तथा भिक्षा के लिये परमार्द्ध-योजनप्रमाण (दो क्रोश—आधा योजन) क्षेत्र तक ही जाना चाहिए।

दिन का चतुर्थ प्रहर—इस प्रहर में साधु पुनः स्वाध्याय करे। जब इस प्रहर का चतुर्थांश शेष रह जाए (करीब ४५ मिनट) तो गुरु की वन्दना करे, फिर शय्या एवं 'उच्चारभूमि' (मल-मूत्रादि के त्यागने का स्थान) की प्रतिलेखना करके ज्ञान, दर्शन और चारित्र में लगे हुए दिनसम्बन्धी अतिचारों (दोषों) का चिन्तन करता हुआ गुरुवन्दना, कायोत्सर्ग, स्तुतिमङ्गल (चतुर्विंशतिस्तव), प्रतिक्रमण आदि आवश्यकों को करे। गुरु-वन्दना प्रायः प्रत्येक आवश्यक-क्रिया के बाद करनी पड़ती है।

रात्रि का प्रथम प्रहर—इस प्रहर में साधु पुनः स्वाध्याय करे।

रात्रि का द्वितीय प्रहर—इसमें दिन के द्वितीय प्रहर की तरह ही ध्यान करे।

रात्रि का तृतीय प्रहर—इसमें निद्रा का त्याग करे अर्थात् इस प्रहर में निद्रा लेने के बाद प्रहर के अन्त में जाग जाए। यद्यपि ग्रन्थ में साक्षात् निद्रा लेने का कथन नहीं किया गया है परन्तु निद्रा का त्याग बिना निद्रा के सम्भव नहीं है। निद्रा के प्रमादरूप होने

---

१. वेयावच्चे निउत्तेण कायव्वं अगिलायओ ।
सज्झाए वा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणे ॥
—उ० २६. १०.

तथा देखिए—उ० २६.८-६,१२,२१-२२.

से साक्षात् निद्रा का कथन न करके निद्रात्याग का कथन किया गया है। शरीर की स्वस्थता तथा स्वाध्याय आदि करने के लिये भी निद्रा आवश्यक है।

रात्रि का चतुर्थ प्रहर—इसमें रात्रिसम्बन्धी प्रतिलेखना करके मुख्यरूप से पुनः स्वाध्याय करे। स्वाध्याय करते समय गृहस्थों को न जगाए। जब इस प्रहर का चतुर्थांश शेष रह जाए तो गुरु की वन्दना करके प्रातःकालसम्बन्धी प्रतिलेखना करे, फिर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में लगे हुए रात्रिसम्बन्धी दोषों का चिन्तन करता हुआ गुरु-वन्दना, कायोत्सर्ग, जिनेन्द्रस्तुति, प्रतिक्रमण आदि आवश्यकों को करे। इसके बाद पुनः अगले दिन की क्रियाओं में पूर्ववत् प्रवृत्ति करे।

इस तरह यहाँ साधु की दिन एवं रात्रिचर्या के साथ दस अवयवोंवाली सामाचारी का जो वर्णन किया गया है वह सामान्य अपेक्षा से है क्योंकि इसमें समयानुसार परिवर्तन भी किया जा सकता है।[1]

वसति या उपाश्रय

साधु के ठहरने के स्थान को वसति या उपाश्रय कहा जाता है। ये उपाश्रय प्रायः नगर के बाहर उद्यान आदि के रूप में होते थे। साधु को किसी एक निश्चित उपाश्रय में हमेशा ठहरे रहने का आदेश नहीं है अपितु उनके लिए हमेशा (वर्षाकाल को छोड़कर) एक ग्राम से दूसरे ग्राम में इन्द्रियनिग्रहपूर्वक विचरण करने का उल्लेख मिलता है।[2] साधु के ठहरने के स्थान के अर्थ में उपाश्रय के

१. विशेष के लिए देखिए—दशाश्रुतस्कन्ध (आचारदशा), पर्युषणा कल्प; कल्पसूत्र, सामाचारी प्रकरण।

२. इंदियग्गामनिग्गाही मग्गगामी महामुणी।
गामाणुगामं रीयंते पत्तो बाणारसिं पुरिं॥
बाणारसीए बहिया उज्जाणम्मि मणोरमे।
फासुए सेज्जसंथारे तत्थ वासमुवागए॥
—उ० २५.२-३.

तथा देखिए—उ० २३.३-४,७-८.

अतिरिक्त शय्या शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[1] शय्या शब्द का अर्थ है—जहाँ पर विस्तर बिछाया जा सके ऐसा स्थान। आचाराङ्गसूत्र में भी इसी अर्थ में 'शय्यैषणा' नामक अध्ययन मिलता है।[2]

निवासयोग्य भूमि कैसी हो ?

प्रकृत ग्रन्थ में साधु के निवासयोग्य भूमि (उपाश्रय) के विषय में जो संकेत मिलते हैं वे इस प्रकार हैं :

१. **जो रमणीय एवं सुसज्जित न हो**—मन को लुभानेवाला, चित्रों से सुशोभित, पुष्पमालाओं एवं अगरचन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित, सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित एवं सुन्दर दरवाजों से युक्त उपाश्रय साधु के निवास के योग्य नहीं है क्योंकि ऐसे उपाश्रय मे रहने से भोगों में आसक्ति बढ़ती है और फिर इन्द्रियों को वश में रखना कठिन हो जाता है।[3]

२. **जो स्त्री, पशु आदि से संकीर्ण न हो**—स्त्री, पशु आदि के आवागमन से सकीर्ण स्थान में निवास करने पर उनकी कामचेष्टाएँ आदि देखने व सुनने से ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने में बाधा आती है। अत. साधु को स्त्री, पशु आदि के आवागमन से रहित स्थान मे ही ठहरना चाहिए।[4]

---

१. वही।

२. आचाराङ्ग, २.१.२.

३. मणोहरं चित्तघरं मल्लधूवेण वासियं।
सकवाडं पंडुरुल्लोयं मणसावि न पत्थए॥
इंदियाणि उ भिक्खुस्स तारिसम्मि उवस्सए।
दुक्कराइं निवारेउं कामराग विवड्ढणे॥
—उ० ३५.४-५.

४. फासुयम्मि अणाबाहे इत्थीहिं अणभिद्दुए।
तत्थ संकप्पए वासं भिक्खू परमसंजए॥
—उ० ३५.७.

तथा देखिए—उ० १०.२८.

३. जहाँ जीवादि के उत्पन्न होने की संभावना न हो—यदि वहाँ क्षुद्र जीवों के उत्पन्न होने की संभावना होगी तो अहिंसा महाव्रत का पालन करने में बाधा पड़ेगी। अतः जहाँ क्षुद्र जीवों के उत्पन्न होने की संभावना न हो वही स्थान साधु के ठहरने के उपयुक्त है।[1]

४. जो गोबर आदि से उपलिप्त न हो तथा बीजादि से रहित हो—साधु के निमित्त से उस स्थान को लीप-पोतकर साफ न किया गया हो तथा अंकुरोत्पादक बीजों से आकीर्ण भी न हो। इससे भिन्न उपाश्रय में ठहरने से साधु हिंसा के दोषों का भागी होता है। अतः जिस उपाश्रय को साधु के निमित्त से लीप-पोतकर साफ न किया गया हो ऐसे ही उपाश्रय में साधु ठहरे।[2] इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह स्थान गन्दा हो अपितु वह साफ-सुथरा तो हो परन्तु साधु के निमित्त से उसे साफ न किया गया हो।

५. जो एकान्त हो—जो नगर एवं गृहस्थादि के घनिष्ठ सम्पर्क से रहित श्मशान, उद्यान, शून्यगृह, वृक्ष, लतामण्डप का तलभाग आदि एकान्तस्थल हो।[3] साध्वियों के विषय में बृहत्कल्प के द्वितीय उद्देश में लिखा है कि साध्वियां धर्मशाला (आगमनगृह), टूटा-फूटा मकान (विकृति-गृह), वृक्षमूल और खुले आकाश (अभ्रावकाश) में न रहें। इसका कारण यह है कि ऐसे एकान्त स्थानों पर साध्वियों के साथ पुरुषों के द्वारा बलात्कार की संभावना रहती है।

६. जो परकृत हो—जो उपाश्रय साधु के निमित्त से बनाया गया न हो[4] अर्थात् जिसे गृहस्थ ने स्वयं के उपयोग के लिये

---

१. वही तथा पृ० ३१०, पा० टि० २.

२. विवित्तलयणाइं भइज्जताई निरोवलेवाइं असंथडाइं ।
—उ० २१.२२.

३. सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्खमूले व इक्कओ ।
पइरिक्के परकडे वा वासं तत्थाभिरोयए ॥
—उ० ३५.६.

तथा देखिए—उ० २.२०; १८.४-५; २०.४; २३.४; २५.३.

४. वही ।

बनाया हो क्योंकि साधु के निमित्त से उपाश्रय के बनाने पर साधु को हिंसादि दोष का भागी बनना पड़ेगा।

इस तरह साधु सुसज्जित, रमणीय, स्त्री आदि से संकीर्ण तथा जीवादि की उत्पत्ति की सम्भावना से युक्त स्थान पर न रहकर नगर से बाहर एकान्त अरण्य आदि में रहे। ऐसा एकान्त स्थान ही साधु के ठहरने के लिये उपयुक्त है। इससे अहिंसा आदि व्रतों का पालन करने में सुविधा रहती है। अतः जैसे स्थान में रहने से व्रतों का पालन करने में बाधा न आए वही स्थान साधु के ठहरने के लिये उचित है। ग्रन्थ में शय्या-परीषह के प्रसङ्ग में कहा है कि साधु स्थान के सम होने या विषम होने पर घबड़ाए नहीं अपितु सभी प्रकार के कष्टों को सहन करता हुआ अपने कर्त्तव्यपथ पर दृढ़ रहे।[1] इस प्रकार के एकान्त स्थान में रहना विविक्तशयनासन (संलीनता) नामक एक प्रकार का तप भी है।[2]

आहार

भोजन के बिना कोई भी कार्य करना संभव नहीं है क्योंकि भोजन से ही इन्द्रियाँ पुष्ट होकर देखने, सुनने एवं विचार करने के सामर्थ्य को प्राप्त करती हैं। अतः साधु के लिए दिन का तृतीय प्रहर भोजन-पान के लिए नियत किया गया है। भोजन किन परिस्थितियों में करना चाहिए? किन परिस्थितियों में नहीं करना चाहिए? किस प्रकार का आहार करना चाहिए? आदि बातों का यहां विचार किया जायगा।

किन परिस्थितियों में आहार ग्रहण करे :

मोक्षाभिलाषी साधु निम्नोक्त छः कारणों के उपस्थित होने पर ही भोजन ग्रहण करे :[3]

---

१. देखिए—प्रकरण ५, शय्या परीषह।

२. देखिए—प्रकरण ५, तपश्चर्या।

३. वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥
—उ० २६.३३.
तथा देखिए—उ० २.२६; ६.१४; ८.१०-१२; १२.३५; १५.१२; २५.३९-४०; २६.३२; ३१.८.

१. क्षुधा-वेदना की शान्ति के लिए—यद्यपि साधु के लिए क्षुधा-परी-षहजय का विधान किया गया है परन्तु ऐसा विधान तप करते समय तथा निदुष्ट आहार न मिलने की अवस्था के लिए है, अन्यथा क्षुधा की वेदना से न तो मन स्थिर हो सकता है और न देखने, सुनने व ध्यान आदि के करने की सामर्थ्य ही प्राप्त हो सकती है। अतः क्षुधा-वेदना की शान्ति के लिए आहार करना चाहिए।

२. गुरु आदि की सेवा करने के लिए—गुरु की सेवा करना एक प्रकार का तप है। यदि शरीर में सामर्थ्य नही होगा तो गुरु की सेवा आदि कार्य नही हो सकते हैं। अत गुरु की सेवा करने के लिए आहार ग्रहण करना चाहिए।

३. ईर्यासमिति का पालन करने के लिए—भोजन न करने पर आँखो की ज्योति क्षीण हो जाती है। ऐसी स्थिति मे गमनागमन करते समय सावधानी कैसे वर्ती जा सकती है? अतः गमनादि क्रिया करते समय ईर्यासमिति का पालन करने के लिए भी भोजन करना आवश्यक है।

४. संयम की रक्षा के लिए—संयम के होने पर ही सब प्रकार के व्रतों को धारण किया जा सकता है और सब प्रकार के उपसर्गों (कष्टो) को सहन किया जा सकता है। अतः साधु को सयम में दृढ़ होकर ही भिक्षा में प्रवृत्त होने का आदेश है। वस्तुत साधु को भोजन सयमपालन करने के लिए ही करना चाहिए।

५. जीवनरक्षा के लिए - जीवन के वर्तमान रहने पर ही संयम आदि का पालन करना सभव है तथा जीवन (प्राण) आहार के बिना ठहर नही सकता है। अतः साधु को जीवनरक्षा के लिए नीरस भोजन ही करने का विधान है।

६. धर्मचिन्तन के लिए—शास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिन्तन आदि धार्मिक-क्रियाओं को करने के लिए आवश्यक है कि शरीर सुस्थिर रहे तथा क्षुधा आदि की वेदना न हो क्योंकि शरीर के शिथिल रहने पर या क्षुधा से व्याकुल होने पर कोई भी चिन्तन आदि धार्मिक-क्रिया नहीं की जा सकती है। अतः धार्मिक-क्रियाओं के करने के लिए भी आहार आवश्यक है।

इस तरह साधु इन ६ परिस्थितियों के मौजूद रहने पर ही आहार ग्रहण करे। इन सबके मूल में संयम का पालन करना प्रधान कारण है क्योंकि संयम का पालन न करने पर वैयावृत्य, ईर्यासमिति एवं धर्मचिन्तन भी नहीं हो सकता है। प्राणरक्षा एवं क्षुधा-वेदना की शान्ति भी संयम की रक्षा के लिए ही है। इसका स्पष्टीकरण आहार न करने के निम्नोक्त कारणों से हो जाता है।

किन परिस्थितियों में आहार ग्रहण न करें :

उपर्युक्त छहों कारणों के वर्तमान रहने पर भी यदि निम्नोक्त छ कारणों मे से कोई भी एक कारण उपस्थित हो तो साधु को आहार त्याग देना चाहिए और जब तक आहार न करने का कारण दूर न हो जाए तब तक किसी भी हालत में आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए, भले ही प्राणों का त्याग क्यों न करना पड़े। आहार न करने के वे छः कारण निम्नोक्त हैं .[1]

१. **भयङ्कर रोग हो जाने पर**- असाध्य रोग के हो जाने पर आहार त्याग देना चाहिए। जब साधु को रोगादि की शान्ति के लिए औषधिसेवन का भी निषेध है[2] तो फिर ऐसी परिस्थिति में आहार ग्रहण करने की अनुमति कैसे दी जा सकती है?

२. **आकस्मिक संकट (उपसर्ग) आ जाने पर**—किसी आकस्मिक विकट सकट के उपस्थित हो जाने पर साधु को सब प्रकार के आहार का त्याग कर देना चाहिए।

३ **ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा के लिए**—यदि भोजन से इन्द्रियाँ प्रदीप्त होकर कामवासना की ओर झुकती हैं तो भोजन का त्याग कर देना चाहिए। यहां ब्रह्मचर्य की रक्षा से संयम की रक्षा अभिप्रेत है क्योंकि आत्मसंयम के अभाव में ही ब्रह्मचर्य से पतन सम्भव है।

---

१. आयंके उवसग्गे तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु।
पाणिदया तवहेउं सरीरवोच्छेयणट्ठाए॥
—उ० २६.३५.

२. उ० १६.७६-७७; १५.८.

४. जीवों की रक्षा के लिए—यदि भोजन ग्रहण करने से अहिंसा महाव्रत के पालन करने में बाधा आती है तो भोजन का त्याग कर देना चाहिए। यह कथन विशेषकर वर्षाकाल की अपेक्षा से है क्योंकि वर्षाकाल में बहुत से क्षुद्र जीवों की उत्पत्ति हो जाती है और साधु के भिक्षार्थ जाते समय उनकी हिंसा हो जाती है।

५. तप करने के लिए—अनशन आदि तप करने के लिए भोजन का त्याग आवश्यक है। तप करना भी आवश्यक है क्योंकि ये कर्मों की निर्जरा में प्रधान कारण हैं।

६. समतापूर्वक जीवन का त्याग करने (सल्लेखना) के लिए—मृत्यु के सन्निकट आ जाने पर निर्ममत्व-अवस्था की प्राप्ति के लिए सब प्रकार के आहार का त्याग आवश्यक है।

किस प्रकार का आहार ग्रहण करे ?

भोजन ग्रहण करने के प्रतिकूल कारणों के मौजूद न रहने पर और अनुकूल कारणों के मौजूद रहने पर साधु को किस प्रकार का आहार ग्रहण करना चाहिए ? इस विषय में ग्रन्थ में निम्नोक्त सकेत मिलते हैं :

१. जो अनेक घरों से भिक्षा द्वारा माँगकर लाया गया हो—साधु भिक्षा के द्वारा प्राप्त अन्न का ही सेवन करता है। वह भिक्षान्न केवल किसी एक घर से या अपने सम्बन्धीजनों के यहा से ही लाया हुआ न हो अपितु अनिन्दित कुलवाले अज्ञात घरों से थोड़ा-थोड़ा माँगकर लाया हुआ होना चाहिए।[1] परिस्थितिविशेष में वह आहार यज्ञ-मण्डप तथा छोटे कुलवाले (प्रान्तकुल) घरों से भी लाया जा सकता है।[2] परन्तु किसी एक घर से पूरा आहार नहीं लाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर गृहस्थ को पुनः भोजन बनाना पड़ेगा जिससे साधु के अहिंसाव्रत में दोष होगा।

---

१. समुयाणं उंछमेसिज्जा जहासुत्तमणिंदियं।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे पिंडवायं चरे मुणी॥
—उ० ३५.१६.
तथा देखिए—उ० १४.२६; १५.१; १७.१९; २५.२८.

२. उ० १२.१३; २५.५.

२. जो गृहस्थ ने स्वयं के लिए तैयार किया हो (पर-कृत)—यदि भोजन साधु के निमित्त से बनाया गया होगा तो साधु को हिंसादि की अनुमति का दोष लगेगा। यदि अतिथि के निमित्त से बनाया गया होगा तो अतिथि का हिस्सा कम हो जाएगा। अतः जिस भोजन को गृहस्थ ने स्वयं के लिए तैयार किया हो उसी में से थोड़ा सा लेवे ताकि गृहस्थ भूखा भी न रहे और उसे पुनः भोजन तैयार करने का प्रयत्न भी न करना पड़े। इस प्रकार के भोजन को ग्रन्थ में 'परकृत' कहा गया है। इसका अर्थ है—पर (साधु से इतर गृहस्थ) के निमित्त से बनाया गया अर्थात् जिसे गृहस्थ ने स्वयं के लिए बनाया हो।[1]

३. गृहस्थ के भोजन कर चुकने के बाद जो शेष बचा हो—गृहस्थ के भोजन कर चुकने के बाद सामान्यतया प्रत्येक घर में एक-दो रोटियां बच जाती हैं। अतः साधु उस शेषावशेष अन्न को ही लेवे जिससे गृहस्थ न तो भूखा रहे और न उसे पुनः भोजन बनाने का प्रयत्न ही करना पड़े। इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए भिक्षार्थ यज्ञमण्डप में उपस्थित हरिकेशिबल मुनि के शरीर में प्रविष्ट यक्ष के वचनों को उद्धृत कर रहा हूँ—'मैं संयत, ब्रह्मचारी, धनसंग्रह एवं अन्नादि पकाने की क्रिया से विरक्त साधु (श्रमण) हूँ। पर के लिए बनाए गए आहार की प्राप्ति के लिए भिक्षा लेने के समय में यहाँ पर आया हूँ। आपके पास यह बहुत-सा भोज्यान्न है जिसे आप बाँट रहे हैं, खा रहे हैं तथा उपभोग कर रहे हैं। मुझे भिक्षा द्वारा जीवन-यापन करनेवाला तपस्वी समझें तथा ऐसा जानकर मुझे शेषावशेष अन्न देवें।'[2] यद्यपि जैन साधु इस

---

१. फासुयं परकडं पिंडं।
—उ० १.३४.
तथा देखिए—उ० १२.९; २०.४७.

२. समणो अहं संजओ बंभयारी विरओ धणपयणपरिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि॥
वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई अन्नं पभूयं भवयाणमेयं।
जाणाहि मे जायणजीविणु त्ति सेसावसेसं लभऊ तवस्सी॥
—उ० १२.९-१०.
तथा देखिए—उ० ६.१५.

तरह से भिक्षान्न की याचना नहीं करते हैं फिर भी यक्ष के मुख से जो ऐसा कहलाया गया है उसका कारण है—साधु के आहार ग्रहण करने सम्बन्धी विषय का स्पष्टीकरण।

४. जो निमन्त्रण आदि से प्राप्त न हो—साधु गृहस्थ के द्वारा आमन्त्रण करने पर प्राप्त भिक्षा न लेवे[1] क्योंकि ऐसा आहार लेने पर गृहस्थ साधु के निमित्त पाचनक्रिया करेगा जिससे साधु को हिंसा की अनुमति का दोष लगेगा। इसके अतिरिक्त जहां पर पंक्तिबद्ध होकर प्रीतिभोज दिया जा रहा हो वहाँ भी भिक्षार्थ खड़ा न होवे।[2] हरिकेशिबल मुनि ब्राह्मणों के द्वारा प्रार्थना करने पर जो यज्ञान्न को ग्रहण करते हैं वह आमन्त्रणपूर्वक लिया गया आहार नहीं है क्योंकि हरिकेशिबल भिक्षा लेने के समय यज्ञमण्डप में भिक्षार्थ जाते हैं और वहां पर पहले से तैयार किए गए भोजन को ब्राह्मणों पर अनुग्रह करने के लिए ही ग्रहण करते हैं।[3] अतः वहां आमन्त्रणजन्य दोष नहीं है।

५. जो सरस एवं प्रमाण से अधिक न हो—साधु के लिए संयम निर्वाहार्थ ही भोजन ग्रहण करने का विधान है, रसना-इन्द्रिय की सन्तुष्टि के लिए नहीं। अतः साधु को चाहिए कि वह सरस आहार की अभिलाषा से ज्यादा न घूमे। उसे जो नीरस आहार मिले उसका तिरस्कार न करते हुए उसे ग्रहण करे।[4] इसके अतिरिक्त सरस आहार ग्रहण करने से इन्द्रियां कामादि भोगों के सेवन के लिए उद्दीप्त हो जाती हैं जिससे साधु पक्षीगणों से

---

१. उद्देसियं कीयगडं नियागं न मुञ्चई किंचि अणेसणिज्जं।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं॥
—उ० २०.४७.

२. परिवाडीए न चिट्ठेज्जा।
—उ० १.३२.

३. उ० १२.४-७,१६,१८-२०,३५.
इसी तरह जयघोष मुनि के लिए देखिए—उ० २५.६,३९-४०.

४. देखिए—पृ० ३१६, पा० टि० १; उ० २.३९; ८.११; १५.२,१२; १८.३०; २१.१५; २३.५८; २५.२.

पीड़ित सुस्वादु फलवाले वृक्ष की तरह पीड़ित होकर संयम की आराधना नहीं कर पाता है।[1] प्रमाण से अधिक भोजन करने से प्रचुर इन्धनवाले वन में उत्पन्न हुई दावाग्नि की तरह इन्द्रियाँ शान्त नहीं होती हैं।[2] अतः साधु का आहार नीरस एवं स्वल्प होना चाहिए।

साधु के जीवन-यापन के लिए नीरस आहार के विषय में ग्रन्थ में कुछ संकेत मिलते हैं। जैसे :[3] १. स्वादहीन (प्रान्त), २ ठण्डा (शीत-पिण्ड), ३. पुराने उड़द, मूंग आदि (पुराण-कुम्मास), ४. मूंग के ऊपर का छिलका (वुक्कस), ५ शुष्क चना आदि (पुलाग), ६. बेर का चूर्ण (मंथु), ७. शाक या चावल आदि का उबला हुआ पानी (आयामग), ८. जव का भात (यवोदन), ९. शीतल काञ्जी (सौवीर), १०. जव का पानी आदि। इस तरह साधु के जीवन-निर्वाह के लिए नीरस आहार लेने का विधान होने का यह तात्पर्य नहीं है कि साधु घृत, दूध आदि सरस आहार नहीं ले सकता है अपितु सरस आहार की प्राप्ति में आसक्ति न करके इस प्रकार के नीरस आहार के मिलने पर उपेक्षा न करे। यदि सरस आहार ग्रहण करने से संयम के पालन करने में बाधा पड़े तो उसे सरस आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसीलिए ग्रन्थ में साधु को लाभालाभ में हमेशा सन्तुष्ट रहने को कहा गया है।[4]

६. जो अचित्त, प्रासुक एवं शुद्ध हो—साधु जिस प्रकार के आहार को ग्रहण करे वह अचित्त, प्रासुक एवं शुद्ध हो[5] क्योंकि ऐसा

---

१. उ० ३२.१०.

२. उ० ३२ ११.

३. पंताणि चेव सेवेज्जा सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु वुक्कसं पुलागं वा जवणट्ठाए निसेवए मंथुं॥
—उ० ८.१२.
आयामगं चेव जवोदणं च सीयं सोवीरजवोदगं च।
न हीलए पिण्डं नीरसं तु पंतकुलाइं परिव्वए स भिक्खू॥
—उ० १५.१३.

४. देखिए—पृ० ३१६, पा० टि० १; उ० १५.११.

५. उ० १.३२,३४;६.१५;८.११; ३२.४. आदि।

न होने पर हिंसादि दोष होते हैं। इसीलिए ग्रन्थ में कहा है कि जो अनेषणीय (सचित्त) आहार ग्रहण करता है वह अग्नि की तरह सर्वभक्षी होने से साधु नहीं कहलाता है।[1]

आहार के विषय में कुछ अन्य ज्ञातव्य बातें :

साधु जब गृहस्थ से भोजन ग्रहण करे तथा जब उसका उपभोग करे तो निम्नोक्त बातों को ध्यान में रखे :

१. भोजन देते समय दाता गृहस्थ साधु से न तो उच्च स्थान पर हो, न निम्न स्थान पर हो, न अति समीप हो और न अत्यन्त दूर हो।[2]

२ यदि कोई दूसरा भिक्षु पहले से किसी गृहस्थ से आहार ले रहा हो तो न गृहस्थ के एकदम आँखों के सामने और न अत्यन्त दूर खड़ा होवे। भिक्षु का उल्लङ्घन करके घर में भी प्रवेश न करे अपितु तब तक चुपचाप बाहर खड़ा रहे जब तक पहलेवाला भिक्षु आहार लेकर वापिस न आ जाए।[3] ऐसा इसलिए करना आवश्यक है कि पहले आया हुआ भिक्षु अपनी पूरी भिक्षा प्राप्त कर ले, कहीं ऐसा न हो कि गृहस्थ दूसरे भिक्षु को देखकर पहलेवाले भिक्षु को कम भिक्षा देवे या बिलकुल ही न देवे।

३. यदि साधु को भिक्षा प्राप्त न भी हो तो वह क्रोधादि न करे अपितु हरिकेशिबल मुनि की तरह लाभालाभ में सन्तुष्ट रहे।[4]

४. आहार आदि की प्राप्ति एवं जीविका-निर्वाह के लिये किसी भी प्रकार की विद्या व मन्त्रादि शक्तियों का प्रयोग न करे।[5]

---

१. देखिए—पृ० ३१८, पा० टि० १.

२. नाइउच्चे व नीए वा नासन्ने नाइदूरओ।

—उ० १.३४.

३. नाइदूरमणासन्ने नन्नेसिं चक्खुफासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा लंघित्ता तं नइक्कमे॥

—उ० १.३३.

४. देखिए—पृ० ३१५, पा० टि० १; पृ० ३१८, पा० टि० ३.

५. उ० ८.१३; १५.७.

विद्या व मन्त्रादि शक्तियों के प्रयोग से प्राप्त हुए आहारादि में वे सभी हिंसादि दोष साधु को लगते हैं जो वस्तु के क्रय-विक्रय करने आदि में गृहस्थ को लगते हैं। ऐसा करने से साधु क्रय-विक्रय के द्वारा जीविका-निर्वाह करनेवाला गृहस्थ हो जाता है। अतः इनके प्रयोग का निषेध किया गया है।

५. जहाँ बैठकर साधु भोजन करे वह स्थान चारों तरफ से ढका हुआ, त्रस जीवों के निवास से रहित तथा स्वच्छ हो। इसके अतिरिक्त भोजन करते समय भोजन को जमीन पर न गिराए। साधु 'यह भोजन अच्छी तरह पकाया गया है', 'अच्छी तरह छीला गया है', 'मधुर है', 'खराब है' आदि सावद्य-वचनों का भी प्रयोग न करे।[1] इसके अतिरिक्त दिन में एक बार ही भोजन करे।

६. साधु भिक्षार्थ जाते समय अपने पात्रों को अच्छी तरह देख-भाल लेवे तथा भिक्षा लेने के लिए आधा योजन (परमार्द्ध-योजन) की दूरी तक ही जाए।[2] इसके अतिरिक्त भोजन के लिए जो समय (तृतीय पौरुषी) नियत है उसी में भोजन करे। रात्रि में कदापि भोजन न करे।

इस तरह साधु को आहार के ग्रहण करने में बहुत से कठिन नियमों का पालन करना पड़ता है। भिक्षाचर्या नामक तप के प्रसङ्ग में कुछ अन्य विशेष नियमों का वर्णन किया जाएगा। इस आहारसम्बन्धी वर्णन से स्पष्ट है कि साधु हिंसादि दोषों को जहाँ तक संभव हो बचाने की कोशिश करे। इसके अतिरिक्त सरस भोजन की लालसा न करता हुआ अल्प, नीरस तथा गृहस्थ के भोजन का शेषान्न (जो कई घरों से भिक्षा के द्वारा लाया गया हो)

---

१. अप्पपाणेऽप्पबीयम्मि पडिच्छन्नम्मि संवुडे।
समयं संजए भुंजे जयं अपरिसाडियं॥
सुकडित्ति सुपक्कित्ति सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति सावज्जं वज्जए मुणी॥
—उ० १.३५-३६.

२. अवसेसं भंडगं गिज्झ चक्खुसा पडिलेहए।
परमद्धजोयणाओ विहारं विहरए मुणी॥
—उ० २६.३६.

संयम की रक्षा के निमित्त समतापूर्वक उपभोग करे। जब देखे कि संयम का पालन करना संभव नहीं है या भयानक रोग हो गया है या कोई अन्य आपत्ति आ गई है जिससे बचना संभव नहीं है तो सब प्रकार के आहार का त्याग करके अनशन तप करे।

अनुशीलन

जब मुक्ति का साधक धीरे-धीरे अपने चारित्र का विकास करता हुआ गृहस्थधर्म की अन्तिम अवस्था को प्राप्त कर लेता है या संसार के विषय-भोगों से विरक्त हो जाता है तो वह ज्ञान की प्राप्ति तथा चारित्र के विकास के लिए माता-पिता से आज्ञा लेकर सभी प्रकार के पारिवारिक स्नेहबन्धन को तोड़कर जंगल में चला जाता है और किसी गुरु से दीक्षा लेकर या गुरु के न मिलने पर स्वयं साधु-धर्म को अङ्गीकार कर लेता है।

यद्यपि गृहस्थावस्था में भी ज्ञान और चारित्र की साधना की जा सकती है परन्तु गृह में नाना प्रकार के सांसारिक कार्यों के होने से धर्म की साधना में बहुत बाधाएँ आती हैं। अतः प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में धर्म की साधना के लिये संन्यासाश्रम की व्यवस्था मिलती है। यहाँ आकर साधक सभी प्रकार के सांसारिक बन्धनों से दूर हटकर गृहस्थ के द्वारा दिए गए भिक्षान्न पर जीवन-यापन करता हुआ एकान्त में आत्मचिन्तन करता है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन में भी चारित्र और ज्ञान के विकास की पूर्णता के लिए संन्यासाश्रम को आवश्यक बतलाया गया है। इस आश्रम में रहनेवाले साधक को 'साधु' या 'श्रमण' कहा जाता है। भिक्षान्न द्वारा जीवन-यापन करने के कारण इन्हें 'भिक्षु' भी कहा गया है। इस भिक्षा की प्राप्ति के सम्बन्ध में बहुत ही कठोर नियम हैं जिनके मूल में अहिंसा और अपरिग्रह की भावना निहित है। साधु के आचार से सम्बन्धित जितने भी नियम हैं उन सबके मूल में अहिंसा एवं अपरिग्रह की भावना निहित है। इन सभी नियमों के पालन करने का परम्परया या साक्षात् फल कर्मनिर्जरा के बाद मुक्ति बतलाया गया है।

पाँच महाव्रत जिन्हें साधु दीक्षा के समय ग्रहण करता है उनके मूल में अहिंसा और अपरिग्रह की भावना विद्यमान है। अहिंसा और अपरिग्रह के भी मूल में अहिंसा है तथा इस अहिंसा की पूर्णता बिना अपरिग्रह के संभव नहीं है। यहाँ पर अपरिग्रह से न केवल धन के संग्रह का त्याग अभिप्रेत है अपितु यावन्मात्र सांसारिक विषयों का त्याग अभिप्रेत है जिसे कि सर्वविरति और वीतरागता इन शब्दों से कहा जा सकता है। जैसा कि केशिगौतम-संवाद से स्पष्ट है कि जनसामान्य की बदलती हुई प्रवृत्ति के कारण महाव्रतों की संख्या में वृद्धि की गई है तथा अपरिग्रह शब्द का अर्थ धन-संग्रहत्यागरूप अर्थ में रूढ़ हो गया है। संसार के विषयों में आसक्ति होने के कारण जीव धनादि के संग्रह में प्रवृत्त होता है और धनादि की प्राप्ति के लिए हिंसा, झूठ, चोरी आदि अनैतिक क्रियाओं में प्रवृत्ति करता है। धनादि की प्राप्ति हो जाने पर उसके भोगोपभोग में प्रवृत्ति करता हुआ और अधिक धनादि के संग्रह में प्रवृत्त होता है। इस तरह संसारासक्ति, लोभ, धनादि के संग्रह में प्रवृत्ति ये सब सभी प्रकार के अनैतिक कार्यों में प्रवृत्ति करानेवाले हैं। इस तरह ये मुक्ति के मार्ग में भी प्रतिबन्धक हैं। इसीलिए ग्रन्थ में लाभ को लोभ का जनक बतलाते हुए संसारासक्ति से विरक्त होने का उपदेश दिया गया है।

धर्म के नाम पर यज्ञ में होनेवाली हिंसा को देखकर तथा विश्वबन्धुत्व की भावना से प्रेरित होकर अहिंसा को सब व्रतों का मूलाधार माना गया तथा साधु की प्रत्येक क्रिया में अहिंसापूर्वक प्रवृत्ति करने पर जोर दिया गया। ब्रह्मचर्य जोकि स्त्री-संपर्क त्यागरूप है पहले अपरिग्रह के ही अन्तर्गत था परन्तु बाद में लोगों की बढ़ती हुई कामासक्ति को देखकर भगवान् महावीर ने इसे पृथक् महाव्रत के रूप में बदल दिया तथा अन्य व्रतों की अपेक्षा इसे सर्वाधिक दुस्तर बतलाया। इस तरह ग्रन्थ में अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन तीन महाव्रतों पर विशेष जोर दिया गया है। इनके अतिरिक्त सत्य और अचौर्य इन दो नैतिक व्रतों को मिलाकर महाव्रतों की संख्या पाँच नियत की गई है। सत्य और अचौर्य व्रत के भी मूल में अहिंसा एवं अपरिग्रह की भावना

निहित है। इन दोनों व्रतों को महाव्रतों में गिनाने का कारण यह है कि साधु अपनी झूठी प्रतिष्ठा के लिए झूठ न बोले तथा लिए गए व्रतों का गुप्तरूप से अतिक्रमण न करे। इसीलिए ग्रन्थ में साधु को निश्चयात्मक और उपयोगहीन वाणी बोलने तथा तृणादि-सदृश तुच्छ वस्तु को भी बिना आज्ञा के ग्रहण करने का स्पष्ट निषेध किया गया है।

इस तरह इन पाँच नैतिक व्रतों के पालन करने से ही साधु का आचार पूर्ण हो जाता है परन्तु इन पाँचों व्रतों का अति सूक्ष्मरूप से पालन करने पर जीव किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं कर सकता है क्योंकि मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति होने पर सूक्ष्म हिंसा का होना स्वाभाविक ही है। अतः इस विषय में कुछ विशेष नियम बतलाए गए हैं जिनके अनुसार प्रवृति करने पर हिंसादि दोषों की सम्भावना नहीं रहती है। इन सभी नियमों के मूल में है—सावधानीपूर्वक (प्रमादरहित) सम्यक्-प्रवृत्ति करना क्योंकि प्रमाद या असावधानीपूर्वक की गई निर्दोष भी प्रवृत्ति दोषजनक बतलाई गयी है। अतः ग्रन्थ में गौतम को लक्ष्य करके बारम्बार अप्रमत्त होने का उपदेश दिया गया है। अप्रमाद-पूर्वक प्रवृत्ति किस प्रकार संभव है इसी बात को समझाने के लिए समितियों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें बतलाया गया है कि साधु गमनागमन में, वचन बोलने में, भिक्षादि की प्राप्ति में, वस्तुओं के उठाने व रखने में तथा त्याज्य वस्तुओं के त्याग करने में किस प्रकार प्रवृत्ति करे जिससे कि हिंसादि दोषों का भागी न बने। जब प्रवृत्ति करने की आवश्यकता न हो तो उस समय मन, वचन एवं काय को गुप्त रखे, निरर्थक प्रवृत्ति न करे। मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति को गुप्त रखने के ही लिए तीन गुप्तियाँ बतलाई गई हैं। ये तीन गुप्तियाँ और पाँच समितियाँ ही ग्रन्थ में 'प्रवचनमाता' शब्द से कही गई हैं। समस्त जैन-ग्रन्थों का प्रवचन (उपदेश) कुछ में प्रवृत्ति और कुछ से निवृत्ति को बतलानेवाला है। इस तरह समस्त जैन प्रवचन गुप्ति और समिति में समाविष्ट होने से इन्हें 'प्रवचनमाता' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त गुप्ति और समिति में सावधान व्यक्ति ही जैन-ग्रन्थों के प्रवचन को

सुरक्षित रख सकता है। अतः इस दृष्टि से भी इन्हें 'प्रवचनमाता' कहना उचित है। संयम में प्रवृत्ति और असंयम से निवृत्ति इनका (समिति और गुप्ति का) मूल-मन्त्र है। रागद्वेष से होनेवाली मन, वचन और काय-सम्बन्धी स्वच्छन्द-प्रवृत्ति को सम्यक्रूप से रोकना संयम है तथा संसार के विषयों में होनेवाली स्वच्छन्द प्रवृत्ति को होने देना असंयम है। संयम में सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करने से तथा सब प्रकार की असंयमित प्रवृत्तियों को रोकने से पाँचों महाव्रतों की रक्षा होती है। अतः महाव्रतों की रक्षा के लिए समिति और गुप्तिरूप प्रवचनमाताओं का पालन करना आवश्यक है।

अब यहां यह विचार करना है कि साधु के आचार के प्रसङ्ग में जिन अन्य नियमों का वर्णन किया गया है उनमें किस प्रकार एवं कहां तक उपर्युक्त पाँच नैतिक महाव्रतों की भावना निहित है ?

साधु के पास न तो कोई निजी वस्तु होती है और न उसे किसी भी वस्तु से ममत्व होता है, फिर भी जीवन-निर्वाह एवं संयम का पालन करने के लिये वह कुछ उपकरणों को अपने पास में रखता है तथा भिक्षान्न का भक्षण करता है। साधु के पास जो भी वस्त्र, पात्र आदि उपकरण होते हैं वे सब गृहस्थ के द्वारा दिए गए होते हैं और बहुत ही सस्ते होते हैं ताकि उनके गुम जाने से दुःखादि न हो। इससे साधु की अपरिग्रह-भावना सुरक्षित रहती है। साधु इन उपकरणों की प्राप्ति के लिये किसी प्रकार का क्रय-विक्रय या उत्पादन आदि नहीं करता है जिससे हिंसादि दोषों की भी संभावना नहीं रहती है। इसके अतिरिक्त साधु गृहस्थ को इन उपकरणों को देने के लिए न तो बाध्य करता है और न अपने निमित्त से तैयार किए गए उपकरणों को ही ग्रहण करता है, अपितु आवश्यकता पड़ने पर गृहस्थ के द्वारा स्वेच्छा से देने पर ही उन्हें ग्रहण करता है। अतः हिंसादि दोषों की संभावना नहीं रहती है। आहारप्राप्ति के विषय में जिन दोषों को बचाने तथा जिन नियमों का पालन करने का उल्लेख किया गया है वे सब वस्त्रादि उपकरणों की प्राप्ति के विषय में भी लागू होते हैं। आहार के विषय में स्पष्टरूप से बतलाया है कि साधु संयम एवं जीवन-निर्वाह के लिए ही आहार ग्रहण करे। जिस आहार में हिंसादि दोषों की जरा भी संभावना

हो उसे ग्रहण न करे। यद्यपि आहारादि की उत्पत्ति में गृहस्थ के द्वारा कुछ सूक्ष्म हिंसा होती है परन्तु उस हिंसा का भागी साधु नहीं होता है क्योंकि उस सूक्ष्म हिंसा को गृहस्थ अपने निमित्त से करता है, साधु के निमित्त से नहीं। अतः ग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है कि साधु उस आहारादि को ग्रहण न करे जिसे उसके निमित्त से बनाया गया हो या चोरी आदि अन्य अनैतिक उपायों से उत्पन्न किया गया हो। इसके अतिरिक्त उसे जो भी रूखा-सूखा आहारादि मिले उसमें उपेक्षाभाव (समभाव) रखते हुए ग्रहण करे। साधु को जो मन्त्रादि शक्तियों के प्रयोग का निषेध किया गया है उसके भी मूल में अहिंसा व अपरिग्रह की भावना निहित है क्योंकि मन्त्रादि शक्तियों का जीवन-निर्वाह के लिये प्रयोग करने पर साधु क्रय-विक्रय करने वाला गृहस्थ हो जाएगा और तब वह साधु क्रय-विक्रय से होने वाले सभी हिंसादि दोषों का भागी भी हो जाएगा। अतः आवश्यक है कि साधु आहारादि को ग्रहण करते समय अहिंसादि व्रतों को ध्यान में रखते हुए ही प्रवृत्ति करे। इस तरह वस्त्रादि उपकरण एवं आहारादि के विषय में जो भी नियम और उपनियम हैं उन सब के मूल में अहिंसादि पाँच नैतिक व्रतों की ही भावना निहित है।

अरण्य आदि एकान्त स्थान में निवास इसलिए आवश्यक है कि नगर में निवास करने से धर्म-साधना निर्विघ्न नहीं होती है क्योंकि नगर में नाना प्रकार के हिंसादि कार्य होते रहते हैं तथा स्त्रियों के नाना प्रकार के हाव-भाव दृष्टिगोचर होते रहते हैं जिससे संयम में स्थिर रहना कठिन हो जाता है। गृहस्थ के घर में चोरी आदि के होने पर साधु को भी संशय में पकड़ा जा सकता है। अतः महाव्रतों की रक्षा के लिए साधु को स्त्री आदि के आवागमन से रहित अरण्य आदि एकान्त स्थान में निवास करने का विधान किया गया है। चित्त की एकाग्रतारूप तपादि भी एकान्त स्थान में ही संभव हैं। साधु को एक स्थान पर निवास न करके देश-देशान्तर में विहार करना इसलिए आवश्यक बतलाया गया है कि जिससे साधु किसी एक स्थान-विशेष से मोहवश चिपका न रहे। वर्षाकाल में चूंकि क्षुद्र-जीवों की काफी मात्रा में उत्पत्ति हो जाती है अतः

उस समय एक स्थान पर रहने को कहा गया है। इससे वह गमन करने में होनेवाली हिंसा के दोष का भागी नहीं होता है।

सामाचारी के प्रकरण में जो सामाचारी के १० अवयव बतलाए गए हैं उनके द्वारा साधु अपने आपको संयमित करता है तथा गुरु के अनुशासन में रहकर विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करता है। इससे उसके महाव्रतों में कोई अतिचार नहीं होने पाता है। इसी प्रकरण में साधु की सामान्यरूप से जो दिनचर्या एवं रात्रिचर्या वर्णित की गई है उसमें 'आहार' और 'निद्रा' के लिए बहुत ही स्वल्प तथा ध्यान और स्वाध्याय के लिए सर्वाधिक समय नियत किया गया है। दिन और रात्रि के २४ घंटों में से १२ घंटे स्वाध्याय के लिए, ६ घंटे ध्यान के लिए, ३ घंटे भिक्षान्न-प्राप्ति के लिए तथा ३ घंटे शयन करने के लिए नियत हैं। इससे स्पष्ट है कि साधु अपना अधिक से अधिक समय अध्ययन और आत्मचिन्तनरूप ध्यान में लगाए। स्वाध्याय और ध्यान करने से मन, वचन एवं काय एकाग्र होकर तप की ओर अग्रसर होंगे और तब हिंसादि सावद्य प्रवृत्तियाँ रुक जाएँगी।

साधु के जो छः नित्यकर्म (आवश्यक) बतलाए गए हैं उनके द्वारा भी साधु अपने आपको संयमित करता है। गुरु आदि की स्तुति करने तथा आत्मगत दोषों की आलोचना करने से अज्ञान में हुए क्षुद्र हिंसादि दोषों की विशुद्धि हो जाती है। वस्त्र, पात्र आदि का उपयोग करते समय उन्हें अच्छी तरह देखने (प्रतिलेखना व प्रमार्जना) से उनमें वर्तमान क्षुद्र जन्तुओं की हिंसा नहीं होती है। इसके अतिरिक्त साधु नित्यकर्मों से हमेशा सतर्क रहने की प्रेरणा प्राप्त करता है।

इसी प्रकार केशों को हाथों से उखाड़ने, श्रेष्ठ वस्त्रादि को न पहिनने आदि नियमोपनियमों से भी अहिंसादि व्रतों की रक्षा का ध्यान रखा गया है।

इस तरह साधु का सम्पूर्ण आचार अहिंसा और अपरिग्रहादिरूप पाँच नैतिक महाव्रतों के रूप में चित्रित किया गया है। पातञ्जल योगदर्शन में भी अहिंसादि इन पाँच नैतिक व्रतों का महाव्रत के रूप

में उल्लेख मिलता है।[1] योगदर्शन में अहिंसा-विरोधी हिंसा के कृत, कारित और अनुमोदना के भेद से तीन भेद किए गए हैं। इसके बाद मृदु, मध्य और अधिमात्र के भेद से प्रत्येक के पुनः तीन-तीन भेद करने से हिंसा के नव भेद हो जाते हैं। इस नव प्रकार की हिंसा के भी क्रोध, लोभ और मोहपूर्वक होने से हिंसा के कई भेदों का उल्लेख किया गया है। इस सब प्रकार के हिंसा-निरोध से अहिंसा भी कई भेदों वाली हो जाती है।[2] योगदर्शन में अहिंसा का इतना अधिक विस्तार होने पर भी वहाँ अहिंसा का इतनी सूक्ष्मता से पालन नहीं किया जाता है जितना कि प्रकृत ग्रन्थ में बतलाया गया है। यहाँ एक बात और इस प्रसङ्ग में स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जिस प्रकार उत्तराध्ययन में सभी व्रतों के मूल में अहिंसा को स्वीकार किया गया है उसी प्रकार योग-दर्शन में व्यासभाष्यकार ने भी लिखा है कि सत्यादि अन्य सभी व्रत और नियमोपनियम इसी अहिंसा की पुष्टि करनेवाले हैं।[3]

इस तरह इन महाव्रतों की सार्वभौमिकता सुतरां सिद्ध हो जाती है। इनकी सुरक्षा जैसे सम्भव हो उसी प्रकार का आचरण करना ही साधु का सदाचार है। इन पाँच नैतिक व्रतों का व्यवहार में भी महत्त्व है जैसा कि महाव्रतों के प्रसङ्ग में लिखा जा चुका है।

★

---

१. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सर्वभौमा महाव्रतम् ॥
—पा० यो० २.३०-३१.

२. वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥
—पा० यो० २.३४.

३. तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते।
—पा०यो० (२.३०)—व्यासभाष्य, पृ० ६१.

प्रकरण ५

विशेष साध्वाचार

जैसा कि पिछले प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि विशेष अवसरों पर कर्मों की विशेष निर्जरा करने के लिए साधु जिस प्रकार के सदाचार का विशेषरूप से पालन करता है उसे यहा पर विशेष साध्वाचार के नाम से कहा गया है। यह विशेष साध्वाचार साधु के सामान्य आचार से सर्वथा पृथक् नही है अपितु जब साधक अपने सामान्य साध्वाचार का ही विशेषरूप से दृढ़तापूर्वक सब प्रकार के कष्टों को सहन करता हुआ पालन करता है तो उसे ही तपश्चर्या आदिरूप विशेष साध्वाचार के नाम से कहा गया है। विषय की दृष्टि से इसे निम्नोक्त चार भागों में विभक्त किया गया है :

१. तप—तपश्चर्या।
२. परीषहजय—तपश्चर्या आदि मे प्राप्त कष्टों पर विजय।
३. साधु की प्रतिमाएँ—तपविशेष।
४. सल्लेखना—मृत्यु-समय की विशेष तपश्चर्या।

अब क्रमशः इन पर ग्रन्थानुसार विचार किया जाएगा।

तपश्चर्या—तप

ग्रन्थ में कहीं-कहीं चारित्र से पृथक् जो तप का उल्लेख किया गया है वह उसके महत्त्व को प्रकट करने के लिए किया गया है। तप एक प्रकार की अग्नि है जिसके द्वारा सैकड़ों पूर्व-जन्मों में संचित (पूर्वबद्ध) कर्मों को शीघ्र ही जलाया जा सकता है। कर्म जोकि आत्मा के साथ सम्बद्ध हैं उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उन्हें आयु के अल्पकाल में भोगकर नष्ट नहीं किया जा सकता है। अतः जिस प्रकार विशाल तालाब के जल को सुखाने के लिए जल के

आने के द्वार को बन्द करने के अतिरिक्त जल को उलीचने एवं सूर्य आदि के ताप से सुखाने की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार साधु को भी पूर्वसंचित कर्मों को निर्जीर्ण करने के लिए अहिंसादि व्रतों के अतिरिक्त तप की भी आवश्यकता पड़ती है।[1] इसके अतिरिक्त कषायरूपी शत्रुओं के आक्रमण करने पर उन पर विजय प्राप्त करने के लिए तप को बाण एवं अर्गलारूप भी बतलाया गया है।[2] इस तरह तप पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करने में अग्निरूप हैं तथा आगे बंधनेवाले कर्मों को रोकने के लिए बाण एवं अर्गलारूप भी हैं। तप के इसी महत्त्व के कारण ग्रन्थ में तप को कहीं-कहीं चारित्र से पृथक् बतलाया गया है। वस्तुतः तप चारित्र से सर्वथा पृथक् नहीं है क्योंकि जो तप का वर्णन किया गया है वह साधु के सामान्य आचार का ही अभिन्न अङ्ग है। साधु के सामान्य आचार से सम्बन्धित कुछ विशेष क्रियाओं को ही यहां तप के रूप में बतलाया गया है। आत्मसयम जोकि चारित्र की आधारशिला है तप उससे पृथक नहीं है अपितु तद्रूप ही है। वस्तुतः तप को कठोर या दृढ आत्मसयम कहा जा सकता है।

तप के भेद :

तप को बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से सर्वप्रथम दो भागों में विभाजित किया गया है, फिर बाह्य तप और आभ्यन्तर तप को पुनः ६-६ भागों में विभक्त किया गया है। इस तरह

---

१. जहा महातालयस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे॥
एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे।
भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ॥

—उ० ३०.५-६.

तथा देखिए—उ० ३.२०; २५.४५; २८.३६; २९.२७, ३०.१,४ आदि।

२. देखिए—पृ० २८६, पा० टि० ४.

ग्रन्थ में कुल मिलाकर १२ प्रकार के तपों का वर्णन मिलता है। उन १२ प्रकार के तपों के नाम क्रमशः ये हैं :[1]

१. अनशन (सब प्रकार के आहार का पूर्ण त्याग), २. ऊनोदरी (अवमोदर्य—भूख से कम खाना), ३. भिक्षाचर्या (भिक्षाटन के निश्चित नियमों का पालन करते हुए भिक्षान्न द्वारा जीवन-यापन करना), ४. रस-परित्याग (घृतादि सरस द्रव्यों का त्याग), ५. कायक्लेश (शरीर को कष्टदायक योगासनादि लगाना), ६. संलीनता या विविक्तशयनासन (एकान्त व निर्जन स्थान में निवासादि करना), ७. प्रायश्चित्त (पापाचार का शोधन), ८. विनय (गुरुजनों आदि के प्रति विनम्रता के भाव), ९. वैयावृत्य (गुरुजनों आदि की सेवा-शुश्रूषा करना), १०. स्वाध्याय (ज्ञानार्जन करना), ११. ध्यान (चित्त को एकाग्र करना) और १२. व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग (शरीर से ममत्व हटाना) ।

उपर्युक्त १२ प्रकार के तप के भेदों में अनशन आदि प्रथम छः तप शरीर की बाह्य-क्रिया से अधिक सम्बन्धित होने के कारण बाह्य तप कहलाते हैं तथा प्रायश्चित्त आदि अन्तिम छः तप शरीर की बाह्य-क्रिया की अपेक्षा आत्मा से अधिक सम्बन्धित होने के कारण आभ्यन्तर तप कहलाते हैं। बाह्य तपो का प्रयोजन आभ्यन्तर तपों को पुष्ट करना है। अतः प्रधानता आभ्यन्तर तपों की है। बाह्य तप आभ्यन्तर तपों की ओर ले जाने में मात्र सहायक हैं। वैयावृत्य और कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग) यद्यपि ऊपर से देखने में बाह्य तप प्रतीत होते हैं परन्तु वैयावृत्य के सेवाभावरूप होने से और कायोत्सर्ग के शरीर के ममत्व-त्यागरूप होने से इनमें बाह्यता नही है। बाह्य तपों

---

१. अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥
—उ० ३०.८.

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भिंतरो तवो ॥
—उ० ३०.३०.

तथा देखिए—उ० ३०.७,२९; २८.३४; १९.८९.

को जितनी आसानी से तप कहा जा सकता है उतनी आसानी से वैयावृत्य आदि को नहीं। अतः इनके भाव-प्रधान होने से ये आभ्यन्तर तप हैं। अब क्रमशः इन सभी प्रकार के तपों का ग्रन्थानुसार वर्णन किया जाएगा।

बाह्य तप :

पहले लिखा जा चुका है कि शारीरिक बाह्य-क्रिया से विशेष सम्बन्ध रखने के कारण अनशन आदि छः बाह्य तप कहे जाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इनका आभ्यन्तर-शुद्धि से कोई प्रयोजन नही है। इन्हे बाह्य तप कहने का मूल प्रयोजन यह है कि ये आभ्यन्तर-शुद्धि की अपेक्षा बाह्य-शुद्धि के प्रति अधिक जागरूक है। इनके स्वरूपादि इस प्रकार हैं :

१. अनशन तप :

सब प्रकार के भोजन-पान का त्याग करना अनशन तप है। यह कुछ समय के लिये एवं जीवन-पर्यन्त के लिए भी किया जा सकता है। अतः इसके दो भेद किए गए हैं :[१] १. इत्वरिक अनशन तप (कुछ समय के लिए किया गया—सावधिक) तथा २. मरणकाल अनशन तप (जीवन-पर्यन्त के लिए किया गया—निरवधिक)।

क. इत्वरिक अनशन तप (सावकांक्ष—अस्थायी)—इस तप को करनेवाला साधक एक निश्चित अवधि के बाद भोजन ग्रहण कर लेता है। अतः ग्रन्थ में इस तप को 'सावकांक्ष' (जिसमें भोजन की आकाक्षा बनी रहती है) कहा गया है। सक्षेप में इसके अवान्तर छः प्रकार बतलाए गए हैं, विस्तार से मनोनुकूल कई प्रकार सम्भव हैं। वे छः प्रकार ये हैं १ श्रेणीतप—इस प्रकार से अनशन (उपवास) करना कि एक पंक्ति (श्रेणी) बन जाए। जैसे : दो दिन का, तीन

१. इत्तरिय मरणकाला य अणसणा दुविहा भवे।
इत्तरिय सावकंखा निरवकंखा उ बिइज्जिया ॥
—उ० ३०.९.
तथा देखिए—उ० ३०.१०-१३; २६.३५.

दिन का, चार दिन का, पाँच दिन का आदि क्रम से करना, २ प्रतर तप (सम-चतुर्भुज आकार)—समानाकार चार भुजाओं की तरह जब श्रेणी तप चार बार पुनरावृत्त होता है तो उसे १६ उपवास प्रमाण प्रतर तप कहते हैं, ३. घन तप—प्रतर तप ही जब श्रेणी तप से गुणित किया जाता है तो उसे (१६ × ४ = ६४ उपवास प्रमाण) घन तप कहते हैं, ४. वर्ग तप—घन तप को जब घन तप से गुणित किया जाता है तो उसे (६४ × ६४ = ४०९६ उपवास प्रमाण) वर्ग तप कहते हैं, ५. वर्ग-वर्ग तप—वर्ग तप को जब वर्ग तप से गुणित किया जाता है तो उसे (४०९६ × ४०९६ = १६७७७२१६ उपवास प्रमाण) वर्ग-वर्ग तप कहते हैं, ६. प्रकीर्ण तप—श्रेणी आदि की नियत रचना से रहित जो अपनी शक्ति के अनुसार यथा-कथञ्चित् अनशन तप किया जाता है उसे प्रकीर्ण तप कहते हैं।

इस तरह इत्वरिक अनशन तप के इन ६ भेदों में प्रथम पाँच भेद नियत क्रमरूपता की अपेक्षा से हैं और अन्तिम छठा भेद क्रमरूपता से रहित है। ऊपर जो श्रेणी तप को चार उपवास-प्रमाण मानकर प्रतर तप आदि का स्वरूप बतलाया गया है वह नेमिचन्द्र की वृत्ति के आधार से दृष्टान्तरूप में उपस्थित किया गया है।[1] अतः इसी प्रकार ५-६ उपवास-प्रमाण श्रेणी तप मानकर आगे के तपों का उपवास-प्रमाण समझ लेना चाहिए।

ख. मरणकाल अनशन तप (निरवकांक्ष—स्थायी)—यह आयु-पर्यन्त के लिए किया जाता है। इसमें भोजन पान की आकांक्षा न रहने से यह निरवकांक्ष व स्थायी कहलाता है। यह तप मृत्यु के अत्यन्त सन्निकट (अवश्यम्भावी) होने पर शरीरत्याग (सल्लेखना) के लिए किया जाता है। ग्रन्थ में निम्नोक्त तीन अपेक्षाओं से इसके भेदों का विचार किया गया है :

१. शरीर की चेष्टा एवं निश्चेष्टता की अपेक्षा से 'सविचार' (जिसमें शरीर की हलन-चलनरूप क्रिया होती रहती है) और 'अविचार' (शरीर की चेष्टा से रहित) ये दो भेद हैं।

---

१. उ० ने० वृ०, पृ० ३३७; से० बु० ई०, भाग–४५, पृ० १७५.

२. सेवा कराने एवं न कराने की अपेक्षा से **'सपरिकर्म'** (जिसमें दूसरों के द्वारा सेवा होती रहती है) और **'अपरिकर्म'** (सेवादि से रहित) ये दो भेद हैं।

३. तप करने के स्थान की अपेक्षा से **'नीहारी'** (पर्वत, गुफा आदि में लिया गया मरणकालिक अनशन तप) और **'अनीहारी'** (ग्राम, नगर आदि में लिया गया) ये दो भेद हैं। आहार-त्याग दोनों तपों में आवश्यक है।

२. ऊनोदरी (अवमोदर्य) तप :

भूख से कम खाना ऊनोदरी तप है। ग्रन्थ में इसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यवचरक की दृष्टि से विचार किया गया है। अतः इसके द्रव्य ऊनोदरी आदि पाँच भेद होते हैं। इनके स्वरूपादि इस प्रकार हैं :[1]

क. द्रव्य ऊनोदरी—जिसका जो स्वाभाविक आहार है उसमें कम से कम एक ग्रास कम करना द्रव्य ऊनोदरी है।

ख. क्षेत्र ऊनोदरी—इसका दो प्रकार से वर्णन किया गया है : १. ग्राम, नगर, राजधानी, गृह आदि के क्षेत्र की सीमा निश्चित कर लेना कि अमुक-अमुक क्षेत्र से प्राप्त भिक्षान्न द्वारा ही पेट भरूँगा, २. अमुक प्रकार के क्षेत्र-विशेष से प्राप्त भिक्षान्न द्वारा ही जीवन-यापन करूँगा। इसमें द्वितीय प्रकार के क्षेत्र ऊनोदरी तप के ग्रन्थ में दृष्टान्तरूप से ६ प्रकार गिनाए गए हैं। जैसे : १. **पेटा** (पेटिका की तरह आकारवाले घरों से आहार लेना), २. **अर्धपेटा** (अर्धपेटिका की तरह आकारवाले घरों से आहार लेना), ३. **गोमूत्रिका** (गोमूत्र की तरह वक्राकार भिक्षार्थ जाकर आहार लेना), ४. **पतंगवीथिका** (बीच-बीच में कुछ घर छोड़कर भिक्षा लेना), ५. **शम्बूकावर्त** (शंख की तरह चक्राकार जाकर आहार लेना) और ६. **आयतं गत्वा प्रत्यागता** (पहले

---

१. ओमोयरणं पंचहा समासेण वियाहियं।
दव्वओ खेत्तकालेणं भावेणं पज्जवेहि य ॥
—उ० ३०.१४.
तथा देखिए—उ० ३०.१५-२४.

बिना आहार लिए सीधे लम्बी दूर तक चले जाना फिर लौटते समय भिक्षा लेना)।

ये सब भेद क्षेत्र-सम्बन्धी नियमों के आधार से बतलाए गए हैं। क्षेत्र-भेद की अपेक्षा से इनके कई अन्य भेद हो सकते हैं। इन सबका तात्पर्य इतना ही है कि आहार-प्राप्ति के क्षेत्र को सीमित (न्यून) कर लेना ताकि कम आहार मिले। क्षेत्र की न्यूनता होने पर भी कभी-कभी संभव है कि भरपेट भोजन मिल जाए अतः क्षेत्र की न्यूनता इतनी अवश्य रहनी चाहिए ताकि भरपेट भोजन न मिले।

ग. काल ऊनोदरी—सामान्यरूप से दिन में १२ से ३ बजे के बीच (तृतीय पौरुषी) भिक्षार्थ जाने का विधान है। भिक्षा ग्रहण करने के इस निश्चित समय के प्रमाण को कुछ कम करना काल ऊनोदरी है अर्थात् ऐसा नियम लेना कि तृतीय पौरुषी के चतुर्थांश बीत जाने पर भिक्षा लूंगा या अन्य प्रकार से समय निश्चित करना जो सामान्यतया निश्चित समय के प्रमाण से कुछ कम अवश्य हो। भिक्षा ग्रहण करने के समय की न्यूनता होने पर भोजन की प्राप्ति में कमी होना संभव है। अतः इसे काल ऊनोदरी कहा जाता है।

घ. भाव ऊनोदरी—भावप्रधान होने से इसे भाव ऊनोदरी कहा जाता है। इसमें भिक्षार्थ जाते समय ऐसा नियम किया जाता है कि स्त्री के या पुरुष के, अलंकृत के या अनलंकृत के, युवा के या बालक के, सौम्याकृतिवाले के या अन्य किसी विशेष प्रकार की भाव-भङ्गिमावाले दाता के मिलने पर ही भिक्षा लूंगा, अन्यथा नहीं लूंगा। इस प्रकार का नियम ले लेनेवाले साधु को सब जगह से भिक्षा उपलब्ध न होने से सम्भव है उसे भरपेट भोजन न मिले। अतः इसे भाव ऊनोदरी कहा जाता है।

ङ. पर्यवचरक ऊनोदरी—उपर्युक्त चारों प्रकार से न्यून वृत्ति का होना पर्यवचरक ऊनोदरी है अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों प्रकार से ऊनोदरी व्रत का पालन करना पर्यवचरक ऊनोदरी है।

३. भिक्षाचर्या तप :

भिक्षा द्वारा प्राप्त भोजन-पान से जीवन-यापन करना। ग्रन्थ में भिक्षाचर्या को विभिन्न स्थानों पर गोचरी (गाय की तरह आचरण), मृगचर्या (मृग की तरह आचरण) और कपोतवृत्ति (कबूतर की तरह आचरण) भी कहा गया है। इससे भिक्षाचर्या के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। जैसे :

१. **गोचरी**—जिस प्रकार गाय तृणादि का थोड़ा-थोड़ा भक्षण करती हुई उसे जड से नही उखाड़ती है उसी प्रकार भिक्षाचर्या-वाला साधु आहार की गवेषणा करते समय गृहस्थ को पुन: आहार बनाने के लिए मजबूर न करते हुए थोड़ा-थोड़ा आहार लेता है,[1] २. **मृगचर्या**—जिस प्रकार मृग नाना स्थानों में भ्रमण करके अपने उदर का पोषण करता है तथा रोगादि के हो जाने पर भी औषधि आदि का सेवन न करते हुए अकेला ही सर्वत्र विचरण करता रहता है उसी प्रकार भिक्षाचर्यावाला साधु किसी एक गृहविशेष से सम्बद्ध न होकर अनेक घरो से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लाकर उदर-पोषण करता है तथा रोगादि के हो जाने पर भी औषधोपचार की इच्छा न करते हुए एकाकी विचरण करता है[2] और ३. **कपोतवृत्ति**—जैसे कबूतर कांटों को छोड़कर परिमित अन्न-कणों को चुग लेता है उसी प्रकार एषणा समिति-सम्बन्धी दोषों को बचाकर साधु परिमित एवं शुद्ध (एषणीय) आहार ग्रहण करता है।[3]

इस तरह भिक्षा के द्वारा ही जीवन-यापन करने के कारण साधु को 'भिक्षु' शब्द से भी कहा जाता है। इस भिक्षाचर्या तप के

---

१. जहा मिए एग अणेगचारी अणेगवासे धुवगोअरे य।
एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे नो हीलए नोवि य खिंसएज्जा ॥
—उ० १९.८४.

२. वही; उ० १९.७७-८६.

३. कावोया जा इमा वित्ती।
—उ० १९.३४.

प्रसङ्ग में ग्रन्थ में आठ प्रकार की गोचरी,[1] सात प्रकार की एषणा[2] तथा अन्य नियमविशेषों (अभिग्रह)[3] के पालन

---

१. आठ प्रकार की गोचरी—क्षेत्र ऊनोदरी के प्रसङ्ग में कहे गए पेटा, अर्धपेटा आदि ६ प्रकार ही यहां पर आठ प्रकार की गोचरी के रूप में वर्णित हैं। जैसे : पेटा, अर्धपेटा, गोमूत्रिका और पतंगवीथिका ये चार प्रकार ज्यों के त्यों हैं। इसके अतिरिक्त 'शम्बूकावर्त' के बाह्य और आभ्यन्तर ये दो भेद हैं तथा 'आयतं गत्वा प्रत्यागता' के भी ऋजुगति (सीधे जाकर सीधे लौटना) और वक्रगति (वक्रगति से जाकर वक्राकार लौटना) के भेद से दो भेद हैं। इस तरह भिक्षा के लिए जाते समय क्षेत्रसम्बन्धी नियमविशेष लेना ही आठ प्रकार की गोचरी है।

२. सात प्रकार की एषणाएँ (अन्नादि ग्रहण करने के नियम)—१. संसृष्टा (भोजन की सामग्री से भरे हुए पात्र के होने पर भिक्षा लेना), २. असंसृष्टा (भोजन की सामग्री से भरे हुए पात्र के न होने पर भिक्षा लेना), ३. उद्धृता (जो भोजन रसोईघर से बाहर लाकर गृहस्थ ने थाली आदि में अपने निमित्त रखा हो, उसे लेना), ४. अल्पलेपिका (निर्लेप भुजे हुए चना आदि लेना), ५. उद्गृहीता (भोजन के समय भोजन करनेवाले व्यक्ति को परोसने के लिए जो भोजन चम्मच आदि से निकालकर बाहर रख दिया हो, उसे लेना), ६. प्रगृहीता (भोजनार्थी को देने के लिए उद्यत दाता के हाथ में स्थित सामग्री को लेना) और ७. उज्झितधर्मा (निस्सार रूखा आहार लेना)।

३. अन्य अभिग्रह (नियमविशेष)—अपनी इच्छानुसार कोई नियम ले लेना कि अमुक-अमुक स्थिति के होने पर ही आहार लूंगा। जैसे : १. द्रव्याभिग्रह (किसी विशेष पात्र में रखे हुए किसी विशेष प्रकार के आहार के लेने की प्रतिज्ञा), २. क्षेत्राभिग्रह (यदि दाता देहली को अपनी जंघाओं के बीच में करके आहार देगा तो लूंगा, ऐसी क्षेत्र-सम्बन्धी प्रतिज्ञा), ३. कालाभिग्रह (जब सब साधु भिक्षा ले आएँगे तब भिक्षार्थ जाने पर जो मिलेगा उसे लूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा) और ४. भावाभिग्रह (यदि कोई हंसते हुए या रोते हुए देगा तो लूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा)। इसी तरह अन्य विविध नियमों को लिया जा सकता है।

करने को भिक्षाचर्या कहा गया है।[1] टीकाग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि ये गोचरी और एषणाएँ आदि कुछ नियम-विशेष हैं जिन का संकल्प करके साधु भिक्षा के लिए जाता है। यदि उन लिए गए संकल्पों के अनुकूल भिक्षा मिलती है तो साधु उसे ग्रहण कर लेता है और यदि उन संकल्पों के अनुकूल भिक्षा नहीं मिलती है तो वह अनशन तप करता है।[2]

इस तरह भिक्षाचर्या और ऊनोदरी तप में बहुत स्थलों पर समानता दिखलाई पड़ती है क्योंकि नियमविशेष लेने से भोजन का कम मिलना स्वाभाविक है। ऐसा होने पर भी भिक्षाचर्या सामान्य तप है और ऊनोदरी विशेष। ऊनोदरी में भूख से कम खाने की प्रधानता है जबकि भिक्षाचर्या में भिक्षा लेने सम्बन्धी नियमविशेष की। अतः भिक्षाचर्या में साधु भरपेट भोजन कर सकता है। इसमें जो नियमविशेष हैं वे अपनी इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकने के लिए हैं। भिक्षाचर्या साधु का सामान्य तप है जिसका वह प्रतिदिन पालन करता है और ऊनोदरी विशेष तप है जिसका वह कभी-कभी पालन करता है। अतः ग्रन्थ में साधु के जीवन को भिक्षाचर्या के रूप में प्रदर्शित किया गया है। भृगु पुरोहित की पत्नी भिक्षाचर्या की कठोरता का वर्णन करते हुए कहती है कि धैर्यशील एवं तपस्वी ही इस (भिक्षाचर्या) को धारण कर सकते हैं।[3] इसी प्रकार भद्रा (सोमदेव की स्त्री) राजकुमारी भिक्षार्थ आए हुए हरिकेशिबल मुनि के ऊपर क्रोधित होनेवाले ब्राह्मणों से कहती है कि भोजनार्थ उपस्थित हुए साधु का तिरस्कार करना या मारना उसी प्रकार उपहासास्पद है जिस प्रकार नखों से पर्वत को खोदना, दांतों से लोहे को चबाना, आग को पैरों से

---

१. अट्ठविहगोयरग्गं तु तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया ॥
—उ० ३०.२५.

२. वही, टीकाएँ।

३. धीरा हु भिक्खायरियं चरंति।
—उ० १४.३५.

कुचलना तथा पतंगसेना द्वारा आग में कूदकर आग को बुझाना।[1]

४. रस-परित्याग तप :

दूध, दही, घी आदि सरस पदार्थों के सेवन का त्याग करना रसपरित्याग तप है।[2] सामान्यतया साधु के लिए नीरस आहार करने का ही विधान है और यदि उसे सरस आहार मिल जाता है तो वह उसे भी ले सकता है। परन्तु रस-परित्याग तप को करने-वाला साधु रसना इन्द्रिय को मधुर लगनेवाले दूध, दही, घी आदि तथा उनसे बने सरस भोजनादि को मिलने पर भी नहीं खा सकता है। इस तरह इस तप के करने से साधु की इन्द्रियाग्नि उद्दीपित नहीं होती है और ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने में सहायता मिलती है। साधु के लिए आहार सयम का पालन करने के लिए है, शरीर की पुष्टि एव रसास्वाद के लिए नहीं। अतः इस तप को करना भी आवश्यक हो जाता है।

५. कायक्लेश तप :

सुखावह वीरासन आदि (पद्मासन, उत्कटासन आदि) में शरीर को स्थित करना कायक्लेश तप है।[3] कायक्लेश तप के इस लक्षण में 'जीव को सुख की ओर ले जानेवाला' (सुखावह) ऐसा विशेषण देने से उन सभी कुत्सित तपों का

---

१. गिरि नहेहिं खणह अयं दंतेहिं खायह ।
   जायतेयं पाएहिं हणह जे भिक्खुं अवमन्नह ॥
   —उ० १२.२६.

   तथा देखिए—उ० १२.२७.

२. खीरदहिसप्पिमाई पणीयं पाणभोयणं ।
   परिवज्जणं रसाणं तु भणियं रसविवज्जणं ॥
   —उ० ३०.२६.

३. ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा ।
   उग्गा जहा धरिज्जंति कायकिलेसं तमाहियं ॥
   —उ० ३०.२७.

खण्डन हो जाता है जो ऐहिक विषयाभिलाषा या क्रोधादि के कारण किए जाते हैं। साधु को जो केशलौंच करना पड़ता है वह भी एक प्रकार का कायक्लेश तप ही है।[1] केशलौञ्च साधु के लिए आवश्यक भी बतलाया गया है क्योंकि केशों के रखने से उनमें जू आदि जीवों की उत्पत्ति संभव है। अतः एक निश्चित समय के भीतर इन्हें उखाड़ना पड़ता है। दिगम्बर-परम्परा में साधु के २८ मूलगुणों (प्रधान गुणों) में केशलौंच भी एक मूलगुण (प्रधान गुण) माना जाता है।[2] केशों को उखाड़ना बड़ा कठिन भी है।[3] इस तरह वीरासन आदि में स्थिर होने से शरीर को बड़ा कष्ट होता है। अतः इसे कायक्लेश तप कहा गया है। सामान्य भाषा में इसे ही तप कहा जाता है। इससे शरीर में निश्चलता एवं अप्रमत्तता आती है।

६. प्रतिसंलीनता (संलीनता या विविक्तशयनासन) तप :

स्त्री-पशु आदि की संकीर्णता से रहित एकान्तस्थान (गुफा, शून्यागार आदि) में निवास (शयन और आसन) करना विविक्त-शयनासन तप है अर्थात् अरण्यादि एकान्तस्थान (विविक्तस्थान) में निवास करना।[4] साधु को सामान्यतौर से एकान्तस्थान में ही रहने का विधान है। यहां पर उसे ही तप के रूप में वर्णित किया गया है। इस विविक्तशयनासन को ही संलीनता या प्रतिसंलीनता तप के नाम से कहा गया है। यद्यपि ग्रन्थ में

---

१. स्थानानि वीरासनादीनी, लोचाद्युपलक्षणं चैतत्।
—वही, ने० वृ०, पृ० ३४१.

२. वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च।
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता॥
—प्रवचनसार, ३.८-९.

३. केसलोओ अ दारुणो।
—उ० १९.३४.

४ एगंतमणावाए इत्थीपसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया विवित्तसयणासणं॥
—उ० ३०.२८.

बाह्य तप के भेदों को गिनाते समय इस तप का नाम संलीनता दिया गया है परन्तु इसका लक्षण करते समय इसे विविक्त-शयनासन शब्द से कहा गया है। वास्तव में विविक्तशयनासन संलीनता का एक भेदविशेष है।[1] इसका फल बतलाते हुए ग्रन्थ में लिखा है कि विविक्तशयनासन से जीव चारित्र की गुप्ति को करता है और फिर एषणीय आहारवान्, दृढ़चारित्रवान्, एकान्तप्रिय और मोक्षाभिमुख होकर आठों प्रकार के कर्मबन्धनों को तोड़ देता है।[2]

उपर्युक्त बाह्य तप के भेदों में प्रथम चार तप आहार से सम्बन्धित हैं तथा अन्तिम दो तप क्रमशः कठोर शारीरिक आसन विशेष एवं एकान्तवास से सम्बन्धित हैं। यदि साधु की अपेक्षा से इन बाह्य तपों के क्रमिक-विकास पर विचार किया जाए तो इनका क्रम इस प्रकार उचित होगा: १ भिक्षाचर्या, २ ऊनोदरी, ३. रस-परित्याग, ४. अनशन, ५. संलीनता एवं ६ कायक्लेश। प्रत्येक साधु भिक्षाचर्या का सामान्यरूप से पालन करता ही है। अतः क्रमिक-विकास की दृष्टि से इसका प्रथम स्थान होना चाहिए। इसके बाद कम खानेरूप ऊनोदरी, फिर सरस पदार्थों के त्यागरूप रस-परित्याग और फिर सब प्रकार के आहार-पान के त्यागरूप अनशन तप करने का अभ्यास संभव है। कायक्लेश तप में एकान्तस्थान का सेवन आ ही जाता है तथा साधु के लिए हमेशा एकान्तसेवन आवश्यक भी है, जबकि कायक्लेश तप उतना आवश्यक नहीं है। अतः प्रतिसंलीनता के बाद कायक्लेश तप का अभ्यास संभव है। अपेक्षा-भेद होने पर इस क्रम में अंतर भी आ सकता है। तत्त्वार्थ-सूत्र में भी यद्यपि उपर्युक्त क्रम नहीं है फिर भी वहां पर कायक्लेश के पूर्व संलीनता (विविक्तशयनासन) को गिनाया गया है।[3]

---

१. वही, टीकाएं।

२. उ० २९.३१.

३. अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः।

—त० सू० ९.१९.

आभ्यन्तर तप :

अन्त:शुद्धि से विशेष सम्बन्ध रखने के कारण प्रायश्चित्त आदि तप आभ्यन्तर तप कहलाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इनका बाह्य शारीरिक-क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है अपितु बाह्य और आभ्यन्तररूप तपों का विभाजन प्रधानता और अप्रधानता की दृष्टि से किया गया है। आभ्यन्तर छ: तपों के स्वरूपादि इस प्रकार हैं :

१ प्रायश्चित्त तप :

आचार में दोष लग जाने पर उस दोष की शुद्धि के लिए किया गया दण्डरूप पश्चात्ताप प्रायश्चित्त तप है। यह ग्रन्थ में १० प्रकार का बतलाया गया है परन्तु वहा पर उनके नाम नही गिनाए हैं।[1] टीकाओं में उनके नामादि इस प्रकार गिनाए गए हैं :

क. आलोचना— दोष को गुरु के समक्ष स्पष्ट कह देने मात्र से जिस दोष की शुद्धि हो जाती है उसे 'आलोचनार्ह' दोष कहते हैं तथा उस दोष को बिना छुपाए गुरु के समक्ष स्पष्ट शब्दो मे कहना आलोचना प्रायश्चित्त है। आलोचना से जीव अनन्त-ससार को बढ़ानेवाले तथा मुक्ति में विघ्नरूप माया, निदान (पुण्यकर्म की फलाभिलाषा) और मिथ्यादर्शनरूप शल्यों को दूर करके सरलता को प्राप्त करता है, फिर स्त्री वेद और नपुसक वेद (मोहनीय नोकषाय कर्म) का बन्ध न करके पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है।[2] गर्हा (आत्मगर्हा) भी आलोचनारूप ही है। इससे जीव आत्मनम्रता (अपुरस्कार) को प्राप्त करता है, फिर अप्रशस्त-योग (मन, वचन व काय की अशुभ-प्रवृत्ति) से विरक्त होकर

---

१. आलोयणारिहाईयं पायच्छित्तं तु दसविहं।
जं भिक्खू वहई सम्मं पायच्छित्तं तमाहियं॥
—उ० ३०.३१.

२. उ० २९.५.

प्रशस्त-योग को प्राप्त करता है। इसके बाद प्रशस्त-योगवाला साधु अनन्तघाती कर्म-पर्यायों को नष्ट कर देता है।[1]

ख. प्रतिक्रमण—'प्रमाद से जो दोष हुआ हो वह मिथ्या हो' (मिच्छा मि दुक्कडं) इस तरह की मानसिक प्रतिक्रिया प्रकट करना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त तप है। साधु इस प्रायश्चित्त को प्रतिदिन करता है। अतः इसे छः आवश्यकों में गिनाया गया है।

ग. तदुभय आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों प्रकार के प्रायश्चित्तों के करने से जिस दोष की शुद्धि हो उसे 'तदुभयार्ह' दोष कहते हैं तथा इस दोष की शुद्धि करना तदुभय प्रायश्चित्त है।

घ. विवेक—यदि अज्ञान से सदोष आहारादि लिया हो तो बाद में ज्ञान हो जाने पर उसका त्याग कर देना विवेक प्रायश्चित्त है।

ङ. व्युत्सर्ग—शरीर के सभी प्रकार के हलन-चलनरूप व्यापारों को त्यागकर एकाग्रतापूर्वक स्थिर होना अर्थात् 'कायोत्सर्ग' करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। यह कायोत्सर्गरूप व्युत्सर्ग छः आवश्यकों में भी गिनाया गया है तथा आभ्यन्तर तप के छः भेदों में एक स्वतन्त्र तप भी है।

च. तप जिस दोष की शुद्धि अनशन आदि तप के करने से हो उसे 'तपार्ह' दोष कहते हैं तथा उसकी शुद्धि के लिए अनशन आदि तप करना तप प्रायश्चित्त है।

छ. छेद साधु की दीक्षा के समय को घटा (छेद) देना छेद प्रायश्चित्त है। इससे उस साधु को जिसकी दीक्षा का समय घटा दिया जाता है उन साधुओं को भी नमस्कार आदि करना पड़ता है जिनकी दीक्षा की अवधि उससे ज्यादा होती है, भले ही वे उसे छेद प्रायश्चित्त के पूर्व नमस्कार आदि क्यों न करते रहे हों।[2]

---

१. उ० २९.७.

२. मानलो किसी साधु को दीक्षा लिए चार वर्ष पूरे हो गए हैं। किसी अपराध के कारण एक दिन गुरु उसकी दीक्षा के समय को एक वर्ष छेद देते हैं। इसके परिणामस्वरूप अब उसे उन सभी साधुओं की वैयावृत्य आदि करनी पड़ती है जिनकी दीक्षा का समय तीन वर्ष से कुछ अधिक है।

ज. मूल—जिस दोष के प्रायश्चित्त में सम्पूर्ण (मूलसहित) दीक्षा के समय को छेद दिया जाए उसे मूल प्रायश्चित्त कहते हैं। इसके फलस्वरूप उसे पुनः दीक्षा लेनी पड़ती है। तत्त्वार्थसूत्र में इसे उपस्थापना प्रायश्चित्त तप कहा है।[1]

झ. अनवस्थापना—जिस दोष के प्रायश्चित्तस्वरूप साधु सम्पूर्ण दीक्षा के छेद दिए जाने से पुनः दीक्षा लेने के योग्य तब तक न हो जब तक कि उस दोष के प्रायश्चित्तस्वरूप गुरु के द्वारा बतलाया गया अनशन आदि तप न कर लिया जाए।

ञ. पाराञ्चिक—सबसे बड़े अपराध के लिए किया जानेवाला सर्वाधिक कठोर प्रायश्चित्त विशेष।

उपर्युक्त १० प्रकार के प्रायश्चित्तों में यदि प्रतिक्रमण के बाद आलोचना प्रायश्चित्त को रखा जाए तो ये प्रायश्चित्त क्रमशः उत्तरोत्तर गुरुतर अपराध (दोष) की शुद्धि में निमित्त बनेंगे। प्रतिक्रमण सामान्य दोष के लिए किया जाता है तथा आलोचना उससे गुरुतर अपराध के लिए की जाती है। इसीलिए प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त में गुरु के समीप दोषों को कहे बिना ही स्वतः पश्चात्तापरूप मानसिक-प्रतिक्रिया प्रकट की जाती है, जबकि आलोचना में गुरु के समक्ष दोषो को कहना पड़ता है। जीतकल्प सूत्र में इनका विस्तृत वर्णन मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र में इस तप के ९ भेद गिनाए हैं जिनमें अनवस्थापन और पाराञ्चिक ये दो भेद नहीं हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ 'परिहार' (कुछ समय के लिए संघ से निकाल देना) नामक एक अन्य प्रायश्चित्त गिनाया गया है।[2]

२. विनय तप :

गुरु के प्रति नम्रता का व्यवहार करना विनय तप है। यह विनम्रता पाँच प्रकार से प्रदर्शित की जा सकती है: १. अभ्युत्थान

---

१. आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः।
—त० सू० ९.२२.

२. वही

(गुरु के आने पर खड़े होना), २. अञ्जलिकरण (हाथ जोड़कर नमस्कार करना), ३. आसनदान (उच्चासन देना), ४. गुरुभक्ति(गुरु के प्रति अनुराग) और ५. भावशुश्रूषा (गुरु की अन्तःकरण से सेवा करना) । ये ही विनय तप के पाँच प्रकार हैं।[1] धर्मवृद्धि एवं ज्ञानप्राप्ति के लिए गुरु के प्रति की गई विनय ही यहाँ पर विनय तप है। धनप्राप्ति आदि के लिए की गई विनय यहां पर अभिप्रेत नहीं है। साधु के लिए यह तप आवश्यक है। अतः छः आवश्यकों में 'वन्दन' नाम का एक आवश्यक भी माना गया है। इसका विशेष विचार विनीत शिष्य के प्रसंग में किया जा चुका है।

३. वैयावृत्य तप :

आहार-पान आदि के द्वारा (ग्लानि के बिना) गुरुजनों की यथाशक्ति सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य तप है। गुरुजनों की सेवा करना साधु का प्रतिदिन का सामान्य कार्य है जैसाकि साधु की दिनचर्या में बतलाया गया है। यद्यपि विनय तप के भाव-शुश्रूषा नामक पाँचवे भेद के अन्तर्गत ही यह तप आ जाता है परन्तु यहां पर जो इसका स्वतन्त्र तप के रूप में कथन किया गया है वह इस पर विशेष जोर देने के लिए है। दीक्षागुरु आदि सेवायोग्य पात्रों (व्यक्तियों)[2] की अपेक्षा से इस तप के १० भेद गिनाए

---

१. अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं तहेवासणदायणं ।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा विणओ एस वियाहिओ ॥
—उ० ३०.३२.

२. सेवायोग्य १० पात्र इस प्रकार हैं : १. दीक्षागुरु (आचार्य), २. ज्ञान देनेवाला अध्यापक (उपाध्याय), ३. ज्ञानवयोवृद्ध साधु (स्थविर), ४. उग्र तप करनेवाला (तपस्वी), ५. रोगादि से पीड़ित साधु (ग्लान), ६. नवदीक्षित साधु (शैक्ष), ७. सहधर्मी (साधर्मिक), ८. एक ही दीक्षागुरु का शिष्य-समुदाय (कुल), ९. अनेक दीक्षा गुरुओं के शिष्यों का समुदाय (गण) और १०. साधु, साध्वी, श्रावक तथा श्राविका का समुदाय (संघ) ।

गए हैं।[1] ग्रन्थ में इस तप का फल बतलाते हुए लिखा है कि इससे आशातना रहित (उच्छृंखलता से रहित) विनय की प्राप्ति होती है। इसके बाद वह चारों गतियों के कर्मबन्ध को रोककर तीर्थङ्कर (जिसके प्रभाव से जीव धर्मप्रवर्तन करके सिद्ध हो जाता है) नामक गोत्र कर्म का बन्ध करता है। इसके अतिरिक्त सब प्रकार के विनयमूलक प्रशस्त-कार्यों को करता हुआ अन्य जीवों को भी विनयधर्म में प्रवृत्त कराता है।[2] इस तरह इस तप का प्रयोजन विनय तप को समृद्ध करना है।

४. स्वाध्याय तप :

ज्ञानप्राप्ति के लिए शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय तप है। साधु के लिए दिन एवं रात्रि के कुल आठ प्रहरों में से चार प्रहरों में (अर्थात् १२ घंटे) स्वाध्याय करने का विधान है। इस स्वाध्याय तप के पाँच प्रकार हैं जिनसे युक्त अध्ययन स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय के वे पाँच प्रकार ये हैं :[3]

क. वाचना–शास्त्रों (सद्ग्रन्थों) का पढ़ना या पढ़ाना 'वाचना' तप है। वाचना से कर्मों की निर्जरा होती है तथा शास्त्रों की सुरक्षा बनी रहती है। किञ्च, साधक वाचना का अभ्यास करके महा-पर्यवसान (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।[4]

---

१. आयरियमाईए वेयावच्चम्मि दसविहे ।
आसेवणं जहाथामं वेयावच्चं तमाहियं ॥
—उ० ३०.३३.
तथा देखिए—उ० १२.२४; २६.६-१०, ३३.

२ *वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ ।*
—उ० २६ ४३.
तथा देखिए—उ० २९.४

३. *वायणा पुच्छणा चेव तहेव परियट्टणा ।*
अणुप्पेहा धम्मकहा सज्झाओ पंचहा भवे ॥
—उ० ३०.३४.
तथा देखिए—उ० २४.८.

४. उ० २६.१९

ख. पृच्छना या प्रतिपृच्छना—विशेष ज्ञानप्राप्ति के लिए तथा सूत्रार्थ में सन्देह उत्पन्न होने पर गुरु से प्रश्न पूछना 'पृच्छना' है। इससे जीव सूत्र और अर्थ (शब्दार्थ) का स्पष्ट व सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेता है तथा सन्देह एवं मोह को उत्पन्न करनेवाले कर्म (कांक्षा मोहनीय) को नष्ट कर देता है।[1]

ग परिवर्तना—ज्ञान को स्थिर बनाए रखने के लिए पढ़े हुए विषय को पुनः-पुनः दुहराना (पुनरावृत्त करना) परिवर्तना है। इससे जीव को एक अक्षर की स्मृति से तदनुकूल अन्य सैकड़ों अक्षरों की स्मृति (व्यञ्जनलब्धि) हो जाती है तथा वे स्मृतिपटल पर स्थिर हो जाते हैं।[2]

घ अनुप्रेक्षा—सूत्रार्थ का चिन्तन एवं मनन करना अनुप्रेक्षा है। इससे जीव आयु कर्म के अतिरिक्त शेष सात कर्मों के गाढ़-बन्धनों को शिथिल कर देता है, दीर्घकाल की स्थितिवाले कर्मों को ह्रस्वकाल की स्थितिवाला कर देता है, तीव्र फलदायिनी शक्ति को अल्प फलदायिनी शक्तिवाला कर देता है, बहुप्रदेशी को अल्पप्रदेशी कर देता है। आयु कर्म का पुन. बन्ध हो या न हो परन्तु दुःख को देनेवाले (असाता वेदनीय) कर्मों का वह बार-बार बन्ध नहीं करता है तथा अनादि-अनन्त, दीर्घमार्गी व चतुर्गतिरूप संसार-कान्तार को शीघ्र ही पार कर जाता है।[3]

ङ. धर्मकथा—प्राप्त किए हुए ज्ञान को धर्मोपदेश द्वारा व्यक्त करना (धर्मोपदेश देना) धर्मकथा है। इससे जीव कर्मों की निर्जरा करके धर्मसिद्धान्त की उन्नति (प्रवचन-प्रभावना) करता है। तदनन्तर भविष्यत्काल में सुखकर शुभ-कर्मों का ही बन्ध करता है।[4]

इस तरह इन पाँचो अंगों के साथ स्वाध्याय तप करने से जीव ज्ञान को आवृत्त करनेवाले ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट कर

---

१. उ० २९.२०.
२. उ० २९.२१.
३. उ० २९.२२.
४. उ० २९.२३.

देता है, फिर सब प्रकार के पदार्थों का ज्ञाता होकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अतः ग्रन्थ में इसे सब प्रकार के पदार्थों (भावों) को प्रकाशित करनेवाला तथा सब प्रकार के दुःखों से छुटकारा दिलानेवाला कहा है।[१]

५. ध्यान तप :

चित्त को एकाग्र करना ध्यान है।[२] आलम्बन—विषय की दृष्टि से इसके चार भेद किए गए हैं। इसमें आदि के दो ध्यानों में अशुभालम्बन होता है तथा अन्त के दो ध्यानों में शुभालम्बन होता है। अतः आदि के दो ध्यान अप्रशस्त एवं अनुपादेय हैं तथा अन्त के दो ध्यान प्रशस्त तथा उपादेय हैं। शुभालम्बनवाले प्रशस्त ध्यान ही यहाँ पर ध्यान तप के रूप में गृहीत हैं।[३] ध्यान के ये चार प्रकार निम्नोक्त हैं :

क. आर्तध्यान—इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि सांसारिक दुःखों (आर्त) से उत्पन्न विकलतारूप सतत चिन्तन आर्तध्यान है।

ख. रौद्रध्यान—हिंसादि में प्रवृत्ति करानेवाले क्रूर (रौद्र) विचारों का सतत चिन्तन करना रौद्रध्यान है।

ग. धर्मध्यान—किसी एक धार्मिक विषय पर चित्त को एकाग्र करना धर्मध्यान है। तत्त्वार्थसूत्र में विषय की दृष्टि से इसके चार

---

१. सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥

—उ० २९.१८.

सज्झाए वा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणे।

—उ० २६.१०.

तथा देखिए—उ० २६ २१, २९.२४.

२. जीवस्स एगग्ग-जोगाभिणिवेसो झाणं।

— उद्धृत, श्रमणसूत्र, पृ० १३६.

३. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं झाणं तं तु बुहा वए ॥

—उ० ३०.३५.

तथा देखिए—उ० ३१ ६; २९.१२; ३४.३१.

भेद गिनाए हैं।[1] एकाग्रचित्त से स्वाध्याय करना भी धर्मध्यान है। अतः ग्रन्थ में स्वाध्याय से संयुक्त गर्दभालि मुनि को धर्मध्यान करनेवाला कहा गया है।[2]

घ. शुक्लध्यान—शुद्ध आत्म-तत्त्व में चित्त को स्थिर करना शुक्लध्यान है। शोक (शुच) को दूर (क्लामना) करनेवाला ध्यान शुक्लध्यान है।[3] तत्त्वार्थसूत्र में इसके उत्तरोत्तर विकासक्रम के आधार पर चार भेद किए गए हैं। वे चार भेद इस प्रकार हैं :[4]

१. पृथक्त्ववितर्क सवीचार—श्रुतज्ञान (वितर्क) का आलम्बन लेकर भेदप्रधान (पृथक्त्व) चिन्तन करना 'पृथक्त्ववितर्क' कहलाता है। इसमें भेदप्रधान चिन्तन की अविच्छिन्नधारा के रहने पर भी विचारों का संक्रमण (परिवर्तन) होता रहता है। अतः इसे पृथक्त्ववितर्क सवीचार ध्यान कहते हैं। २. एकत्ववितर्क निर्वीचार—श्रुतज्ञान (वितर्क) का आलम्बन लेकर अभेद (एकत्व या अपृथक्त्व) प्रधान चिन्तन 'एकत्ववितर्क' कहलाता है। इसमें विचारों का संक्रमण नहीं होता है। अतः इसे एकत्ववितर्क निर्वीचार ध्यान कहते हैं। ३. सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति—श्वासोच्छ्वास जैसी अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया के वर्तमान रहने से तथा अपतनशील (अप्रतिपाती) होने से इसे सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति ध्यान कहते हैं। इसमें मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग का क्रमशः निरोध होता है। इस ध्यान की प्राप्ति केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद आयु के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रहने पर होती है। इस ध्यान में श्वासोच्छ्वास को छोड़कर पूर्ण निश्चेष्टावस्था रहती है।[5] ४. समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति—श्वासोच्छ्वास

---

१. आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य।
—त० सू० ९.३७.

२. सज्झायज्झाणसंजुत्तो धम्मज्झाणं झियायइ।
—उ० १८.४.

३. शुचं शोकं क्लामयतीति शुक्लं।
—उ० (३०.३५) भावविजयटीका।

४. पृथक्त्वैकत्व-वितर्क-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिवर्तीनि।
—त० सू० ९.३९.

५. उ० २९.७२

क्रिया के भी शान्त हो जाने पर जो पूर्ण निश्चल अवस्था की प्राप्ति होती है उसे समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति ध्यान कहते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति के बाद पुन: संसार में आवागमन नहीं होता है। इस अवस्था की स्थिति अ, इ, उ, ऋ एवं लृ इन पाँच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण-प्रमाण मानी है। इसके बाद अवशिष्ट सभी अघातिया कर्मों को नष्ट करके जीव मुक्त हो जाता है।[1] यह ध्यान की सर्वोच्च एवं अन्तिम अवस्था है।

इन चार प्रकार के शुक्लध्यानों में प्रथम दो ध्यान आलम्बन-सहित होने से श्रुतज्ञानधारी (पूर्वधर) के होते हैं तथा बाद के दो ध्यान आलम्बनरहित होने से केवलज्ञानी जीवन्मुक्तों के होते हैं।

इस तरह इन प्रमुख चार प्रकार के ध्यानों में आर्त और रौद्र ध्यान मुक्ति में साधक न होने से त्याज्य हैं तथा धर्म और शुक्ल ध्यान उपादेय हैं। धर्मध्यान का प्रयोजन शुक्लध्यान की अवस्था को प्राप्त कराना है। ग्रन्थ मे साधु की दिन एव रात्रिचर्या के आठ प्रहरो मे से दो प्रहर धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानों को दृष्टि मे रखकर ही निश्चित किए गए हैं। एकाग्रमन:सन्निवेश (मन को एकाग्र करना), मन:समाधारण, मनोगुप्ति आदि सभी इसी ध्यान की प्राप्ति के प्रति कारण हैं।[2]

६. कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग तप

शयन करने, बैठने और खड़े रहने के समय शरीर को इधर-उधर न हिलाकर स्थिर रखना कायोत्सर्ग तप है।[3] साधु सामान्यतौर से व्युत्सृष्टकाय (शरीर से ममत्वरहित) होकर ही विहार करते हैं।[4] छ: आवश्यकों में कायोत्सर्ग एक आवश्यक (नित्यकर्म) भी है। प्रायश्चित्त तप के भेदों में भी कायोत्सर्ग

---

१. उ० २९.७१, ४१.

२. देखिए—प्रकरण ४, मनोगुप्ति।

३. सयणासणठाणे वा जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो छट्ठो सो परिकित्तिओ॥
—उ० ३०.३६.

४. उ० ३५.१५,

को गिनाया गया है। यहां पर इसका पृथक् कथन विशेष जोर देने के लिए किया गया है।

इस तरह इन सभी आभ्यन्तर तप के भेदों में ऐसा कोई भी तप नहीं है जिसे साधु किसी न किसी रूप में प्रतिदिन न करता हो। इन आभ्यन्तर तपों की क्रमरूपता का यदि विचार किया जाए तो विनय तप के पहले वैयावृत्य तप तथा ध्यान के पहले व्युत्सर्ग तप आना चाहिए। वैयावृत्य तप से विनय की प्राप्ति होती है तथा विनय तप में वैयावृत्य तप आ ही जाता है। इसी प्रकार ध्यान तप में कायोत्सर्ग हो ही जाता है क्योंकि बिना कायोत्सर्ग के ध्यान संभव ही नहीं है। इसके अतिरिक्त कायोत्सर्ग निषेधात्मक है जबकि ध्यान विधानात्मक है। विनय, वैयावृत्य और स्वाध्याय विशेषकर ज्ञान की प्राप्ति से सम्बन्धित हैं। प्रायश्चित्त आचारगत दोषों की शुद्धि से तथा कायोत्सर्ग और ध्यान तप मन, वचन व काय की प्रवृत्ति की स्थिरता से सम्बन्धित हैं।

इस तरह इन बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तपों का वर्णन किया गया। योगदर्शन तथा बौद्धदर्शन में भी इन तपों (विशेषकर ध्यान) का समाधि के रूप में वर्णन मिलता है।[1] प्रकृत ग्रन्थ में तप का मुख्य प्रयोजन (फल) पूर्वसंचित सैकड़ों भवों में भोगे जानेवाले कर्मों को आत्मा से पृथक् (निर्जीर्ण) करना है। इसके अतिरिक्त तप साधु जीवन की एक सम्पत्ति है।[2] तप से ऋद्धि आदि की प्राप्ति होती है।[3] इसके अतिरिक्त तपस्वी की सेवा करने में देवता भी अपना अहोभाग्य समझते

१. विशेष के लिए देखिए—विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद ३, ४, ११; पातञ्जल-योगदर्शन तथा इसी प्रकरण का अनुशीलन।

२. विरसकामाण तवोधणाणं।

—उ० ११.१७.

३. इड्ढी वावि तवस्सिणो।

—उ० २. ४४.

तथा देखिए—उ० १२.३७.

हैं।[1] ये तप आत्मशक्तियों के विकास एवं विशुद्धि की परख के लिए कसौटीरूप भी हैं। इनसे स्वर्ग या संसार से पूर्ण निवृत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2] इस तरह इन तपों का कर्मों को बलात् उदय में लाकर निर्जीर्ण करने में तथा संसार से मुक्ति दिलाने में प्रमुख हाथ होने से इनका चारित्र से पृथक् कथन किया गया है। तप की सफलता के लिए आवश्यक है कि शरीर के सूख जाने पर भी तपश्चरण से विचलित न होवे तथा तप के फल की इच्छा भी न करे।[3]

परीषह-जय

साधु को अपनी साधना के पथ में नाना प्रकार के कष्टों को सहन करना पड़ता है क्योंकि उसका सम्पूर्ण जीवन तपोमय है तथा तप की सफलता कष्टों को सहन किए बिना संभव नहीं है। सांसारिक विषयों में आसक्ति होना ही इन कष्टों का कारण है तथा सांसारिक विषयभोगों से निरासक्ति कष्टों पर विजय है। ये कष्ट मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत या देवकृत हो सकते हैं। इन कष्टों से न घबड़ाना ही साधु का कर्त्तव्य है।[4] साधु मुख्यरूप से जिन क्षुधादि कष्टों को सहन करता है उन्हें ग्रन्थ में 'परीषह' शब्द से कहा गया है। परीषह के ही अर्थ में 'उपसर्ग' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। इन कष्टों (उपसर्ग एवं परीषह) को जीतने

---

१. उ० १२.३६-३७

२ एवं तवं तु दुविहं जे सम्मं आयरे मुणी।
सो खिप्पं सव्वसंसारा विप्पमुच्चइ पंडिओ॥
—उ० ३०.३७.

३. कालीपव्वंगसंकासे किसे धमणिसंतए।
मायन्ने असणपाणस्स अदीणमणसो चरे॥
—उ० २.३.

४. जे भिक्खू सोच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा।
—उ० २.१-३ (गद्य).

तथा देखिए—उ० २१.१८,२०

को 'परीषहजय' कहते हैं और जो इन पर विजय प्राप्त कर लेता है वह संसार में भ्रमण नहीं करता है।[1]

परीषहजय के भेद व स्वरूप :

यद्यपि इन परीषहों की संख्या अनन्त हो सकती है परन्तु ग्रन्थ में इन्हें बाईस भागों में विभक्त किया गया है। इनसे पीड़ित होकर धर्मच्युत न होना परीषहजय है। वे बाईस परीषहजय इस प्रकार हैं :[2]

१. **क्षुधा परीषहजय**—भूख से व्याकुल होने पर तथा शरीर के अत्यन्त कृश हो जाने पर भी क्षुधा की शान्ति के लिए न तो फलादि को स्वयं तोड़ना, न दूसरे से तुड़वाना, न पकाना और न दूसरे से पकवाना अपितु क्षुधाजन्य कष्ट को सब प्रकार से सहन करना क्षुधा परीषहजय है।[3]

२. **तृषा परीषहजय**—प्यास से मुख के सूख जाने पर तथा निर्जनस्थान के होने पर भी शीतल (सचित्त) जल का सेवन न करके अचित्त जल की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करना तृषा परीषहजय है।[4]

३. **शीत परीषहजय**—ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए यदि शीतजन्य कष्ट होने लगे तो शीतनिवारक स्थान एवं वस्त्रादि के

---

१ दिव्वे य जे उवसग्गे तहा तेरिच्छमाणुसे।
जे भिक्खू सहइ निच्चं से न अच्छइ मंडले॥
—उ० ३१.५.
एगवीसाए सबले बावीसाए परीसहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मंडले॥
—उ० ३१.१५.

२. इमे खलु ते बावीसं परीसहा .... तं जहा—दिगिंछापरीसहे पिवासापरीसहे .... अन्नाणपरीसहे दंसणपरीसहे।
—उ० २.३-४ (गद्य).

३. देखिए—पृ० ३५२, पा० टि० ३; उ० २.२; १९.३२.

४. सीओदगं न सेवेज्जा वियडस्सेसणं चरे।
—उ० २.४.
तथा देखिए—उ० २.५.

न रहने पर भी अग्नि आदि के सेवन का चिन्तन न करते हुए तज्जन्य कष्ट को सहन करना शीत परीषहजय है।[१]

४. उष्ण परीषहजय—इसे आतप (धूप) परीषहजय भी कहा गया है। गर्मी अथवा अग्नि से अत्यन्त परिताप को प्राप्त होने पर भी स्नान करना, मुख को पानी से सींचना, पंखा झलना आदि परिताप-निवारक उपायों के द्वारा शान्ति की अभिलाषा न करना उष्ण परीषहजय है।[२]

५. दंशमशक परीषहजय—दंशमशक आदि (सांप, बिच्छू, मच्छड़ आदि) जन्तुओं के द्वारा काटे जाने पर भी संग्राम में आगे रहनेवाले हस्ती की तरह अडिग रहकर उन रुधिर और मांस खानेवालों को द्वेष-बुद्धि के कारण न तो हटाना और न पीड़ित करना दंशमशक परीषहजय है।[३]

६. अचेल परीषहजय—वस्त्ररहित या अल्प वस्त्रसहित हो जाने पर किसी प्रकार की चिन्ता न करना अचेल परीषहजय है।[४] यहां पर वस्त्रसहित और वस्त्ररहित दोनों अवस्थाओं में अचेल परीषह बतलाया गया है। इससे प्रतीत होता है कि साधु दो प्रकार के होते थे—एक वह जो वस्त्र धारण करते थे (स्थविरकल्पी या श्वेताम्बर) और दूसरे वह जो वस्त्र से रहित होते थे (जिनकल्पी या

---

१. चरंतं विरयं लूहं सीयं फुसइ एगया।
अहं तु अग्गिं सेवामि इइ भिक्खू न चिंतए॥
—उ० २.६-७.
तथा देखिए—उ० १९.३२.

२. घिसु वा परियावेणं सायं नो परिदेवए।
—उ० २.८.
तथा देखिए—उ० २.९; १९.३२.

३. पुट्ठो य दंसमसएहिं समरे व महामुणी।
—उ० २.१०.
तथा देखिए—उ० २.११; १९.३२.

४. देखिए—पृ० ३२, पा० टि० २.

दिगम्बर)।[1] ऐसी स्थिति में ही वस्त्ररहित या वस्त्रसहित उभय अवस्थाओं में यह परीषह सम्भव है।

७. अरति परीषहजय—ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए साधु साधुवृत्ति से उदास हो सकता है। अतः इस उदासी को न होने देना तथा धर्म का पालन करते रहना अरति परीषहजय है।[2] इस तरह अरति से तात्पर्य है—साधुवृत्ति में अरुचि उत्पन्न होना और उस अरुचि को उत्पन्न न होने देना अरति परीषहजय है।

८. स्त्री परीषहजय—स्त्री आदि को देखकर कामविह्वल न होना स्त्री परीषहजय है।[3] यहां 'स्त्री' शब्द कामवासना का उपलक्षण है। अतः पुरुष को देखकर साध्वी का कामविह्वल न होना भी स्त्री परीषहजय है। रथनेमी राजीमती को एकान्त में नग्न देखकर तथा स्त्री परीषह से पराजित होकर जब कामविह्वल हो जाते हैं तब राजीमती उन्हें सदुपदेश द्वारा सन्मार्ग में स्थित करती है। इसके बाद दोनों संयम में स्थित होकर स्त्री परीषहजय करते हैं।[4]

९. चर्या परीषहजय—यहा चर्या शब्द का अर्थ है—गमन। अतः किसी गृहस्थ या गृहादि में आसक्ति न करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करते समय उत्पन्न सभी प्रकार के कष्टों को सहन करना चर्या परीषहजय है।[5]

१०. नैषेधिकी परीषहजय—श्मशान, शून्यगृह, वृक्षमूल आदि स्थानों में ध्यानस्थ बैठे रहने पर यदि कोई कष्ट या भयादि हो

---

१. इत्थं स्थविरकल्पिकमाश्रित्याचेलकपरीषह उक्तः......... "।

—वही, नेमिचन्द्रवृत्ति, पृ० २२.

२. उ० २.१४-१५.

३. संगो एस मणुस्साणं जाओ लोगम्मि इत्थिओ।
जस्स एया परिन्नाया सुकडं तस्स सामण्णं॥

—उ० २.१६.

तथा देखिए—उ० २.१७.

४. उ० २१.२१.

५. उ० २.१८-१९.

तो उसी स्थान पर बैठे हुए उस उपसर्ग (आपत्ति) को सहन करना नैषेधिकी परीषहजय है।[1]

११. शय्या परीषहजय—ऊंची-नीची शय्या (शयन करने का स्थान) के मिलने पर यह विचारते हुए कि एक रात्रि मेरा क्या कर लेगी, कर्त्तव्य का पालन करते रहना शय्या परीषहजय है।[2]

१२. आक्रोश परीषहजय—दारुण कण्टक के समान मर्म-भेदक कठोर वचनों को सुनकर भी चुप रहना तथा उसके प्रति थोड़ा भी क्रोध न करना आक्रोश परीषहजय है।[3]

१३. वध परीषहजय—किसी के मारने (प्राणघात) को तत्पर होने पर भी यह सोचकर कि इस जीव का कभी विनाश नहीं होता है तथा क्षमा सबसे बड़ा धर्म है, मारनेवाले पर मन से भी द्वेष न करते हुए धर्म का ही चिन्तन करना वध परीषहजय है।[4]

१४. याचना परीषहजय—साधु के पास जो भी वस्तुएँ होती हैं वे सब गृहस्थ से मांगी हुई होती हैं। उसके पास बिना मांगी हुई अपनी कोई भी वस्तु नहीं होती है। अतः 'गृहस्थों से प्रतिदिन

---

१. अकुक्कुओ निसीएज्जा न य वित्तासए परं।
—उ० २.२०.

तथा देखिए—उ० २.२१; २१.२२.

२. उच्चावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खु थामवं।
—उ० २.२२.

किमेगराइं करिस्सइ एवं तत्थऽहियासए।
—उ० २.२३.

तथा देखिए—उ० १६.३२.

३. अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं न तेसिं पडिसंजले।
—उ० २.२४.

तथा देखिए—उ० २.२५; १९.३१-३३; १६.३२,९४; २१.२० आदि।

४. हओ न संजले भिक्खू।
—उ० २.२६.

तथा देखिए—उ० २.२७; १६.३३.

आहारादि मांगने की अपेक्षा घर में रहना अच्छा है' इस प्रकार याचनाजन्य दीनता के भाव न आने देना याचना परीषहजय है।[1]

१५. **अलाभ परीषहजय**—आहारादि की याचना करने पर कभी-कभी उनकी प्राप्ति नहीं होती है। अतः आहारादि की प्राप्ति न होने पर दुःखी न होते हुए यह सोचना—'आज भिक्षा नहीं मिली, कल मिल जाएगी' अलाभ परीषहजय है।[2]

१६. **रोग परीषहजय**—शरीर में किसी प्रकार के रोगादि के हो जाने पर औषधिसेवन (चिकित्सा) न करते हुए समतापूर्वक रोगजन्य कष्ट को सहन करना रोग परीषहजय है।[3] मृगापुत्र साधु के इस परीषहजय के विषय में मृग का दृष्टान्त देता है—'जिस प्रकार मृग को रोगादि हो जाने पर उसकी कोई दवा आदि से सेवा नहीं करता है और कुछ समय बाद वह रोग के दूर हो जाने पर अन्यत्र विचरण कर जाता है उसी प्रकार साधु को रोगादि के होने पर औषधि की कामना नहीं करनी चाहिए।'[4]

१७. **तृणस्पर्श परीषहजय**—तृणों पर शयन करते समय अचेल साधु का शरीर विकृत हो सकता है। अतः ऐसी अवस्था में भी वस्त्रादि की अभिलाषा न करना तृणस्पर्श परीषहजय है।[5]

---

१. गोयरग्गपविट्ठस्स पाणी नो सुप्पसारए।
सेओ अगारवासुत्ति इइ भिक्खू न चितए॥
—उ० २.२९.
तथा देखिए—उ० २.२८; १९.३३.

२. अज्जेवाहं न लब्भामि अवि लाभो सुए सिया।
जो एवं पडिसंचिक्खे अलाभो तं न तज्जए॥
—उ० २.३१.
तथा देखिए—उ० २.३०; १९.३३.

३. तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा संचिक्खऽत्तगवेसए।
—उ० २.३३.
तथा देखिए—उ० २.३२; १५.८.

४. उ० १९.७६-७७.

५. एवं नच्चा न सेवंति तंतुजं तणतज्जिया।
—उ० २.३५.
तथा देखिए—उ० २.३४; १९.३२.

१८. जल्ल परीषहजय—पसीना, कीचड़, धूलि आदि के शरीर पर इकट्ठे हो जाने पर भी शरीर-भेद पर्यन्त उसे दूर करने का प्रयत्न न करना जल्ल परीषहजय है।[1] अर्थात् घृणित वस्तुओं का सम्पर्क होने पर उनसे घृणादि न करना तथा शरीर के संस्कार (स्नान) आदि की अभिलाषा न करना जल्ल परीषहजय है।

१९. सत्कार-पुरस्कार परीषहजय—अभिवादन, नमस्कार, निमन्त्रण आदि से किसी अन्य साधु का सम्मान होते देखकर तथा स्वयं का सम्मानादि न होने पर ईर्ष्याभाव न करते हुए वीतरागी रहना सत्कार-पुरस्कार परीषहजय है।[2]

२० प्रज्ञा परीषहजय—ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी यदि किसी के पूछने पर उत्तर न दे सके तो 'कर्मों का यह फल है' ऐसा विचार करना प्रज्ञा परीषहजय है।[3]

२१. अज्ञान परीषहजय—सब प्रकार से साधु-धर्म का पालन करने पर भी अज्ञानता के दूर न होने पर यह न सोचना—'मैं व्यर्थ ही भोगो से निवृत्त हुआ और ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं हुई' अज्ञान परीषहजय है।[4] अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति न होने पर भी धर्म में दृढ़ रहना अज्ञान परीषहजय है।

---

१. जाव सरीरभेओत्ति जल्लं काएण धारए।
—उ० २.३७.

तथा देखिए—उ० २.३६; १९.३२.

२. अभिवायणमब्भुट्ठाणं सामी कुज्जा निमंतणं।
जे ताइं पडिसेवंति न तेसिं पीहए मुणी॥
—उ० २.३८.

तथा देखिए—उ० २.३९; २१.२०.

३. से नूणं मए पुव्वं कम्माऽणाणफलाकडा।
जेणाहं नाभिजाणामि पुट्ठो केणइ कण्हुई॥
—उ० २.४०.

तथा देखिए—उ० २.४१.

४. निरट्ठगम्मि विरओ मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि धम्मं कल्लाणपावगं॥
—उ० २.४२.

तथा देखिए—उ० २.४३.

२२. **दर्शन परीषहजय**—'परलोक नहीं है, तप से ऋद्धि की प्राप्ति नहीं होती है, मैं भिक्षाधर्म लेकर ठगा गया हूँ, तीर्थङ्कर (जिन) न थे, न हैं और न होंगे' इस तरह धर्म में अविश्वास न होने देना दर्शन परीषहजय है।[1] अर्थात् हर परिस्थिति में धर्म में दृढ़ विश्वास रखना। जब तक ऐसी दृढ़ श्रद्धा नहीं होगी तब तक साधु अन्य परीषहों को नहीं जीत सकता है क्योंकि श्रद्धा की नींव पर ही तो धर्म की इमारत खड़ी है।

परीषहजय की कठोरता :

इस तरह ग्रन्थ में साधु के लिए उपर्युक्त २२ प्रकार के परीषहों के सहन करने का विधान है। इन पर किस तरह विजय प्राप्त करना चाहिए इस विषय में लिखा है कि साधु पूर्वबद्ध कर्मों का फल जानकर धैर्यपूर्वक युद्धस्थल में स्थित हस्ती की तरह, वायु के प्रचण्ड वेग से कम्पित न होनेवाले मेरु पर्वत की तरह और भय को प्राप्त न होनेवाले सिंह की तरह अडिग एवं आत्मगुप्त होकर इन परीषहों को सहन करे। इस तरह इन परीषहों के आने पर अडिग रहना बड़ा कठिन है।[2]

इस परीषहजय के वर्णन से साधु के कर्त्तव्यों का बोध होता है। अचेल और तृणस्पर्श परीषहजय विशेषकर जिनकल्पी या दिगम्बर साधु की अपेक्षा से हैं क्योंकि वस्त्ररहित होने पर इन परीषहों की सम्भावना अधिक है। कुछ परीषह एक साथ आते हैं। साधु प्रतिदिन कुछ न कुछ परीषह अवश्य ही सहन करता है। जैसे: क्षुधा, तृषा, तृणस्पर्श, याचना, जल्ल, शीत, उष्ण आदि। मालूम पड़ता है कि इनकी संख्या देश-काल की परिस्थिति के अनुसार ही निश्चित की गई है। जैसे: अरति, दर्शन, प्रज्ञा, अज्ञान आदि

---

१. नत्थि नूणं परे लोए इड्ढी वावि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओमि त्ति इइ भिक्खू न चिंतए॥
—उ० २.४४,

तथा देखिए—उ० २.४५.

२. उ० २१.१७,१९; १९.३२-३३,९२ आदि।

परिस्थिति के अनुसार बढ़ाए गए परीषह हैं। वस्तुत: परीषहजय से तात्पर्य है—निन्दा-प्रशंसा, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के आने पर भी समभाव रखते हुए अपने कर्त्तव्य-पथ में दृढ़ रहना। 'स्त्री' परीषह से उस समय के पुरुषों की प्रभुसत्ता का ज्ञान होता है, अन्यथा 'काम' ऐसा परीषह का नाम हो सकता था।

साधु की प्रतिमाएँ

यहाँ 'प्रतिमा' शब्द का अर्थ है—एक विशेष प्रकार के तप का नियम लेना। ग्रन्थ में साधु की प्रतिमाओं का सिर्फ दो जगह उल्लेख हुआ है जिनका पालन करने से संसार में भ्रमण नहीं होता है।[1] बारह की संख्या के प्रसंग में इनका उल्लेख होने से इनकी संख्या बारह है। यद्यपि ग्रन्थ में इनके नामादि का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है तथापि टीका-ग्रन्थों से निम्न जानकारी प्राप्त होती है :

प्रतिमा—अनशन तपविशेष का अभ्यास :

टीका-ग्रन्थों में दशाश्रुतस्कन्ध के सप्तम अध्याय (उद्देश) के अनुसार जिन १२ प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है उन्हें देखने से पता चलता है कि इन प्रतिमाओं के नाम समय की सीमा के आधार पर किए गए हैं तथा इनमें एक निश्चित क्रम के अनुसार अनशन और ऊनोदरी तप का अभ्यास किया जाता है।[2] ये

---

१. पडिमं पडिवज्जओ।

—उ० २.४३.

भिक्खूणं पडिमासु य।

—उ० ३१.११.

२. साधु की बारह प्रतिमाएँ ये हैं : १. एकमासिकी—एक मास तक एक दत्ति अन्न की एवं एक दत्ति जल की ग्रहण करना और आनेवाले सभी प्रकार के कष्टों को सहन करना, २. द्विमासिकी—दो मास तक दो दत्तियाँ जल की और दो दत्तियाँ अन्न की लेना, ३. त्रिमासिकी—तीन मास तक तीन दत्तियाँ लेना, ४. चतुर्मासिकी—चार मास तक चार दत्तियाँ लेना, ५. पञ्चमासिकी—पाँच मास तक

प्रतिमाएँ वस्तुतः अनशन तप के अभ्यास के लिए प्रकार-विशेष हैं। व्यवहारसूत्र में अन्य प्रकार से भी साधु की प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है[1] परन्तु सबका तात्पर्य एक ही है—अनशन तप का अभ्यास। दिगम्बर-परम्परा में साधु की प्रतिमाओं का वर्णन नहीं मिलता है। इस तरह ये साधु की प्रतिमाएँ गृहस्थ की ११ प्रतिमाओं से भिन्न हैं। इन प्रतिमाओं का पालन करते समय क्षुधादि परीषहों को भी सहन करना पड़ता है।

समाधिमरण-सल्लेखना

समाधिमरण (सल्लेखना) का अर्थ है—मृत्यु के सन्निकट आ जाने पर चारों प्रकार के आहार का त्याग करके आत्मध्यान करते हुए प्रसन्नतापूर्वक प्राणों का त्याग करना। इसे ग्रन्थ में 'पण्डितमरण' एव 'सकाममरण' शब्द से भी कहा गया है[2] क्योंकि

पाँच दत्तियाँ लेना, ६. षट्मासिकी—छः मास तक छः दत्तियाँ लेना, ७. सप्तमासिकी—सात मास तक सात दत्तियाँ लेना, ८. प्रथम सप्त अहोरात्रिकी—सात दिनरातपर्यन्त निर्जल-उपवास (चतुर्थभक्त) करते हुए ध्यान करना, ९. द्वितीय सप्त अहोरात्रिकी—सात दिन-रात तक किसी अन्य आसन-विशेष से ध्यान करना, १०. तृतीय सप्त अहोरात्रिकी—सात दिन-रात तक अन्य किसी आसन-विशेष से ध्यान करना, ११. अहोरात्रिकी—निर्जल दो उपवास (षष्ठभक्त) करना, और १२. रात्रिकी—एक रात्रिपर्यन्त निर्जल उपवास (अष्टभक्त) करना।

यहाँ दत्ति शब्द का अर्थ है—एक ही समय में लगातार बिना धारा टूटे जितना आहार अथवा पानी साधु के पात्र में डाल दिया जाता है उसे एक दत्ति कहते हैं।

—उ० ३१.११ (टीकाएँ); दशाश्रुतस्कन्ध, उद्देश ७.

१. व्यवहारसूत्र, उद्देश १०.

२. इत्तो सकाममरणं पंडियाणं सुणेह मे।

—उ० ५.१७.

तथा देखिए—उ० ५.२; ३५.२०; ३६.२५१-२५२,२६३ आदि।

इसकी प्राप्ति विषयादि से विरक्त समाधिस्थ विद्वानों को इच्छापूर्वक (सकाम) होती है तथा ये मृत्युसमय भी अन्य समयों की तरह प्रसन्न ही रहते हैं।[1] रोगादि या अन्य कोई उपसर्ग (आपत्ति) आ जाने पर ये न तो अपने कर्तव्यपथ से विचलित होते हैं और न किसी प्रकार के कष्ट से दुःखी होते हैं। इस तरह पण्डितमरण (सल्लेखना) का अर्थ है—मृत्यु को सन्निकट आया हुआ जानकर प्रसन्नतापूर्वक सब प्रकार के आहार का त्याग करके आत्मा का ध्यान करते हुए मृत्यु का स्वागत करना। यह पण्डितमरण यावत्कालिक अनशन तपपूर्वक होता है।

समाधिमरण आत्महनन नहीं :

इस प्रकार के मरण को आत्म-हनन नहीं कह सकते हैं क्योंकि यह मृत्यु या अन्य कोई दुःसाध्य आपत्ति आ जाने पर प्रसन्नतापूर्वक शरीरत्याग करने की प्रक्रिया है। यह एक प्रकार का शुभ-ध्यान (धर्म या शुक्लध्यान) है। यदि प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु का स्वागत नहीं किया जाएगा तो मृत्यु से भय बना रहेगा जिससे अशुभ-ध्यान (आर्त एवं रौद्र-ध्यान) की प्राप्ति होगी जो दुर्गति का कारण है। अतः साधु के आहार न करने के कारणों में एक कारण सल्लेखना भी गिनाया गया है। साधु एवं गृहस्थ दोनों को इस प्रकार का मरण स्वीकार करने के लिए कहा गया है।[2] यदि भय व दुःख आदि से प्रेरित होकर आहारत्याग किया जाएगा तो वह समाधिमरण (सल्लेखना) न होकर आत्म-हनन होगा।

---

१. मरणंपि सपुण्णाणं·········विप्पसण्णमणाघायं।

—उ० ५.१८.

न संतसंति मरणंते सीलवंता बहुस्सुया।

—उ० ५.२९.

तथा देखिए—उ० ५.३१.

२. न इमं सव्वेसु भिक्खूसु न इमं सव्वेसु गारिसु।

—उ० ५.१९.

समाधिमरण के भेद :

ग्रन्थ में इस समाधिमरण के तीन भेदों का संकेत मिलता है।[1] इनमें से किसी एक का आश्रयण करके शरीर का त्याग करना आवश्यक है। क्रिया को माध्यम बनाकर किए गए इन तीनों भेदों में चारों प्रकार के आहार का त्याग (अनशन तप) आवश्यक है। इनके नामादि इस प्रकार हैं :[2]

१. **भक्तप्रत्याख्यान**—गमनागमन के विषय में कोई नियम लिए बिना चारों प्रकार के आहार का त्याग करके शरीर का त्याग करना भक्तप्रत्याख्यान नामक समाधिमरण है। इससे जीव सैकड़ों भवों के कर्मों को निरुद्ध कर देता है।[3]

२ **इंगिनीमरण**—इगित का अर्थ है—संकेत। अतः गमनागमन के विषय में भूमि की सीमा का संकेत करके चारों प्रकार के आहार का त्याग करते हुए शरीर का त्याग करना इंगिनीमरण है।

३. **पादोपगमन**—पाद का अर्थ है—वृक्ष। अत. पादोपगमन नामक समाधिमरण में चारों प्रकार के आहार का त्याग करके वृक्ष से कटी हुई शाखा की तरह एक ही स्थान पर निश्चल होकर शरीर का त्याग किया जाता है।

इन तीनों भेदो में से भक्तप्रत्याख्यान में गमनागमन-सम्बन्धी कोई नियम नही रहता है, इंगिनीमरण में क्षेत्र की सीमा नियत रहती है तथा पादोपगमन में गमनागमन क्रिया नहीं होती है। अतः भक्तप्रत्याख्यान और इंगिनीमरण में 'सविचार' व 'सपरिकर्म' नामक मरणकालिक अनशन तप किया जाता है क्योकि इनमें क्रिया वर्तमान

---

१. अह कालम्मि संपत्ते आघायाय समुस्सयं।
सकाममरणं मरई तिण्हमन्नयरं मुणी॥
—उ० ५.३२.

२. वही, आ० टी०, पृ० २३८.

३. भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ।
—उ० २९.४०.

रहती है। पादोपगमन में क्रिया सम्भव न होने से इसमें 'अविचार' व 'अपरिकर्म' नामक मरणकालिक अनशन तप किया जाता है। यही इन सल्लेखना के भेदों में अन्तर है।

समाधिमरण की अवधि :

यद्यपि सामान्यतौर से समाधिमरण की अधिकतम सीमा १२ वर्ष, न्यूनतम सीमा ६ मास तथा मध्यम सीमा १ वर्ष बतलाई गई है[1] परन्तु यह कथन उनकी अपेक्षा से कहा गया मालूम पड़ता है जो यह जानते हैं कि उनकी मृत्यु कब होगी ? अन्यथा इसकी न्यूनतम सीमा अन्तर्मुहूर्त तथा मध्यम सीमा उच्चतम एवं न्यूनतम सीमा के बीच कभी भी हो सकती है। समाधिमरण का इतना ही तात्पर्य है कि मृत्यु को निकट आया जानकर प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी अभिलाषा के सब प्रकार के आहार का त्याग करके शरीर को चेतनाशून्य कर देना।

समाधिमरण की विधि :

समाधिमरण की बारह वर्ष प्रमाण उच्चतम सीमा को दृष्टि में रखकर उसकी विधि इस प्रकार बतलाई गई है :[2]

सर्वप्रथम साधक गुरु के समीप जाकर प्रथम चार वर्षों में घी, दूध आदि विकृत पदार्थों का त्याग करे। अगले चार वर्षों में नाना प्रकार की तपश्चर्या करे। इसके बाद दो वर्ष

---

१. बारसेव उ वासाइं संलेहुक्कोसिया भवे ।
संवच्छरं मज्झिमिया छम्मासा य जहन्निया ।।
—उ० ३६.२५२.

२. पढमे वासचउक्कम्मि विगई निज्जूहणं करे ।
बिइए वासचउक्कम्मि विचित्तं तु तवं चरे ।।
....
कोडीसहियमायामं कट्टु संवच्छरे मुणी ।
मासद्धमासिएणं तु आहारेणं तवं चरे ।।
—उ० ३६.२५३-२५६.

तथा देखिए—उ० ५.३०-३१.

पर्यन्त क्रमशः एक दिन उपवास (अनशन) और दूसरे दिन नीरस अल्पाहार (आयँबिल–आचाम्ल) करे। तत्पश्चात् ६ मास पर्यन्त कोई कठिन तपश्चर्या न करके साधारण तप करे, फिर ६ मास पर्यन्त कठोर तपश्चर्या करके अन्त में नीरस अल्पाहार लेकर अनशन व्रत को तोड़ दे (पारणा करे)। इसके पश्चात् अवशिष्ट १ वर्ष में कोटिसहित तप (जिस अनशन तप का आदि और अन्त एकसा मिलता हो) करता हुआ एक मास या १५ दिन मृत्यु के शेष रह जाने पर सब प्रकार के आहार का त्याग कर दे। इस विधि में आवश्यकतानुसार समय-सम्बन्धी परिवर्तन किया जा सकता है। यह सामान्य अपेक्षा से उत्कृष्ट सल्लेखना की पूर्ण विधि बतलाई गई है।

समाधिमरण की सफलता :

सल्लेखना की सफलता के लिए आवश्यक है कि सब प्रकार की अशुभ भावनाओं तथा निदान (फलाभिलाषा) आदि का त्याग करके जिनवचन में श्रद्धा की जाए। ग्रन्थ में पाँच प्रकार की अशुभ भावनाएँ बतलाई गई हैं जिनसे जीव सल्लेखना के फल को प्राप्त न करके दुर्गति को प्राप्त करता है।[1] इनके नामादि इस प्रकार हैं :[2]

१. **कन्दर्प भावना** (कामचेष्टा–पुनःपुनः हंसना, मुख आदि को विकृत करके दूसरे को हंसाना आदि), २. **अभियोग भावना** (वशीकरण मन्त्रादि का प्रयोग–विषयसुख की अभिलाषा से वशीकरण मन्त्रादि का प्रयोग करना), ३. **किल्बिषिकी भावना** (निन्दा करना–केवलज्ञानी, धर्माचार्य, संघ, साधु आदि की निन्दा करना), ४. **मोह भावना** (मूढ़ता–शस्त्रग्रहण, विषभक्षण, अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, निषिद्ध वस्तुओं का सेवन आदि करना)

---

१. कंदप्पमाभिओगं च किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च।
एयाउ दुग्गईओ मरणम्मि विराहिया होंति ॥
—उ० ३६.२५७.

तथा देखिए—उ० ३६.२५८-२६८.

२. वही।

और ५. आसुरी भावना (क्रोध करना—निरन्तर क्रोध करना तथा शुभाशुभ फलों का कथन करना)।

समाधिमरण में मृत्यु के समय इन भावनाओं के त्याग से स्पष्ट है कि इस प्रकार का मरण आत्महनन नहीं है। इस प्रकार के मरण को प्राप्त करनेवाला जीव बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त नहीं होता है अपितु दो-चार जन्मों के भीतर सब प्रकार के दुःखों से अवश्य ही मुक्त हो जाता है। यदि कारणवश सब प्रकार के कर्म नष्ट नहीं होते हैं तो महासमृद्धिशाली देवपर्याय की प्राप्ति होती है।[1] इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि सिर्फ मृत्यु के समय सल्लेखना धारण कर लेना चाहिए तथा शेष जीवन में विषयों का भोग करना चाहिए। इसका कारण है कि प्रारम्भ से ही जब सदाचार का अभ्यास किया जाता है तभी जीव इस समाधिमरण को प्राप्त करता है। अतः कहा है कि जो कार्य प्रारम्भ मे (जवानी में) शक्ति के वर्तमान रहने पर किया जा सकता है वह वृद्धावस्था में शरीर के जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर नहीं किया जा सकता है।[2] जो मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) में अनुरक्त हैं, निदानपूर्वक कर्मानुष्ठान करते हैं, हिंसा तथा कृष्णलेश्या में अनुरक्त हैं ऐसे जीव जिनवचन मे श्रद्धा न करके 'अकाम-मरण' (सभयमरण) या बालमरण (मूर्खों की मृत्यु) को बारम्बार प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो सम्यग्दर्शन में अनुरक्त हैं, निदान-सहित कर्मानुष्ठान नहीं करते हैं, शुक्ललेश्या से युक्त हैं तथा जिनवचन मे श्रद्धा रखने हैं वे अल्पसंसारी होते हैं।[3]

---

१. बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे।
पंडियाणं सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे॥
—उ० ५.३.

सव्वदुक्खपहीणे वा देवे वावि महिड्ढिए।
—उ० ५.२५.

२. स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा एसोवमा सासय वाइयाणं।
विसीयई सिढिले आउयम्मि कालोवणीए सरीरस्स भेए॥
—उ० ४ ९.

३. देखिए—पृ० ३६५, पा० टि० १.

इस प्रकार के समाधिमरण से विपरीत जो मरण धन एवं स्त्रियों में मूर्च्छित होकर हिंसादि पाप-क्रियाओं को करते हुए होता है उसे 'बालमरण' या 'अकाममरण' (अनिच्छापूर्वक मरण) कहा गया है। यह मरण जीवों को कई बार प्राप्त होता है क्योंकि इस प्रकार के मरण को प्राप्त करनेवाले जीव गड्डलिकाप्रवाह (जिधर अधिक लोग जाए उसी तरफ बिना सोचे-समझे चल पड़ना) से प्रभावित होकर मिट्टी को एकत्रित करनेवाले शिशुनाग की तरह कर्म-मलों का संग्रह करते हैं।[1] पश्चात् मृत्यु के समय अपने बुरे-कर्मों के फल को स्मरण करके दुःखी होते हैं।[2] अतः इस प्रकार का अकाम-मरण त्याज्य है।

इस तरह यह समाधिमरण या सल्लेखना साधनापथ का चरम केन्द्र-बिन्दु है। यदि साधक इसमें सफल हो जाता है तो वह अपनी सम्पूर्ण साधना का अभीष्टफल प्राप्त कर लेता है अन्यथा वह संसार में भटकता रहता है। समाधिमरण में मृत्यु के समय संसार के सभी विषयों से पूर्ण-विरक्ति आवश्यक है। अतः उस समय आहार आदि सभी क्रियाओं को त्याग दिया जाता है। इस समय साधक को न तो जीवन की आकांक्षा रहती है और न मृत्यु की कामना ही रहती है। इस प्रकार के मरण में शरीर एवं कषायों के कृश किए जाने से इसे 'सल्लेखना', विद्वानों से प्रशंसित होने से 'पण्डितमरण' तथा प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करने से 'सकाम-मरण' कहा गया है। अन्यत्र इसे संथारा (संस्तारक) शब्द से भी कहा गया है क्योंकि इसमें एकान्त-स्थान में तृण-शय्या (संस्तारक) बिछाकर तथा आहारादि का त्याग करके आत्मध्यान किया जाता है।[3] इसके विपरीत अज्ञानियों की अनिच्छापूर्वक होनेवाली मृत्यु 'बालमरण' तथा 'अकाम-मरण' कहलाती है।

---

१. उ० ५.५-७, ९-१०; पृ० ३६६, पा० टि० १.

२. जहा सागडिओ जाणं समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो अक्खे भग्गम्मि सोयई॥
—उ० ५.१४.

तथा देखिए—उ० ५.१५-१६.

३. जैन आचार—डा० मोहनलाल मेहता, पृ० १२०.

अनुशीलन

इस प्रकरण में साधु के विशेष प्रकार के आचार का वर्णन किया गया है जिसके द्वारा जीव पूर्व-बद्ध कर्मों को शीघ्र ही नष्ट करने का प्रयत्न करता है। वह विशेष प्रकार का आचार है—तपश्चर्या। इस तपश्चर्या की पूर्णता के लिए साधक को अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करना पड़ता है जिसे परीषहजय कहा गया है। साध्वाचार का पालन करने की दुष्करता का जो प्रतिपादन किया गया है वह भी इसी तप की अपेक्षा से किया गया है।

तप साधु के सामान्य सदाचार से सर्वथा पृथक् नहीं है अपितु सामान्य सदाचार में ही विशेष दृढ़ता का होना तप है। अतः ग्रन्थ में तप के जो भेद गिनाए गए हैं वे सब साधु के सामान्य आचार से सम्बन्धित हैं। तप साधु के आचार की कसौटी है जिससे उसके आचार की शुद्धता (चोखापन एवं खोटापन) की परख होती है। यद्यपि साधु की प्रत्येक क्रिया तप से अनुस्यूत रहती है परन्तु वे सब क्रियाएँ तप नहीं हैं अपितु कुछ विशेष क्रियाएँ ही विशेष नियमों के कारण तप की कोटि में आती हैं। तप को बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो भागों में विभक्त किया गया है। जो तप केवल बाह्य क्रिया से सम्बन्ध रखता है तथा आभ्यन्तर आत्मा के परिणामों की विशुद्धि में कारण नहीं है वह अभीष्टसाधक तप नहीं है परन्तु इसके विपरीत जो आत्मा के परिणामों की विशुद्धि में कारण है और आभ्यन्तर क्रिया से संबन्ध रखता है वह अभीष्टसाधक है तथा वही वास्तविक तप भी है। इसलिए ग्रन्थ में कई स्थलों पर बाह्य-लिंगादि की अपेक्षा भावलिंगादि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। ऐसा प्रतिपादन करने का कारण यह था कि साधक मात्र बाह्यक्रियाओं तक ही इतिश्री समझते थे और जो जितना अधिक शरीर को कष्ट देने वाला तप करता था वह उतना ही अधिक बड़ा तपस्वी समझा जाता था। अतः यह शरीर को पीड़ित करने वाला तप ही वास्तविक तप नहीं है अपितु ज्ञानादि की प्राप्ति में स ायक तप ही वास्तविक तप है। यह सिद्ध करने के लिए तप को बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो भागों में विभक्त करके आभ्यन्तर तप को श्रेष्ठ बतलाया गया है।

भिक्षाचर्या जो कि साधु का सामान्य आचार है यदि उसी में कुछ विशेष नियम ले लिए जाते हैं तो वह तप की कोटि में आ जाता है। इसी प्रकार भूख से कम खाना, सरस पदार्थों का सेवन न करना तथा सब प्रकार के आहार का त्याग करना ये साधु के आहार से सम्बन्धित तप हैं। इनसे रसना इन्द्रिय पर संयम किया जाता है। ये तप इसलिए भी आवश्यक हैं कि इनसे आहार आदि से सम्बन्धित सूक्ष्म हिंसा आदि दोषों का परिहार किया जा सके। साधु के सामान्य आचार के प्रसंग में उसके लिए एकान्त में निवास करने का विधान किया गया है। अतः साधु यदि विशेषरूप से आत्मध्यानादि के लिए एकान्त-निवास का आश्रय लेता है तो वह भी एक प्रकार का तप (संलीनता) है। पद्मासन, खड्गासन आदि आसनविशेष में स्थिर होना स्पष्ट ही कायक्लेशरूप तप है। इस तरह ये छहों प्रकार के तप बाह्य शारीरिक-क्रिया से सम्बन्धित हैं।

दोषों की प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि, गुरु के प्रति विनय, सेवा-भक्ति, अध्ययन, ध्यान और कायोत्सर्ग ये छः तप अन्तरंग-क्रिया से सम्बन्धित होने के कारण आभ्यन्तर तप कहलाते हैं। इनका आध्यात्मिक महत्त्व तो है ही साथ ही व्यावहारिक महत्त्व भी है। इन आभ्यन्तर तपों में प्रायश्चित्त तप एक प्रकार से अपराधी द्वारा स्वयं स्वीकृत दण्ड है। इससे आचार में लगे हुए दोषों की विशुद्धि होती है। साधु प्रतिदिन 'प्रतिक्रमण आवश्यक' करते समय इस तप को करता ही है। गुरु के प्रति विनय, उनकी सेवा तथा स्वाध्याय ये ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। ध्यान तप से साधक अशुभ-व्यापारों की ओर झुकनेवाली चित्तवृत्ति को रोककर आत्मा के चिन्तन की ओर लगाता है। अतः यह ध्यान तप योगदर्शन में प्रतिपादित चित्तवृत्ति-निरोधरूप समाधिस्थानापन्न है। कायोत्सर्ग तप ध्यानावस्था की प्राप्ति के लिए प्रारम्भिक कर्तव्य है क्योंकि जब तक शरीर से ममत्व को छोड़कर उसे एकाग्र नहीं किया जाएगा तब तक ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस तरह हम देखते हैं कि साधक इन छहों आभ्यन्तर तपों को किसी न किसी रूप में प्रतिदिन अवश्य करता है। इन्हें सामान्य सदाचार से पृथक्

बतलाने का कारण यह है कि साधक अपने सदाचार में प्रमाद न करते हुए शीघ्रातिशीघ्र अपने अभीष्ट फल को प्राप्त कर ले।

इस तपश्चर्या के प्रसंग में योगदर्शन में बतलाई गई समाधि का वर्णन करना अनावश्यक नहीं समझता हूँ क्योंकि यहां पर तपश्चर्या के प्रसग में जो ध्यान का स्वरूप बतलाया गया है वह उससे बहुत मिलता-जुलता है। योगदर्शन में समाधि (योग) के दो भेद हैं : १. सम्प्रज्ञात समाधि और २. असम्प्रज्ञात समाधि।[1] सम्प्रज्ञात समाधि 'सालम्ब' और 'सबीज' होती है[2] क्योंकि इसमें किसी एक विषय पर चित्त को स्थिर किया जाता है। इसके विपरीत असम्प्रज्ञात समाधि 'निरालम्ब' और 'निर्बीज' होती है[3] क्योंकि इसमें चित्त की समस्त वृत्तिया निरुद्ध हो जाती हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय, ध्यान और ध्याता का भेद बना रहता है परन्तु असम्प्रज्ञात में ध्येय, ध्यान और ध्याता एकाकार हो जाते हैं, उनमे भेद परिलक्षित नही होता है। अतः इसे असम्प्रज्ञात-समाधि कहा गया है। यह ध्यान की चरमावस्था है। इस समाधि की अवस्था में पहुंचने पर आत्मा अपनी विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेती है। अतः इसे 'कैवल्य' की अवस्था कहा गया है।[4] ठीक यही स्थिति प्रकृत ग्रन्थ में शुक्लध्यान की है। शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद आलम्बनसहित होने से सम्प्रज्ञात समाधिरूप हैं तथा बाद के दो भेद निरालम्ब एव निर्बीज होने से असम्प्रज्ञात-समाधिरूप हैं। कैवल्य की अवस्था दोनों में समान है। इसके

---

१. देखिए—भा० द० ब०, पृ० ३५८.

२. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।
—पा० यो० १.४१.

ता एव सबीजः समाधिः।
—पा० यो० १ ४६.

३. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।
—पा० यो० १ ५१.

४. तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्ध केवली मुक्त इत्युच्यत इति।
—वही, भाष्य, पृ० ५०.

अतिरिक्त ध्यान और समाधि के अन्य अवान्तर भेदों में किञ्चित् भिन्नता होने पर भी काफी समानता है तथा नामों में भी एकरूपता है जो स्वतंत्र चिन्तन का विषय है।

इस तपश्चरण में मुख्यरूप से जिन बाधाओं का सामना करना पड़ता है उन्हें ग्रन्थ में परीषह शब्द से कहा गया है। यद्यपि इनकी संख्या २२ बतलाई गई है परन्तु इनकी इयत्ता सीमित नहीं है क्योंकि परिस्थिति के अनुसार इनकी संख्या में अन्तर हो सकता है। इन सभी परीषहों के आने पर भी अपने कर्त्तव्य से च्युत न होना परीषहजय है। साधना के पथ में प्राय: एक साथ कई परीषह आया करते हैं। इन पर विजय पाने पर ही तप की सफलता निर्भर करती है। यदि साधक इन पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता है तो वह अपने तप से च्युत हो जाता है और अभीष्ट फल को प्राप्त नहीं करता है। अत: ये तप की सत्यता की जांच के लिए कसौटीरूप हैं।

इस तरह जीवनपर्यन्त तपोमय जीवन-यापन करते रहने पर भी यदि साधु मृत्यु के समय एक निश्चित अनशनरूप तपविशेष (समाधिमरण या सल्लेखना) का अनुष्ठान नहीं करता है तो उसे अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती है। मृत्युसमय जोकि तपश्चर्या की फलप्राप्ति का चरमबिन्दु है, यदि साधु पूर्ववत् अडिग रहकर अनशन तपपूर्वक (सल्लेखनापूर्वक) शरीर का त्याग करता है तो अभीष्ट फल को प्राप्त कर लेता है। इसके द्वारा ग्रन्थ में 'अन्त भला सो सब भला' वाली कहावत को चरितार्थ किया गया है। मृत्यु के समय अनशन तप इसलिए आवश्यक है कि साधु पूर्ण विरति की अवस्था को प्राप्त कर ले। यह अनशन द्वारा शरीरत्याग आत्महनन नहीं है अपितु मृत्यु जैसे भयानक उपसर्ग के आने पर भी हंसते हुए वीरों की तरह प्राणों का त्याग कर देना है। साधु को इस समय अपने प्राणों से भी मोह नहीं रहता है और वह हंसते हुए मृत्यु का स्वागत करता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह मृत्यु की प्रार्थना करता है अपितु जीवन और मृत्यु की कामना न करता हुआ प्रसन्नतापूर्वक शरीर का उत्सर्ग कर देता है। इससे एक प्रकार के आत्मबल की प्राप्ति होती है। मृत्यु के समय भी अपने कर्त्तव्यपथ पर पूर्ण दृढ़ रहना और समस्त प्रकार के आहार-पान आदि का

त्याग करके आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करना इस समाधि-मरण का लक्ष्य है।

इस तरह साधु का सम्पूर्ण जीवन वीरों की तरह वीरतापूर्वक व्यतीत होता है। इसीलिए ग्रन्थ में साधु-धर्म की संग्रामस्थ वीर राजा के कर्त्तव्यों से तुलना की गई है।[1] अतः जिसमें आत्मबल है वही इसका पालन कर सकता है, शेष इसके पालन करने में असमर्थ हैं। इससे सिद्ध है कि यह साधु-धर्म संसार के दुःखों को सहन न कर सकने के कारण पलायन नहीं है, अपितु एक प्रकार का कषायरूपी शत्रुओं के साथ युद्ध है। कषायरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके कर्मबन्धन को तोड़ना इस तपश्चर्या का प्रयोजन है। जिस प्रकार युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये कठोर परिश्रम करना पड़ता है उसी प्रकार साधु को भी कषायरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक तपश्चर्या का आश्रय लेना पड़ता है। प्राय. सभी भारतीय धर्मों में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है और तपश्चर्या पर महत्त्व दिया गया है।

इस प्रकार ऊपर जो साधु का आचार आदि से अन्त तक बतलाया गया है वह कितना दुष्कर है, प्रत्येक जिज्ञासु समझ सकता है। ग्रन्थ में इसकी कठिनता का प्रतिपादन संवादों के रूप में बहुत्र किया गया है। इसकी दुष्करता का कथन विशेषकर उनके लिए है जो सुकुमार तथा विषयासक्त हैं परन्तु जो सुव्रती, तपस्वी, कर्मठ तथा विषयाभिलाषा से रहित हैं उनके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।[2] ग्रन्थ में इसकी दुष्करता के कुछ दृष्टान्त भी दिए गए हैं।[3] जैसे : १. लौहभार-वहन, २. गंगा का स्रोत अथवा प्रति-स्रोत-निरोध, ३. भुजाओं से समुद्र-सन्तरण, ४. बालू के ग्रास का भक्षण, ५. तलवार की धार पर गमन, ६. लोहे के चनों का चर्वण,

---

१. देखिए— क्षत्रिय का परिचय, प्रकरण ७.

२. इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किंचिवि दुक्करं।
—उ० १९.४५.

३. गुरुओ लोहभारव्व......होइ दुक्खहो।
—उ० १९.३६.

तथा देखिए—उ० १९.३७-४३.

७. सर्प की एकाग्र दृष्टि, ८. प्रज्वलित अग्निशिखा का पान, ९. वायु से थैला भरना तथा १०. तराजू से मेरुपर्वत का तोलना। इस तरह जैसे उपर्युक्त बातें दुष्कर एवं असंभव-सी हैं उसी प्रकार साध्वाचार का पालन करना भी कठिन है।

इस दुष्कर साध्वाचार का पालन करने वाला सच्चा साधु भाई-बन्धु, माता-पिता, राजा तथा देवेन्द्र आदि से भी स्तुत्य हो जाता है।[1] यहाँ तक कि उसका प्रत्येक अंग पूजनीय हो जाता है।[2] वह सबका नाथ हो जाता है।[3] कठिनता से प्राप्त होने वाली मुक्ति सुलभ हो जाती है क्योंकि दीक्षा का प्रयोजन सांसारिक विषयों की प्राप्ति न होकर मुक्तिरूप परमसुख की प्राप्ति है। इसके अतिरिक्त मुक्ति का साधक साधु पुण्य-क्षेत्रवाला कहलाता है और उसे दिया गया दान भी पुण्य-फलवाला होता है।[4] तपादि के प्रभाव से उन्हें अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति हो जाती है। इन अलौकिक शक्तियों के प्रभाव से वे कुपित होने पर सम्पूर्ण लोक को भस्म करने तथा अनुग्रह से इच्छित फल को देने की सामर्थ्यवाले होते हैं।[5] उनके संयम की प्रशंसा में लिखा है कि इनका संयम प्रतिदिन

---

१. देखिए—पृ० २५४, पा० टि० १; उ० २२.२७; ९.५५-६०; १२.२१; २०.५५-५६; २५.३७; ३५.१८.

२. अच्चेमु ते महाभाग न ते किंचि न अच्चिमो।

—उ० १२.३४.

३. देखिए—पृ० १९६, पा० टि० २-३.

४. आराहए पुण्णमिणं खु खित्तं।

—उ० १२.१२.

तहियं गंधोदय पुप्फवासं दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा।
पहयाओ दुंदुहीओ सुरेहिं आगासे अहो दाणं च घुट्ठं॥

—उ० १२.३६.

५. महाजसो एस महाणुभावो घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।
मा एयं हीलेह अहीलणिज्जं मा सव्वे तेएण मे निद्दहेज्जा॥

—उ० १२.२३.

जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा लोगंपि एसो कुविओ डहेज्जा।

—उ० १२.२८.

दस लाख गौदान से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है।[1] इस तरह यह साध्वाचार का मार्ग विशुद्ध एवं कण्टकादि से रहित राजमार्ग है[2] तथा दुष्कर हो करके भी सुखावह है।[3] यही साधु का सदाचार है और यही तप।

★

---

१. जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ अदितस्स वि किंचण ॥
—उ० ९.४०.

२. अवसोहिय कंटगापहं ओइण्णोऽसि पहं महालयं।
—उ० १०.३२.

३. भिक्खवत्ती सुहावहा।
—उ० ३५.१५.

तथा देखिए—उ० ९ १६.

प्रकरण ६

मुक्ति

सब प्रकार के कर्मबन्धन से छुटकारा पाना मुक्ति है। अन्य भारतीय धार्मिक ग्रन्थो की तरह उत्तराध्ययन का भी चरम लक्ष्य जीवों को मुक्ति की ओर अग्रसर करना है। पहले बतलाए गए नौ प्रकार के तथ्यों में यह अन्तिम तथ्य है।

मुक्ति के अर्थ में प्रयुक्त कुछ शब्द :

प्रकृत ग्रन्थ में मुक्ति के अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाले कुछ शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनसे उसके स्वरूप के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

१. **मोक्ष**[1] - 'मुच्' धातु से मोक्ष बनता है। मोक्ष शब्द का अर्थ है—किसी से छुटकारा प्राप्त करना। अध्यात्मविषय होने से यहाँ पर संसार के बन्धनभूत कर्मों से छुटकारा अभिप्रेत है। जीव का कर्मों के बन्धन से छुटकारा होता है तथा कर्मबन्धन से रहित स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित जीव को 'मुक्त जीव' कहा गया है। अतः मोक्ष का अर्थ हुआ—'सब प्रकार के बन्धन से रहित जीव द्वारा स्व-स्वरूप की प्राप्ति।'

२ **निर्वाण**[2] इसका अर्थ है—समाप्ति। यहा पर समाप्ति से तात्पर्य चेतन के अभाव से नहीं है क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति होने पर चेतन का विनाश नहीं होता है अपितु उसे स्व-स्वरूप की प्राप्ति होती है। अतः यहां पर निर्वाण का अर्थ है—'कर्मजन्य सांसारिक

---

१. बंधमोक्खपइण्णिणो।

—उ० ६.१०.

२. नायए परिनिव्वुए।

—उ० ३६.२६६.

नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।

—उ० २८.३०.

अवस्थाओं का सदैव के लिये समाप्त हो जाना'। बौद्धदर्शन में यह मुक्ति-वाचक प्रचलित शब्द है। परन्तु वहाँ अर्थ भिन्न है।

३. बहिःविहार[1]—यहाँ पर विहार शब्द का अर्थ है—जन्म-जरा-मरण से व्याप्त ससार। अतः बहिःविहार का अर्थ हुआ—ससार के आवागमन से रहित स्थान या जन्म-मरणरूप संसार से बाहर। मोक्ष की प्राप्ति हो जाने के बाद जीव का संसार में आवागमन नही होता है। अतः उसे बहिःविहार कहना उपयुक्त ही है।

४. सिद्धलोक[2]—मोक्ष को प्राप्त होनेवाला जीव सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होकर अपने अभीष्ट को प्राप्त (सिद्ध) कर लेता है। अतः मुक्त होनेवाले जीवों को 'सिद्ध' तथा जहाँ उनका निवास है उसे 'सिद्धलोक' (सिद्धशिला) कहा गया है।

५. आत्मवसति[3]—मुक्त होने का अर्थ है—आत्मस्वरूप की प्राप्ति। अतः आत्मवसति या आत्मप्रयोजन की प्राप्ति का अर्थ है—मोक्ष की प्राप्ति।

६. अनुत्तरगति[4], प्रधानगति[5], वरगति[6] व सुगति[7]—सामान्य-रूप से चार गतियाँ मानी गई हैं जो ससारभ्रमण में कारण हैं परन्तु

---

१. बहिं विहाराभिनिविट्ठचित्ता।

—उ० १४.४.

ससारपारनित्थिण्णा।

—उ० ३६.६७.

२. देखिए—पृ० ५७, पा० टि० १; उ० २३.८३; १०.३५.

३. अप्पणो वसहिं वए।

—उ० १४.४८.

तथा देखिए—उ० ७.२५.

४. पत्तो गई मणुत्तरं।

—उ० १८.३८.

तथा देखिए—उ० १८.३९-४०, ४२-४३, ४८ आदि।

५. गइप्पहाणं च तिलोयविस्सुतं।

—उ० १९.९८.

६. सिद्धि वरगइं गया।

—उ० ३६.६७.

७. जंता गच्छति सोग्गइं।

—उ० २८.३.

मोक्ष ऐसी गति है जिसे प्राप्त कर लेने पर पुन: संसार में आवागमन नहीं होता है। इससे श्रेष्ठ कोई गति नहीं है। अत: इसे 'अनुत्तरगति' कहा गया है। देव और मनुष्यगति को जो ग्रन्थ में कहीं-कहीं 'सुगति' कहा गया है वह संसारापेक्षा से है। वस्तुत: सुगति मोक्ष ही है और यह संसार की चार गतियों से भिन्न होने के कारण 'पंचमगति' है।

७ **ऊर्ध्वदिशा**[1]—मुक्तजीव स्वभाव से ऊर्ध्वगमन वाले हैं और वे जहाँ निवास करते हैं वह स्थान लोक के ऊपरी भाग में है। अत: ऊर्ध्वदिशा में गमन का अर्थ है—मोक्ष की प्राप्ति। तत्त्वार्थसूत्र में मुक्तात्माओं के ऊर्ध्वगमन स्वभाव के विषय में कुछ दृष्टान्त दिए गए हैं।[2] यह ऊर्ध्वगमन लोक के अग्रभाग तक ही होता है क्योंकि अलोक मे किसी भी तत्त्व की सत्ता नही मानी गई है।

८. **दुरारोह**[3]—मुक्ति प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होने से इसे 'दुरारोह' कहा गया है।

९. **अपुनरावृत्त और शाश्वत**[4]—यहाँ आने के बाद जीव पुन: कभी भी संसार में नहीं आता है। अत: मुक्ति 'अपुनरावृत्त' है तथा नित्य होने से 'शाश्वत' (ध्रुव) भी है।

---

१. उड्ढं पक्कमई दिसं।

—उ० १९.८३.

२. पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च। आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च।

—त० सू० १०.६-७.

३. अत्थि एगं धुवं ठाणं लोगग्गम्मि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरामच्चू वाहिणो वेयणा तहा॥

—उ० २३.८१.

निव्वाणंति अबाहंति सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणाबाहं जं चरंति महेसिणो॥

—उ० २३.८३.

४. वही; उ० २९.४४; २१.२४ आदि।

१०. अव्याबाध[1]—सब प्रकार की बाधाओं से रहित होने से तथा अत्यन्त सुखरूप होने से इसे 'अव्याबाध' कहा गया है।

११. लोकोत्तमोत्तम[2]—तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ होने से इसे लोकोत्तमोत्तम कहा गया है।

मोक्ष में जीव की अवस्था :

मुक्ति की अवस्था जरा-मरण से रहित, व्याधि से रहित, शरीर से रहित, अत्यन्त दुःखाभावरूप, निरतिशयसुखरूप, शान्त, क्षेमकर, शिवरूप, घनरूप, वृद्धि-ह्रास से रहित, अविनश्वर, ज्ञानरूप, दर्शनरूप (सामान्यबोध), पुनर्जन्मरहित तथा एकान्त अधिष्ठानरूप है।[3]

इस मुक्तावस्था को प्राप्त आत्मा स्व-स्वरूप को प्राप्त कर लेने के कारण परमात्मा बन जाती है। आत्मा और परमात्मा में भेद मिट जाता है। दोनों समान स्थितिवाले होकरके पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते है, अद्वैत-वेदान्त की तरह एकरूप नहीं हो जाते हैं। ज्ञान और दर्शनरूप चेतना जो कि जीव का स्वरूप है उसका अभाव नही होता है क्योंकि ऐसा होने पर जीवपने का ही अभाव हो जाएगा और सत् द्रव्य का भी विनाश होने लगेगा। अत. इस

---

१. वही, उ० २९.३.

२. लोगुत्तमुत्तम ठाणं।
—उ० ९.५८.
तथा देखिए—उ० २०.५२.

३. अरुविणो जीवघणा नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहमपत्ता उवमा जस्स नत्थि उ ॥
—उ० ३६.६६
तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।
—उ० २९.२८.
एगंत अहिट्ठिओ भयवं।
—उ० ९.४.
तथा देखिए—उ० २९.४१,५८; पृ० ३७७, पा० टि० ३.

अवस्था को शुद्ध ज्ञान एवं दर्शनरूप कहा गया है। यहाँ 'दर्शन' का अर्थ 'श्रद्धा' नहीं है जैसाकि याकोबी ने अपने अनुवाद में लिखा है।[1] अपितु दर्शनावरणीय कर्म के अभाव से प्रकट होनेवाला सामान्यबोधरूप आत्मा का स्वाभाविक गुण है। 'श्रद्धा' दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होनेवाला गुण है जो मोहाभावरूप है। कर्मों का पूर्ण अभाव हो जाने से तज्जन्य शरीर, जरा-व्याधि, रूप, दुःख, वृद्धि-ह्रास आदि कुछ भी नहीं रहता है क्योंकि ये सब कर्मों के सम्पर्क से होते हैं। भौतिकशरीर एवं रूपादि के न होने पर भी जीव का अभाव नहीं हो जाता है। अतः उसे घनरूप कहा गया है। घनरूप कहने का तात्पर्य यह है कि मोक्ष अभावरूप नहीं है अपितु भावात्मक है। मुक्त होने के पूर्व जीव जिस शरीर से युक्त होता है उस शरीर का जितना आकार (ऊंचाई एवं चौड़ाई) होता है उससे तृतीयभाग न्यून (ऊँचाई आदि का) विस्तार (अवगाहना) सभी मुक्त जीवों का होता है[2] क्योंकि शरीर न होने से मुक्तावस्था में नासिका आदि के छिद्रभाग घनरूप हो जाते हैं।

शरीर-प्रमाण—जीव के स्वरूप के प्रसंग में बतलाया गया था कि जीव जैसा शरीर का आकार प्राप्त करता है उसी के अनुसार संकोच एवं विस्तार को प्राप्त कर लेता है। अतः यहाँ यह शंका होना स्वाभाविक है कि तब तो मुक्त जीवों के कोई शरीर न होने से आत्मप्रदेशों को या तो सघन होकर अणुरूप हो जाना चाहिए या सर्वत्र फैल जाना चाहिए, फिर क्या कारण है कि मुक्तात्माओं का विस्तार पूर्वजन्म के शरीर की अपेक्षा तृतीयभाग न्यून बतलाया गया है? इसका कारण यह है कि संसारावस्था में जीव को शरीर-प्रमाण माना गया है, न अणुरूप और न व्यापक। अतः आवश्यक हो जाता है कि मुक्तावस्था में भी जीव को सर्वथा अणुरूप या व्यापक न मानकर कुछ विस्तारवाला माना जाए।

---

१. उ० ३६.६६-६७ (से० बु० ई०, भाग-४५).

२. उस्सेहो जस्स जो होइ भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणो तत्तो य सिद्धाणोगाहणा भवे॥
—उ० ३६.६४.

आत्मा में जो संकोच-विकास माना गया है वह कर्मजन्य शरीर के फलस्वरूप माना गया है। मुक्तात्माओं के शरीर न होने से तज्जन्य संकोच-विकास का होना भी संभव नहीं है। अतः मुक्तात्माओं की आकृति (अवगाहना) आदि की कल्पना अन्तिमजन्म के शरीर के आधार पर की गई है। यद्यपि ये मुक्त जीव रूपादि से रहित होते हैं तथापि जो यह आत्मप्रदेशों के विस्तार की कल्पना की गई है वह आकाशप्रदेश में ठहरे हुए आत्मा के अदृश्य प्रदेशों की अपेक्षा से है। अमूर्त होने से एक आत्मा के प्रदेशों में अन्य आत्मा के प्रदेश भी रह सकते हैं।

सुख—'कर्म' के प्रकरण में बतलाया गया था कि सुख एवं दुःख का अनुभव अपने संचित वेदनीय कर्मों के अनुसार होता है। अतः शंका होती है कि जब ये मुक्तात्माएँ कर्मरहित हैं तो फिर उन्हें सुख का अनुभव कैसे होता है ? सुख और दुःख के कर्मजन्य होने से कर्मरहित मुक्तात्माओं में दुःखाभाव की तरह सुख का भी अभाव मानना चाहिए। इसके उत्तर में यह कहना पर्याप्त है कि मुक्तात्माओं में जो सुख की कल्पना की गई है वह अलौकिक सुख है, न कि वेदनीय कर्मजन्य सांसारिक सुख। अतः ग्रन्थ में इस सुख को अनुपमेय सुख कहा गया है।[1] मुक्तात्माओं के शरीर एवं इन्द्रियादि न होने से उनका सुख कर्मजन्य नहीं हो सकता है। आत्मा का स्वभाव सुखरूप मानने से तथा मानव की प्रवृत्ति सुखप्राप्ति की ओर होने से मोक्षावस्था में अविनश्वर एवं अनुपमेय सुख की कल्पना की गई है। यहाँ पर वस्तुतः सब प्रकार का दुःखाभाव ही अलौकिक सुखानुभव है क्योंकि जीव अपनी-अपनी अनुभूति के अनुसार ही सुख एवं दुःख की कल्पना करता है। जहाँ कोई इच्छा ही नहीं वहाँ दुःख कहाँ ? जहाँ किसी विषय की इच्छा है वहीं दुःख है और जहाँ पूर्णता है वहाँ मानो तो अलौकिक सुख है और न मानो तो सुख एवं दुःख कुछ भी नहीं है। यह मुक्ति पूर्ण निष्काम की अवस्था है। दुःखाभाव होने से तथा जीव का स्वरूप सुखस्वभाव मानने से यहाँ अलौकिक सुख की कल्पना की गई है।

१. देखिए—पृ० ३७७, पा० टि० ३-४.

मुक्तात्माओं में चेतना के वर्तमान रहने से उनकी दुःखाभाव एवं सुखाभावरूप पाषाणवत् स्थिति नहीं कही जा सकती है। अतः इन्हें शान्त, शिवरूप एवं सुख की अवस्थावाला कहा गया है। इस अवस्था का कभी भी न तो विनाश होता है और न परिवर्तन। अतः इस अवस्था को अविनश्वर कहा गया है। अविनश्वर होने पर भी स्वाभाविकरूप से द्रव्य में होनेवाला उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यरूप परिणमन तो होता ही रहता है क्योंकि यह तो द्रव्य का स्वभाव है जो प्रत्येक द्रव्य में होता है, परन्तु वृद्धि-ह्रासरूप असमानाकार परिणमन नहीं होता है।

मुक्तों के ३१ गुण :

ग्रन्थ के चरणविधि नामक इकतीसवें अध्ययन में सिद्ध जीवों के ३१ अतिशय गुण बतलाए गए हैं।[१] परन्तु वहाँ उनके नामों को नहीं गिनाया गया है। टीका-ग्रन्थों में दो प्रकार से इनकी संख्या गिनाई गई है जिन्हें देखने से प्रतीत होता है कि ये सभी गुण अभावात्मक हैं। मुक्त जीव सब प्रकार के कर्मों तथा रूपादि से रहित होते हैं। अतः प्रथम प्रकार में अमूर्तत्व की अपेक्षा से तथा द्वितीय प्रकार में कर्माभाव की अपेक्षा से मुक्त जीवों के गुणों की गणना की गई है।[२] इन दोनों प्रकारों में कोई खास अन्तर नहीं है क्योंकि मुक्त जीव सब प्रकार के कर्मों से तथा रूपादि से रहित होते हैं। कर्मादि से रहित होने के कारण उनके पुनर्जन्म आदि का भी प्रश्न नहीं उठता है।

---

१. सिद्धाइगुणजोगेसु ………. ।

—उ० ३१.२०.

२. सिद्धों के ३१ गुणों के दो प्रकार ये हैं :

प्रथम प्रकार—पाँच संस्थानाभाव, पाँच वर्णाभाव, दो गन्धाभाव, पाँच रसाभाव, आठ स्पर्शाभाव, तीन वेदाभाव (पुरुष, स्त्री और नपुंसकलिंग से रहित), अकायत्व, असंगत्व तथा अजन्मत्वरूप।

द्वितीय प्रकार—पाँच ज्ञानावरणीय, नव दर्शनावरणीय, दो वेदनीय, दो मोहनीय, चार आयु, दो गोत्र, दो नाम तथा पाँच अन्तराय कर्माभावरूप।

—वही, टीकाएँ।

सादिमुक्तता :

ऐसा कोई भी काल न था, न है और न होगा जब जीव मोक्ष प्राप्त न करते हों। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित है कि कोई भी जीव अनादिमुक्त नही है क्योकि मुक्तावस्था के पूर्व संसारावस्था अवश्य स्वीकार की गई है। ग्रन्थ में इसीलिए मुक्त जीवों को उत्पत्ति की अपेक्षा से 'सादि' तथा इस अवस्था का कभी भी विनाश न होने से 'अनन्त' कहा है।[1] समुदाय की अपेक्षा से मुक्त जीवों की उत्पत्ति जो अनादि कही गई है[2] उसका यह तात्पर्य नही है कि कुछ ऐसे भी जीव हैं जो कभी भी संसारी न रहे हों। इसका सिर्फ इतना ही तात्पर्य है कि बहुत से मुक्त जीव ऐसे भी हैं जिनकी उत्पत्ति का प्रारम्भिक काल नहीं बतलाया जा सकता है। इस अनादि काल में मुक्त जीव कब नहीं थे यह बतलाना मानव की कल्पना के परे होने से उन्हें अनादि कहा गया है, परन्तु वे सब किसी समय-विशेष मे ही मुक्त हुए हैं क्योंकि अनादि मुक्त मानने पर सृष्टिकर्ता ईश्वर की भी कल्पना करनी पड़ती जो अभीष्ट नही है। इसके अतिरिक्त मुक्त जीवों को सर्वथा अनादि मानने पर स्वयं के उत्थान एव पतन में व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त पुष्ट नही होगा।

मुक्तात्माओं का निवास :

मुक्तात्माओं का निवास लोक के उपरितमभाग में माना गया है। यह लोकाग्रवर्ती 'सिद्धशिला' के नाम से प्रसिद्ध है।[3] जीव ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला है और यह ऊर्ध्वगमन लोकान्त तक ही सम्भव हो सकता है क्योंकि अलोक में गति आदि में सहायक धर्मादि द्रव्यों का सद्भाव स्वीकार नहीं किया गया है। यद्यपि मुक्तात्माएँ सर्वशक्तिसम्पन्न होने से गति में सहायक धर्मादि द्रव्यों का अभाव होने पर भी अलोक में जा सकती हैं परन्तु उन्हें कोई

---

१. एगत्तेण साइया ''''' पुहुत्तेण अणाइया।

—उ० ३६.६६.

२. वही।

३. देखिए—पृ० ५६, पा० टि० ३; पृ० ५७, पा० टि० १.

अभिलाषा न होने से वे लोक की सीमा का उल्लंघन नहीं करती हैं। ये मुक्तात्माएँ वहीं पर स्थित होकर लोकालोक को जानती हैं। ऐसी व्यवस्था न मानने पर मुक्तात्माएँ ऊर्ध्वगमनस्वभाव होने के कारण अविराम आगे बढ़ती चली जातीं और एक क्षण पश्चात् मुक्त हुई आत्मा पूर्ववर्ती मुक्तात्माओं से हमेशा पीछे रहती। अतः लोकाग्रभाग में ही मुक्तात्माओं का निवास माना गया है।

मुक्ति किसे, कब और कहाँ से ?

ग्रन्थ में मुक्ति का द्वार के लिए जीवों सभी क्षेत्रों में तथा सभी कालों में खुला हुआ है। एक समय में अधिक से अधिक जीव कितनी संख्या में एक साथ मुक्त हो सकते हैं, इस विषय में ग्रन्थ में निम्नोक्त प्रकार के संकेत मिलते हैं :[1]

मुक्त होनेवाले जीव	अधिकतम संख्या	मुक्त होनेवाले जीव	अधिकतम संख्या
पुरुष	१०८	शरीर की सबसे कम अवगाहना वाले	४
स्त्री	२०		
नपुंसक	१०	मध्यम अवगाहना वाले	१०८
जैन साधु (स्व-लिंगी)	१०८	ऊर्ध्वलोक से	४
जैनेतर साधु (अन्य-लिंगी)	१०	मध्यलोक (तिर्यक्लोक) से	१०८
गृहस्थ	४	अधोलोक से	२०
शरीर की सर्वाधिक अवगाहना (ऊँचाई) वाले	२	नदी आदि जलाशयों से	३
		समुद्र से	२

इन आँकड़ों को देखने से पता चलता है कि मुक्त होने की सर्वाधिक योग्यता मध्यलोकवर्ती मध्यम शरीर की अवगाहना वाले पुरुष-लिङ्गी जैन साधु में है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि वीतरागता की पूर्णता जिस जीव को जिस स्थान में जिस प्रकार के छोटे-बड़े शरीर के वर्तमान रहने पर हो जाए वह उसी स्थान से और उसी शरीर से मुक्त हो सकता है। यहाँ पर

1. उ० ३६.४९-५४.

देव, नरक एवं तिर्यञ्च गति से मुक्त होने वाले जीवों की संख्या का विशेषरूप से उल्लेख न करके सामान्यरूप से पुरुष, स्त्री व नपुंसक लिङ्गी का उल्लेख किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्यगति का जीव ही सीधा मुक्त हो सकता है, अन्य देवादि गतिवाले जीव मनुष्यपर्याय-प्राप्ति के बाद ही मुक्त हो सकते हैं। इसीलिए सर्वार्थसिद्धि वाले देव को भी मनुष्यपर्याय की प्राप्ति के बाद ही मुक्ति का अधिकारी बतलाया है। ऊर्ध्वलोक एवं अधोलोक से मुक्त की संख्या का जो कथन किया गया है वह वहाँ पर वर्तमान मनुष्यगति के जीवों की स्थिति की अपेक्षा से ही है जो किसी कारणवश वहाँ पहुँच गए हैं। इस तरह मनुष्य को ही साक्षात् मुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी बतलाया गया है। यद्यपि अन्य गति के जीव भी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं परन्तु इसके लिए उन्हें पहले मनुष्यगति में आना पड़ेगा। दिगम्बर-परम्परा में सिर्फ मनुष्यगति की पुरुषजाति को ही इसका साक्षात् अधिकारी बतलाया गया है, स्त्री एवं नपुंसकलिङ्गी को नही।[1]

गृहस्थ एव जैनेतर साधु को जो मुक्ति का अधिकारी बतलाया गया है वह बाह्य उपाधि की अपेक्षा से है क्योंकि भावात्मना तो सभी को पूर्ण वीतरागी होना आवश्यक है। गृहस्थ और जैनेतर साधुओं में विरले ही कोई जीव होते हैं जो मुक्ति को प्राप्त करते हैं। अतः एक समय मे अधिक से अधिक मुक्त होने वाले ऐसे जीवो की संख्या जैन साधुओं की अपेक्षा कम बतलाई गई है। यहाँ पर एक समय में अधिक से अधिक सिद्ध होने वाले जीवों की जो संख्या बतलाई गई है वह इस अर्थ में है कि यदि एक ही काल में जीव अधिक से अधिक संख्या में सिद्ध हों तो १०८ ही हो सकते हैं, इससे अधिक नहीं। कम से कम कितने सिद्ध होंगे इस विषय में कोई संख्या नियत नहीं है। अतः सम्भव है कि किसी समय एक भी जीव सिद्ध न हो, जैसा कि जैन-ग्रन्थों में माना गया है।[2]

---

१. भुङ्क्ते न केवली न स्त्रीमोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह॥
—जिनदत्तसूरि, उद्धृत, भा० द० ब०, पृ० ११६.

२ त० सू०, पं० कैलाशचन्द्रकृत टीका, पृ० २३८.

इनकी संख्या इतनी ही निश्चित क्यों की गई है इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता है परन्तु जैनधर्म में १०८ की संख्या धार्मिक-क्रियाओं में महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

मुक्त जीवों की एकरूपता :

मुक्त जीवों में किसी प्रकार का भेद नहीं है क्योंकि सभी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सकलकर्मों के बन्धन से रहित, अशरीरी तथा अनुपमेय सुखादि से युक्त हैं, फिर भी ग्रन्थ में मुक्त जीवों के जो अनेक भेदों का उल्लेख किया गया है वह अन्तिम जन्म की उपाधि की अपेक्षा से है। जैसे : पुरुष, स्त्री आदि की पर्याय से मुक्त होने वाले जीव।[1] तत्त्वार्थसूत्र में इस विषय में एक सूत्र है जिसमें बतलाया है कि सिद्धों में किकृत भेद सम्भव है।[2] वास्तव में सिद्ध जीवों के अशरीरी होने से पुरुष, स्त्री, नपुंसक आदि का भेद नहीं है।

जीवन्मुक्ति :

ग्रन्थ में जीवन्मुक्ति की सत्ता को स्वीकार किया गया है। जीवन्मुक्ति का अर्थ है—जो अभी पूर्ण मुक्त तो नहीं हुए हैं परन्तु शीघ्र ही नियम से मुक्त होने वाले हैं अर्थात् संसार में रहते हुए भी जिनका संसार-भ्रमण रुक गया है और जो सशरीरी अवस्था में ही पूर्ण मुक्ति के द्वार पर खड़े हुए हैं। ग्रन्थ में जीवन्मुक्ति को संसार-रूपी समुद्र के तीर (किनारा) की प्राप्ति तथा पूर्ण मुक्ति (विदेह-मुक्ति को 'पार' (संसार-समुद्र के उस पार) की प्राप्ति बतलाया गया है।[3] विदेहमुक्ति का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अब यहाँ ग्रन्थानुसार जीवन्मुक्ति का वर्णन किया जाएगा।

ग्रन्थ में जीवन्मुक्ति के तथ्य—जब केशिकुमार मुनि गौतम मुनि से पूछते हैं- 'संसार में बहुत से जीव पाशबद्ध दिखलाई देते हैं परन्तु तुम मुक्तपाश एवं लघुभूत होकर कैसे विचरण (विहार) करते हो? तब गौतम मुनि केशिमुनि से कहते हैं—'हे मुने! मैं उन सभी

१. देखिए—पृ० ३८३.

२ क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्प-बहुत्वतः साध्यः।

—त० सू० १०.९.

३. उ० १०.३४; पृ० ३७९, पा० टि० १.

पाशों को छेद करके और उपायपूर्वक विनष्ट करके मुक्तपाश एवं लघुभूत होकर विहार करता हूँ।' केशिमुनि के द्वारा पुनः उन पाशों के विषय में पूछने पर गौतम मुनि कहते हैं—'अत्यन्त भयंकर राग-द्वेषादिरूप स्नेहपाशों का विधिपूर्वक छेदन करके यथाक्रम से विहार करता हूँ।'[१] यहाँ पर संसार के सभी जीवों को पाशबद्ध न कहकर बहुत से जीवों को पाशबद्ध कहना तथा गौतम मुनि को 'मुक्तपाश' एवं 'लघुभूत' कहना यह सिद्ध करता है कि संसार में कुछ ऐसे भी जीव हैं जो बन्धन से रहित (पाशमुक्त) हैं जिनमें एक गौतम मुनि भी हैं। अतः जो पाशमुक्त एवं कर्मरज के हट जाने से लघुभूत हैं वे सभी 'जीवन्मुक्त' हैं। रागद्वेषवश विषय-भोगों के प्रति की गई आसक्ति (स्नेह या मोह) ही पाश है और जो रागद्वेष से रहित होकर वीतरागी हैं वे सभी मुक्तपाश हैं। ब्राह्मण का लक्षण बतलाते हुए ग्रन्थ में ब्राह्मण को 'प्राप्तनिर्वाण' (जिसने निर्वाण को प्राप्त कर लिया है) कहा गया है।[२] इससे भी 'जीवन्मुक्त' का ग्रहण होता है।

इस तरह सिद्ध है कि ग्रन्थ मे जीवन्मुक्तो की सत्ता में विश्वास है। ये जीवन्मुक्त जल से भिन्न कमल की तरह संसार में रहकरके भी उससे अलिप्त रहते हैं। ये जीवन्मुक्त जीव ही प्राणिमात्र के लिए हितोपदेष्टा हैं क्योंकि विदेहमुक्त (सिद्ध) जीवों की ससार में स्थिति न होने से तथा सभी प्रकार की इच्छाओं से रहित होने से वे हितोपदेष्टा नहीं होते हैं अपितु वे अपने पहले किए गए शुभ-कार्यों से ही जीवो के पथ-प्रदर्शक होते हैं। इस तरह प्राणिमात्र के कल्याण के लिए हितोपदेश देने के कारण जीवन्मुक्तों को जैन-ग्रन्थों में सिद्धों की अपेक्षा पहले नमस्कार किया जाता है।[३]

---

१. दीसंति बहवे लोए पासबद्धा सरीरिणो .... मुक्कपासो लहुब्भूओ ॥
—उ० २३.४०.

तथा देखिए—उ० २३.४१-४३.

२. सुव्वयं पत्तनिव्वाणं तं वयं बूम माहणं।
—उ० २५.२२.

३. णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व-साहूणं ॥ १ ॥
—षट्खण्डागम, पुस्तक १, पृ० ८.

जीवन्मुक्तों के प्रकार—ग्रन्थ में उन सभी जीवों को जीवन्मुक्त कहा गया है जो मुक्ति के पथ की ओर अग्रसर हो चुके हैं। ये जीवन्मुक्त दो प्रकार के हो सकते हैं : १. जो जीवन्मुक्ति की ओर बढ़ रहे हैं और २. जो पूर्ण जीवन्मुक्त हो चुके हैं।

पहले प्रकार के जीवन्मुक्त वे हैं जो अभी पूर्ण जीवन्मुक्त तो नहीं हुए हैं परन्तु मुक्ति की ओर बढ़ रहे हैं। इन्हें ग्रन्थ में अल्पसंसारी (परीतसंसारी—अल्प-पाशबद्ध) कहा गया है।[1] ये या तो इसी भव में या कुछ जन्मों के बाद अवश्य ही मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार ये वास्तव में पूर्ण जीवन्मुक्त तो नहीं हैं फिर भी जीवन्मुक्ति के निकट होने से इन्हें उपचार से जीवन्मुक्त कहा जा सकता है। इस श्रेणी में वे सभी जीव आते हैं जो पहले बतलायी गई 'क्षपकश्रेणी' का आश्रयण करके मुक्ति की ओर आगे बढ़ते हैं। इस क्षपकश्रेणी का अर्थ है—जो कर्मों को सदा के लिये नष्ट करता हुआ आगे बढ़ता है। अतः इस श्रेणी को ग्रन्थ में 'अकलेवरश्रेणी' (शरीररहित श्रेणी), 'ऋजुश्रेणी' (सीधी श्रेणी) और 'करणगुणश्रेणी' (ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति की श्रेणी) कहा गया है।[2] इसका आश्रय लेनेवाला जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अतः द्रुमपत्रक अध्ययन में गौतम को लक्ष्य करके कहा गया है कि 'हे गौतम ! अकलेवरश्रेणी को उच्च करता हुआ क्षेमकर, शिवरूप अनुत्तर सिद्धलोक को प्राप्त कर। इसमें क्षणमात्र का भी विलम्ब मत कर।'[3]

दूसरे प्रकार के जीवन्मुक्त वे हैं जिन्होंने चारों प्रकार के घातिया कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर

असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थावगमो न भवेदस्मदादीनाम्, संजातश्चैतत्प्रसादादित्युपकारापेक्षया वादावर्हन्नमस्कारः क्रियते।

—षट्खण्डागम, धवलाटीका, पृ० ५३-५४.

१. ते होंति परित्तसंसारी।

—उ० ३६.२६१.

२. अकलेवरसेणि मूसिया।

—उ० १०.३५.

तथा देखिए—पृ० २३३, पा० टि० १.

३. वही; उ० १०.३५

लिया है तथा इसी भव में पूर्ण मुक्त होने वाले हैं। ये 'केवली' या 'जिन' कहलाते हैं। यह उपाधि (डिग्री) प्राप्त करने वाले स्नातक छात्र की तरह मुक्ति को प्राप्त करनेवाले स्नातक केवली की अवस्था है। ग्रन्थ में जीवन्मुक्तों के लिए 'स्नातक' शब्द का प्रयोग भी किया गया है।[1] ये जीवन्मुक्त जीव संसार में रहकरके अवशिष्ट आयुकर्म का उपभोग करते हुए आकाश में स्थित सूर्य की तरह केवलज्ञान से सुशोभित होते हैं।[2] इसके बाद आयु के पूर्ण होने पर अवशिष्ट सभी अघातिया कर्मों को एक साथ नष्ट करके नियम से उसी भव में पूर्ण मुक्त हो जाते हैं। इन जीवन्मुक्तों की ग्रन्थ में दो अवस्थाएँ मिलती हैं : १ सयोगकेवली—मन, वचन एवं काय की क्रिया से युक्त तथा २. अयोगकेवली—मन, वचन एवं काय की क्रिया से रहित। इन दोनों प्रकार के जीवन्मुक्तों में 'सयोगकेवली' ही हितोपदेशादि से प्राणिमात्र का कल्याण करते हैं क्योंकि वे मन, वचन एवं काय की क्रिया से युक्त होते हैं। मन-वचन-काय की क्रिया से रहित 'अयोगकेवली' की अवस्था विदेहमुक्त (सिद्ध) की तरह ही होती है। ये कुछ ही क्षणों में शरीर को छोड़कर अनुत्तर सिद्धलोक (मोक्ष) को प्राप्त करके पूर्ण मुक्त हो जाते हैं।[3]

इस तरह ग्रन्थ में मुक्ति के दो रूप देखने को मिलते हैं : १. जीवन्मुक्ति तथा २. विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति की पूर्वावस्था है तथा विदेहमुक्ति पूर्ण निश्चल चरमावस्था है। ग्रन्थ का प्रधान लक्ष्य जीवों को मुक्ति की ओर अभिमुख करना है।

अनुशीलन

इस प्रकरण में उत्तराध्ययन के प्रधान लक्ष्य 'मुक्ति' का वर्णन किया गया है। इसकी प्राप्ति के लिए श्रद्धा, ज्ञान और चारित्ररूप रत्नत्रय की साधना की आवश्यकता पड़ती है। चार्वाकदर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शनों का भी प्रधान लक्ष्य जीवों को

---

१. जेहिं होइ सिणायओ।
—उ० २५.३४.

२. अणुत्तरे नाणधरे जसंसी ओभासइ सूरि एवंऽतलिक्खे ॥
—उ० २१.२३.

३. उ० २९.७१-७३.

मुक्ति की ओर ले जाना है। परन्तु मुक्त जीवों की क्या अवस्था होती है ? मुक्ति की प्राप्ति कैसे होती है ? आदि विषयों में मतभेद होते हुए भी मूल उद्देश्य में समानता है। वह मूल उद्देश्य है—जीवों को दुःख से छुटकारा दिलाना।

प्रकृत ग्रन्थ में इस मुक्ति की दो अवस्थाएँ मिलती हैं: १. जीवन्मुक्ति तथा २. विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति की पूर्वावस्था है। जीवन्मुक्ति संसार में वर्तमान रहने पर ही होती है और विदेहमुक्ति संसार से परे मृत्यु के उपरान्त होती है। जीवन्मुक्ति के बाद विदेहमुक्ति अवश्यम्भावी है। जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त दोनो ही संसार में पुनः कभी भी जन्म नहीं लेते हैं। जीवन्मुक्तों को निष्क्रिय कुछ अघातिया कर्मों का फल भोगने के लिए कुछ समय तक संसार में रुकना पड़ता है परन्तु विदेहमुक्त सब प्रकार के बन्धन से रहित होने के कारण लोकान्त में स्थिर रहते हैं। विदेहमुक्त जीवों से मानव का साक्षात् कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। उनकी स्थिति स्वान्तःसुखाय होती है जो मानव की अल्पबुद्धि के परे है। विदेहमुक्त जीवों में सुख की कल्पना करीब-करीब उसी प्रकार की गई है जिस प्रकार गहरी निद्रा में सोए हुए व्यक्ति को जागने पर होने वाली सुखानुभूति। यहाँ मुख्य अन्तर इतना है कि मुक्तों की सुखानुभूति जाग्रतावस्था की है तथा अविनश्वर है जबकि सोए हुए व्यक्ति की सुखानुभूति सुषुप्ति अवस्था की है तथा क्षणिक है।

शरीर को कर्मजन्य स्वीकार करने के कारण विदेहमुक्त जीवों को 'अशरीरी' माना गया है। जीव (आत्मा) का स्वभाव ज्ञान और दर्शनरूप होने से मुक्त जीवों को ज्ञान एवं दर्शनरूप चेतना गुणवाला स्वीकार किया गया है। इन मुक्त जीवों के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि सभी अलौकिक ही हैं क्योंकि उनके ज्ञानादि शरीर और इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही होते हैं। इस तरह विदेहमुक्तों की यह अवस्था ज्ञान, दर्शन एवं सुखादि से युक्त होकरके भी भावात्मक ही है। बौद्धों की तरह अभावात्मक, नैयायिकों की तरह मात्र दुःखाभावरूप तथा वेदान्तियों की तरह ब्रह्मैक्यरूप नहीं

है। यह अवस्था करीब-करीब सांख्यदर्शन के मुक्तपुरुष की तरह है जो अचेतन (प्रकृति) के प्रभाव से सर्वथा रहित है।[१]

जीवन्मुक्तों को व्यवहार की दृष्टि से मुक्त कहा गया है क्योंकि वे अभी पूर्ण मुक्त नहीं है परन्तु शीघ्र ही नियम से मुक्ति प्राप्त करने वाले हैं। मानव का कल्याण तथा विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रसार इन्हीं के द्वारा सम्भव है। ये संसार में रहने वाले आप्तपुरुष (महापुरुष) हैं। जीव के स्वाभाविक ज्ञानादि गुणों के प्रतिबन्धक सभी घातिया कर्मों को नष्ट कर देने के कारण इनकी मुक्ति अवश्यभावी है। अतः अघातिया (निष्क्रिय) कर्मों का सद्भाव रहने पर भी इन्हें जीवन्मुक्त कहा गया है। केवलज्ञान से युक्त (सर्वज्ञ) होने के कारण इन्हें 'केवली' कहा गया है। ये जीवन्मुक्त सयोगी और अयोगी के भेद से दो प्रकार के हैं। जब तक ये मन, वचन एव काय की क्रिया से युक्त रहते हैं तब तक 'सयोगी' तथा मन, वचन एव काय की क्रिया से रहित हो जाने पर 'अयोगी' कहलाते हैं। अयोगकेवली की स्थिति विदेहमुक्तों की तरह ही है क्योंकि वे भी विदेहमुक्तों की तरह मन-वचन-काय की क्रिया से रहित हैं। यद्यपि ग्रन्थ मे सामान्य साधुओं के लिए भी जीवन्मुक्त का व्यवहार हुआ है परन्तु यह कथन मुक्ति के मार्ग में प्रवेश करलेने के कारण व्यवहार की अपेक्षा से है। अतः सभी साधु जीवन्मुक्त नहीं हैं अपितु जिन्होने समस्त मोहनीय कर्म का समूल विनाश कर दिया है और जो सर्वज्ञ हो चुके हैं वे ही वास्तव में जीवन्मुक्त हैं।

इस तरह ग्रन्थ मे मुक्ति की जो अवस्था चित्रित की गई है वह एक अलौकिक अवस्था है। वहा न तो स्वामी-सेवकभाव है और न कोई इच्छा। इसे प्राप्त कर लेने पर जीव कभी भी संसार में वापिस नहीं आता है। वह कर्मबन्धन से पूर्ण मुक्त हो जाता है। यह आत्मा के निर्लिप्त स्व-स्वरूप की स्थिति है। यहाँ सब प्रकार के सासारिक बन्धनों का हमेशा के लिए अभाव हो जाने के कारण इसे मुक्ति कहा गया है।

★

१. देखिए—सांख्यकारिका, ६५.

प्रकरण ७

समाज और संस्कृति

कोई भी साहित्य तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौगोलिक आदि विविध परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अतः साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। उत्तराध्ययन, जिसमें प्रधानरूप से धर्म और दर्शन का ही प्रतिपादन किया गया है उसमें भी जैन श्रमण (साधु)-संस्कृति के क्रमिक-विकास के साथ सामाजिक जीवन का भी प्रभाव परिलक्षित होता है जो भारतीय इतिहास की दृष्टि से कम महत्त्व-पूर्ण नही है। अतः उत्तराध्ययन को केवल शुष्क धर्म और दर्शन का ही प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। इसमें निहित संकेतों के आधार से तत्कालीन सामाजिक चित्रण संक्षेप में निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था

सामाजिक एवं सांस्कृतिक संगठन में वर्ण और आश्रम-व्यवस्था का विशेष महत्त्व था। जो जिस जाति या वर्ण में पैदा होता था वह उसी जाति व वर्णवाला कहलाता था। वर्ण और जाति पर आधारित समाज सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन के चार आश्रमों में विभक्त था। इस तरह सम्पूर्ण समाज और संस्कृति वर्ण और आश्रम-व्यवस्था पर निर्भर थी।

जाति व वर्ण-व्यवस्था :

उस समय आर्य और अनार्य के भेद से दो प्रमुख जातियां और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के भेद से चार वर्ण थे। वैदिक साहित्य के अनुसार आर्य विजेता तथा गौरवर्ण के थे परन्तु अनार्य

उनके अधीन तथा कृष्णवर्ण के थे।[1] इस तरह इनमें शारीरिक रूप का भेद था। उत्तराध्ययन में भी ब्राह्मणों की कुछ इसी प्रकार की धारणा का संकेत मिलता है। अतः हरिकेशिबल मुनि को कुरूप देखकर वे उनका निरादर करते हैं।[2] इस प्रकार की धारणा के विरोध में ग्रन्थ में सदाचारी को आर्य और सदाचार से हीन को अनार्य मानकर जैनधर्म को आर्यधर्म तथा हिंसादि में प्रवृत्त ब्राह्मणों को भी अनार्य कहा गया है।[3] इसी प्रकार ब्राह्मणों के जातिमद के विरोध में कर्मणा जातिवाद की स्थापना करते हुए कहा गया है—'कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से ही जीव शूद्र होता है। केवल सिर मुड़ाने से श्रमण, ओंकार का जाप करने से ब्राह्मण, जंगल में रहने से मुनि और कुश-चीवर धारण करने से तपस्वी नहीं होता है अपितु समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि तथा तप करने से तपस्वी होता है।'[4] इस तरह जन्मना जातिवाद व वर्णवाद के आधार पर हुए सामाजिक सगठन के विरोध में तथा कर्मणा जातिवाद व वर्णवाद के प्रचार में जैन तथा बौद्ध[5] धर्मानुयायियों का मुख्य उद्देश्य रहा है।

---

१. जै० भा० स०, पृ० २२१.

२. कयरे आगच्छइ दित्तरूवे काले विकराले फोक्कनासे।

—उ० १२.६.

ओमचेलया पंसुपिसायभूया गच्छावक्खलाहि किमिहं ठिओ सि।

—उ० १२.७.

३. उवहसंति अणारिया।

—उ० १२.४.

रमइ अज्जवयणम्मि तं वयं बूम माहणं।

—उ० २५.२०.

चारित्ता धम्ममारियं।

—उ० १८.२५.

४. न दीसई जाइविसेस कोई।

—उ० १२.३७.

तथा देखिए—पृ० २४६, पा० टि० ३; पृ० २३८, पा० टि० ३.

५. सुत्तनिपात १.७.३.६; मजूमदार—कोरपोरेट लाइफ इन ऐंशियेन्ट इण्डिया, पृ० ३५४-३६३.

उत्तराध्ययन में ब्राह्मण आदि चारों वर्णों व कुछ प्रमुख जातियों की स्थिति का चित्रण इस प्रकार मिलता है :

ब्राह्मण—सामान्यरूप से जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में ब्राह्मण को क्षत्रिय की अपेक्षा हीन बतलाया गया है। संभवतः इसीलिए सभी जैन तीर्थङ्करों को क्षत्रिय कुल में उत्पन्न बतलाया गया है। भगवान् महावीर जो कि पहले ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित हुए थे बाद में इन्द्र ने उन्हें क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में परिवर्तित कर दिया।[1] परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में ब्राह्मण को कहीं भी क्षत्रिय से निम्न श्रेणी का नहीं बतलाया गया है अपितु सर्वत्र ब्राह्मणों के प्रभुत्व को ही स्वीकार किया गया है। इसीलिए ग्रन्थ में ब्राह्मण को सदाचार-परायण, वेदविद्, ज्योतिषाङ्गविद्, स्व-पर का कल्याणकर्ता तथा पुण्यक्षेत्री कहा गया है।[2] यहाँ इतना विशेष है कि ग्रन्थ में सच्चे ब्राह्मण का लक्षण बतलाते हुए जैन साधु के सामान्य सदाचार को ही प्रकट किया गया है। जैसे :[3]

'जो पापरहित होने से ससार में अग्नि की तरह पूजनीय, श्रेष्ठ पुरुषो (कुशलो) द्वारा प्रशसित, स्वजनो में आसक्ति से रहित, प्रव्रज्या लेकर शोक न करने वाला, आर्यवचनों में रमण करने

---

१. जै० भा० म०, पृ० २२४.

२. जे य वेयविऊ विप्पा जन्नट्ठा य जे दिया।
जोइसंगविऊ जे य जे य धम्माण पारगा॥
जे समत्था समुद्धत्तुं परमप्पाणमेव य।
तेसिं अन्नमिणं देयं भो भिक्खू सव्वकामियं॥
—उ० २५.७-८.
जे माहणा जाइ विज्जोववेया ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं।
—उ० १२.१३.
तथा देखिए—उ० १२.१४-१५; २५.३५,३८.

३. जहित्ता पुव्वसंजोगं नाइसंगे य बंधवे।
जो न सज्जइ भोगेसु तं वयं बूम माहणं॥
—उ० २५.२९.
तथा देखिए—उ० २५.१९-२८,३४.

वाला, कालिमा से रहित स्वर्ण की तरह राग-द्वेष व भय आदि दोषों से रहित, तपस्वी, कृश, दमितेन्द्रिय, सदाचारी, निर्वाणाभिमुख, मन-वचन काय से त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा से रहित, क्रोधादि के वशीभूत होकर मिथ्या वचन न बोलने वाला, सचित्त अथवा अचित्त वस्तु को थोड़ी अथवा अधिक मात्रा में बिना दिए ग्रहण न करने वाला, मन-वचन-काय से किसी भी प्रकार के मैथुन का सेवन न करने वाला, जल में उत्पन्न होकर भी जल से भिन्न कमल की तरह कामभोगों (धनादि के परिग्रह) में अलिप्त, लोलुपता से रहित, मुधाजीवी (भिक्षान्नजीवी), अनगार, अकिंचन वृत्तिवाला, गृहस्थों में असंसक्त, सब प्रकार के संयोगों (माता-पिता आदि के सम्बन्धों) से रहित तथा सब प्रकार के कर्मों से मुक्त (जीवन्मुक्त) है वह ब्राह्मण है।'

इस तरह सच्चे ब्राह्मण का स्वरूप बतलाते हुए जैन साधु के सामान्य सदाचार को प्रकट किया गया है। इससे स्पष्ट है कि उस समय ब्राह्मणों का प्रभुत्व था तथा वे जनता में पूज्य भी थे परन्तु वे अपने कर्त्तव्य से पतित हो रहे थे। इसीलिए सदाचार-परायण व्यक्ति को ब्राह्मण कहा गया है। ग्रन्थ मे ब्राह्मण के लिए 'माहण' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है-'मत मारो'।[1] ब्राह्मण के पास जो भी धन होता था वह राजा आदि के द्वारा दान-दक्षिणा मे दिया गया होता था। अतः उसके धन को ग्रहण करना वमन किए हुए पदार्थ को ग्रहण करने के तुल्य था।[2] ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों का उच्चकुलो में समावेश था। अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होने वाले इषुकार देशवासी छः जीवों को उच्चकुलोत्पन्न कहा गया है।[3] नमिराजर्षि के दीक्षित होने पर

---

१. वही।

२. वंतासी पुरिसो रायं न सो होइ पसंसिओ।
महणेण परिच्चत्तं धणं आयाउमिच्छसि ॥
—उ० १४.३८.
तथा देखिए—उ० ६.३८.

३. सकम्मसेसेण पुराकएणं कुलेसुदग्गेसु य ते पसूया।
—उ० १४.२.
तथा देखिए—उ० १४.३.

विशाल जनसमुदाय निराश्रित होकर रोता है तथा इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके उनकी परीक्षा लेता है।[1] इससे भी ब्राह्मण व क्षत्रिय जाति की श्रेष्ठता का पता चलता है। यद्यपि यज्ञादि धार्मिक कार्यों का सम्पादन श्रेष्ठ ब्राह्मणों के द्वारा ही होता था परन्तु कुछ ब्राह्मण अपने कर्त्तव्य को भूलकर तथा जाति का घमण्ड करके हिंसादि में प्रवृत्ति करते थे। ऐसे ब्राह्मणो को ही अनार्य ब्राह्मण कहा गया है। ये अपने को उच्च तथा अन्य को निम्न समझते थे। इसके अतिरिक्त ये यज्ञों में पशुहिंसा का प्रतिपादन करते थे तथा जैन श्रमणों का यज्ञ-मण्डप में आने पर तिरस्कार करते थे।[2] ऐसे अनार्य ब्राह्मणों को ग्रन्थ में वेदपाठी होने पर भी सम्यक् अर्थ से हीन होने के कारण वेदवाणी का भारवाहक कहा गया है।[3]

क्षत्रिय – देश पर शासन करनेवाले क्षत्रिय ही होते थे। ग्रन्थ में ऐसे कितने ही क्षत्रिय राजा और राजकुमारों का उल्लेख मिलता है जिन्होने संसार के वैभव को त्यागकर तथा श्रमणदीक्षा लेकर मुक्ति को प्राप्त किया।[4] इन्द्र-नमि संवाद में जैन साधु की कर्म-शत्रुओं पर विजय का वर्णन करते हुए रूपक द्वारा क्षत्रिय की युद्ध-विजय का भी प्रतिपादन किया गया है। इससे क्षत्रियों के प्रभुत्व का तथा उनकी युद्धकला का पता चलता है। यहां बतलाया गया है कि एक क्षत्रिय राजा साधु बनकर किस प्रकार कर्मशत्रुओं

---

१. सक्को माहणरूवेणं इमं वयणमब्बवी।

—उ० ९.६.

तथा देखिए—इन्द्र-नमिसंवाद.

२. के इत्थ खत्ता उवजोइया वा अज्झावया वा सह खंडिएहि।
एयं खु दंडेण फलएण हंता कंठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं॥

—उ० १२.१८.

तथा देखिए—पृ० ३९२, पा० टि० २-३; उ० १२.१९.

३. तुब्भेत्थ भो भारधरा गिराणं अट्ठं न जाणेह अहिज्ज वेए।

—उ० १२.१५.

४. देखिए—परिशिष्ट २.

से युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हो ? जैसे : इस आध्यात्मिक संग्राम में श्रद्धा नगर है, तप-संवर अर्गला है, शान्ति प्राकार (कोट) है, तीन गुप्तियाँ शतघ्नी (शस्त्र) हैं, संयम में उद्योग धनुष है, ईर्या समिति प्रत्यञ्चा है, धैर्य केतन है, सत्य धनुष पर बाँधने की डोरी है, तप बाण है, श्रुतज्ञान की धारा कवच है, अवशीकृत आत्मा सबसे बड़ा शत्रु है, पाँच इन्द्रियों के विषयो के साथ क्रोधादि कषाय तथा नोकषाय आदि शत्रु की सेनाएँ हैं। इन पर विजय प्राप्त करना सुभट योद्धाओं की विजय से भी कठिन है। वशीकृत आत्मा के द्वारा इन्हें जीता जाता है। इसमें क्षमा, मृदुता, ऋजुता, निर्लोभता तथा संयम से क्रमशः क्रोध, मान, माया, लोभ तथा इन्द्रियों के विषयों को जीता जाता है। इस तरह वशीकृत आत्मा के द्वारा अवशीकृत आत्मा पर विजय प्राप्त करना है। इसका फल कर्मग्रन्थि का भेदन करके परमसुख की प्राप्ति है। इस विजय के विषय में इन्द्र भी आश्चर्य प्रकट करता है। अत यही सच्ची और सबसे बड़ी विजय है।[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि क्षत्रिय का मुख्य कार्य युद्ध करना एव प्रजा की रक्षा करना था।

वैश्य–ये प्रायः प्रचुर धन-सम्पत्ति के स्वामी होते थे तथा देश-विदेश मे व्यापार किया करते थे। व्यापार करने के कारण इन्हें 'वणिक्' कहा जाता था।[2] पालित वणिक् नाव द्वारा समुद्र के पार पिहुण्ड नगर को व्यापार करने जाता है और वहाँ पर किसी वणिक्

---

१ अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो ॥
अप्पादंतो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य ॥

—उ० १.१५.

एगप्पा अजिए सत्तू कसाया इंदियाणि य ॥

—उ० २३ ३८.

तथा देखिए—उ० ६.२०-२२, ३४-३६, ५६-५८; २३.३६; १.१६; २९.१७, ४६-४९, ६२-७०; पृ० २९२, पा० टि० २; पृ० २८६, पा० टि० ४.

२. चंपाए पालिए नाम ''''सावए आसि वाणिए।

—उ० २१.१.

द्वारा रूपवती कन्या के देने पर उसे लेकर अपने देश आ जाता है।[1] ये ७२ कलाओं का तथा नीतिशास्त्र आदि का भी अध्ययन करते थे।[2] ग्रन्थ में वणिक् को 'श्रावक' भी कहा गया है।[3] इससे उनके जैन गृहस्थ होने का प्रमाण मिलता है। कुछ वणिक् जैन दीक्षा भी ले लेते थे।[4] इस तरह इनका मुख्य कार्य व्यापार करना था तथा धनादि से सम्पन्न होने के कारण ये 'श्रेष्ठि' कहलाते थे। ग्रन्थ में 'बहुश्रुत' की प्रशंसा में नाना प्रकार के धन-धान्यादि से परिपूर्ण सामाजिकों (धान्यपति) के सुरक्षित कोष्ठागार की उपमा दी गई है।[5] इससे प्रतीत होता है कि ये लोग धनादि से सम्पन्न तो होते ही थे साथ ही समाज में विशिष्ट स्थान रखने से 'सामाजिक' भी कहलाते थे। अनाथी मुनि के पिता का नाम अत्यधिक धनसंचय करने के कारण 'प्रभूतधनसंचय' पड़ा था।[6] ये अंगनाओं के साथ देवों के तुल्य सुखों का भोग भी किया करते थे।[7]

शूद्र—इनकी स्थिति बहुत ही सोचनीय थी। इनके साथ दासों की तरह व्यवहार किया जाता था। ये निम्न श्रेणी के कार्य किया करते

---

१. पोएण ववहरंते पिहुंडं नगरमागए।

....

तं ससत्तं पइगिज्झ सदेसमह पत्थिओ ॥

—उ० २१.२-३.

तथा देखिए—उ० १५.१४.

२. बावत्तरीकलाओ य सिक्खिए नीइकोविए।

—उ० २१.६.

३. देखिए—पृ० ३६६, पा० टि० २.

४. देखिए—परिशिष्ट २.

५. जहा से सामाइयाणं कोट्ठागारे सुरक्खिए।

नाणाधन्नपडिपुण्णे एवं हवइ बहुस्सुए ॥

—उ० ११.२६.

६. कोसंबी नाम नयरी ···· पभूयधणसंचओ।

—उ० २०.१८.

७. तस्स रूववइं भज्जं पिया आणेइ रूविणीं।

पासाए कीलए रम्मे देवो दोगुंदगो जहा ॥

—उ० २१.७.

थे और इनका सर्वत्र निरादर ही होता था।[1] कुछ शूद्र अपने गुणों के कारण उच्चपद को भी प्राप्त कर लेते थे। जैसे: चाण्डाल (श्वपाक) जाति में उत्पन्न हरिकेशिबल ने जैनदीक्षा ग्रहण करके ऋद्धि आदि को प्राप्त किया था।[2] पूर्वभव में चाण्डाल कुलोत्पन्न चित्त और संभूत ने तपस्या करके देवलोक को प्राप्त किया था।[3] हरिकेशिबल आदि कुछ शूद्र कुलोत्पन्न चाण्डाल भी तप के प्रभाव से अपना प्रभुत्व जमा लेते थे। परन्तु ऐसे लोग बहुत ही कम होते थे और इनका समादर प्रायः सर्वत्र नहीं होता था।

विभिन्न जातियाँ एवं गोत्रादि—उपर्युक्त वर्ण-जातियों के अतिरिक्त उस समय अपने-अपने कार्यों के अनुसार अन्य अनेक उपजातियाँ भी थीं। जैसे : सारथि (रथ चलाने वाले),[4] लोहकार (लुहार),[5] बढ़ई (लकड़ी तरासने वाले),[6] गोपाल (गायों को पालने वाले),[7] भण्डपाल (कोषाध्यक्ष),[8] भारवाहक (बोझा ढोने वाले),[9]

---

१ तीसे य जाईइ उ पाविमाए वुच्छासु सोवागनिवेसणेसु। सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा........
—उ० १३.१९.
तथा देखिए—उ० १३.१८.

२. सोवागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो मुणी।
—उ० १२.१.

३. उ० १३.६-७.

४. अह सारही विचिंतेइ।
—उ० २७.१५.
तथा देखिए—उ० २२.१५,१७.

५. कुमारेहिं अयं पिव। ताडिओ कुट्टिओ ..।
—उ० १९.६८.

६. वड्ढईहिं दुमो विव।
—उ० १९.६७.

७. गोवालो भंडवालो वा जहा तद्दव्वणिस्सरो।
—उ० २२.४६.

८. वही।

९. अवले जह भारवाहए।
—उ० १०.३३.
तथा देखिए—उ० १९.१२.

चिकित्साचार्य (रोगों का इलाज करने वाले),[1] नाविक (नाव चलाने वाले),[2] सवार (घोड़े की सवारी करने वाले),[3] कर्षक (खेती करनेवाले)[4] तथा नाना प्रकार के शिल्पी[5] आदि। कुछ वर्णसंकर जातियाँ भी थीं। वर्णसंकर जातियों में बुक्कुस और श्वपाक जातियों का उल्लेख मिलता है।[6]

इन जातियों के अतिरिक्त गोत्रों में काश्यप, गोतम, गग तथा वसिष्ठ गोत्र का;[7] कुलों में अगन्धन, भोग, गन्धन तथा प्रान्त-कुलों[8] (सामान्य गरीबों के कुल—निम्न कुल) का और वंशों में इक्ष्वाकु तथा यादववंश[9] का उल्लेख मिलता है।

इस तरह उस समय सामाजिक संगठन वर्ण, जाति, गोत्र, कुल और वंश के आधार से कई भागों में विभक्त था।

आश्रम-व्यवस्था :

वर्ण और जाति पर आधारित समाज में सांस्कृतिक संगठन की दृष्टि से आश्रम-व्यवस्था भी थी। जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के विकासक्रम के अनुसार इन्हें चार भागों में विभक्त किया गया

---

१. विज्जामंततिगिच्छगा।
—उ० २०.२२.

२. जीवो वुब्भइ नाविओ।
—उ० २३.७३.

३. हयं भद्दं व वाहए।
—उ० १.३७.

४. खलेसु बीयाइ ववंति कासगा।
—उ० १२.१२.

५. माहणभोइय विविहा य सिप्पिणो।
—उ० १५.९.

६. देखिए—पृ० ३१८, पा०टि० २; उ० ३.४; जै०भा०स०, पृ० २२३.

७. उ० अध्ययन २१ प्रारम्भिक गद्य; १८.२२; २२.५; २७.१; १४.२९.

८. उ० २२.४३,४४; १५.९,१३.

९. उ० १८.३९; २२.२७.

था। जैसे : १. ब्रह्मचर्याश्रम, २. गृहस्थाश्रम, ३. वानप्रस्थाश्रम तथा ४. सन्यासाश्रम।

१. **ब्रह्मचर्याश्रम**—यह जीवन की प्रारम्भिक अवस्था थी और यह अवस्था गार्हस्थजीवन में प्रवेश करने के पूर्व तक रहती थी। इसमें व्यक्ति ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए मुख्यरूप से विद्याध्ययन करता था।

२ **गृहस्थाश्रम**—जब व्यक्ति विद्याध्ययन कर चुकता था तो वह ब्रह्मचर्याश्रम को छोड़कर गार्हस्थजीवन में प्रवेश करता था। ग्रन्थ में गृहस्थाश्रमी को 'घोराश्रमी' कहा गया है[1] क्योंकि इस आश्रम में रहने वाले व्यक्ति को चारों आश्रम वाले व्यक्तियों का भरण-पोषण आदि करना पड़ता था। इस तरह इस आश्रमस्थ व्यक्ति के ऊपर चारों आश्रमवाले व्यक्तियों का भार होने से यह बहुत कठिन था। इसका ठीक से पालन करना क्षत्रियों का ही काम था। इसीलिए जब नमि राजर्षि गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यासाश्रम मे प्रवेश लेने के लिए तत्पर होते हैं तो ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र गृहस्थाश्रम की कठोरता आदि का कथन करता हुआ इस गृहस्थाश्रम को न छोड़ने के लिए कहता है।

३. **वानप्रस्थाश्रम**—गृहस्थाश्रम के बाद व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम मे प्रवेश करता था। इसमें वह मुख्यरूप से संन्यासाश्रम में प्रवेश का अभ्यास करता था।

४. **संन्यासाश्रम**—इसमे व्यक्ति गार्हस्थजीवन से पूर्ण मुक्त होकर साधु बन जाता था और तपादि की साधना करता था।

इस तरह उस समय की सामाजिक व सांस्कृतिक व्यवस्था वर्णाश्रम-व्यवस्था पर निर्भर थी तथा प्रत्येक वर्ण और आश्रम वाले व्यक्तियों के कार्य भिन्न-भिन्न थे।

पारिवारिक जीवन

उस समय समाज वर्णाश्रम के अतिरिक्त अनेक परिवारों (कुटुम्बों) में विभक्त था। ये परिवार छोटे-बड़े सभी प्रकार के

१. देखिए—पृ० २१५, पा० टि० १.

होते थे। सामान्यरूप से एक परिवार में माता-पिता, पुत्र एवं पुत्रवधुएँ रहा करती थीं। किसी-किसी परिवार में अन्य सम्बन्धीजन भी रहा करते थे।[1] इन सभी परिवारों में मुख्यरूप से पुरुष शासक होता था और नारी शासित। परिवार के कुछ प्रमुख सदस्यों की स्थिति इस प्रकार थी :

माता-पिता व पुत्र :

परिवार में माता-पिता का स्थान सर्वोपरि होता था। अतः दीक्षा लेते समय साधक को माता-पिता से आज्ञा लेनी आवश्यक होती थी। पिता सबका पालन-पोषण करता था। वृद्धावस्था के आने पर वह अपना भार पुत्र को सौंप देता था। अपने पुत्र की रक्षा के लिए वह सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तत्पर रहता था।[2] माता के लिए भी पुत्र अत्यन्त प्रिय होता था।[3] अतः जब पुत्र दीक्षा लेने लगता था तो माता-पिता बहुत दुःखी होते थे। ऐसे समय कभी-कभी पुत्र के साथ माता-पिता भी दीक्षा ले लेते थे। उनकी दृष्टि में पुत्र से ही घर की शोभा थी। भृगु पुरोहित के जब दोनों पुत्र दीक्षा लेने लगते हैं तो प्रथम वह उन्हें सांसारिक भोगों के प्रति प्रलोभित करता है परन्तु जब वे उसके प्रलोभन में नहीं आते हैं तो भृगु पुरोहित कहता है—'जिस प्रकार वृक्ष अपनी शाखाओं से शोभा को प्राप्त करता है और शाखाओं के कट जाने पर शोभाहीन स्थाणु मात्र रह जाता है उसी प्रकार माता-पिता अपने पुत्रों से सुशोभित होते हैं और पुत्रों के अभाव में निस्सहाय हो जाते हैं। इसी तरह जैसे पक्ष (पंख) से विहीन पक्षी, युद्धस्थल में सेना (भृत्य) से विहीन राजा, पोत (जहाज—जिस पर माल लदा है) के जल में डूबने से धनरहित वैश्य निस्सहाय हो जाते हैं उसी प्रकार मैं भी पुत्र

१. माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा।

—उ० ६.३.

२. पिया मे सव्वसारंपि दिज्जाहि मम कारणा।

—उ० २०.२४.

३. माया वि मे ········ पुत्तसोगदुहट्टिया।

—उ० २०.२५.

से विहीन निस्सहाय हूँ। अतः मेरा गृह में रहना उचित नहीं है।'[1] इसी प्रकार माता जब पुत्र व पति को दीक्षित होते देखती थी तो कभी-कभी वह स्वयं भी उनका अनुसरण करती थी क्योंकि स्त्री के लिए घर की शोभा पति और पुत्र से ही थी।[2]

भाई-बन्धु :

प्रायः भाई-बन्धुओं में चिरस्थायी प्रेम होता था। चित्त और संभूत नाम के दो भाई पाँच जन्मों तक साथ-साथ पैदा होने के बाद छठे भव में अपने-अपने कर्मों के विपाक से पृथक्-पृथक् जन्म लेते हैं। उनमें से जब एक भाई को 'जाति-स्मरण' (पूर्व-जन्म का ज्ञान) से अपने पूर्वभव का ज्ञान होता है तो वह अपने दूसरे भाई की खोज के लिए प्रयत्न करता है तथा उसे भी अपने ही समान उच्च वैभव से युक्त करना चाहता है।[3] जयघोष मुनि अपने भाई विजयघोष के कल्याण के लिए उसे सदुपदेश देकर सन्मार्ग में स्थित करता है।[4] इषुकार देश के छः जीव भी इसी प्रकार पूर्व-जन्म से सम्बन्धित रहते हैं।[5]

नारी :

नारी अपने कई रूपों में हमारे सामने आती है। जैसे : माता, पत्नी, बहिन, वधू, पुत्री, पुत्रवधू, वेश्या आदि। ग्रन्थों में नारी की

---

१. पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो वासिट्ठि भिक्खायरियाइ कालो।
साहाहि रुक्खो लहइ समाहिं छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं॥
पंखाविहूणो व्व जहेह पक्खी भिच्चाविहूणो व्व रणे नरिंदो।
विवित्रसारो वणिओ व्व पोए पहीणपुत्तोम्हि तहा अहंपि॥
—उ० १४.२९-३०.

२. पलेंति पुत्ता य पई य मज्झं ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्का।
—उ० १४.३६.

३. आसिमो भायरा दोवि अन्नमन्नवसाणुगा।
—उ० १३.३.
तथा देखिए—परिशिष्ट २.

४. उ० अध्ययन २५.

५. उ० अध्ययन १४.

इन सभी अवस्थाओं में दो रूप देखने को मिलते हैं : १. पतित रूप तथा २. आदर्श रूप। दोनों अवस्थाओं में नारी प्रायः पुरुषाधीन रही है।

पतित रूप—संयम से पतित करने में प्रधान कारण होने से ब्रह्मचर्य महाव्रत के प्रसंग में साधु को स्त्रियों के सम्पर्क से सदा दूर रहने को कहा गया है। इसी उद्देश्य से वहां स्त्रियों को राक्षसी, पंकभूत, उरस्थल में दो मांस के लोथड़े धारण करनेवाली तथा अनेक चित्तवाली कहा गया है। ये पहले अपने हाव-भाव द्वारा पुरुषों को आकर्षित करती थीं और बाद में दासों की तरह व्यवहार करती थीं। पति के मर जाने पर कोई-कोई नारी अन्य दातार के साथ भी चली जाती थी।[1] टीकाओं में तथा अन्य जैन आगम-ग्रन्थों में नारी के इस पतित रूप का काफी वर्णन मिलता है।[2] नारी का यह पतित रूप पुरुषों की सामान्य मनोवृत्ति का परिणाम है। यद्यपि नारी पुरुषाधीन थी तथापि अपने हाव-भावों के द्वारा पुरुषों को आकर्षित करने की शक्ति उसमें अधिक थी। अतः ये स्त्रियां अपने कूजित, रुदित, गीत, हास्य, स्तनित, क्रन्दित, विलाप आदि से युक्त वचनों के द्वारा पुरुषों को आकर्षित किया करती थीं। स्त्रियों को प्रायः अलंकार प्रिय था। साधु इनमें आसक्त न हों इसीलिए स्त्रियों के इस पतित रूप को चित्रित किया गया है। ब्रह्मचर्य व्रत को सब व्रतों में दुष्कर बतलाने से स्पष्ट है कि उस समय पुरुषों की आसक्ति स्त्रियों में अधिक थी और उनमें आसक्त होकर वे अपना विवेक खो देते थे।

आदर्श रूप—इस प्रकार की नारियां बहुत कम थीं। पातिव्रत्य इनका प्रमुख धर्म था। गृहस्थावस्था में अनाथी मुनि को जब असह्य चक्षुवेदना होती है तो उनकी पत्नी अत्यन्त स्नेह के कारण अपने पति की जाग्रत एवं मूर्च्छितावस्था में भी शरीर की

---

१. तओ तेणऽज्जिए दव्वे दारे य परिरक्खिए।
कीलंतिऽन्ने नरा रायं हट्ठतुट्ठमलंकिया॥
—उ० १८.१६.

२. जै० भा० स०, पृ० २४५-२५०.

स्थिति के लिए न तो अन्न-पानादि का सेवन करती है और न स्नान, विलेपन, मालाधारण आदि के द्वारा शरीर का शृङ्गार ही करती है अपितु क्षणभर के लिए भी पति से दूर न होती हुई निरन्तर रोती रहती है।[1] कभी-कभी ऐसी पतिव्रता पत्नियाँ सदुपदेश के द्वारा अपने पति को तथा अन्य जनों को भी सन्मार्ग में प्रवृत्त कराती थीं। ऐसी पतिव्रता पत्नी के लिए पति ही सर्वस्व होता था। पति के अभाव में उसका जीवन दूभर (बड़ा कष्टमय) हो जाता था। राजीमती का उदात्त चरित्र इसका एक ज्वलन्त दृष्टान्त है। विवाह की मंगलवेला में राजीमती जब यह सुनती है कि उसके होनेवाले पति अरिष्टनेमी दीक्षा ले रहे हैं तो उसके मुख की हंसी व कान्ति तिरोभूत हो जाती है।[2] राजकन्या राजीमती में स्त्र्युचित सभी अच्छे गुण वर्तमान थे। यदि वह चाहती तो किसी भी मनपसन्द अच्छे राजकुमार से शादी कर सकती थी परन्तु एक बार अरिष्टनेमी को पिता की प्रेरणा से मन में पतिरूप से चुन लेने पर दूसरे राजकुमार से शादी नहीं करती है और बाल-ब्रह्मचारिणी होकर पति के मार्ग का अनुसरण करती हुई सुगन्धित बालों को उखाड़कर दीक्षा ले लेती है। स्वयं दीक्षा लेने के बाद वह अन्य स्त्री-समाज को भी श्रमण-धर्म में दीक्षित करती है। एक बार जब राजीमती रैवतक पर्वत पर जा रही थी तो वर्षा से वस्त्र के भीग जाने पर वह समीपस्थ अन्धकारपूर्ण गुफा में वस्त्रों को उतारकर सुखाने लगती है। इसी समय

---

१. भारिया मे महाराय ! अणुरत्ता अणुव्वया।

....

अन्नं पाणं च ण्हाणं च गंधमल्लविलेवणं।
मए नायमनायं वा सा बाला नेव भुंजई ॥

—उ० २०.२८-२९.

तथा देखिए—उ० २८.३०.

२. सोऊण रायकन्ना पव्वज्जं सा जिणस्स उ।
णीहासा य निराणंदा सोगेण उ समुच्छिया ॥
राईमई विचिंतेई धिगत्थु मम जीवियं।
जाऽहं तेणं परिच्चत्ता सेयं पव्वइउं मम ॥

—उ० २२.२९-३०.

पहले से वहाँ वर्तमान अरिष्टनेमी का भाई रथनेमी उसे नग्नरूप में देखकर काम-विह्वल हो जाता है और उससे काम-भोग भोगने की प्रार्थना करता है। जब राजीमती वहाँ पर-पुरुष को देखती है तो तुरन्त ही काँपती हुई अपने गोपनीय अंगों को छुपा लेती है और मौका पाकर वस्त्र से अपने शरीर को आच्छादित कर लेती है। तदनन्तर अपने कुल, शील आदि की रक्षा करती हुई रथनेमी को भी कुलोचित सदुपदेश के द्वारा सन्मार्ग में लाती है। इस तरह वह स्वयं को तथा रथनेमी को भी पतित होने से बचाती है।[1] राजीमती की ही तरह इषुकार देश के राजा विशालकीर्ति की पत्नी कमलावती भी राजा को सदुपदेश द्वारा सन्मार्ग की ओर ले जाती है।[2]

इस तरह सिद्ध है कि उस समय नारियाँ न केवल पतिव्रता ही थीं अपितु पुरुषों को भी सदुपदेश द्वारा सन्मार्ग में लाती थीं और स्वयं दीक्षा लेकर अन्य स्त्रियों को भी दीक्षित करती थीं।[3] ये शास्त्रों का भी अध्ययन किया करती थीं। अतः राजीमती को 'बहुश्रुता' कहा गया है।[4] ये स्नान, मालाधारण, विलेपन आदि के द्वारा शरीर का शृंगार करती थीं।[5] कूर्च और फनक (ब्रुश या कंघी) से केशों का संस्कार करती थीं।[6] श्रेष्ठ राजकन्याएँ राजाओं के द्वारा विवाहार्थ मांगी जाती थीं।[7] इस तरह नारी की

---

१. वही; परिशिष्ट २.

२. वही।

३. सा पव्वईया संती पव्वावेसी तहिं बहुं।
सयणं परियणं चेव सीलवंता बहुस्सुआ ॥
—उ० २२.३३.

तथा देखिए—परिशिष्ट २.

४. वही।

५ देखिए—पृ० ४०४, पा० टि० १.

६. अह सा भमरसंनिभे कुच्चफणगप्पसाहिए।
—उ० २२. ३०.

७. तस्स राईमई कन्नं भज्जं जायइ केसवो।
—उ० २२.६.

यद्यपि आदर्श एवं स्वतन्त्र स्थिति भी थी परन्तु सामान्यतौर से वह पुरुषाधीन होकर पुरुष की सम्पत्ति मानी जाती थी।[1]

रीति-रिवाज एवं प्रथाएँ

ग्रन्थ में कुछ सांस्कृतिक तथा कुछ सामाजिक रीति-रिवाजों एवं प्रथाओ का उल्लेख मिलता है जिनसे तत्कालीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन के विषय में कुछ जानकारी उपलब्ध होती है। कुछ प्रमुख रीति-रिवाज एवं प्रथाएँ इस प्रकार हैं :

यज्ञ :

धार्मिक-क्रियाओं में वैदिक-यज्ञों का काफी प्रचलन था। ये यज्ञ दो प्रकार के होते थे : १. पशु-हिंसा वाले और २. पशु-हिंसा से रहित। इनमें से जो बड़े यज्ञ हुआ करते थे वे बहुत खर्चीले पड़ते थे।[2] इन यज्ञों का सम्पादन वेदविद् ब्राह्मण किया करते थे परन्तु इनका खर्च यजमान (यज्ञ कराने वाला) वहन किया करता था। यज्ञ की समाप्ति होने पर ब्राह्मण आदि को यज्ञान्न बाँटा जाता था।[3] अतः नमि राजर्षि से इन्द्र कहता है कि विस्तृत यज्ञ करके तथा श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन कराकर दीक्षा लेवें।[4]

यमयज्ञ या भावयज्ञ—अज्ञानमूलक पशु-हिंसाप्रधान यज्ञों की ओर से लोगों की चित्तवृत्ति को मोड़ने के लिए ग्रन्थ में यज्ञ की भावात्मक (आध्यात्मिक—अहिंसाप्रधान) व्याख्या की गई है

---

१. धणं पभूयं सह इत्थियाहिं।

—उ० १४.१६.

तथा देखिए—उ० १९.१७ आदि।

२. वियरिज्जई खज्जइ भुज्जई अन्नं पभूयं भवयाणमेयं।

—उ० १२.१०.

३. वही; उ० १२.११; २५.७-८.

४. जइत्ता विउले जन्ने भोइत्ता समणमाहणे।
दत्ता भोच्चा य जिट्ठा य तओ गच्छसि खत्तिया॥

—उ० ९.३८.

जिसे ग्रन्थ में 'यमयज्ञ' के नाम से कहा गया है।[1] 'यम' मृत्यु का देवता माना जाता है। संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो इस मृत्युरूपी यम देवता के द्वारा ग्रसित न होता हो। अतः जिस यज्ञ में मृत्यु को जीता जाए या मृत्यु का हवन किया जाए उसे 'यमयज्ञ' कहते हैं। जब ब्राह्मण लोग जैन मुनि हरिकेशिबल तथा जयघोष से कर्मविनाशक यज्ञ की प्रक्रिया पूछते हैं तो वे दोनों इसी यमयज्ञ की प्रक्रिया को बतलाते हैं तथा इसे सर्वश्रेष्ठ यज्ञ कहते हैं।[2] इस यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या के स्पष्टीकरण के लिए यज्ञीय अध्ययन से एक प्रसंग उद्‌धृत किया जा रहा है :[3]

जयघोष नामक एक जैन मुनि विहार करते हुए अपने भाई विजयघोष ब्राह्मण के यज्ञमण्डप में पहुँचते हैं और वहाँ ब्राह्मण याजकों से यज्ञान्न की याचना करते हैं। यह सुनकर जब ब्राह्मण लोग कहते हैं कि इस यज्ञान्न को सिर्फ वेदविद्, यज्ञकर्ता, ज्योतिषाङ्गविद्, धर्मशास्त्रज्ञाता तथा स्व-परकल्याणकर्त्ता ब्राह्मण ही प्राप्त कर सकता है तो मुनि इसके जबाब में कहते हैं कि आप लोग वेदादि के मुख को ही नहीं जानते हैं। यह सुनकर जब ब्राह्मण पूछते हैं कि वेदादि के मुख को कौन जानता है और वेदादि के मुख क्या हैं ? तब मुनि वैदिक तथा जैनदृष्टि से समन्वित व गम्भीर अर्थ से युक्त द्वयर्थक भाषा में इस प्रकार उत्तर देते हैं :

वेदों का मुख—अग्निहोत्र वेदों का मुख है अर्थात् जिस वेद में अग्निहोत्र का प्रधानता से वर्णन हो वही वेद वेदों का मुख है। वेदों

---

१. जायाइ जमजन्नम्मि जयघोसि त्ति नामओ।
—उ० २५.१.
सुसंबुडा पंचहिं संवरेहिं ......महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं।
—उ० १२.४२.

२. वही।
ग्रन्थ में तीन जगह इस यज्ञ का वर्णन मिलता है: १. इन्द्रनमि-संवाद (९वाँ अध्ययन) में, २. हरिकेशिबल मुनि और ब्राह्मणों के संवाद (१२वाँ अध्ययन) में तथा ३. जयघोष मुनि और ब्राह्मणों के संवाद (२५ वाँ अध्ययन) में।

३. उ० २५.१-१८.

में इसी अग्निहोत्र की प्रधानता होने से अग्नि के संस्कार को यज्ञ कहा जाता है। वैदिक, दैविक और भौतिक अग्नि में वैदिक अग्नि 'यजु' कहलाती है। इस तरह वेदानुसार अर्थ संगत हो जाता है। परन्तु मुनि को यहाँ पर तपरूप अग्नि अभिप्रेत है जिस तपाग्नि से कर्मरूपी महावन ध्वस्त किया जा सके। **यज्ञों का मुख** - जिससे कर्मों का क्षय हो वह यज्ञों का मुख है। यह भावयज्ञ कर्मों का क्षय करनेवाला है और इसके अतिरिक्त अन्य हिंसाप्रधान वैदिक यज्ञ कर्मक्षय में कारण न होकर कर्म-बन्ध में कारण हैं। अतः जिन शास्त्रों में यमयज्ञों का विधान है उन्हें वेद कहते हैं और जो ऐसे यज्ञों को करता है वह याजक है। **नक्षत्रों का मुख**—चन्द्रमा नक्षत्रों का मुख (प्रधान) है। नक्षत्र, चन्द्र-मण्डल आदि ज्योतिषशास्त्र का विषय है और ज्योतिषशास्त्र के अनुसार नक्षत्रों में चन्द्रमा की प्रधानता है। **धर्मों का मुख**—काश्यपगोत्रीय भगवान् ऋषभदेव धर्मों के मुख हैं। जैन धर्म के आदि प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव काश्यपगोत्री थे। ब्रह्माण्डपुराण और आरण्यक आदि में भी ऋषभदेव की स्तुति मिलती है।[1] **स्व-पर का कल्याणकर्ता**—अहिंसारूप यमयज्ञ का अनुष्ठान करनेवाला याजक ही स्व-पर का कल्याणकर्ता है।

इस तरह मुनि ने इस उत्तर द्वारा स्वयं को वेदादि का वेत्ता तथा ब्राह्मणों को वेदादि का अवेत्ता भी सिद्ध किया है।

भावयज्ञ के उपकरण व विधि—इस भावयज्ञ में द्रव्य-यज्ञ के स्थानापन्न कौन-कौन से उपकरण होते हैं तथा इस यज्ञ को सम्पन्न करने की विधि क्या है? ब्राह्मणों के द्वारा इस प्रकार का प्रश्न पूछने पर हरिकेशिबल मुनि इस प्रकार उत्तर देते हैं :[2]

---

१. देखिए—उ० आ० टी०, पृ० १११४-१११५.

२. तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसंती होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥
....
धम्मे हरये बम्भे संतितित्थे अणाविले अत्तपसन्नलेसे॥
—उ० १२.४४-४६.

तथा देखिए—उ० १२.४२-४३,४७; ६.४०; मेरा निबन्ध—'यज्ञ: एक अनुचिन्तन' श्रमण, सित०-अक्टूबर, १९६६.

द्रव्ययज्ञ	भावयज्ञ
१. अग्नि	१. तप (ज्योतिरूप—क्योंकि अग्नि की तरह तप में कर्ममल भस्म करने की शक्ति है)
२. अग्निकुंड (अग्नि प्रज्वलित करने का स्थान)	२. जीवात्मा
३. स्रुवा (जिससे घृतादि की आहुति दी जाती है)	३. त्रिविध योग (क्योंकि आहुति किए जाने वाले सभी शुभाशुभ कर्मेन्धनों का आगमन योग के द्वारा ही होता है।
४. करीषाङ्ग (जिससे अग्नि प्रज्वलित की जाती है। जैसे : घृत आदि)	४. शरीर (क्योंकि तपाग्नि इसी से प्रदीप्त होती है)
५ समिधा (शमी, पलाश आदि की लकड़ियाँ)	५. शुभाशुभ कर्म (क्योंकि ये ही तपाग्नि में लकड़ी की तरह भस्म किए जाते हैं)
६. शान्तिपाठ (कष्टों को दूर करने के लिए)	६ संयम-व्यापार (क्योंकि इससे जीवों को शान्ति मिलती है)
७. हवन (जिससे अग्नि प्रसन्न हो)	७. चारित्र
८. जलाशय (स्नान के लिए)	८. अहिंसा धर्म
९. शान्तितीर्थ (सोपान)	९ ब्रह्मचर्य तथा शान्ति
१० जल (जिससे कर्मरज दूर हो)	१०. कलुषभाव से रहित शुभ-लेश्यावाली आत्मा (क्योंकि ऐसे तीर्थजल में स्नान करने से कर्मरज दूर हो जाती है)
११. निर्मलता (स्नान के बाद प्राप्त होने वाली शुद्धि)	११. अन्तरङ्गात्मा निर्मल और ताजी हो जाती है।
१२. गौदान (यज्ञ के अन्त में दिया जानेवाला दान)	१२ संयम-पालन (यह सहस्रों गौदानों से श्रेष्ठ है)

इस तरह इस भावयज्ञ में जीवात्मारूपी अग्निकुण्ड में शरीर-रूपी करीषाङ्ग से तपरूपी अग्नि को प्रज्वलित करके कर्मरूपी

इन्धन का योगरूपी स्रुवा से हवन किया जाता है। संयम-व्यापाररूपी शान्तिपाठ को पढ़ा जाता है। ब्रह्मचर्यरूपी शान्ति-तीर्थ में स्नान किया जाता है। संयम का पालन करना ही गोदान है। इस तरह इस यज्ञ को सम्पन्न करने के बाद अध्यात्म जलाशय में स्नान करने से कर्ममल धुल जाते हैं और आत्मा निर्मल होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेती है। ऐसा ही यज्ञ ऋषियों के द्वारा प्रशस्त एवं उपादेय है।[१]

विवाह-प्रथा :

स्त्री और पुरुष के मधुर मिलन को एक सूत्र में बाँधनेवाली सामाजिक प्रथा विवाह है। उत्तराध्ययन में विवाह-सम्बन्धी जो जानकारी उपलब्ध होती है उससे निम्न निष्कर्ष निकलते हैं :

१. साधारणतया वर एवं कन्या दोनों पक्षों के माता-पिता या उनके अग्रज सम्बन्धीजन पहले विवाह-सम्बन्ध तय किया करते थे।[२] विवाह-सम्बंध तय हो जाने के बाद विधिपूर्वक विवाह की क्रिया की जाती थी। भगवान् अरिष्टनेमी के युवा (विवाह-योग्य) होने पर जब उनके अग्रज केशव (श्री कृष्ण) विवाह-सम्बन्ध के लिए उग्रसेन की पुत्री राजीमती की याचना करते हैं तो उग्रसेन कहते हैं कि कुमार यहाँ आए और वधू को ग्रहण करें। इसके बाद वर और वधू को सब प्रकार से अलंकृत किया जाता है। वर अपने राजसी वैभव के साथ श्रेष्ठ गन्धहस्ती पर सवार होकर चतुरङ्गिणी सेना एवं गाजे-बाजे के साथ सपरिवार नगर से प्रस्थान करता है।[३]

२. कभी-कभी ऐसा भी होता था कि विदेश से व्यापार आदि के लिए आए हुए वर के गुणों से आकृष्ट होकर लड़की का पिता उसे अपनी कन्या विवाह देता था। इसके बाद वर जब तक चाहता

१. वही।

२. देखिए—पृ० ३९७, पा० टि० ७; पृ० ४०५, पा० टि० ७.

३. इहागच्छउ कुमारो जा से कन्नं दवामि हं।

—उ० २२.८.

तथा देखिए—पृ० ४११, पा० टि० ३.

तब तक वहाँ रहकर उसके साथ भोग भोगता और फिर उसे लेकर स्वदेश लौट आता था।[1]

३. कभी-कभी माता-पिता कहीं से मनपसन्द सुन्दर कन्या लाकर पुत्र को दे देते थे।[2] चूंकि उस समय नारी को सम्पत्ति माना जाता रहा है अतः यह तभी संभव है जब कन्या खरीदकर या इसी प्रकार के किन्हीं अन्य उपायों के द्वारा लाई जाए।

४. जब वर दूल्हे के रूप में बारात लेकर कन्या के घर जाता था तो उसे नाना प्रकार के आभूषणों से अलंकृत किया जाता था तथा देश और कुलादि के अनुरूप कौतुकमंगल आदि कार्य भी किए जाते थे। बारात में ऊँच-नीच सब प्रकार के लोग जाते थे और उनके लिए भोजनादि का प्रबन्ध भी किया जाता था।[3]

५. कभी-कभी देवता की प्रेरणा से भी राजकन्याएँ वर को सौंप दी जाती थीं।[4]

६. श्रेष्ठ गुण व रूप-सम्पन्न राजकन्याएँ राजकुमारों के द्वारा प्रार्थना करने पर भी बड़ी मुश्किल से प्राप्त होती थीं। यदि किसी को ऐसी राजकन्या राजा स्वयं दे दे तो वह बड़ा सौभाग्यशाली समझा जाता था। अतः भद्रा राजकुमारी उग्र तपस्वी हरिकेशिबल मुनि को मारनेवाले ब्राह्मणों से कहती है– 'यह मुनि उग्र तपस्वी तथा ब्रह्मचारी है। स्वयं मेरे पिता कोशल नरेश के द्वारा देवता की प्रेरणा से मुझे इसके लिए दिए जाने पर भी इसने मुझे ग्रहण नहीं किया था'।[5] इसी प्रकार सर्वगुणसम्पन्न राजकुमार अरिष्टनेमी

---

१ देखिए—पृ० ३६७, पा० टि० १.

२. देखिए—पृ० ३६७, पा० टि० ७.

३. सव्वोसहीहिं ण्हविओ कयकोउयमंगलो।
दिव्वजुयलपरिहिओ आभरणेहिं विभूसिओ॥
....
तुज्झं विवाहकज्जंमि भोयावेउं बहुं जणं॥
—उ० २२.९-१७.

४. देवाभिओगेण निओइएणं दिन्नासु रन्ना मणसा न झाया।
....
जो मे तया नेच्छइ दिज्जमाणिं पिउणा सयं कोसलिएण रन्ना॥
—उ० १२.२१-२२.

५. वही।

को याचना करने पर भी राजा उग्रसेन अपनी कन्या राजीमती देने के लिए तभी तैयार होते हैं जब अरिष्टनेमी के बड़े भाई केशव यह स्वीकार कर लेते हैं कि वे वर को लेकर बारात के साथ कन्या के घर आएँगे।[१] इससे यह भी सिद्ध होता है कि कुछ लोग राजकुमारों के लिए राजकन्याएँ भेंटस्वरूप में भी दे दिया करते थे। इसीलिए जब केशव अरिष्टनेमी के लिए राजीमती की याचना करते हैं तो राजीमती के पिता द्वारा यह कहना कि राजकुमार यहाँ आएँ और ले जाएँ यह सिद्ध करता है कि श्रेष्ठ कन्याएँ विवाहोत्सवपूर्वक ससम्मान दी जाती थीं तथा कुछ साधारण कन्याएँ संभवतः भेटरूप में भी भेज दी जाती थी।

७. प्रायः बहु-विवाह भी होते थे : राजाओं एवं सम्पन्न कुलों में एक से अधिक पत्नियाँ हुआ करती थीं। जैसेः[२] राजा वसुदेव की रोहणी और देवकी ये दो रानियाँ थी। मृगापुत्र कई स्त्रियों के साथ देवसदृश भोग भोगा करता था। इसी प्रकार मृगापुत्र के पिता बलभद्र राजा की मृगा नाम की पटरानी थी।

८. इन विवाह-सम्बन्धों के अतिरिक्त कभी-कभी पति के मरने पर कुछ विधवाएं हृष्ट-पुष्ट पुरुष के साथ भी चली जाती थी।[३]

सौन्दर्य-प्रसाधन :

उस समय वस्त्र व आभूषणों के अतिरिक्त स्नान, माल्याधारण, विलेपन आदि के द्वारा शरीर का शृङ्गार किया जाता था।[४] कूर्च व फनक (ब्रुश या कघी) से बालो को संस्कृत किया जाता था तथा कुण्डल कानो में पहने जाते थे।[५] इस तरह ये आभूषण आदि सौन्दर्य-प्रसाधन के काम आते थे।

---

१. देखिए—पृ० ४१०, पा० टि० ३.

२. तस्स भज्जा दुवे आसी रोहिणी देवई तहा।

—उ० २२.२.

तथा देखिए—पृ० ४०३, पा० टि० १; परिशिष्ट २.

३. देखिए—पृ० १३३, पा० टि० २; पृ० ४०३, पा० टि० १.

४. देखिए—पृ० ४०४, पा० टि० १; पृ० ४११, पा० टि० ३.

५. वही; उ० ६.६०.

दाह-संस्कार :

किसी परिवार में किसी व्यक्ति के मरने पर परिवार के लोग कुछ दिन तक शोक करते हुए मृत प्राणी को घर से निकालकर बाहर ले जाते और वहाँ जलती हुई चिता पर रखकर उसका दाह-संस्कार करते थे। यह क्रिया पिता के मरने पर पुत्र, पुत्र के मरने पर पिता तथा अन्य सम्बन्धीजनों के मरने पर उनके सम्बन्धीजन किया करते थे। इसके बाद जहाँ जीविका चलती वहाँ उसी दातार के पीछे चले जाते थे।[1]

पशु-पालन :

उस समय की सम्पत्ति में पशु भी एक थे।[2] उनमें कुछ पशु युद्धस्थल में काम आते थे। युद्ध में हाथी और घोड़े बहुत उपयोगी थे। ग्रन्थ में इनका बहुत्र उल्लेख मिलता है।[3] कम्बोज-देशोत्पन्न घोड़े सुशिक्षित, युद्धोपयोगी और श्रेष्ठ होते थे।[4] हाथियों में 'गन्धहस्ती' का उल्लेख मिलता है जिस पर सवार होकर अरिष्टनेमी विवाहार्थ गए थे।[5] जब कभी हाथी बन्धन तोड़कर भाग जाता था तो महावत उस मदोन्मत्त हाथी को अंकुश के द्वारा वश में

---

१. वही।

२ गवासं मणिकुंडलं पसवो दासपोरुसं।

—उ० ६ ५.

तथा देखिए—उ० ९.४९; १३.२४; २०.१४ आदि।

३. नागो संगामसीसे वा सूरो अभिहणे परं।

—उ० २. १०.

जहा से कंबोयाणं आइण्णे कंथए सिया।

आसे जवेण पवरे..............................॥

—उ० ११.१६.

तथा देखिए—पृ० ३९९, पा०टि० १; उ० १९.१०; १.१२; २१.५८.

४. वही।

५. मत्तं च गंधहत्थिं च वासुदेवस्स जिट्ठयं।

—उ० २२.१०.

किया करता था।[1] युद्ध में हाथी ही आगे रहते थे। अतः ग्रन्थ में हाथी को 'संग्राम-शीर्ष' होकर शत्रु को जीतनेवाला कहा गया है।[2] हाथी और घोड़े पशुओं में श्रेष्ठ माने जाते थे। श्रेणिक राजा अनाथी मुनि से अपना परिचय देते हुए इन्हीं दोनों पशुओं का उल्लेख करते हैं।[3] कुत्ता और शूकर ये दोनों पशु शिकार के काम आते थे।[4] बकरा मिहमान के भोज के लिए अच्छा समझा जाता था।[5] यज्ञ में भी पशु काम आते थे। अत. यज्ञ में पशु-हिंसा का निषेध किया गया है।

पशुओं के अतिरिक्त पक्षियों को भी पिजड़े में रखकर पाला-पोसा जाता था।[6] ग्रन्थ में कई पक्षियों के नाम मिलते हैं परन्तु उन सबको पाला नहीं जाता था।[7] पशुओं और पक्षियों को पकड़ने और पालने के लिए नाना प्रकार के जालों और पिजड़ों का प्रयोग किया जाता था।[8]

---

१. अंकुसेण जहा नागो।
—उ० २२.४७.
तथा देखिए—उ० १४.४८.

२. देखिए—पृ० ४१३, पा० टि० ३.

३. अस्सा हत्थी मणुस्सा मे।
—उ० २०.१४.

४. कूवंतो कोल-सुणएहिं सबलेहिं य।
—उ० १९.५५.
तथा देखिए—उ० १९.६६.

५. जय कक्कर भोइ य ....जहा एसं व एलए।
—उ० ७.७.

६. नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा।
—उ० १४.४१.

७. देखिए—नभचर तिर्यञ्च, प्रकरण १.

८. पासेहिं कूडजालेहिं मिओ वा अवसो अहं।
....
वीदंसएहिं जालेहिं लेप्पाहिं सउणो विव॥
—उ० १९.६४-६६.
तथा देखिए—उ० १९.५३; २१.४०-४३; ३२.९; २२.१४,१६; पृ० ४१४, पा० टि० ६.

खान-पान :

घी, दूध, अन्न आदि के अतिरिक्त मदिरा और मांस-भक्षण भी काफी मात्रा में होता था। अरिष्टनेमी के विवाह के अवसर पर बहुत से लोगों के भोज के लिए बहुत से पशुओं को एक बाड़े के अन्दर एकत्रित किया गया था।[1] यहाँ पर बहुत से लोगों के लिए कहने से स्पष्ट है कि अधिकांश लोग मांसभक्षण करते थे और बहुत ही कम लोग ऐसे थे जो मांसभक्षण नहीं करते थे। मृग, मत्स्य, बकरा और महिष का मांस अधिक प्रचलित रहा होगा क्योंकि ग्रन्थ में शिकार के अवसर पर मृग-हनन, मिहमान के भोज के लिए बकरा-पालन तथा महिष को अग्नि में पकाने का उल्लेख मिलता है।[2] मत्स्य पकड़ने के लिए बड़िशों (लोहे के काँटोंवाला जाल) का प्रयोग किया जाता था।[3] साधुओं का आहार निरामिष और नीरस होता था।[4]

ग्रन्थ में मदिरा के पाँच प्रकारों का उल्लेख मिलता है :[5] १. सुरा, २. सीधु (ताल वृक्ष के रस से उत्पन्न), ३. मेरक

---

१. वाडेहिं पंजरेहिं य संनिरुद्धा य अच्छहिं।

—उ० २२.१६.

तथा देखिए—पृ० ४११, पा० टि० ३.

२. हुयासणे जलंतम्मि चियासु महिसो विव।

—उ० १९.५८.

तथा देखिए—पृ० ४१४, पा० टि० ५, ८;

उ० १९.७०-७१; ५.९; ७.६; १८.३-६ आदि।

३. रागाउरे बडिस विभिन्नकाए मच्छे जहा आमिसभोग गिद्धे।

—उ० ३२.६३.

तथा देखिए—उ० १९.६५.

४. देखिए—आहार, प्रकरण ४.

५. तुहं पिया सुरा सीहू मेरओ य महूणि य।

—उ० १९.७१.

वर वारुणीए व रसो विविहाण व आसवाण जारिसओ।

महुमेरगस्स व रसो…………………………………।

—उ० ३४.१४.

(मैरेयक—दुग्ध आदि उत्तम पदार्थों से निकाली गई), ४. मधु (महुए से बनाई गई) और ५. वारुणी (श्रेष्ठ मदिरा)। इनके अतिरिक्त अन्य विविध प्रकार के आसव (मद्य) भी थे।[1] रसों में कुछ रसों का भी उल्लेख मिलता है जिनका अनुभव प्रायः सभी को था। जैसे : शर्करा, खाण्ड, दाख (मृद्वीका), खजूर, आम्र, तुवर, नीम, तूंबी, त्रिकटुका (मघ मिर्च), ईख, कटु-रोहिणी (ज्वरनाशक औषधिविशेष), कपित्थ (कैंथ) आदि।[2] इन खाद्य और पेय पदार्थों के अतिरिक्त ग्रन्थ में कुछ कन्द-मूल आदि वनस्पतियों का भी उल्लेख मिलता है जिनको सामान्यरूप से खाने के प्रयोग में लाया जाता रहा होगा।[3]

मनोरंजन के साधन :

मनोरंजन के साधनों में उस समय नृत्य, गीत वाद्य आदि के अतिरिक्त मृगया (शिकार), द्यूतक्रीडा (जुआ खेलना) और उद्यान में विहार ये भी मनोरंजन के साधन थे। जैसे :

क. मृगया—राजा आदि अपने मनोरंजनार्थ मृगया के लिए जाया करते थे। मृगया के लिए जाते समय राजा घोड़े पर सवार होता था तथा उसके साथ सैन्यदल भी जाता था। राजा संजय मृगया के लिए जाते समय चतुरंगिणी सेना को भी साथ ले गया था।[4]

ख. द्यूतक्रीड़ा—शिकार की तरह द्यूतक्रीड़ा भी ऋग्वेदकाल से ही भारत में वर्तमान है।[5] महाभारत का युद्ध द्यूतक्रीड़ा का ही परिणाम है। ग्रन्थ में अकाम-मरण को प्राप्त होनेवाले जीव

---

१. वही।

२. देखिए—लेश्या, प्रकरण २; उ० २४.१०-१३.१५; १९.५९.

३. देखिए—वनस्पति जीव, प्रकरण १; उ० ३४.४, ११, १९; २२.४५.

४. नामेणं संजओ नामं मिगव्वं उवणिग्गए

—उ० १८.१.

तथा देखिए—उ० १८.२-६.

५. ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त ३४.

की उपमा जुए में हारे हुए जुआड़ी से दी गई है।[1] इससे द्यूतक्रीड़ा व द्यूतक्रीड़ा में हारे हुए व्यक्ति की स्थिति का ज्ञान होता है।

ग. उद्यान में विहार-यात्रा—प्रायः नगरों के समीप में उद्यान हुआ करते थे जो नाना प्रकार के फूलों,[2] फलों,[3] वृक्षों,[4] और लतामण्डपों[5] आदि से सुशोभित रहते थे।[6] इनमें राजा लोग नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करते थे जिन्हें 'विहार-यात्रा' कहते थे।[7] इन उद्यानों में आकर साधु अपनी साधना भी किया करते थे।[8] ग्रन्थ में ऐसे कई उद्यानों का उल्लेख मिलता

---

१. धुत्तेव कालिणा जिए ।

—उ० ५.१६.

२. ग्रन्थ में उल्लिखित कुछ फूलों के नाम—अतसी (१६.५६; ३४.६), असन, सण (३४.८), मुचकुन्द या कुन्द (३४.६; ३६.६१), शिरीष (३४.१६) आदि ।

३. ग्रन्थ में उल्लिखित कुछ फलों के नाम—आम, कपित्थ (७.११; ३४.१२-१३), बिल्व (१२.१८), किंपाक (३२.२०; १६.१८), तालपुट (३२.४५; ६.५३; १६.१३) आदि ।

४. ग्रन्थ में उल्लिखित कुछ वृक्षों के नाम—चैत्य (६.६-१०), तिन्दुक (१२.८), जम्बू—सुदर्शन (११.२७), शाल्मलि (१६.५३; २०.३६), अशोक (३४.५), किंपाक (३२.२०) आदि ।

५. अप्फोवमंडवम्मि

—उ० १८.५.

६. नाणादुमलयाइण्णं नाणापक्खिनिसेवियं ।
नाणाकुसुमसंछन्नं उज्जाणं नंदणोवमं ॥
तत्थ सो पासई साहुं संजयं सुसमाहियं ।
निसन्नं रुक्खमूलम्मि..................।

—उ० २०.३-४.

तथा देखिए—उ० २५.३; १८.६; २३.४, ८; १६.१.

७. विहारजत्तं निज्जाओ मंडिकुच्छिसि चेइए ।

—उ० २०.२.

८. देखिए—पृ० ४१७, पा० टि० ६.

है।[1] एक जगह इन्हें 'चैत्य' शब्द से भी कहा गया है।[2] कोई-कोई उद्यान इतने बड़े होते थे कि वहाँ पर बहुत से लोग एकत्रित हो सकते थे। जैसे : श्रावस्ती नगरी के समीपवर्ती 'तिन्दुक' उद्यान में केशिकुमार तथा 'कोष्ठक' उद्यान में गौतम अपनी-अपनी शिष्यमंडली के साथ ठहरे हुए थे। इसी बीच गौतम जैनधर्म के विषय में उत्पन्न हुई शिष्यमंडली की शंका के निराकरणार्थ अपनी शिष्यमण्डली के साथ तिन्दुक उद्यान में आते हैं। उस समय वहाँ पर दोनों की शिष्य-मण्डली तथा अन्य अनेक देव-दानवों के अतिरिक्त हजारों की संख्या में बहुत से पाखण्डी, कौतुकी तथा गृहस्थ भी एकत्रित होते हैं।[3]

व्यापार और समुद्रयात्रा :

वैश्यों का मुख्य पेशा व्यापार था और वे व्यापार के लिए विदेश भी जाया करते थे।[4] व्यापार करने के कारण ही उन्हें 'वणिक्' कहा जाता था।[5] वणिक् का ही अपभ्रंश रूप 'बनिया' व्यापारियों के लिए आज भी प्रयुक्त होता है। प्रायः समुद्रपार वणिक् ही जाया करते थे। अतः समुद्र पार करने के विषय में वणिक् का दृष्टान्त दिया गया है।[6] समुद्रपार जाते समय बड़ी

---

१. जैसे : काम्पिल्य नगर का केशरी उद्यान (१८.३-४), श्रावस्ती का तिन्दुक व कोष्ठक (२३.४, ८, १५), बनारस का मनोरम (२५.३), मगध का मंडिकुक्षिक (२०.२-३), देवलोक का नन्दन (२०.३, ३६)।

२. देखिए—पृ० ४१७, पा० टि० ६-७.

३. समागया बहू तत्थ पासंडा कोउगासिया।
गिहत्थाणं अणेगाओ साहस्सीओ समागया॥
—उ० २३.१९.
तथा देखिए—उ० २३.४-१८,२०.

४. देखिए—पृ० ३१७, पा० टि० १; पृ० ४१६, पा० टि० २.

५. किणंतो कइयो होइ विक्किणंतो य वाणिओ।
—उ० ३५.१४.

६. जे तरंति अतरं वणिया व।
—उ० ८.६.
तथा देखिए—पृ० ४०२, पा० टि० १; पृ० ३१७, पा० टि० १.

नावों या जल-पोतों का उपयोग किया जाता था।[1] कभी-कभी व्यापार में इन्हें घाटा भी हो जाता था और कभी-कभी मूलधन ही निकल पाता था।[2] वस्तु को खरीदने के लिए सिक्कों का भी प्रयोग होता था। ग्रन्थ में सिक्का के अर्थ में 'काकिणी' का उल्लेख मिलता है जो उस समय का सबसे छोटा सिक्का था।[3] तोलने के लिए मापक—बाट एवं तराजू का प्रयोग होता था।[4] व्यापार के लिए समुद्रपार जाते समय व्यापारियों को बड़ा भय रहता था क्योंकि समुद्र में ज्वार-भाटे आदि के आने पर रक्षा के समुचित साधन नहीं थे। समुद्रयात्रा से वापिस आ जाना बड़ी कुशलता समझी जाती थी। अतः पालित वणिक् के विदेश से पोत द्वारा घर आ जाने पर 'कुशलतापूर्वक आ गए' ऐसा कहा गया है।[5] विदेश में कभी-कभी वणिक् शादी भी कर लेते थे। पश्चात् कुछ दिन वहाँ रहकर पत्नी के साथ घर आ जाते थे। समुद्रयात्रा में काफी समय लगने के कारण कभी-कभी समुद्रयात्रा करते समय जल-पोत में गर्भवती स्त्रियां प्रसव भी कर देती थीं।[6] समुद्रयात्रा या अन्य किसी लम्बी यात्रा पर जाते समय पाथेय (कलेवा) ले जाया

---

१. वही; उ० २३.७०-७३.

२. एगोत्थ लहई लाभं एगो मूलेण आगओ ॥
....
एगो मूलंपि हारित्ता आगओ तत्थ वाणिओ ।
—उ० ७.१४-१५.

३. जहा कागिणिए हेउं सहस्सं हारए नरो ।
—उ० ७.११.

४. जहा तुलाए तोलेउं ।
—उ० १९.४२.

दोमास कयं कज्जं ।
—उ० ८.१७.

५. खेमेण आगए चंपं ।
—उ० २१.५.

६. अह पालियस्स घरणी समुद्दम्मि पसवई ।
—उ० २१.४.

तथा देखिए—पृ० ३६७, पा० टि० १.

करते थे जिससे मार्ग में क्षुधाजन्य कष्ट न उठाना पड़े ।[1] सामान्य यात्रा में तथा माल वगैरह ढोने में बैलगाड़ी व रथ आदि को उपयोग में लाया करते थे ।[2]

रोगोपचार :

ग्रन्थ में रोग[3] तथा उसके औषधोपचार के विषय में सामान्य संकेत मिलते हैं । रोगों का इलाज करने के लिए बहुत से चिकित्साचार्य होते थे । ये वमन, विरेचन, औषधिसेवन, धूम्रप्रदान नेत्रस्नान, सर्वौषधिस्नान, मन्त्र-विद्या आदि के द्वारा रोगों का इलाज किया करते थे ।[4] जैन साधु के लिए रोगों का इलाज कराना त्याज्य था ।[5] रोगों का इलाज करने के लिए चतुष्पाद चिकित्सा की जाती थी ।[6] चतुष्पाद चिकित्सा के चार अङ्ग

---

१. अद्धाणं जो महंतं तु सपाहेज्जो पवज्जई ।
गच्छंतो सो सुही होई छुहातण्हाविवज्जिओ ॥
—उ० १९.२१.

२. जवसो लोहरहे जुत्तो जलंते समिलाजुए ।
चोइओ तुत्तजुत्तेहिं रोज्झो वा जह पाडिओ ॥
—उ० १९ ५७
तथा देखिए—उ० ९.४६; ५.१४; २७.२-८.

३. ग्रन्थ में उल्लिखित रोगों के कुछ नाम—आमय (३२.११०), व्याधि (३२.१२), आतंक (१०.२७; ५.११; २१ १८; १९.७९; २६.३५), विसूचिका, अरइ चित्तोद्वेग, गंड—जिसमें ग्रीवा फूल जाती है (१०.२७), अक्षिवेदना (२०.१९-२१).

४. मंतं मूलं विविहं वेज्जचिंतं वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं ।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥
—उ० १५.८.
तथा देखिए—उ० २०.२२; १९.७६-७७, ७९; १२.५०; २२.९; जै० भा० स०, पृ० १११-११८.

५. वही; परीषहजय व भिक्षाचर्या तप, प्रकरण ५.

६. ते मे तिगिच्छं कुव्वंति चाउप्पायं जहाहियं ।
—उ० २०.२३.
'चाउप्पायं' ति 'चतुष्पादां' भिषग्भेषजातुरप्रतिचारकात्मकचतुर्भाग चतुष्टयात्मिकां 'यथाहितं, हिताऽनतिक्रमेण ।
—वही, ने० वृ०, पृ० २६९.

ये हैं : १. श्रेष्ठ वैद्य या चिकित्सक, २. श्रेष्ठ औषधिसेवन, ३. रोगी के द्वारा इलाज कराने की उत्कट अभिलाषा और ४. रोगी के सेवक।

मन्त्र-शक्ति व शकुन में विश्वास :

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में मन्त्र-तन्त्रशक्ति तथा शुभाशुभ फल बतलानेवाले शास्त्रों में विश्वास रहा है। अतः जैन साधु को इन सभी मन्त्र-तन्त्रशक्तियों तथा शुभाशुभ फल बतलानेवाले शास्त्रों का जीविका आदि के लिए प्रयोग न करने को कहा गया है।[१] श्रेष्ठ साधु मन्त्रादि शक्तियोंवाले होते थे और उनकी इसी शक्ति के कारण जनता में साधु के प्रकोप का बड़ा भय रहता था। इसीलिए मुनि की शरण में आए हुए मृग को मारने के कारण राजा संजय भयभीत हो जाता है और क्षमा मांगता है।[२] इसी प्रकार हरिकेशिबल मुनि का तिरस्कार करनेवाले ब्राह्मणों से भद्रा कुमारी कहती है कि यह मुनि घोर पराक्रमी तथा आशीविष लब्धिवाला (मनःशक्तिविशेष) है। यह क्रोधित होने पर तुम सबको तथा सम्पूर्णलोक को भी भस्म कर सकता है। इसकी निन्दा करने का अर्थ है—नखों से पर्वत को खोदना, दांतों से लोहे को चबाना, पैरों से अग्नि को कुचलना। अतः यदि जीवन और धनादि की अभिलाषा करते हो तो तुम सब लोग इसकी शरण में जाकर क्षमा मांगो। इतना कहकर वह स्वयं भी मुनि से क्षमा मांगती है।[३] अरिष्टनेमी के विवाह के अवसर पर कौतुक-मंगल करने का[४] अर्थ है शुभाशुभ शकुनों में विश्वास। इसी तरह रोगोपचार में भी मन्त्रादि शक्तियों का प्रयोग होता था।[५] ग्रन्थ में इस तरह की निम्नोक्त विद्याओं का उल्लेख मिलता है :[६]

---

१. देखिए—आहार, प्रकरण ४.

२. विजएण वंदए पाए भगवं एत्थ मे खमे।

—उ० १८.८.

३. देखिए—पृ० ३७३, पा० टि० ५; उ० १२.२३, २६-२८, ३०.

४. देखिए—पृ० ४११, पा० टि० ३.

५. देखिए—पृ० ५२०, पा० टि० ४.

६. उ० १५.७; २०.४६; २२.५; ३६.२६७; ८.१३.

१. छिन्न विद्या (वस्त्र व काष्ठ आदि के छेदने की विद्या), २. स्वर विद्या (संगीत के स्वरों का ज्ञान), ३. भूकम्प विद्या, ४. अन्तरिक्ष विद्या, ५. स्वप्न विद्या, ६. लक्षण विद्या (स्त्री व पुरुष के चिह्नों एवं रेखाओं का ज्ञान), ७. दण्ड विद्या (लाठी के पर्वों का ज्ञान), ८. वास्तु विद्या (प्रसाद-सम्बन्धी विद्या), ९. अंगविचार विद्या (अंग-स्फुरण का ज्ञान), १०. पशु-पक्षी के स्वरों की विद्या, ११. कौतुक विद्या (कौतूहल उत्पन्न करनेवाली विद्या[1], १२. कुहेटक विद्या (आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली विद्या) और १३. निमित्त विद्या (त्रिकाल में शुभाशुभ फल बतलानेवाली विद्या)। इनके अतिरिक्त अभीष्ट सिद्धि के लिए मन्त्र तथा भूतिकर्म (भस्म का लेप) का भी प्रयोग किया जाता था।[1] इन्हें मन्त्र-तन्त्र या जादू-टोना की शक्ति कहा जा सकता है। इनकी सिद्धि तपादि के प्रभाव से होती थी। अतः साधु को तप के प्रभाव से सिद्ध होनेवाली शक्तियों की ओर से निःस्पृह रहने को कहा गया है।

इस तरह इन विविध रीति-रिवाजों एवं प्रथाओं से तत्कालीन भारतीय समाज व संस्कृति के साथ उद्योग-व्यापार आदि का भी पता चलता है। किसी भी समाज व संस्कृति की ठीक-ठीक स्थिति के जानने में इन रीति-रिवाजों और प्रथाओं का प्रमुख स्थान होता है।

राज्य-व्यवस्था व सामान्य-प्रवृत्तियाँ

'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत प्रायः सभी जानते हैं। साथ ही यह भी सभी जानते हैं कि देशकाल की परिस्थिति के अनुकूल जनसामान्य की प्रवृत्तियाँ भी बदलती रहती हैं और जनसामान्य की प्रवृत्तियाँ बदलने पर तत्कालीन राज्य-व्यवस्था के साथ धार्मिक व दार्शनिक सम्प्रदायों पर भी प्रभाव पड़ता है। प्रकृत ग्रन्थ में राज्य-व्यवस्था आदि के विषय में जो संकेत मिलते हैं वे इस प्रकार हैं:

---

१. मंताजोगं काउं भूईकम्मं च जे पउंजंति।

—उ० ३६.२६५.

राज्य-व्यवस्था :

प्रजा पर शासन करना क्षत्रिय का काम था और जो शासक होता था वह राजा कहलाता था। सामान्यतया राजा की मृत्यु के बाद उसका पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होता था। अतः राजागण अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर दीक्षा ग्रहण किया करते थे।[1] जिस सम्पत्ति का कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था उसका उत्तराधिकारी राजा होता था। अतः भृगु पुरोहित के सपरिवार दीक्षा ले लेने पर इषुकार देश का राजा उस पर अपना अधिकार बतलाता है।[2]

राजाओं का ऐश्वर्य—राजाओं का ऐश्वर्य देवों के तुल्य होता था।[3] इनके प्रासादों के तलभाग में मणि-रत्नादि जड़े रहते थे।[4] सिर पर छत्र-चामर डुलाए जाते थे।[5] ये नृत्य, गीत, वाद्य आदि संगीत-सामग्री से युक्त नारीजनों के साथ भोग भोगा करते थे। युद्ध में कुशलता प्राप्त करने के लिए कभी-कभी ये

---

१. पुत्तं रज्जे ठवित्ता णं।
—उ० १८.३७.
तथा देखिए—उ० ९.२; १८.४७.

२. पुरोहियं तं ससुयं सदारं सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए।
कुडुंबसारं विउलुत्तमं च रायं अभिक्खं समुवाय देवी॥
—उ० १४.३७.

३. सो देवलोगसरिसे अंते उरवरगओ वरे भोए।
भुंजित्तु नमी राया बुद्धो भोगे परिच्चयई॥
—उ० ९.३.
तथा देखिए—उ० ९.५१.

४. मणिरयणकुट्टिमतले पासायालोयणे ठिओ।
आलोएइ नगरस्स चउक्कत्तिय चच्चरे॥
—उ० १९.४.

५. अह ऊसिएण छत्तेण चामराहि य सोहिओ।
—उ० २२.११.
नट्टेहिं गीएहिं य वाइएहिं नारीजणाइं परिवारयंतो।
—उ० १३.१४.
तथा देखिए—पृ० ४२१, पा० टि० ३.

सैन्यदल के साथ शिकार खेलने भी जाते थे।[1] ये सुकुमार, सुसज्जित और सुखोचित होते थे।[2] भोग-विलासता के कारण कभी-कभी कोई-कोई राजा अपना राज्य भी हार जाता था।[3] प्रधान राजा के आधीन अन्य कई राजागण होते थे जो एक-एक देश के स्वामी होते थे।[4] राजा की दीक्षा के अवसर का दृश्य भी दर्शनीय होता था।[5] राजाओं का इतना ऐश्वर्य एवं प्रभुत्व होने पर भी राजाज्ञा को सभी लोग प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार नहीं करते थे अपितु दबाव एवं भय के कारण मानते थे। अतः ग्रन्थ में अविनीत शिष्य के द्वारा गुरु की आज्ञा पालन करने के विषय में राजाज्ञा का दृष्टान्त दिया गया है।[6]

राजाओं के प्रमुख कार्य—राजा को अपने राज्य का विस्तार करने तथा शत्रु के आक्रमण से राज्य की सुरक्षा करने के लिए युद्ध करना पड़ता था। अतः युद्ध में कुशल होना राजा को आवश्यक होता था। राजा का प्रधान बल सेना थी और वह युद्धस्थल में सेना से ही शोभित होता था।[7] सेना चार भागों (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल) में विभक्त रहती थी जिसे चतुरंगिणी सेना

---

१. देखिए—पृ० ४१६, पा० टि० ४.

२. सुहोइओ तुमं पुत्ता सुकुमालो सुमज्जिओ।
—उ० १९.३५.

३. अपत्थं अंबगं भोच्चा राया रज्जं तु हारए।
—उ० ७.११.

४. जे केइ पत्थिवा तुज्झं नानमंति नराहिवा।
वसे ते ठावइत्ताणं तओ गच्छसि खत्तिया॥
—उ० ९.३२.

अभिओ रायसहस्सेहिं सुपरिच्चाई........।
—उ० १८.४३.

५. कोलाहलगभूयं आसी मिहिलाए पव्वयंतम्मि।
—उ० ९.५.

६. रायवेट्ठिं च मन्नंता करेंति भिउडिं मुहे।
—उ० २७.१३.

७. देखिए—पृ० ४०२, पा० टि० १.

कहते थे।[1] हाथी और घोड़े युद्ध में प्रमुख सहायक होते थे। इनमें हाथी सबसे आगे रहता था।[2] शत्रु के प्रहारों को रोकने के लिए घोड़ों को कवच पहनाए जाते थे।[3] विजेता प्रधान सैनिक सबके द्वारा प्रशंसित होता था।[4] राज्य की दृढ़ता और अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए राजा के कुछ कर्तव्यों का उल्लेख इन्द्र-नमिसंवाद में मिलता है। जैसे :

१. राज्य में प्रजा को किसी प्रकार का दुःख न हो। अतः नीतिमान शासक को प्रजा पर अनुकम्पा करनेवाला होना चाहिए। इसीलिए इन्द्र राजा नमि की दीक्षा के समय पूछता है कि आज मिथिला में इतना कोलाहल क्यों व्याप्त है तथा महलों आदि में दारुण शब्द क्यों सुनाई पड़ रहे हैं ?[5] चित्त मुनि भी ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को सब प्रजा पर अनुकम्पा करने तथा धर्मस्थ होकर आर्यकर्म करने का उपदेश देते हैं।[6]

२. अन्तःपुर, मन्दिर आदि को जलते हुए देखकर उनकी सुरक्षा करे। अतः इन्द्र दूसरा प्रश्न एतद्विषयक ही पूछता है।[7]

---

१. चउरंगिणीए सेणाए रइयाए जहक्कमं ।
तुडियाणं सन्निनाएणं दिव्वेणं गगणंफुसे ॥
—उ० २२.१२.
तथा देखिए—पृ० ४१६, पा० टि० ४.

२. देखिए—पृ० ४१३, पा० टि० ३; उ० ११.१७.

३. आसे जहा सिक्खिय वम्मधारी ।
—उ० ४.८.

४. जहाइण्ण समारूढे सूरे दढपरक्कमे ।
उभओ नंदिघोसेणं एवं हवइ बहुस्सुए ॥
—उ० ११.१७.

५. किण्णु भो अज्ज……सुव्वंति दारुणा सद्दा ।
—उ० ९.७.

६. अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी ।
—उ० १३.३२.

७. एस अग्गी य वाऊ य……कीसं णं नावपेक्खह ।
—उ० ९.१२.

३. शत्रुओं के आक्रमण से राज्य की सुरक्षा के लिए किला, गोपुर, (किले का दरवाजा), अट्टालिका, खाई, उत्सूलका (किले की खाई), शतघ्नी (बन्दूक), धनुष, अर्गला, नगर, केतन, डोरी, बाण आदि बनवाना चाहिए।[1] इनके अतिरिक्त राजा को अन्य शस्त्रादि का भी निर्माण करवाना पड़ता था। ग्रन्थ में ऐसे अन्य कई शस्त्रों का उल्लेख मिलता है। जैसे : असि (अतसी पुष्प के रंग की तलवार), करपत्र (आरा), क्रकच (आरा विशेष), कुठार, कल्पनी (कतरनी), गदा, त्रिशूल, क्षुरिका, मूसल, मुग्दर (जिसके दोनों किनारों पर त्रिशूल हो), भल्ली (भाला), वासी (परशु), अंकुश (हाथी को वश में रखने का चाबुक), तूर्य (वादित्र), लोहरथ, समिला (रथ की धुरी) आदि।[2]

४. वास्तुकला आदि के विकास के लिए विविध प्रकार से अलंकृत अनेक प्रासादों का निर्माण कराना।[3] राज्य में वास्तुकला का विकास कराने में राजा ही समर्थ होता था क्योंकि ये प्रासाद बहुत व्यय साध्य होते थे। ऐसे कुछ प्रासादों का उल्लेख ग्रन्थ में भी मिलता है।[4]

५. चोरी करनेवाले (आमोष), डाकू (लोमहर), रास्ते में लूटनेवाले लुटेरे (ग्रन्थि-भेदक) तथा ठगनेवाले (तस्कर) चोर विशेषों से नगर की रक्षा।[5] ग्रन्थ में दस्यु और म्लेच्छों की संख्या

---

१. पागारं कारइत्ता णं गोपुरट्टालगाणि य ।
उस्सूलग सयग्घीओ तओ गच्छसि खत्तिया ॥
—उ० ९.१८.

तथा देखिए—उ० ९.२०-२२.

२. उ० १९.३८, ५२, ५६-५७, ६०, ६१-६३, ६७-६८, ६९; १४.२१; २०.४७; २१.५७; २२.१२; २७.४,७; ३४.१८.

३. पासाए कारइत्ताणं वद्धमाणगिहाणि य ।
बालग्ग पोइयाओ य तओ गच्छसि खत्तिया ॥
—उ० ९.२४.

४. वही; उ० ९.७; १३.४; १.२६; १९.३-४; १३.१३.

५. आमोसे लोमहारे य गंठिभेए य तक्करे ।
नगरस्स खेमं काऊणं तओ गच्छसि खत्तिया ॥
—उ० ९.२८.

बहुत अधिक बतलाई गई है।[1] चोर सेंध लगाकर चोरी करते थे।[2] पकड़े जाने पर राजदण्ड मिलता था। फांसी का दण्ड मिलने के पूर्व अपराधी को कोई निश्चित वेश-भूषा पहनाई जाती थी जिससे लोग पहचान लेते थे कि अमुक ने चोरी की है। अतः समुद्रपाल वधस्थान को ले जाए जानेवाले वधयोग्य चिह्नों से विभूषित वध्य (चोर) को देख-कर वैराग्य को प्राप्त हो जाता है।[3] कभी-कभी सच्चा अपराधी नहीं पकड़ा जाता था और निरपराध को दण्ड मिल जाता था।[4]

६. राज्य का विस्तार करने तथा प्रभुत्व स्थापित करने के लिए नमस्कार न करनेवाले राजाओं को वश में करने का निरन्तर प्रयत्न कराना।[5]

७. लोकहितकारक बड़े-बड़े यज्ञ कराना तथा श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन-पान करना।[6]

८. स्व-पराक्रम से प्राप्त वस्तु का ही उपभोग करना। अतः इन्द्र राजा नमि से कहता है कि आप गृहस्थाश्रम में ही रहें अन्य (संन्यास) आश्रम की अभिलाषा न करें क्योंकि संन्यासाश्रम में याचनापूर्वक जीवन यापन करना पड़ता है।[7] दूसरों से याचना करना क्षत्रियधर्म के विपरीत है।

---

१. बहवे दसुया मिलेक्खुया ।

—उ० १०.१६.

२. तेणे जहा संधिमुहे गहीए ।

—उ० ४.३.

३. वज्झमंडणसोभागं वज्झं पासइ वज्झगं ।

—उ० २१. ८.

४. असइं तु मणुस्सेहिं मिच्छादंडो पजुंजई ।
अकारिणोऽत्थ बज्झंति मुच्चई कारओ जणो ।

—उ० ९.३०.

५. देखिए—पृ० ४२८, पा० टि० ४.

६. देखिए—पृ० ४०६, पा० टि० ४.

७. देखिए—पृ० २३५, पा० टि० ३.

९. राज्यकोश की वृद्धि करना। राजा को कोशवृद्धि करना आवश्यक होता था क्योंकि कोश न होने पर राज्य चिरस्थायी नहीं हो सकता था। अतः इन्द्र राजा को हिरण्य, सुवर्ण, मणि, मुक्ता, कांस्य, दूष्य (वस्त्र), वाहन (हाथी-घोड़े) आदि से कोशवृद्धि करने को कहता है।[1] कोशवृद्धि में सतत प्रयत्नशील रहने के कारण ग्रन्थ में क्षत्रियों को लोक के सम्पूर्ण पदार्थों की प्राप्ति होने पर भी अतृप्त होने के दृष्टान्तरूप में बतलाया गया है।[2]

१०. शरणागत को अभयदान देना। अतः मुनि की शरण में आए हुए मृग को मारनेवाला राजा संजय मुनि से क्षमा मांगता है।[3]

इस तरह तत्कालीन राज्य-व्यवस्था की कुछ झलक ग्रन्थ में मिलती है।

मानव-प्रवृत्तियां :

उस समय जनसामान्य की प्रवृत्तियां किस प्रकार की थीं? इस विषय में केशि-गौतम संवाद में एक उल्लेख मिलता है।[4] इसमें बतलाया गया है कि आदिकाल (ऋषभदेव के समय) के जीव 'ऋजुजड़' थे। इसका अर्थ है—सरल प्रकृति के तो थे परन्तु अर्थ-बोध अधिक कठिनाई से होता था अर्थात् इस समय के व्यक्ति विनीत होकर के भी विवेक से रहित थे। इसके बाद मध्यकाल (ऋषभदेव के बाद तथा महावीर के जन्म लेने के पूर्व) के जीव 'ऋजुप्राज्ञ' थे। इसका अर्थ है—सरल के साथ बुद्धिमान् थे अर्थात् ये थोड़े से संकेत मात्र से सब समझ जाते थे और विनीत भी थे। परन्तु महावीर के काल के जीव जिनके शासन काल में उत्तराध्ययन का संकलन हुआ है 'वक्रजड़' थे। इसका अर्थ है—कुतर्क करनेवाले तथा विवेक से

---

१. हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं कंसं दूसं च वाहणं।
कोसं वड्ढावइत्ताणं तओ गच्छसि खत्तिया॥
—उ० ९.४६.

२. न निविज्जंति संसारे सव्वट्ठेसु व खत्तिया।
—उ० ३.५.

तथा देखिए—उ० ९.४९.

३. देखिए—पृ० ४२१, पा०, टि० २; उ० १८.७, ११.

हीन अर्थात् धार्मिक उपदेश को कुतर्क द्वारा खण्डित करनेवाले तथा विवेक से रहित।[1] अतः इसका अर्थ हुआ कि ग्रन्थ के रचना-काल में जनता का धर्म के प्रति विश्वास घटता आ रहा था और वे संसार के भोगों में निमग्न होते आ रहे थे। हिंसा, झूठ, लूटपाट, चोरी, मायाचारी, शठता, कामासक्ति, धनादि-संग्रह में आसक्ति, मद्य-मांसभक्षण, पर-दमन, अहंकार, लोलुपता आदि अनेक प्रवृत्तियां जनता में बढ़ रही थीं।[2] इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उस समय के सभी लोग ऐसे ही थे अपितु बहुत से जीव सदाचारी भी थे। उन्हें अपने कुल, जाति आदि की प्रतिष्ठा का भी ध्यान था। अतः राजीमती संयम से पतित होनेवाले रथनेमी को कुल का स्मरण कराकर उसे व स्वयं को संयम में दृढ़ करती है।[3] ऐसे लोग बहुत कम थे। अतः ग्रन्थ में कई स्थलों पर द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा भाव-यज्ञ, बाह्यशुद्धि की अपेक्षा अन्तरंगशुद्धि, बाह्यलिङ्ग (वेष-भूषा) की अपेक्षा आन्तरिक लिंग, द्रव्य-संयम की अपेक्षा भाव-संयम की प्रधानता बतलाई गई है। इसके अतिरिक्त भाव-संयम से हीन व्यक्ति की निन्दा भी की गई है।[4]

धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदाय :

धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदायों के संचालक प्रायः साधु होते थे। जनसामान्य की तरह ये भी संयम से पतित होकर विषयों के प्रति उन्मुख हो रहे थे। कामासक्ति सबसे अधिक थी। अतः ग्रन्थ में ब्रह्मचर्य व्रत को सबसे कठिन बतलाकर अपरिग्रह व्रत से पृथक् स्वतन्त्र व्रत के रूप में इसे स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त और भी अन्य अनेक कुप्रवृत्तियाँ साधु सम्प्रदाय में बढ़ रही थीं। अतः ग्रन्थ

---

१. देखिए—पृ० २५७, पा० टि० १.

२. उ० ३.५-६, ९-१०; ७.५-७, २२; १०.२०; १७.१; १४.१६; ३४.२१-३२ आदि।

३. अहं च भोगरायस्स तं चासि अंधगवण्हिणो।
मा कुले गंधणा होमो संजमं निहुओ चर॥
—उ० २२.४४.

४. देखिए—पृ० २१८, पा० टि० ३; पृ० २१९, पा० टि० १-३; अनुशीलन, प्रकरण ५.

में बार-बार साधु को सचेष्ट रहने के लिए कहा गया है। सत्रहवें अध्ययन में पतित-साधुओं के कुछ ऐसे ही क्रिया-कलापों का वर्णन किया गया है। धार्मिक सम्प्रदायों में यद्यपि प्रकृत ग्रन्थ में जैन श्रमणों के आचार का ही वर्णन किया गया है परन्तु कुछ ऐसे संकेत भी मिलते हैं जिनसे अन्य धार्मिक सम्प्रदायों की स्थिति का भी पता चलता है। ग्रन्थ में उन्हें असत् अर्थ की प्ररूपणा करनेवाले, मिथ्यादृष्टि, पाखण्डी आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है।[1] उन सम्प्रदायों के नाम ये :[2] १. क्रियावादी (केवल क्रिया से मुक्ति माननेवाले), २. अक्रियावादी (आत्मा की क्रियाशीलता में विश्वास न करनेवाले), ३. विनयवादी (पशु-पक्षी आदि सभी के प्रति विनय-भाव रखनेवाले), ४. अज्ञानवादी (मुक्ति के लिए ज्ञान की अपेक्षा न स्वीकार करनेवाले) ५. शाश्वतवादी (वस्तु को नित्य माननेवाले)। इन सम्प्रदायों का उल्लेख जैन आगमों में विस्तार से मिलता है।[3]

इन चार प्रकार के दार्शनिक सम्प्रदायो के अतिरिक्त ग्रन्थ में बाह्य वेष-भूषा के आधार से पाँच प्रकार के साधु-सम्प्रदायों का भी उल्लेख है :[4] १. चीराजिन (वस्त्र व मृगचर्म धारण करने-

---

१. कुतित्थिनिसेवए जणे।

—उ० १०.१८.

पासंडा कोउगासिया ॥

—उ० २३.१९.

तथा देखिए—उ० १८.२६-२७, ५२.

२. किरियं अकिरियं विणयं अन्नाणं च महामुणी।
एएहिं चउहिं ठाणेहिं मेयन्ने किं पभासई ॥

—उ० १८.२३.

स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा एसोवमा सासय वाइयाणं।

—उ० ४.९.

३. देखिए—जै० भा० स०, पृ० ३७१, ४२८; सूत्रकृतांगसूत्र १.१२.१.

४. चीराजिणं नगिणिणं जडी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न तायंति दुस्सीलं परियागयं ॥

—उ० ५.२१.

वाले), २. नग्न (नग्न रहनेवाले जैनेतर साधु), ३. जटाधारी, ४. संघाटी (गुदड़ी के वस्त्र धारण करनेवाले) और ५. मुण्डित (शिर मुड़ानेवाले जैनेतर साधु) ।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त उस समय और भी कई सम्प्रदाय रहे होंगे परन्तु उनका यहाँ उल्लेख नहीं मिलता है। केशि-गौतम संवाद से स्पष्ट है कि जैनश्रमणों में भी दो सम्प्रदाय थे : १. सचेल (पार्श्वनाथ की परम्परा के शिष्य) और २. अचेल (महावीर की परम्परा के शिष्य) । ये ही दोनों सम्प्रदाय कालान्तर में श्वेताम्बर (स्थविरकल्प) और दिगम्बर (जिनकल्प) सम्प्रदाय के रूप में प्रसिद्ध हुए।

उपसंहार

सामाजिक-व्यवस्था की दृष्टि से उस समय जाति और वर्ण के आधार पर सामाजिक संगठन था। जात-पांत का भेदभाव बहुत बढ़ चुका था। शूद्रों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। ये दास के रूप में काम करते थे और इनका सर्वत्र निरादर होता था। ब्राह्मणों का आधिपत्य था और वे धर्म के नाम पर यज्ञों में अनेक मूक-पशुओं की हिंसा करके अपना उदर-पोषण करते थे। ये वेदों के वास्तविक अर्थ को नहीं समझते थे। जैनों का उनसे वाद-विवाद होता था। अधिकांश क्षत्रिय और वैश्य काफी धनसम्पन्न थे। क्षत्रिय प्रजा पर शासन करते और भोग-विलास में लीन रहते थे। कुछ क्षत्रिय राजा श्रमणदीक्षा भी ले लेते थे। वैश्य विदेशों तक व्यापार करने जाते और निमित्त मिलने पर श्रमण-दीक्षा भी ले लेते थे।

परिवार में माता-पिता का स्थान सर्वोपरि होता था। पिता परिवार का पालन-पोषण करता था। परिवार में पुत्र सबको प्रिय था। माता-पिता पुत्र के अभाव में घर में रहना निरर्थक समझते थे। परिवार में माता-पिता की शोभा पुत्र से ही मानी जाती थी। अतः पुत्र के दीक्षा ले लेने पर माता-पिता बड़े चिन्तित होते थे और कभी-कभी माता-पिता भी पुत्र के साथ दीक्षा ले लेते थे। पिता की मृत्यु के बाद परिवार की बागडोर पुत्र ही सम्हालता था।

साधारणतः पत्नी का जीवन पति-भक्ति तक ही सीमित था। अतः कभी-कभी पति के दीक्षा ले लेने पर पत्नियां भी दीक्षा ले लेती थीं। पति के लिए पत्नियां प्रायः भोगविलास की साधन थीं। कुछ पत्नियाँ पति को भी प्रबोधित करती थीं। एक भाई दूसरे भाई से साधरणतया प्रेम करता था।

नारी यद्यपि परिवार से पृथक् नहीं है परन्तु उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। पुरुष जैसा चाहता वैसा उसके साथ व्यवहार करने में स्वतन्त्र था। पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करके संयम से पतित करने में कारण नारी ही होती थी। परन्तु यह पुरुष की एकांगी धारणा थी क्योंकि वह अपने आपको संयमित न कर सकने के कारण नारी को दोष देता था और उसे भला-बुरा सब कुछ कहता था। अन्यथा राजीमती, कमलावती जैसी श्रेष्ठ नारियों की भी कमी नहीं थी जिन्होंने पुरुषों को संयम में प्रवृत्त कराया। यह सच है कि ऐसी श्रेष्ठ नारियाँ कम थीं और अधिकांश नारियां परापेक्षी तथा भोग-विलास में ही निमग्न थीं। ये पिता के द्वारा जिसे दे दी जाती थी उनका सर्वस्व वही हो जाता था। पति के दीक्षा ले लेने पर कुछ नारियां उनका अनुसरण भी करती थीं। कुछ पति की मृत्यु हो जाने पर पर-पुरुष का भी आलम्बन कर लेती थीं। इस तरह स्त्रियों की स्वतन्त्र-स्थिति का प्रायः अभाव था।

धार्मिक-प्रथाओं में यज्ञ का अत्यधिक प्रचलन था। यज्ञों में अनेक मूक-पशुओं की बलि दी जाती थी। कुछ ऐसे भी यज्ञ होते थे जो घृतादि के द्वारा ही सम्पन्न किए जाते थे। इनमें हिंसा नहीं होती थी और ऐसे यज्ञमण्डपों में जैनश्रमण भी भिक्षार्थ जाया करते थे। कभी-कभी वहां उनका तिरस्कार भी होता था परन्तु फिर भी वे वहां पर शान्त रहते और अवसर मिलने पर यज्ञ की भावपरक आध्यात्मिक व्याख्याएँ भी किया करते थे।

स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध कराने के लिए विवाह की प्रथा प्रचलित थी। उसमें प्रायः पिता ही सर्वोपरि होता था। अतः पुत्र या पुत्री के अधिकांश सम्बन्ध पिता ही निश्चित किया करता था। श्रेष्ठ कन्याओं का विवाह बड़े उत्सव के साथ होता था।

बारात के साथ वर कन्या के घर जाता था परन्तु हरेक विवाह-सम्बन्ध में वर बारात के साथ कन्या के घर नहीं जाता था। इसीलिए राजीमती के पिता उग्रसेन केशव से बारात लेकर आने को कहते हैं। वर जब बारात के साथ प्रस्थान करता था तो उसे नाना प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित किया जाता था तथा देश व कुल की परम्परानुसार कौतुक-मंगल आदि कार्य भी किए जाते थे। कुछ कन्याएँ राजाओं को भेंटरूप में भी दे दी जाती थीं। व्यापार के लिए विदेश गए हुए वैश्य पुत्र कभी-कभी विदेश में ही विवाह कर लेते थे और कुछ दिन घरजमाई बनकर अपने घर वापिस आ जाते थे। उस समय बहु-विवाह भी होते थे। कभी-कभी पिता पुत्र के लिए कहीं से सुन्दर कन्या भी ले आते थे। ऐसे सम्बन्ध शायद खरीदकर लाई गई अथवा भेंटरूप में दी गई अथवा बलात् छीनकर लाई गई कन्याओं के साथ होते रहे होंगे। जैसा कि अन्य तत्कालीन जैन आगम-ग्रन्थों में धन देकर कन्याओं को खरीदने के उल्लेख मिलते हैं।[1] कभी-कभी विवाह-सम्बन्ध देव की प्रेरणा आदि से भी कर दिए जाते रहे होंगे। इस तरह स्त्री और पुरुष को एक बन्धन में बांधने (विवाह) के लिए कोई एक निश्चित रिवाज नहीं था अपितु यथासुविधा ये सम्बन्ध हो जाया करते थे।

परिवार में किसी के मर जाने पर उसका दाह-संस्कार करने का रिवाज था। दाह-संस्कार प्रायः पुत्र या पिता करता था। इसके बाद कुछ दिन शोक करके उसके सभी सम्बन्धीजन अपने-अपने कार्यों में यथास्थान लग जाते थे।

जीविका-निर्वाह तथा युद्ध आदि में उपयोग के लिए पशु-पक्षियों का पालन किया जाता था। पशुओं में हाथी, घोड़ा, गाय, बकरा आदि प्रमुख थे। खान-पान में घी, दूध, फल, अन्न, मांस-मदिरा आदि का आम-रिवाज था। बकरे का मांस बड़े चाव से खाया जाता था। अतः 'एलय' अध्ययन में 'कर्कर' शब्द करते हुए बकरे के मांस-भक्षण का दृष्टान्त दिया गया है।

---

१. जै० आ० स०, पृ० २५५.

क्षत्रिय राजा लोग युद्ध-कौशल तथा मनोरंजन आदि के लिए चतुरंगिणी सेना के साथ मृगया-विहार के लिए जाया करते थे। ये शहर के समीप वर्तमान उद्यानों में आकर स्त्रियों के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हुए मनोरंजन भी करते थे। धनिक व्यापारी लोग नाव से समुद्र पार करके विदेश में व्यापार करने के लिए भी जाते थे। समुद्रयात्रा में विघ्नों की संभावना अधिक रहती थी। यह समुद्रयात्रा करने का सामर्थ्य प्रायः व्यापारियों में ही अधिक था। कभी-कभी वणिक् स्त्रियां भी समुद्रयात्रा करती थीं। समुद्रयात्रा में इतना समय लगता था कि कभी-कभी गर्भवती स्त्रियां रास्ते में प्रसव भी कर दिया करती थीं।

रोगादि का निवारण औषधिसेवन के अतिरिक्त मन्त्र-तन्त्र-शक्तियों से भी किया जाता था। इलाज करनेवाले बहुत से चिकित्सक होते थे और वे वमन आदि क्रिया के द्वारा रोग का इलाज किया करते थे। मन्त्र-तन्त्र-शक्ति में जनता का काफी विश्वास था। कुछ लोग तपस्या के प्रभाव से मन्त्रादि शक्ति प्राप्त करके जीविका भी चलाते थे। जनता में अन्धविश्वास भी अधिक था। शुभाशुभ शकुनों का विचार किया जाता था। जैनश्रमणों को इन सबसे दूर रहने का विधान था।

समाज में सुख-शान्ति बनाए रखने के लिए शासन-व्यवस्था थी। शासन का अधिकार क्षत्रियों के हाथ में था। शासन करने-वाला राजा कहलाता था। ये प्रायः एक-एक देश के स्वामी होते थे और देश की उन्नति आदि के लिए प्रयत्न किया करते थे। सभी देशों पर एकछत्र राज्य करनेवाला 'चक्रवर्ती' कहलाता था और उसे सभी राजागण नमस्कार करते थे। राजगद्दी प्राप्त करने का अधिकारी सामान्यरूप से राजा का पुत्र होता था। लावारिश सम्पत्ति का अधिकारी राजा होता था। इनका ऐश्वर्य देवों के तुल्य था। ये प्रायः अन्तःपुर की रानियों आदि के साथ भोग-विलास में लिप्त रहा करते थे। कभी-कभी ये श्रमण-दीक्षा भी ले लेते थे। जब कोई योग्य शासक दीक्षा लेता था तो उस समय का दृश्य बड़ा ही दर्शनीय और कारुणिक होता था। शत्रुओं के आक्रमण होते रहने से राजागण सदैव सैन्यदल बढ़ाने तथा कोषवृद्धि करने के प्रति

जागरूक रहते थे। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के अस्त्रों-शस्त्रों आदि का निर्माण भी कराते थे।

चोर व डाकू भी कई प्रकार के थे। उन्हें पकड़ने और दण्ड देने के लिए न्याय की व्यवस्था थी। अपराधी को मृत्यु-दण्ड भी दिया जाता था। अपराधी को वधस्थान ले जाते समय उसे एक निश्चित वेश-भूषा पहनाकर शहर में घुमाया जाता था ताकि अन्य लोग उसे देखकर वैसा काम न करें। शरणागत की रक्षा की जाती थी। राजाज्ञा को सभी लोग प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार नहीं करते थे।

नाट्यकला, स्थापत्यकला, संगीतकला, चित्रकला आदि का विकास था और इनका विकास प्रायः राजाओं के द्वारा ही होता था।

जनसामान्य की प्रवृत्ति धर्म से हटकर भोग-विलास की ओर अधिक थी। यद्यपि श्रेष्ठ साधुगण धर्म में स्थिर करने के लिए प्रयत्नशील थे फिर भी लोग अपने आचार से बहुत अधिक मात्रा में पतित हो रहे थे। आचार से पतित होनेवाले साधु लोग कुतर्क करके गुरु एवं आचार्य आदि की अवहेलना करते थे। धार्मिक तथा दार्शनिक साधुओं के कई सम्प्रदाय थे। इन सबमें जैन-श्रमणों तथा ब्राह्मणों का आधिपत्य था। श्रेष्ठ साधुओं का सत्कार सर्वत्र होता था। राजा भी उनके कोप से भयभीत रहते थे। जैन-श्रमणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी जातियों के व्यक्ति थे। अधिकांश क्षत्रिय थे। जैनश्रमणों के भी दो सम्प्रदाय थे जिन्हें श्रावस्ती के उद्यान में हुए एक सम्मेलन द्वारा एक में मिला दिया गया था परन्तु कालान्तर में वे पुनः श्वेताम्बर और दिगम्बर के रूप में प्रस्फुटित हुए।

इस तरह उत्तराध्ययन में समाज और संस्कृति का जो सामान्य चित्रण मिलता है वह तत्कालीन अन्य ग्रन्थों का अवलोकन किए बिना पूर्ण नहीं कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उत्तराध्ययन के मुख्यतः धार्मिक ग्रन्थ होने से तथा किसी एक काल-विशेष की रचना न होने से इसमें चित्रित समाज व संस्कृति से यद्यपि किसी एक काल-विशेष का पूर्ण चित्र उपस्थित नहीं होता है फिर भी तत्कालीन समाज एवं संस्कृति की एक झलक अवश्य मिलती है।

इस सब विवेचन से इतना तो निश्चित है कि उस समय समाज चार वर्णों तथा चार आश्रमों में विभक्त था, जाति-प्रथा का जोर था, ब्राह्मणों का आधिपत्य था, वैदिक यज्ञों का बोलबाला था, जैनश्रमणों का जीवन कष्टप्रद होने पर भी उनका प्रसार हो रहा था, समुद्रपार जहाजों से व्यापार होता था, राजा लोग राज्य के विस्तार के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे जिससे अक्सर युद्ध हुआ करते थे, शूद्रों की स्थिति दयनीय थी, नारी विकास की ओर कदम उठा रही थी, समाज भोग-विलास की ओर गतिशील था, धर्म के प्रति जनता की अभिरुचि कम थी तथा धार्मिक एवं दार्शनिक मत-मतान्तर काफी थे।

★

प्रकरण ८

उपसंहार

उत्तराध्ययन-सूत्र अर्ध-मागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध एक धार्मिक काव्य-ग्रन्थ है। यह किसी एक व्यक्ति की किसी एक काल की रचना नहीं है अपितु इसमें मुख्यतः भगवान् महावीर-परिनिर्वाण के समय दिए गए उपदेशों का विभिन्न समयों में किया गया संकलन है। भगवान् महावीर के शिष्यों ने उनके जिस उपदेश को ग्रन्थों के रूप में निबद्ध किया वे अंग और अंगबाह्य आगम (श्रुत) कहे जाते हैं। इनमें से जो साक्षात् महावीर के शिष्यों (गणधरों) के द्वारा रचित हैं वे अंग और जो तदुत्तरवर्ती पूर्वाचार्यों (श्रुतज्ञों) के द्वारा रचित हैं वे अंगबाह्य कहलाते हैं। इनमें अंग-ग्रन्थों का प्राधान्य है। उत्तराध्ययन उपांग मूलसूत्र आदि अंगबाह्य के भेदों में से मूलसूत्र विभाग में आता है। यद्यपि मूलसूत्र शब्द का अर्थ विवादास्पद है परन्तु उत्तराध्ययन प्राचीनता, मूलरूपता, मौलिकता आदि सभी दृष्टियों से मूलसूत्र कहे जाने के योग्य है।

उत्तराध्ययन यद्यपि अंगबाह्य ग्रन्थों में आता है तथापि यह अंग-ग्रन्थों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भाषा और विषय की प्राचीनता की दृष्टि से अंग और अंगबाह्य समस्त आगम-ग्रन्थों में इसका तीसरा स्थान है। मौलिकता, मूलरूपता तथा विषय-प्रतिपादनशैली की सुबोधता आदि के कारण यह चारों मूलसूत्रों में अग्रगण्य है। विन्टरनित्स आदि विद्वानों ने इसकी तुलना धम्मपद, सुत्तनिपात, जातक, महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों से की है। इसी महत्त्व के कारण कालान्तर में इस पर विपुल व्याख्यात्मक साहित्य लिखा गया तथा वर्तमान में भी लिखा जा रहा है।

दिगम्बर-परम्परा में भी उत्तराध्ययन का यद्यपि सविशेष उल्लेख मिलता है परन्तु वर्तमान में उपलब्ध उत्तराध्ययन को वे अन्य आगम-ग्रन्थों की ही तरह प्रामाणिक नहीं मानते हैं। इसे प्रामाणिक न मानने का मुख्य कारण है—इसमें प्रतिपादित साधु के

सामान्य आचार से सम्बन्धित कुछ सैद्धान्तिक मतभेद। परन्तु ग्रन्थ में आए हुए केशि-गौतम संवाद तथा अन्य कई स्थलों को देखने से ज्ञात होता है कि यह बाह्य सैद्धान्तिक मतभेद कोई महत्त्व नहीं रखता है। ग्रन्थ में सर्वत्र बाह्योपचार की अपेक्षा आभ्यन्तरिक उपचार एवं वीतरागता पर जोर दिया गया है जो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों को मान्य है। यह अवश्य है कि महावीर के परिनिर्वाण के बाद करीब १००० वर्षों के मध्य इसमें भी अन्य आगम-ग्रन्थों की तरह परिवर्तन और संशोधन होने पर भी यह अपने मूलरूप में सुरक्षित है।

जिस प्रकार 'मूलसूत्र' शब्द के अर्थ में मतभेद है उसी प्रकार उत्तराध्ययन के नामकरण के विषय में भी निश्चित मत नहीं है। निर्युक्तिकार के अनुसार उत्तराध्ययन का अर्थ है—जिसका आचाराङ्गादि अंग-ग्रन्थों के बाद अध्ययन किया जाए। श्री कानजी भाई पटेल ने अपने लेख 'उत्तराध्ययन-सूत्र : एक धार्मिक काव्य-ग्रन्थ' में लायमन का मत उद्धृत करते हुए 'Later Reading' का अर्थ 'अन्तिम रचना' किया है। यद्यपि Later Reading का यह अर्थ संदिग्ध है फिर भी यदि ऐसा एक विकल्प मान भी लें तो कोई आपत्ति भी नहीं है। ये दोनों ही मत सयुक्तिक प्रतीत होते हैं क्योंकि उत्तराध्ययन के अध्ययनों के अध्ययन की परम्परा आचाराङ्गादि अंग-ग्रंथों के बाद रही है तथा इसकी रचना भी भगवान् महावीर के उत्तरकाल (परिनिर्वाण के समय) में हुई है। 'उत्तर' शब्द का 'बिना पूछे प्रश्नों का उत्तर' अर्थ करके अथवा 'उत्तरोत्तर अध्ययनों की श्रेष्ठता' अर्थ करके जिसमें बिना पूछे प्रश्नों का उत्तर दिया गया हो अथवा जिसके अध्ययन उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हों वह उत्तराध्ययन है, ऐसी मान्यता वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ के आधार पर सही नहीं कही जा सकती है क्योंकि प्रकृत ग्रन्थ में ऐसा कोई संकेत नहीं है।

उत्तराध्ययन में ३६ अध्ययन हैं जिनमें मुख्यरूप से नवदीक्षित जैन साधुओं के सामान्य आचार-विचार के साथ जैनदर्शन के मूलभूत दार्शनिक सिद्धान्तों की सामान्य चर्चा की गई है। ऐसा होने पर भी हम इसे मात्र जैन साधुओं के आचार-विचार तथा शुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादक नीरस ग्रन्थ नहीं कह सकते

हैं क्योंकि इसमें साधुओं के आचार-विचार आदि का मुख्यरूप से उपदेशात्मक व आज्ञात्मक शैली में प्रतिपादन होने तथा बहुत्र विषय की पुनरावृत्ति होने पर भी साहित्यिक गुणों का अभाव नहीं हुआ है। यद्यपि कुछ अध्ययन अवश्य शुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के कारण नीरस प्रतीत होते हैं परन्तु अन्यत्र उपमा, दृष्टान्त, रूपक आदि अलंकारों तथा सुभाषितों से मिश्रित कथात्मक व संवादात्मक सरस शैली का प्रयोग किया गया है जिससे कहीं-कहीं इसके साहित्यिक गुणों का उत्कर्ष भी हुआ है। इसके अध्ययनों को विषय-शैली की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। जैसे : १. शुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक अध्ययन, २. नीति एवं उपदेश-प्रधान अध्ययन और ३. आख्यानात्मक अध्ययन। यह विभाजन प्रधानता की दृष्टि से ही संभव है क्योंकि प्रायः सर्वत्र सैद्धान्तिक चर्चा की गई है।

कर्मणा जातिवाद की स्थापना, बाह्यशुद्धि की अपेक्षा आभ्यन्तर-शुद्धि की प्रधानता, देश-काल के अनुरूप धार्मिक नियमों में परिवर्तन, ज्ञान की प्राप्ति के लिए विनम्रता, यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या, व्यक्ति का पूर्ण स्वातन्त्र्य व परमात्मा बनने की क्षमता, देवों की अपेक्षा मनुष्यजन्म की श्रेष्ठता, सुख-दुःख की प्राप्ति में व्यक्ति के द्वारा स्वतः किए गए भले-बुरे कर्मों की कारणता, वशीकृत आत्मा के द्वारा अवशीकृत आत्मा पर विजय प्राप्त करने का आध्यात्मिक संग्राम, गुरु-शिष्य के आपस के सम्बन्ध, हर मुसीबत का अडिगतापूर्वक मुकाबला, ब्राह्मण का आदर्श स्वरूप, अहिंसा-सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह इन पाँच नैतिक नियमों की सूक्ष्म व्याख्या, संसार की अनादिता के साथ संसार के विषय-भोगों की असारता, वीतरागता का उपदेश, विश्वबन्धुत्व की भावना, चेतन व अचेतन का विश्लेषण, पुनर्जन्म, स्त्री-मुक्ति व जीवन्मुक्ति में विश्वास, अनादिमुक्त ईश्वर की सत्ता में अविश्वास, जीवन का अन्तिम लक्ष्य—मुक्ति, मुक्ति का स्वरूप और उसकी प्राप्ति आदि प्रकृत ग्रन्थ के विशेष प्रतिपाद्य विषय हैं। इन विषयों के प्रतिपादन में नमि-प्रव्रज्या आदि मार्मिक व आध्यात्मिक संवादात्मक आख्यानों तथा उपमा आदि अलंकारों के प्रयोग से जिस आध्यात्मिक मार्ग

का विवेचन किया गया है उसे एक मुमुक्षु व तत्त्वजिज्ञासु की दृष्टि से निम्नोक्त प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है :

यह प्रत्यक्ष दृश्यमान विश्व असीम है। हमारे द्वारा इसकी कल्पना कर सकना संभव नहीं है। इस असीम विश्व में सर्वत्र सृष्टि नहीं है अपितु इसके बहुत ही स्वल्प भाग में सृष्टि है, उसमें भी मानव की सृष्टि बहुत ही अल्प भाग में है। फिर भी मानव का सृष्टि-स्थल हमारे लिए बहुत विशाल है। सामान्यतः जहां मानव का निवास है उसके ऊपर देवों का और नीचे नारकियों का निवास है। तिर्यञ्चों का सर्वत्र सद्भाव है। इस तरह यह विश्व एक सुनियोजित शृंखला से बद्ध है। इसका संचालक कोई ईश्वर आदि सर्वशक्तिमान् तत्त्व नहीं है। इस विश्व में कुल छः द्रव्य हैं जिनमें से सिर्फ आकाश ही एक ऐसा द्रव्य है जिसका सर्वत्र सद्भाव पाया जाता है, शेष पाँच द्रव्य आकाश के एक सीमित प्रदेश में ही पाए जाते हैं। आकाश के जिस भाग में जीवादि छः द्रव्यों की सत्ता है अथवा सृष्टि है उसे लोक या लोकाकाश कहा गया है तथा जिस भाग मे सृष्टि का अभाव है, सिर्फ आकाश ही आकाश है उसे अलोक या अलोकाकाश। अलोकाकाश में पृथिवी, अप्, तेज, वायु आदि किसी की भी सत्ता नहीं हैं। वहाँ आकाश मात्र होने से उसे अलोकाकाश कहा गया है।

इस लोक में जिन ६ द्रव्यों की सत्ता स्वीकार की गई है उनके नाम ये हैं: १. जीव (आत्मा—चेतन), २. पुद्गल (रूपी अचेतन), ३. धर्म (गति का माध्यम), ४. अधर्म (स्थिति का माध्यम), ५. आकाश और ६. काल। चैतन्य के सद्भाव और असद्भाव की दृष्टि से इन्हें जीव और अजीव (पुद्गल आदि पाँच द्रव्य) के भेद से दो भागों में भी विभक्त किया गया है। यह विभाजन चैतन्य नामक गुण के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा से किया गया है। इसी प्रकार अन्य गुण-विशेष के सद्भाव-असद्भाव की अपेक्षा से भी ग्रन्थ में द्रव्य को रूपी-अरूपी, अस्तिकाय-अनस्तिकाय, एकत्वसंख्या-विशिष्ट-बहुत्वसंख्याविशिष्ट आदि प्रकार से विभाजित किया गया है। चेतन (आत्मा) जीव है। पृथिवी आदि समस्त दृश्यमान वस्तुएं पुद्गल रूपी अचेतन हैं। जीवादि की गति का अप्रेरक

माध्यम धर्म है। जीवादि की स्थिति का अप्रेरक माध्यम अधर्म है। सब द्रव्यों के ठहरने का आधार आकाश है और वस्तु में प्रतिक्षण होनेवाले परिवर्तन में कारण काल है। इस तरह लोक में इन छहों द्रव्यों के संयोग और वियोग से इस सृष्टि का यन्त्रवत् संचालन होता रहता है। इसमें ईश्वर तत्त्व की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर तत्त्व को स्वीकार न करने के कारण धर्मादि द्रव्यों की कल्पना करनी पड़ी है। जीव अपने कर्त्तव्यों का ठीक से पालन करके परमात्मा बन सकता है और अकर्त्तव्य कर्मों को करके अधम। परमात्म-अवस्था में जीव सब प्रकार के कर्मों से परे होकर तटस्थ हो जाता है। एकेन्द्रियादि जीवों की सत्ता कण-कण में स्वीकार की गई है और वे सर्वलोक में व्याप्त हैं। जीवों का विभाजन पाश्चात्यदर्शन के लीब्नीज के जीवाणुवाद और बर्गसां के रचनात्मक विकासवाद से मिलता-जुलता है।

इस प्रकार यथार्थवाद का चित्रण करने के कारण द्रव्य का स्वरूप भी एकान्त रूप से नित्य या एकान्त रूप से क्षणिक न मानकर अनित्यता से अनुस्यूत नित्य माना गया है। द्रव्य में प्रतिक्षण होनेवाले परिवर्तन तथा उस परिवर्तन में वर्तमान एक इकाई या सामञ्जस्य को स्वीकार करते हुए द्रव्य का स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक (नित्य) माना गया है। चैतन्य आदि जीव के नित्य धर्म (गुण) हैं और मनुष्य, देव आदि उसकी विभिन्न अवस्थाएँ (पर्याएँ)। नित्यता द्रव्य का गुण (नित्य-धर्म) है और अनित्यता उसकी उपाधि (पर्याय—अनित्य-धर्म)। गुण और पर्यायों (अनित्य धर्मों) को द्रव्य से न तो सर्वथा पृथक् किया जा सकता है और न गुण-पर्यायों के समूह को ही द्रव्य कहा जा सकता है। अतः गुण और पर्यायवाले को द्रव्य कहा गया है। इस तरह यह द्रव्य (आधारविशेष) गुण और पर्यायों से सर्वथा भिन्न न होकर कथंचित् भिन्न व कथंचित अभिन्न है।

इस तरह विश्व की रचना और उसमें वर्तमान सृष्टि-तत्त्वों का वर्णन करके ग्रन्थ में चेतन और अचेतन पुद्गल के परस्पर संयोग की अवस्था को संसार कहा गया है। जब तक चेतन के साथ अचेतन पुद्गल का सम्बन्ध रहता है तब तक वह संसारी कहलाता है। अब

तक जीव संसारी अवस्था में रहता है चाहे वह देव ही क्यों न हो, तब तक वह अपने शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से सांसारिक सुख-दुःख का भोग करता हुआ जन्म-मरण को प्राप्त करता है। वास्तव में जीव संसार मे जन्म-मरणजन्य नाना प्रकार के दुःखों को ही प्राप्त करता है। उसे जो क्षणिक सुखानुभूति होती है वह भी दुखःरूप ही है क्योंकि संसारी व्यक्ति का वह भौतिक सुख कुछ क्षण के बाद ही नष्ट हो जाने वाला है। अतः बौद्धदर्शन की तरह प्रकृत ग्रन्थ में भी संसार को दुःखों से पूर्ण बतलाया गया है।

इस दुःख का कारण है - व्यक्ति के द्वारा (अज्ञानवश) रागादि के वशीभूत होकर किया गया शुभाशुभ कर्म। यद्यपि ये कर्म अचेतन हैं फिर भी सजग प्रहरी की तरह ये प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया का अध्ययन-सा करते रहते हैं और समय आने पर उसका शुभाशुभ फल भी देते हैं। ये कर्म वेदान्तदर्शन में स्वीकृत स्थूलशरीर के भीतर वर्तमान सूक्ष्मशरीर स्थानापन्न हैं जो स्थूलशरीर की प्राप्ति में कारण बनते हैं। कुछ रूपी अचेतन (पुद्गल) द्रव्य ही कर्म का रूप धारण करके यन्त्रवत् कार्य करते रहते हैं। इन कर्म-पुद्गलों (कार्मणवर्गणा) का जीव के साथ सम्बन्ध कराने में लेश्याएँ कारण बनती हैं। लेश्याएं जीव के रागादिरूप परिणाम हैं। इस कर्म और लेश्याविषयक वर्णन के द्वारा ग्रन्थ में संसार के सुखों एवं दुःखों का स्पष्टीकरण किया गया है। इस तरह संसार के वैचित्र्य की गुत्थी को सुलझाने के लिए किसी ईश्वर आदि नियन्ता की कल्पना नहीं करनी पड़ती है। यद्यपि इन कर्मों का फल भोगे बिना कोई भी जीव बच नहीं सकता है फिर भी यदि जीव चाहे तो उपायपूर्वक पूर्वबद्ध कर्मों को शीघ्र ही बलात् नष्ट कर सकता है और आगामी काल में कर्मों के बन्धन को रोक सकता है।

कर्मों का बन्धन न होने देने के लिए ग्रन्थ में जिस उपाय को बतलाया गया है वह जैनदर्शन में 'रत्नत्रय' के नाम से प्रसिद्ध है। जिनेन्द्रदेव प्रणीत ९ तथ्यों में दृढ़ विश्वास (सत्-दृष्टि), उन तथ्यों का सच्चा ज्ञान और तदनुसार सदाचार में प्रवृत्ति ये तीन रत्नत्रय हैं जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के नाम से

प्रसिद्ध हैं। भगवद्गीता का भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग का सम्यक् समुच्चय ही यहाँ रत्नत्रयरूप है। इन तीनों की पूर्णता होने पर साधक कर्मों से पूर्ण छुटकारा प्राप्त करके संसार से मुक्त हो जाता है। इन तीनों की पूर्णता क्रमशः होती है। इनमें आपस में कारण-कार्य सम्बन्ध भी है। तथ्यों में श्रद्धा होने पर ही उनका सच्चा ज्ञान-प्राप्त किया जा सकता है और सच्चा ज्ञान होने पर ही सदाचार में प्रवृत्ति सम्भव है क्योंकि कर्मों के बन्धन का कारण अज्ञान होने से उनसे मुक्ति का उपाय भी ज्ञान होना चाहिए था परन्तु सदाचार की पूर्णता होने पर जो मुक्ति स्वीकार की गई है उसका कारण है पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना। अतएव पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) हो जाने पर जीव को जीवन्मुक्त माना गया है। सदाचार पर विशेष जोर देने का दूसरा भी कारण था—लोगों में फैले हुए दुराचार का शमन करना। सदाचार की पूर्णता अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (धनादि-संग्रह की प्रवृत्ति का त्याग) रूप पाँच नैतिक व्रतों का पालन करने से होती है। इन पाँच नैतिक व्रतों का पालन करने के अतिरिक्त साधक को कुछ अन्य नैतिक व्रतों का भी पालन करना पड़ता है जो अहिंसादि मूल नैतिक व्रतों के ही पोषक हैं। इन अहिंसादि पाँच व्रतों के भी मूल में अहिंसा है और उस अहिंसा की पूर्णता अपरिग्रह की भावना पर निर्भर है। सदाचार के उत्तरोत्तर विकासक्रम के आधार पर चारित्र को सामायिक आदि पाँच भागों में विभक्त किया गया है। सदाचार का पालन करनेवाले गृहस्थ और साधु होते हैं। अतः उनकी अपेक्षा सदाचार को दो भागों में भी विभक्त किया गया है—गृहस्थाचार और साध्वाचार।

गृहस्थाचार साध्वाचार की प्रारम्भिक अभ्यासावस्था है। इसमें गृहस्थ गार्हस्थ्यजीवन यापन करते हुए स्थूलरूप से अहिंसादि पाँच नैतिक व्रतों का यथासंभव पालन करता है तथा धीरे-धीरे आत्म-विकास करते हुए साधु के आचार की ओर अग्रसर होता है। अतः गृहस्थाचार पालन करने का उपदेश उन्हें ही दिया गया है जो साध्वाचार पालन करने में असमर्थ हैं। गृहस्थाचार के सम्बन्ध में यहां एक बात विशेष दृष्टव्य है कि ग्रन्थ में गृहस्थाचार पालन

करनेवाले को देवत्व के साथ मुक्तिपद का भी अधिकारी बतलाया गया है जबकि वह न तो पूर्ण वीतरागी ही है और न पाँच नैतिक व्रतों का सूक्ष्मरूप से पालन ही करता है। इसका कारण है बाह्य-शुद्धि की अपेक्षा आभ्यन्तरिक-शुद्धि पर जोर। इसका तात्पर्य है कि यह आभ्यन्तरिक-शुद्धि रूप वीतरागता जैसे और जहाँ भी संभव हो वैसे ही वहाँ आत्म-विकास करते हुए साधना क्योंकि बाह्यलिङ्गादि तो मात्र बाह्यरूप के परिचायक हैं, कार्य-साधक नही। अत: गृहस्थ होकर भी व्यक्ति आभ्यन्तरिक-शुद्धि की अपेक्षा कुछ काल के लिए पूर्ण वीतरागी भी हो सकता है। वास्तव में ऐसा व्यक्ति गृहस्थ होकर भी वीतरागी साधु ही है क्योंकि वीत-रागता मे ही साधुता है। वीतरागता, आत्मविकास और ज्ञानादि की साधना गृहस्थजीवन की अपेक्षा गृहत्यागी साधुजीवन में अधिक सभव है क्योंकि साधु सासारिक मोह-ममता आदि से बहुत दूर रहता है। अत ग्रन्थ मे एक समय में मुक्त होनेवाले जीवों की सख्या-गणना के प्रसग मे साधुओ की अपेक्षा गृहस्थों में तथा पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियो मे वीतरागता आदि की योग्यता कम होने से साधु व पुरुष की अपेक्षा गृहस्थ तथा स्त्री की संख्या कम बतलाई गई है।

इस तरह आत्मविकास करते हुए मुक्ति का साधक गृहस्थ-धर्म की चरमावस्था मे पहुँचकर जब सूक्ष्मरूप से अहिंसादि व्रतों का पालन करने लगता है तो वह साध्वाचार में प्रवेश करता है। इसके बाद वह ज्ञान और चारित्र की और अधिक उन्नति के लिए माता-पिता आदि से आज्ञा लेकर व सभी प्रकार के पारिवारिक स्नेह-बन्धनो को तोड़कर किसी गुरु से या गुरु के न मिलने पर स्वयं साधु-धर्म को अगीकार कर लेता है। इस समय उसे अपने सभी वस्त्राभूषणो के साथ शिर और दाढ़ी के बालों को भी उखाड़कर त्याग करना पडता है। इसके बाद वह नियमानुकूल भिक्षा के द्वारा प्राप्त वस्त्र और आहार आदि का उपभोग करता हुआ एकान्त में आत्मचिन्तन करता है। भिक्षान्न के द्वारा जीवन यापन करने के कारण साधु को 'भिक्षु' कहा गया है। इस भिक्षान्न आदि की प्राप्ति के विषय में बहुत ही कठोर नियम हैं जिनके मूल में अहिंसा

आदि पाँच नैतिक महाव्रतों की रक्षा की भावना निहित है। साधु जो भी नियम या उपनियम ग्रहण करता है उन सबका साक्षात् या परम्परया फल कर्म-निर्जरा व मुक्ति बतलाया गया है। इतना विशेष है कि किसी भी एक नियम का पालन करने पर अन्य सभी नियमों का भी पालन करना आवश्यक हो जाता है।

साधु जिन अहिंसादि पाँच नैतिक व्रतों का सूक्ष्मरूप से पालन करता है उनके भी मूल में अहिंसा व अपरिग्रह की भावना निहित है क्योंकि अहिंसा का अर्थ है—मन-वचन-काय से तथा कृत-कारित-अनुमोदना से किसी को जरा भी कष्ट न देना। असत्य-भाषण, चोरी, स्त्री-सेवन और धनादिसंग्रह में स्वाभाविक है कि किसी न किसी रूप में हिंसा का दोष लगे। अतः सत्यादि व्रतों के लक्षण में भी अहिंसा की भावना को ध्यान में रखा गया है। इस अहिंसा की पूर्णता अपरिग्रह (वीतरागता) की भावना पर निर्भर है क्योंकि सभी शुभाशुभ प्रवृत्तियों का कारण राग है। राग के वशीभूत होकर ही जीव धनादि-संग्रह और हिंसादि में प्रवृत्त होता है। अत. साधु को अपनी अशुभात्मक प्रवृत्ति को रोकने के लिए गुप्तियों का और शुभ-व्यापार में सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति के लिए समितियों का उपदेश दिया गया है। इस तरह इन पाँच नैतिक व्रतों की रक्षा करते हुए आचरण करना ही साधु का सदाचार है।

इस तरह यद्यपि साधु का सदाचार पूर्ण हो जाता है परन्तु सैकड़ों भवों से संचित पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करने के लिए एक विशेष कर्त्तव्य-कर्म करना पड़ता है जिसका नाम है—तप। तप कर्मों को नष्ट करने के लिए एक प्रकार की अग्नि है जो साधु के सामान्य सदाचार से पृथक् नहीं है क्योंकि तप में जिन बाह्य और आभ्यन्तरिक क्रियाओं का पालन करना बतलाया गया है साधु उन सभी क्रियाओं का प्रायः प्रतिदिन पालन करता है। अतः उन सभी नियमों के पालन करने में दृढ़ आत्मसंयम बरतना ही तप है। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप मुख्यतः दो प्रकार का है। दोनों में प्रधानता आभ्यन्तर तप की है। आभ्यन्तर तपों में ज्ञान की प्राप्ति के लिए मुख्यरूप से आत्म-चिन्तन किया जाता है। तप करते समय जितनी भी क्षुधा, तृषा आदि सम्बन्धी

बाधाएँ (परीषह) आती हैं उन सब पर विजय प्राप्त करना आवश्यक होता है और वीर योद्धा की तरह आयु के अंतिम क्षण तक संयम में अडिग रहना पडता है। तप साधु के सदाचार की परीक्षा के लिए कसौटीरूप है। साध्वाचार पालन करने की दुष्करता का जो प्रतिपादन किया गया है वह इसी तप की अपेक्षा से किया गया है। प्रकृत ग्रन्थ में वर्णित तप का स्वरूप विशेषकर ध्यान-तप योगदर्शन और बौद्धदर्शन में वर्णित समाधि से मिलता-जुलता है। इस तरह साधु जीवन-पर्यन्त तपोमय जीवन यापन करते हुए मृत्यु-समय सब प्रकार के आहारादि का त्याग करके समाधिमरण-पूर्वक शरीर का त्याग करता है। इस शरीर त्याग के बाद उसे जिस फल की प्राप्ति होती है उसका नाम है—मुक्ति।

यह मुक्ति की अवस्था सब प्रकार के कर्मबन्धनों से रहित, अशरीरी, अत्यन्त दुःखाभावरूप, निरतिशय सुखरूप और अविनश्वर है। इसे प्राप्त करने के बाद जीव का पुनः ससार में आवागमन नही होता है। इनका निवास लोक के उपरितम प्रदेश में माना गया है। अन्तिम जन्म की उपाधि की अपेक्षा से इनमे भेद संभव होने पर भी कोई तात्त्विक भेद नहीं है। ग्रन्थ मे जो मुक्ति की अवस्था चित्रित की गई है वह अलौकिक है। वहाँ न तो स्वामी-सेवकभाव है और न कोई अभिलाषा। यह पूर्ण निष्काम व संसार से परे चेतन जीव की स्व-स्वरूप की स्थिति है। इस अवस्था में सब प्रकार के बन्धनों का अभाव हो जाने से इसे मुक्ति कहा गया है। ग्रन्थ में यद्यपि विदेह-मुक्ति का ही वर्णन किया गया है परन्तु जीवन्मुक्ति के भी तथ्य वर्तमान हैं। केवली या केवलज्ञानी की जो स्थिति है वह जीवन्मुक्ति की अवस्था है क्योंकि ये संसार में रहकर भी जल से भिन्न कमल की तरह उससे अलिप्त रहते हैं तथा मृत्यु के उपरान्त नियम से उसी भव में विदेहमुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। मुक्ति प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार की जाति, आयु, स्थान आदि का महत्त्व नहीं है। वह सदा-सर्वदा सबके लिए खुला द्वार है। मुक्तों के विषय में इतना विशेष है कि सभी मुक्त जीव अपने पुरुषार्थ से ही मुक्त हुए हैं। उनमें ऐसा एक भी जीव नहीं है जो अनादिमुक्त हो या बिना पुरुषार्थ किए ही ईश्वर आदि की कृपा से मुक्त हुआ हो।

इस प्रकार उत्तराध्ययन में तत्त्वजिज्ञासु व मुमुक्षु के लिए जिस तत्त्वज्ञान, मुक्ति व मुक्ति के पथ का वर्णन मिलता है वह विशेषकर साधु के आचार से सम्बन्धित है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यह ग्रन्थ सिर्फ साधुओं के लिए ही उपयोगी है क्योंकि इसमें सरल, साहित्यिक व कथात्मक शैली में व्यवहारोपयोगी गृहस्थ-धर्म का भी प्रतिपादन होने से जनसामान्य के लिए भी कई दृष्टियों से उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण है। इसमे चित्रित समाज व संस्कृति से तत्कालीन बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातों का पता चलता है। जैसे: वर्णाश्रम-व्यवस्था, ब्राह्मणों का प्रभुत्व व उनका सदाचार से पतन, कर्मणा जातिवाद की स्थापना, यज्ञों का प्राधान्य, काम-भोग की ओर बढ़ती हुई मानव की सामान्य प्रवृत्तियाँ, विभिन्न मत-मतान्तर, राज्य-व्यवस्था, समुद्रयात्रा, व्यापार, खेती, विवाह, दाह-संस्कार, पशु पालन आदि।

इस तरह इस ग्रन्थ का धर्म व दर्शन के अतिरिक्त साहित्य, इतिहास, भूगोल, भाषाविज्ञान और तत्कालीन भारतीय समाज व संस्कृति आदि की अपेक्षा से भी बहुत महत्त्व है। इसीलिए जैन एवं जैनेतर सभी विद्वानों ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है तथा इस पर विपुल व्याख्यात्मक साहित्य लिखा गया है व आगे भी लिखा जाता रहेगा।

★

परिशिष्ट १

कथा-संवाद

अत्यन्त प्राचीन काल से ही किसी भी विषय को रोचक, प्रेरणादायक एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उपमा एवं दृष्टान्त के अतिरिक्त कथा एवं संवादों का प्रयोग किया जाता रहा है। उपदेशात्मक तथा धार्मिक ग्रन्थों में इस प्रकार का प्रयोग नितान्त आवश्यक भी है। प्राचीन जैन आगमों में इस दृष्टि से ज्ञातृधर्मकथा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके बाद दूसरा स्थान उत्तराध्ययन का है।[1]

कथाओं का विभाजन सामान्यरूप से चार भागों में किया जाता है। जैसे: १. अर्थकथा, २. कामकथा, ३. धर्मकथा और ४. संकीर्णकथा।[2] उत्तराध्ययन की कथाएँ धर्मकथा विभाग में आती हैं क्योंकि उत्तराध्ययन एक धार्मिक काव्य-ग्रन्थ है और इसमें उपमा, दृष्टान्त, संवाद, कथा आदि के द्वारा धर्म व वैराग्य का ही विशेषरूप से उपदेश दिया गया है। इसकी कथाएँ, उपदेश व सवाद जातक, महाभारत आदि की कथाओं आदि से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। उत्तराध्ययन की कथाएँ मूलरूप में संक्षिप्त एवं संकेतात्मक हैं जिनका टीका-ग्रन्थों में पर्याप्त पल्लवन हुआ है। यहाँ पर मूल-ग्रन्थानुसार हृदयस्पर्शी व रोचक सवाद एव कथाएँ दी जा रही हैं।

केशि-गौतम संवाद :[3]

तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य केशिकुमार श्रमण और चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के शिष्य गौतम ये दोनों ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए संयोगवश एक समय श्रावस्ती

---

१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३५७.

२. वही, पृ० ३६०–३६१.

३. उ० अध्ययन २३.

नगरी में आए। वहाँ केशि 'तिन्दुक' उद्यान में और गौतम 'कोष्ठक' उद्यान में अपने-अपने शिष्य-परिवार के साथ ठहर गए। दोनों ज्ञान व सदाचार से सम्पन्न थे। उनके शिष्यों ने जब एक दूसरे के बाह्यवेश व महाव्रतों के विषय में अन्तर देखा तो शंकायुक्त हो गए। उन्होंने सोचा—जब दोनों एक ही धर्म को मानने वाले हैं तो फिर यह बाह्य-वेशभूषा और आचार विषयक मतभेद कैसा ? शिष्यों की इस शंका को जानकर दोनों ने आपस में मिलने की इच्छा प्रकट की। केशि को ज्येष्ठकुल का जानते हुए गौतम अपने शिष्य-परिवार के साथ तिन्दुक उद्यान में गए। गौतम को आते देखकर केशि ने उनका उचित सत्कार किया। आसन पर बैठे हुए वे दोनों सूर्य और चन्द्रमा की तरह सुशोभित हुए। उनके समागम को देखकर बहुत से गृहस्थ, देव, दानव, यक्ष, राक्षस और पाखण्डी आदि हजारों की संख्या में वहां एकत्रित हो गए। इसके बाद केशि ने शिष्यों की शंकाएँ दूर करने के लिए गौतम से अनुमति लेकर कुछ प्रश्न पूछे और गौतम ने उनका देश-कालानुरूप सयुक्तिक उत्तर दिया।

केशि—जब दोनों तीर्थङ्करों का उद्देश्य एक ही है तो फिर पार्श्वनाथ के चतुर्यामरूप धर्म को महावीर ने पचयाम (पाँच महाव्रत) में क्यों परिवर्तित किया ?

गौतम—ज्ञान से धर्म-तत्त्व का निश्चय करके तथा देश-काल के अनुसार बदलती हुई जनसामान्य की प्रवृत्तियों[1] को ध्यान में रखकर धर्म में यह आचारविषयक परिवर्तन किया गया। यदि ऐसा न किया जाता तो धर्म स्थिर नहीं रह सकता था।

केशि—पार्श्वनाथ के सान्तरोत्तर (सचेल) धर्म को महावीर ने अचेलधर्म में क्यों परिवर्तित किया ?

गौतम—बाह्यवेश-भूषा तो लोक में मात्र प्रतीति कराने में कारण है। दोनों के मत में मोक्ष के सद्भूत सच्चे साधन तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। इस वस्त्र-विषयक परिवर्तन का भी कारण पूर्ववत् था।

---

१. देखिए—प्रकरण ७, पृ० ४२८-४२६.

केशि—क्या तुम उन शत्रुओं को जानते हो जो तुम्हारे ऊपर आक्रमण कर रहे हैं और जिनके मध्य में तुम स्थित हो ? तुमने उन्हें कैसे जीता ?

गौतम—हाँ ! मैं उन शत्रुओं को जानता हूँ। मैंने उन अनेक शत्रुओं में से सबसे पहले अवशीकृत आत्मारूपी एक प्रधान शत्रु को वशीकृत आत्मा के द्वारा जीता। इसके बाद कषाय, इन्द्रिय, नोकषाय आदि अन्य अनेक शत्रुओं को क्रमशः जीता।

केशि—संसार में बहुत से जीव पाशबद्ध हैं फिर तुम कैसे पाशबन्धन से मुक्त हो ?

गौतम—संसार में रागद्वेषरूपी भयंकर स्नेहपाश हैं। उन पाशों को यथान्याय (जिनप्रवचन के अनुसार—वीतरागता से) जीतकर मैं पाशरहित होकर विचरण करता हूँ।

केशि—हृदय में उत्पन्न विष-लता को तुमने कैसे उखाड़ा ?

गौतम—परिणाम में भयंकर फलवाली तृष्णारूपी एक लता है। उस लता को यथान्याय (निर्लोभता के द्वारा) जड़मूल से उखाड़कर मैं उसके विषफलभक्षण से मुक्त हूँ।

केशि—शरीर में प्रज्वलित अग्नि को कैसे शान्त किया ?

गौतम—कषायरूपी अग्नियाँ जिनेन्द्ररूपी महामेघ से उत्पन्न श्रुतज्ञानरूपी जलधारा से निरन्तर सींची जाने के कारण मुझे नहीं जलाती हैं।

केशि—साहसी, दुष्ट व भयंकर घोड़े पर बैठे हुए तुम सन्मार्ग में कैसे स्थित हो ?

गौतम—धर्मशिक्षा तथा श्रुतरूपी लगाम के द्वारा मैं मनरूपी दुष्ट घोड़े को पकड़े हुए हूँ जिससे मैं उन्मार्ग में न जाकर सन्मार्ग में ही स्थित हूँ।

केशि—संसार में बहुत से उन्मार्ग होने पर भी आप सन्मार्ग में कैसे स्थित हैं ?

गौतम—मैं उन्मार्ग और सन्मार्ग को अच्छी तरह जानता हूँ। अतः सन्मार्ग से च्युत नहीं होता हूँ। जिनेन्द्र का मार्ग सन्मार्ग है और अन्य सभी उन्मार्ग।

केशि—विपुल जलप्रवाह में बहते हुए प्राणियों के लिए शरणरूप द्वीप कौन-सा है ?

गौतम—जरा-मरणरूपी जलप्रवाह में डूबते हुए प्राणियों के शरण के लिए संसाररूपी समुद्र के मध्य में एक उत्तम द्वीप है जिसका नाम है धर्म। वहाँ महान् जलप्रवाह की जरा भी गति नही है।

केशि—महाप्रवाहवाले समुद्र में विपरीत बहनेवाली नौका पर सवार होकर तुम उस पार (तीर-प्रदेश) कैसे जा सकोगे ?

गौतम—जो नौका छिद्र (आस्रव–जलागम) वाली होती है वह डूब जाती है परन्तु जो नौका छिद्ररहित (निरास्रव - जलागम से रहित) होती है वह तीर-प्रदेश पहुँच जाती है। मैं छिद्ररहित नौका पर सवार हूँ। अतः तीर-प्रदेश पहुँच जाऊँगा। यहाँ शरीर नौका है, जीव नाविक है, संसार समुद्र है, कर्म जल है और मुक्ति तीर-प्रदेश है।

केशि—बहुत से प्राणी घोर अन्धकार मे स्थित हैं। उन्हें कौन प्रकाशित करेगा ?

गौतम—मिथ्यात्वरूपी अज्ञानान्धकार मे स्थित प्राणियों को प्रकाशित करनेवाला सर्वज्ञ जिनेन्द्ररूपी निर्मल सूर्य उदित हो गया है। वही उन्हें प्रकाशित करेगा।

केशि—शारीरिक व मानसिक दुःखो से पीड़ित प्राणियों के लिए शिवरूप व बाधारहित स्थान कौन-सा है ?

गौतम—लोकाग्र में जरा-मरणरूपी समस्त बाधाओ से रहित तथा शिवरूप एक स्थान है जिसे निर्वाण (सिद्धलोक) कहते हैं।

इस प्रकार सर्वश्रुतपारगामी गौतम से अपने सभी प्रश्नों का सयुक्तिक उत्तर पाकर केशि ने गौतम को नमस्कार किया तथा अपनी शिष्यमण्डली के साथ महावीरप्रणीत धर्म को अङ्गीकार किया।[1] वहाँ उपस्थित सारी परिषद् ने उन दोनों की स्तुति की।

---

१. पार्श्वनाथ और महावीर के शिष्यों के बीच हुए इस प्रकार के परिसंवादों के उल्लेख अन्य आगम-ग्रन्थों व टीका-ग्रन्थों में भी मिलते हैं।

देखिए- आचार्य तुलसी, उ० भाग १, पृ० २९९-३००,

इस समागम के बाद उन दोनों महर्षियों में आगे भी समागम हुए जिनमें सूत्रार्थ का निर्णय तथा रत्नत्रय का उत्कर्ष हुआ।

इस तरह इस परिसंवाद में बारह प्रश्न पूछे गए हैं जिनमें प्रारम्भ के दो प्रश्न ही मुख्य हैं और वे ही इस परिसंवाद के कारण हैं। शेष सभी प्रश्न और उत्तर उपस्थित जनता के कल्याणार्थ प्रतीकात्मक रूपक अलंकार की शैली में प्रस्तुत किए गए हैं।

इस परिसंवाद से जिन महत्त्वपूर्ण बातों का संकेत मिलता है, वे इस प्रकार हैं :

१. किसी भी विषय में मतभेद होने पर आपस में मिलकर उसका समाधान ढूंढ़ना और दुराग्रह किए बिना सम्यक् मार्ग का अनुसरण करना।

२. बाह्य वेशभूषा आदि पर विशेष ध्यान न देकर अन्तरङ्ग-शुद्धि के साधनभूत रत्नत्रय की आराधना करना।

३. अपनी आत्मा को संयमित रखना।

४. ज्येष्ठकुल का ध्यान रखना।

५. अतिथि का समुचित सत्कार करना।

६. बिना अनुमति प्राप्त किए कोई प्रश्न न पूछना।

७ समुचित उत्तर मिलने पर उसकी संस्तुति करना।

८. परिस्थितियों के अनुकूल धर्म में परिवर्तन करना।

९. श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद का संकेत।

१०. पार्श्वनाथ व महावीर के धर्मोपदेश का अन्तर।

इन्द्र-नमि संवाद :[1]

देवलोक से च्युत होकर राजा नमि ने मिथिला नगरी में जन्म लिया। रानियों के साथ देवलोक-सदृश भोग भोगने के बाद जब उन्हें एक दिन जातिस्मरण हुआ तो अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर वे दीक्षा लेने के लिए निकल पड़े। राजा नमि के दीक्षार्थ प्रस्थान करने पर सम्पूर्ण नगरी में शोक छा गया। इसी समय देवाधिपति इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके आया और उससे संयम

१. उ० अध्ययन ९.

में दृढ़ता की परीक्षा के लिए सहेतुक प्रश्न पूछे। राजा ने भी उन सभी प्रश्नों के अध्यात्मप्रधान सयुक्तिक उत्तर दिए।

इन्द्र—आज मिथिला में कुहराम क्यों है ?

नमि—आज मिथिला में शीतल छाया, पत्र-पुष्प व फलादि से युक्त (बहुत गुणों वाला) मनोरम चैत्यवृक्ष (राजर्षि नमि) वायु (वैराग्य) के वेग से गिर पड़ा (गृह त्याग दिया) है। अतः उसके (वृक्ष—राजा) आश्रित जीव (पक्षी—प्राणी) निःसहाय होकर स्वार्थवश विलाप कर रहे हैं। इसमें मेरा कोई दोष नहीं है।

इन्द्र—तुम्हारे अन्तःपुर आदि अग्नि से जल रहे हैं। तुम उधर ध्यान क्यो नहीं देते हो ?

नमि—सर्वविरत साधु को न तो कोई वस्तु प्रिय है और न अप्रिय। अतः मुझ आत्मानुप्रेक्षी को इससे क्या प्रयोजन है।

इन्द्र—क्षत्रिय-धर्मानुसार आप अपनी व प्रजा की रक्षा के लिए प्राकार, गोपुर, अट्टालिका, खाई आदि बनवाकर दीक्षा लेवें।

नमि—कर्मशत्रु से अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए मैने आध्यात्मिक तैयारी कर ली है।[1]

इन्द्र—महल आदि बनवाकर दीक्षा लेवें।

नमि—संशयालु ही मार्ग में महल आदि बनवाता है। संसार मे स्थायी निवास न होने से मैं स्थायी निवासभूत मोक्ष में ही महल बनवाऊँगा।

इन्द्र—चोरों से नगर की रक्षा करके दीक्षा लेवें।

नमि—अक्सर चोर बच जाते हैं और चोरी न करने वाले पकड़े जाते हैं। अतः क्रोधादि सच्चे चोरों को दण्ड देना उचित है।

इन्द्र—नमस्कार न करने वाले राजाओं को जीतकर दीक्षा लेवें।

नमि—हजारों सुभटों को जीतने की अपेक्षा अवशीकृत एक आत्मा को जीतना सर्वोत्कृष्ट विजय है और वही सुख है।

इन्द्र—यज्ञ कराके, दान देकर व भोग भोगकर दीक्षा लेवें।

नमि—दस लाख गौदान से सयम श्रेष्ठ है। अतः उसे ही धारण करना उचित है।

---

१. देखिए—प्रकरण ७, पृ० ३६५-३६६.

इन्द्र—गृहस्थाश्रम छोड़कर संन्यासाश्रम में जाना उचित नहीं है।

नमि—सर्वविरतिरूप श्रमणदीक्षा से श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं है।

इन्द्र—कोशवृद्धि करके दीक्षा लेवें।

नमि—अनन्त धन प्राप्त होने पर भी लोभी की इच्छाएँ शान्त नहीं होती हैं। अतः धनसंग्रह से क्या प्रयोजन है!

इन्द्र—असत् व अप्राप्त भोगों की लालसा से प्राप्त अद्भुत भोगों को त्यागना उचित नहीं है।

नमि—मैंने काम-भोगों की लालसा से प्राप्त भोगों को नहीं त्यागा है क्योंकि इनकी इच्छा मात्र दुर्गति का कारण है।

इस तरह ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने राजा नमि की श्रमण-धर्म में दृढ़ आस्था देखकर अपना वास्तविक रूप प्रकट कर दिया और मधुर वचनों से राजा नमि के आश्चर्यकारी गुणों की स्तुति करते हुए वन्दना की। इन्द्र देवलोक चला गया तथा नमि और अधिक नम्रीभूत हो गए। पश्चात् नमि ने श्रमण-दीक्षा ली और निर्वाण पद पाया।

इस परिसंवाद से जिन महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश पड़ता है, वे इस प्रकार हैं :

१. श्रमणधर्म गृहस्थाश्रम से पलायन नहीं है।

२. दीक्षार्थी को गृह-कुटुम्ब की चिन्ता न करना।

३ अवशीकृत आत्मा की विजय सबसे बड़ी विजय है।

४. संसार के विषय-भोग विषफल सदृश हैं। ये अनन्त की संख्या में प्राप्त होने पर भी सुखकर नहीं होते हैं।

५ श्रमणधर्म की श्रेष्ठता व प्रयोजन।

६ दीक्षार्थी के मन में उत्पन्न होने वाले अन्तर्द्वन्द्व का सफल चित्रण।

७. सहेतुक प्रश्न पूछना व ऐसे ही प्रश्नों के सहेतुक उत्तर देना।

चित्त-सम्भूत संवाद :[1]

चित्त और सम्भूत नाम के दो चाण्डाल थे। वे दोनों मरकर देव हुए। उन दोनों में से संभूत के जीव ने देवलोक से च्युत होकर

१. उ० अध्ययन १३.

कांपिल्य नगर में रानी चूलनी के गर्भ से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में जन्म लिया और चित्त के जीव ने पुरिमताल नगर में एक विशाल श्रेष्ठि कुल में जन्म लिया। चित्त का जीव धर्म का श्रवण करके साधु बन गया परन्तु सभूत का जीव (ब्रह्मदत्त) भोगों में आसक्त रहा। संयोगवश चित्त मुनि एक दिन ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए कांपिल्यनगर में आए। वहाँ एक-दूसरे को देखकर उन्हें जातिस्मरण हो गया। इसके बाद सभूत का जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती अपने पूर्वभव के भाई चित्त मुनि का सत्कार करके बोला—

संभूत (ब्रह्मदत्त)—परस्पर प्रीति वाले हम दोनों भाई पूर्वभवो मे क्रमशः दशार्ण देश में दासरूप से, कलिंजर पर्वत पर मृगरूप से, मृतगंगा के तीर पर हंसरूप से, काशी में चाण्डालरूप से और देवलोक में देवरूप से एक साथ उत्पन्न हुए, फिर क्या कारण है कि इस छठे भव में पृथक्-पृथक् हो गए ?

चित्त (चित्त मुनि)—हे राजन ! हम दोनो एक-से कर्म करने के कारण पांच भवो तक तो एक साथ पैदा हुए परन्तु इस छठे भव में पृथक् होने का कारण यह है कि तुमने चाण्डाल भव में जो पुण्यकर्म किए थे वे भोगों की प्राप्ति की अभिलाषा से (अशुभ निदानपूर्वक) किए थे और मैंने अभिलाषारहित (निदानरहित) होकर किए थे। यही कारण है कि एक समान कर्म करने पर भी हम दोनों भाई इस भव मे बिछुड़ गए।

संभूत—मैं पूर्व भव के पुण्यकर्मों का शुभ फल आज सब प्रकार से भोग रहा हूँ। क्या तुम भी इसी प्रकार हो ?

चित्त—मुझे भी अपना जैसा ही समझ। मैं एक महान् अर्थवाली गाथा को सुनकर प्रव्रजित हो गया हूँ।

सभूत—हे भिक्षु ! यह मेरा घर सब प्रकार से समृद्ध है। तू भी इसका यथेच्छ उपभोग कर क्योंकि भिक्षाचर्या बड़ी कठिन है।

चित्त—हे राजन् ! संसार के सभी विषय-भोग क्षणिक एवं सुखाभासरूप हैं। दीक्षा में उनसे कई गुना अधिक सुख है। तू भी मेरे जैसा बन जा।

संभूत—हे मुने ! मैं भी आपकी तरह ही जानता हूँ परन्तु चाण्डाल भव में (हस्तिनापुर में राजा के ऐश्वर्य को देखकर)

किए गए निदानबन्ध के कारण मैं वस्तुस्थिति को जानकर भी इन काम-भोगों को उसी प्रकार नहीं छोड़ पा रहा हूँ जिस प्रकार कि दलदल में फँसा हुआ हाथी तीर-प्रदेश को देखकर भी दलदल से नहीं निकल पाता है।

चित्त—यदि तू भोगों को त्यागने में असमर्थ है तो दया आदि अच्छे कर्म कर जिससे देवत्व की प्राप्ति हो।

इस प्रकार स्नेहवश कल्याण की भावना से दिए गए सदुपदेश का जब ब्रह्मदत्त पर कोई प्रभाव न पड़ा तो मुनि ने पुन. कहा—'तुम्हारी भोगो को त्यागने की इच्छा नही है। तू आरम्भ और परिग्रह में आसक्त है। मैंने व्यर्थ इतना प्रलाप किया। अब मैं जा रहा हूँ।' इसके बाद ब्रह्मदत्त भोगों मे आसक्ति के कारण अनुत्तर (सातवें) नरक में गया और काम-भोगों से विरक्त चित्तमुनि अनुत्तर सिद्धगति (मोक्ष) में गया।

इस परिसवाद से निम्नोक्त बातों पर प्रकाश पड़ता है :

१. यदि कोई साधु न बन सके तो गृहस्थ-धर्म का पालन करे।
२. उपदेश उसे ही देना चाहिए जो उसे ग्रहण करे।
३. कर्म की विचित्रता।
४. निदानबन्ध का कुपरिणाम।
५. विषय-भोगों की असारता।

मृगापुत्र और माता-पिता संवाद :[1]

सुग्रीव नगर में बलभद्र राजा राज्य करता था। उसकी मृगावती नाम की पटरानी थी। उनका एक प्रिय पुत्र था जिसका नाम था 'बलश्री' परन्तु वह 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह सुरम्य महलों में रानियों के साथ देवसदृश भोग भोगा करता था तथा हमेशा प्रसन्नचित्त रहा करता था। एक दिन जब वह रत्न-जटित प्रासाद में बैठा हुआ झरोखे से नगर के चौराहों आदि की ओर देख रहा था कि अचानक उसकी दृष्टि एक संयत साधु पर पड़ी। उसे निर्निमेष दृष्टि से देखकर वह सोचने लगा कि मैंने पहले भी

१. उ० अध्ययन १९.

कभी ऐसा रूप देखा है। पश्चात् साधु-दर्शन तथा पवित्र-चिन्तन से उसे जातिस्मरण हो गया। जातिस्मरण होने पर उसे अपने पूर्व भव के श्रमणपने का स्मरण हुआ तथा उसका अन्तःकरण वैराग्य से भर गया। इसके बाद वह अपने माता-पिता के पास आकर इस प्रकार बोला—

मृगापुत्र—हे माता-पिता ! मैं भोगों को भोग चुका हूँ। संसार अनित्य व दुःखों से पूर्ण है। अतः अब मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ।

माता-पिता—समुद्र को भुजाओं से पार करने की तरह दीक्षा अत्यन्त कठिन है। इसमें हजारों गुणों को धारण करना पड़ता है। जैसे : जीवनपर्यन्त अहिंसादि पाँच महाव्रतों का पालन, रात्रि-भोजन का त्याग, शत्रु-मित्र के प्रति समता, केशलोञ्च आदि। हे पुत्र ! तू अभी सुकुमार है। अतः अभी भोगों को भोग, बाद में दीक्षा लेना।

मृगापुत्र—हे माता-पिता ! आपका कथन यद्यपि सत्य है फिर भी जिसकी भौतिक सुखों की प्यास शान्त हो चुकी है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है। इसके अतिरिक्त मैंने पूर्वभव में प्रत्यक्ष दृश्यमान दुःखों से कई गुने अधिक नारकीय कष्टों को भोगा है।

माता-पिता—हे पुत्र ! यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो प्रव्रजित हो जाओ परन्तु इतना ध्यान रखो कि प्रव्रजित होने के बाद रोगों का इलाज नहीं कराया जाता है जो अत्यन्त कठिन है।

मृगापुत्र—हे माता-पिता ! यद्यपि आपका कथन ठीक है फिर भी जैसे मृग रोगादि का इलाज किए बिना अकेले ही अनेक स्थानों से भक्त-पान लेनेवाला, अनेक स्थानों में रहनेवाला और गोचरी से जीवन यापन करनेवाला होता है वैसे ही साधु भी होता है। अतः आपसे दीक्षा के लिए अनुमति चाहता हूँ।

माता-पिता - जैसे में तुम सुखी रहो वैसा ही करो।

इस प्रकार माता-पिता के द्वारा नाना प्रकार से प्रलोभित किए जाने पर भी मृगापुत्र संयम में दृढ़ रहा और माता-पिता को प्रबोधित करके दीक्षा ले ली। पश्चात् बहुत वर्षों तक कठोर श्रमण-धर्म का पालन करके समाधिमरणपूर्वक मोक्ष प्राप्त किया।

इस परिसंवाद में निम्नोक्त विषयों की चर्चा की गई है :

१. विषयासक्त जीवों को ही प्रव्रज्या कठिन है, अन्य को नहीं।
२. मृगचर्या (साध्वाचार) की कठोरता व उसका फल।
३. संसार के दु:ख व उनकी असारता।
४. सभी जीवों को नाना प्रकार के भोगों का सुख-दु:खरूप अनुभव।

श्रेणिक-अनाथी संवाद :[1]

मगध देश का राजा श्रेणिक प्रचुर रत्नों से परिपूर्ण था। एक बार वह विविध प्रकार के फूलों व फलों से सुशोभित तथा नन्दन वन के समान रमणीक मण्डिकुक्ष नामक उद्यान में विहार-यात्रा के लिए गया। वहाँ घूमते हुए राजा ने एक ध्यानस्थ सौम्याकृति-वाले मुनि को देखा। उसमें रूप, लावण्य, सौम्यता, निर्लोभता और भोगों से अनासक्ति आदि अनेक दुर्लभ गुणो को एकत्र देखकर राजा आश्चर्यचकित हुआ। 'अनाथी' नाम से प्रसिद्ध उस मुनि के प्रति आकृष्ट हुए राजा ने मुनि के चरणों में नमस्कार किया। पश्चात् मुनि से न अधिक पास और न अधिक दूर बैठकर राजा ने हाथ जोड़कर कहा—

श्रेणिक राजा— हे आर्य ! विषय-भोग के योग्य इस युवावस्था मे आपके प्रव्रजित होने का क्या कारण है ?

अनाथी मुनि—महाराज ! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई नाथ (स्वामी—रक्षक) नहीं है। कोई दयालु मित्र-बन्धु भी नहीं है। अत: प्रव्रजित हो गया हूँ।

राजा (हंसकर)—तुम्हारे जैसे सौभाग्यशाली व्यक्ति का कोई नाथ नहीं है यह कैसे संभव है ? हे भदन्त ! मैं आज से तुम्हारा नाथ बनता हूँ। अब तुम यथेच्छ दुर्लभ भोगों को भोगो।

मुनि—हे मगधाधिप ! तुम खुद अनाथ हो फिर अनाथ होकर मेरे व दूसरों के नाथ कैसे हो सकते हो ?

राजा (मुनि के अश्रुतपूर्व वचनों को सुनकर अत्यधिक आश्चर्ययुक्त होता हुआ)—मेरे पास सभी प्रकार के उत्कृष्ट भोग-

१. उ० अध्ययन २०.

साधन हैं फिर मैं अनाथ कैसे हो सकता हूँ ? हे भदन्त ! आप मिथ्या न कहें ।

मुनि—हे राजन् ! तू मेरे द्वारा प्रयुक्त 'अनाथ' और 'सनाथ' शब्द का ठीक-ठीक अर्थ नहीं जानता है । अतः ध्यानपूर्वक मेरे पूर्ववृत्त को सुन—'मैं दीक्षा लेने के पूर्व अपार धन-सम्पत्तिवाले अपने पिता के साथ कौशाम्बी नगरी में रहता था । एक बार मुझे असह्य चक्षु-रोग हुआ । उस रोग को दूर करने के लिए अद्वितीय चिकित्साचार्यों ने मेरी सब प्रकार से चिकित्सा की परन्तु वे मेरा रोग दूर न कर सके । पिता ने विपुल सम्पत्ति खर्च की परन्तु वे भी रोगजन्य मेरे कष्ट को दूर न कर सके । रोती हुई माता, बहिन, पत्नी आदि सम्बन्धीजन भी मुझे दुःख से मुक्त न कर सके । यही मेरी अनाथता है । इस तरह नाना प्रकार के प्रयत्न किए जाने पर भी जब मेरा चक्षुरोग ठीक न हुआ तो मैंने एक दिन संकल्प किया कि यदि मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँगा तो साधु बन जाऊँगा । इस सकल्प के साथ मैं सो गया । जैसे-जैसे रात्रि बीतती गई, रोग शान्त होता गया और प्रातःकाल पूर्ण स्वस्थ हो गया । संकल्प के अनुसार मैंने भी माता-पिता से अनुमति लेकर प्रव्रज्या ले ली । तभी से मैं अपना व दूसरों का नाथ हो गया । यही मेरी सनाथता है । जो आत्मा को संयमित रखकर श्रमणधर्म का सम्यक् पालन करते हैं वे सनाथ हैं और जो श्रमण होकर भी विषयासक्त रहते हैं व धर्म का विधिपूर्वक पालन नहीं करते हैं वे अनाथ हैं ।'

राजा (सनाथ और अनाथ विषयक इस अश्रुतपूर्व अर्थ को सुनकर प्रसन्न होता हुआ व हाथ जोड़कर)—हे भगवन् ! आपने मुझे सनाथ और अनाथ शब्द का ठीक-ठीक अर्थ बतला दिया । आपका मनुष्य जन्म सफल है । आप सनाथ एवं सबान्धव हैं । इतना ही नहीं आप नाथों के भी नाथ हैं । मैं आपसे धर्म में अनुशासित होना चाहता हूँ । मैंने आपको भोगों के लिए निमन्त्रण देकर व प्रश्न पूछकर आपका जो अपराध किया है उसे क्षमा करें ।

इसके बाद राजा अपने बन्धुजनों के साथ धर्म में दीक्षित होकर व मुनि की वन्दना करके चला गया । मुनि भी निर्मोही भाव से अन्यत्र विहार कर गए ।

इस तरह इस परिसंवाद में अनाथ शब्द की बहुत ही रोचक व सटीक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इससे निम्नोक्त बातों पर प्रकाश पड़ता है :

१. धर्माचरण से युक्त व्यक्ति सनाथ है और धर्महीन अनाथ है।

२. धनादि से कोई सनाथ नहीं होता है।

३. बाह्यलिङ्ग की अपेक्षा अभ्यन्तर-शुद्धि की प्रधानता।

४ विनीत व्यक्ति का स्वरूप।

५. स्वल्प भी अपराध के लिए क्षमा-प्रार्थना।

इषुकारीय आख्यान :[1]

देवलोक के एक ही विमान में रहने वाले छः जीव अवशिष्ट पुण्य कर्मों का उपभोग करने के लिए इषुकार नगर में उत्पन्न हुए। वे छः जीव इस प्रकार थे : १. पुरोहित, २. पुरोहित की पत्नी यशा, ३-४. पुरोहित के दो पुत्र, ५. राजा विशालकीर्ति (इषुकार) और ६. राजा की पत्नी रानी कमलावती। सयोगवश एक दिन पुरोहित के दोनों पुत्रों को जातिस्मरण हुआ और उनका अन्तः-करण वैराग्य की भावना से भर गया। इसके बाद वे दोनों दीक्षार्थ अनुमति के लिए माता-पिता के पास जाकर इस प्रकार बोले—

पुत्र—यह जीवन विघ्नबहुल तथा दुःखमय है। हमारी आयु अत्यल्प है। हमें घर में आनन्द नहीं मिलता है। अतः दीक्षार्थ अनुमति देवें।

पिता—वेदविद् ब्राह्मणों का कहना है कि पुत्र के बिना सद्गति नहीं मिलती है। अतः पहले वेद पढ़ो। ब्राह्मणों को भोजन कराओ। स्त्रियों के साथ भोग भोगो। पुत्र पैदा करो। पश्चात् दीक्षा लेना।

पुत्र—वेदाध्ययन, ब्राह्मण-भोजन आदि रक्षा करने वाले नहीं हैं। इसके अलावा विषय भोग क्षणिक सुखरूप व अनर्थों की खान हैं।

---

१. उ० अध्ययन १४.

पिता—जिस प्रयोजन से लोग तप करते हैं वह सब कुछ (प्रचुर धन, स्त्रियाँ आदि) जब तुम्हें यहीं प्राप्त है तो फिर क्यों दीक्षा लेना चाहते हो ?

पुत्र—पिता जी ! तपरूपी धर्मधुरा को धारण करने वाले को धनादि से क्या प्रयोजन है ? हम तो गुणसमूह को धारण करने के लिए दीक्षा लेना चाहते हैं।

पिता—हे पुत्रो ! जिस प्रकार अविद्यमान भी अग्नि अरणि से, घी दूध से, तेल तिल से उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार अविद्यमान जीव भी शरीर से उत्पन्न हो जाता है और शरीर के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है।

पुत्र—जीव अमूर्त स्वभाव वाला होने से मूर्त इन्द्रियों के द्वारा दिखलाई नहीं देता है। अमूर्त होने से वह नित्य भी है। वह न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है। इसका सम्यक् ज्ञान न होने से हम लोगों ने अब तक घर में रहकर पापकर्म किए। अतः अब देर करना उचित नहीं है।

पिता—यह लोक किससे पीड़ित है, किससे घिरा हुआ है और अमोघा कौन है ? यह जानने के लिए मैं उत्सुक हूँ।

पुत्र—यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, बुढ़ापे से घिरा हुआ है और रात्रि को अमोघा कहा गया है। धर्म करने वाले की सभी रात्रियाँ सफल हैं और अधर्म करने वाले की असफल।

पिता—पहले हम सब गृहस्थ-धर्म का पालन करें, बाद में दीक्षा लेंगे।

पुत्र- जिसकी मृत्यु से मित्रता हो, जो मौत से बच सकता हो या जिसे यह विश्वास हो कि वह नहीं मरेगा वही कल के बारे में सोचे। हम दोनों तो आज ही दीक्षा लेंगे।

इस तरह पुरोहित के दोनों पुत्र जब अपने निश्चय से विचलित न हुए तो उसने भी पुत्रहीन की दयनीय स्थिति का विचार करके दीक्षा लेने का निश्चय किया और अपनी पत्नी से बोला—

पुरोहित—हे वासिष्ठी ! अब मेरा भिक्षाचर्या का समय आ गया है क्योंकि शाखाविहीन वृक्ष की तरह पुत्रविहीन का घर में रहना निरर्थक है।

वासिष्ठी—पहले उपलब्ध इन प्रचुर भोगों को भोगें फिर दीक्षा लेंगे।

पुरोहित—हम भोग भोग चुके हैं। आयु क्षीण होती जा रही है। अतः अब मैं संयम धारण करने के लिये भोगों को छोड़ना चाहता हूँ।

वासिष्ठी—अभी मेरे साथ भोगों को भोगो। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हें प्रतिस्रोत में बहने वाले वृद्ध हंस की तरह दीक्षा लेने के बाद बन्धुओं की याद करके पछताना पड़े।

पुरोहित—जब पुत्रों ने निर्ममत्वभाव से भोगों को छोड़ दिया है तो फिर मैं भी उनका अनुगमन क्यों न करूं।

इस तरह पुत्र और पति का दृढ़ निश्चय देखकर वासिष्ठी भी सोचती है कि जैसे क्रौञ्च पक्षी जाल का भेदन करके चले जाते हैं वैसे ही मेरे पुत्र और पतिदेव जा रहे हैं। अतः मैं भी उनका अनुगमन क्यों न करूं। यह सोच वह भी पुत्र व पति का अनुगमन करती है।

इस प्रकार पुरोहित के सपरिवार दीक्षा ले लेने पर जब उस देश के राजा इषुकार ने राजधर्मानुसार उसके धन को लेना चाहा तो उसकी पत्नी कमलावती ने कहा—'जैसे वमन किए हुए पदार्थ को खानेवाले की कहीं प्रशंसा नहीं होती वैसे ही ब्राह्मण के द्वारा त्यक्त धन को लेने वाले की प्रशंसा नहीं होती। धन से न तो तृप्ति होती है और न रक्षा। रक्षक एकमात्र धर्म है। अतः उसी का आचरण करना उचित है।' इस तरह विविध प्रकार से कमलावती के द्वारा समझाए जाने पर राजा ने भी अपनी पत्नी के साथ दीक्षा ले ली। अन्त में श्रमणधर्म का पालन करके वे छहों जीव मुक्त हो गए।

इस परिसंवाद से निम्नोक्त विषयों पर प्रकाश पड़ता है :

१. विषयभोगों की असारता व दुःखरूपता।
२. वेदाध्ययन, ब्राह्मणभोजन, पुत्रोत्पत्ति आदि रक्षक नहीं हैं। रक्षक एकमात्र धर्म है।
३. तप का प्रयोजन गुणधारण है न कि भोगों की प्राप्ति।
४. आत्मा की सिद्धि व उसकी अजरता-अमरता।
५. कल की प्रतीक्षा वही करे जो मृत्यु से बच सकता हो।

६. पुत्र के अभाव में माता-पिता की दयनीय स्थिति।
७. परित्यक्त धन का ग्रहण वमित पदार्थ का खाना है।
८. लावारिस धन का अधिकारी राजा होता है।
९. श्रमणधर्म अङ्गीकार करने का फल।

हरिकेशिबल आख्यान :[1]

हरिकेशिबल मुनि का जन्म चाण्डाल कुल में हुआ था। उन्होंने जैन श्रमण बनकर उग्र तपस्या की। तप के प्रभाव से एक तिन्दुक वृक्षवासी यक्ष इनकी सेवा करने लगा था। इनका रंग काला था। उग्र तपस्या करने से इनका शरीर कृश हो गया था और वस्त्रादि उपकरण जीर्ण-शीर्ण व मलिन हो गए थे। इनका रूप विकराल होने पर भी तप के प्रभाव से भास्वर था। एक समय ये भिक्षार्थ यज्ञमण्डप में गए। वहाँ जाति से पराजित, अजितेन्द्रिय व अज्ञानी ब्राह्मणों ने इन्हें आते हुए देखकर निन्दायुक्त वचनों में कहा—

ब्राह्मण—ओ वीभत्स रूपवाले ! तुम कौन हो ? किसलिए यहाँ आए हो ? यहाँ क्यों खड़े हो ? हमारी आँखों से दूर भाग जाओ।

यक्ष (मुनिरूपधारी)—मैं धनादि के संग्रह से विरत संयमी श्रमण हूँ। भिक्षान्न प्राप्त करने के लिए यहाँ आया हूँ। आप बहुत-सा भोज्यान्न बाँट रहे हैं। अतः शेषावशेष अन्न मुझे भी प्राप्त हो।

ब्राह्मण—यह भोज्यान्न सिर्फ ब्राह्मणो के लिए है। हम यह तुम्हे नही देंगे। फिर क्यो यहाँ खड़े हो ?

यक्ष—जैसे किसान अच्छी उपज की आशा से ऊँची-नीची सभी जगह बीज बोता है वैसे ही पुण्याभिलाषी तुम मुझे भी दान दो। यह पुण्यक्षेत्र है। यहाँ दिया गया दान खाली नही जाएगा।

ब्राह्मण—पुण्यक्षेत्र तो श्रेष्ठ जाति व विद्या से युक्त ब्राह्मण ही हैं।

यक्ष—क्रोधादि में आसक्त ब्राह्मण पापक्षेत्र हैं। वे वेदों को पढ़करके भी उनके अर्थ को नही जानते हैं। जो श्रमण सभी कुलों में भिक्षा के लिए जाते हैं वे ही पुण्यक्षेत्र हैं।

---

१. उ० अध्ययन १२.

ब्राह्मण—ओ निर्ग्रन्थ ! बकवास मत कर। यह अन्न नष्ट भले ही हो जाए मगर हम तुझे नहीं देंगे।

यक्ष—यदि मुझ जितेन्द्रिय को यह अन्न नहीं दोगे तो इस यज्ञ से तुम्हें क्या लाभ होगा ?

इसके बाद ब्राह्मण की आज्ञा पाकर उसके बहुत से शिष्य मुनि को पीटने लगे। यह देख राजा कौशलिक की पुत्री भद्रा (ब्राह्मण की पत्नी) शिष्य कुमारों को शान्त करते हुए बोली—'यह ऋषि उग्र तपस्वी तथा ब्रह्मचारी है। यह राजाओं और इन्द्र आदि से भी पूजित है। एक बार देवता की प्रेरणा से स्वयं मेरे पिता द्वारा दी गई मुझे इसने मन से भी नही चाहा था। यह अचिन्त्यशक्तिवाला है। इसकी अवहेलना करने पर यह तुम सब को तथा समूचे संसार को भी भष्म कर सकता है। यदि तुम जीवन और धन की अभिलाषा रखते हो तो इसकी शरण में आकर क्षमा मागो।' इसी बीच मुनि की सेवा करने वाले यक्ष ने अपने साथियों के साथ मिलकर शिष्य कुमारों को क्षत-विक्षत कर डाला। यह सब देख उस ब्राह्मण ने अपनी पत्नी भद्रा के साथ मिलकर मुनि से क्षमा मांगी। उसने कहा—'भन्ते ! मूढ़ बालकों ने अज्ञानवश आपका जो अपराध किया है उसे क्षमा करें क्योंकि मुनि किसी पर कोप नही करते हैं, वे हमेशा प्रसन्न रहते हैं। आपके सभी अङ्ग पूजनीय हैं। यह प्रभूत अन्न-पान ग्रहण करके हमें अनुगृहीत करें।' यह सुन मुनि ने उत्तर दिया—'मेरे मन में न तो पहले कोई द्वेष था, न अभी है और न आगे होगा। कुमारों को जो प्रताड़ित किया है वह मेरी सेवा करने वाले यक्ष का कार्य है।' इसके बाद मुनि ने एक मास के उपवास के बाद उन पर अनुग्रह करने की इच्छा से अन्न-पान ग्रहण किया। यह देख देवों ने पुष्पवृष्टि की और 'आश्चर्यकारी दान' कहते हुए दुन्दुभि बजाई। पश्चात् मुनि ने ब्राह्मणों के कल्याण के लिए भावयज्ञ का व्याख्यान किया।

इस आख्यान से निम्न विषयों पर प्रकाश पड़ता है :

१. श्रेष्ठ जाति में पैदा होना श्रेष्ठता का सूचक नही है अपितु कर्म से श्रेष्ठता होती है।

२. तपस्वी की महिमा।
३. दान का माहात्म्य व दान का सुपात्र।
४. भावयज्ञ की श्रेष्ठता।
५. मुनि का स्वरूप।

जयघोष-विजयघोष आख्यान :[1]

जयघोष और विजयघोष नाम के दो वेदविद् ब्राह्मण थे। उनमें से जयघोष श्रमण बन गया और विजयघोष वैदिक यज्ञों को करते हुए वाराणसी में रहने लगा। एक समय इन्द्रियनिग्रही व कर्म-विनाशक यमयज्ञ को करनेवाला महायशस्वी जयघोष श्रमण ग्रामानुग्राम विचरण करता हुआ वाराणसी आया। वहाँ वह शहर के बाहर प्रासुक शय्या व संस्तारक लेकर 'मनोरम' उद्यान में ठहर गया। उस समय वहाँ पर विजयघोष वैदिक यज्ञ कर रहा था। जयघोष मुनि एक मास के अनशन तप की पारणा के लिए विजयघोष के यज्ञमण्डप में गया। वहाँ पहुँचने पर यज्ञकर्ता विजयघोष ने कहा—

विजयघोष—हे भिक्षो ! मैं तुझे भिक्षा नहीं दूंगा। तुम अन्यत्र जाकर भिक्षा मांगो। यह यज्ञान्न सिर्फ उन्हीं ब्राह्मणों के लिए है जो वेदविद्, यज्ञविद्, ज्योतिषाङ्गविद्, धर्मशास्त्रविद् और स्व-पर-कल्याणकर्ता हैं।

जयघोष (विजयघोष का कल्याण करने के लिए न कि अन्न-पानादि की अभिलाषा से समतापूर्वक)—आप लोग वेदादि के सम्यक् अर्थ को नहीं जानते हैं। यदि जानते हैं तो हमें बतलाएँ।

विजयघोष (उत्तर देने में असमर्थ हो हाथ जोड़कर)—आप स्वयं वेदादि का सम्यक् अर्थ बतलाएँ।

यह सुन जयघोष मुनि ने वेदों का मुख, यज्ञों का मुख, नक्षत्रों का मुख, धर्मों का मुख, स्व-पर का कल्याणकर्ता, सच्चे ब्राह्मण का स्वरूप, बाह्यलिङ्ग की अपेक्षा आभ्यन्तरलिङ्ग की श्रेष्ठता, जन्मना जातिवाद का खण्डन, कर्मणा जातिवाद की स्थापना आदि विविध विषयों का स्पष्टीकरण किया।

---

१. उ० अध्ययन २५.

विजयघोष (प्रसन्न होकर)—आपने मुझे ब्राह्मणत्व का यथार्थ स्वरूप समझा दिया। आप वेदविद्, यज्ञविद्, ज्योतिषाङ्गविद्, धर्मविद् तथा स्व-परकल्याणकर्त्ता हैं। हे भिक्षुश्रेष्ठ ! आप मुझ पर अनुग्रह करके यज्ञान्न ग्रहण करें।

जयघोष—मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं है। तुम संसाररूपी सागर से पार उतरने के लिए मुनिधर्म को स्वीकार करो।

इसके बाद विजयघोष भी प्रव्रजित हो गया और दोनों ने संयम व तप की आराधना करके मोक्ष प्राप्त किया।

इस आख्यान से निम्नोक्त विषयों पर प्रकाश पड़ता है :

१. सच्चे ब्राह्मण का स्वरूप।
२. वेदादि का मुख।
३. जन्मना जाति की अपेक्षा कर्मणा जाति की श्रेष्ठता।
४. बाह्यशुद्धि की अपेक्षा आभ्यन्तर शुद्धि की श्रेष्ठता।
५. वैदिक द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा यमयज्ञ की श्रेष्ठता।
६. अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में मुनिधर्म—समता।
७. मुनि के उपदेश का प्रयोजन—पर-कल्याण।

राजीमती-नेमि आख्यान :[1]

शौर्यपुर नगर में राजा वसुदेव और राजा समुद्रविजय राज्य करते थे। वसुदेव की दो पत्नियाँ थीं—रोहिणी और देवकी। इन दोनों पत्नियों से क्रमशः दो पुत्र हुए—राम (बलराम) और केशव (कृष्ण)। राजा समुद्रविजय की पत्नी का नाम था 'शिवा'। उसके एक पुत्र का नाम था 'अरिष्टनेमि' और दूसरे का नाम था 'रथनेमि'।

उसी समय द्वारकापुरी में भोगराज (उग्रसेन) राज्य करते थे। उनकी पुत्री का नाम था 'राजीमती'। वह सभी श्रेष्ठ राज-कन्याओं के लक्षणों से युक्त, चमकती हुई बिजली की प्रभा की तरह दीप्तिमती, चारुप्रेक्षिणी और सुशील थी। समुद्रविजय के पुत्र

१. उ० अध्ययन २२.

अरिष्टनेमि भी इसी प्रकार सर्वगुणों से सम्पन्न थे। वे श्याम वर्ण के थे। संहनन 'वज्रवृषभ' था। सस्थान 'समचतुरस्र' था। पेट मछली के पेट जैसा था। अरिष्टनेमि और राजीमती के युवा होने पर केशव ने भोगराज से उन दोनों के विवाह का प्रस्ताव रखा। भोगराज की अनुमति मिलने पर दोनों तरफ विवाह की तैयारियाँ की जाने लगी। वृष्णिपुगव अरिष्टनेमि को शुभ मुहूर्त में सर्वौषधियों से स्नान कराया गया। कौतुक एव मगल कार्य भी किए गए। दिव्य वस्त्र-युगल (उत्तरीय और अधः) पहनाए गए। आभूषणों से अलंकृत किया गया। वासुदेव के मतवाले ज्येष्ठ गन्धहस्ती पर बैठाया गया। गन्धहस्ती पर बैठे हुए वे मस्तक पर स्थित चूडामणि की तरह सुशोभित हुए। उनके ऊपर छत्र और चामर ढुले जा रहे थे। चारों ओर दशार्ह लोग बैठे हुए थे। गगनस्पर्शी दिव्य बाजे बज रहे थे।

ऐसे शुभ मुहूर्त में अरिष्टनेमि वर के रूप में अपने भवन से निकले और चतुरगिणी सेना के साथ भोगराज के घर प्रस्थान किया। द्वारका पहुँचने पर उन्होने पिंजरों एवं बाडों में निरुद्ध तथा भय से पीड़ित पशु-पक्षियो को देखा। दयार्द्र होकर उन्होंने अपने सारथि से इसका कारण पूछा। सारथि ने कहा -'ये प्राणी तुम्हारे विवाह की खुशी में बहुत से लोगो को खिलाने के लिए यहाँ निरुद्ध हैं।' सारथि के इन वचनो को सुनकर अरिष्टनेमि ने सोचा—'मेरे निमित्त से यदि इन बहुत से प्राणियों का बध होने वाला है तो यह मेरे लिए परलोक मे कल्याणकारी नही होगा।' ऐसा विचारकर उन्होंने अपने सभी वस्त्राभूषण उतारकर सारथि को दे दिए और दीक्षा लेने का संकल्प किया। दीक्षा का संकल्प करते ही देवतागण अरिष्टनेमि का अभिनिष्क्रमण महोत्सव करने के लिए पधारे। इसके बाद हजारों देव और मनुष्यों से घिरे हुए अरिष्टनेमि ने चित्रा नक्षत्र में अभिनिष्क्रमण किया। अभिनिष्क्रमण करते समय वे रत्ननिर्मित पालकी पर बैठकर गिरनार पर्वत पर गए। वहाँ शीघ्र ही अपने सुगन्धित बालो को अपने हाथों (पञ्चमुष्टि) से उखाड़ा। वासुदेव ने अभीष्ट सिद्धि का आशीर्वाद दिया। इसके बाद राम, केशव आदि सभी अरिष्टनेमि की वन्दना करके द्वारकापुरी लौट गए।

जब राजीमती ने अपने होनेवाले पति की प्रव्रज्या का समाचार सुना तो वह अपनी हंसी व खुशी को खो बैठी। पश्चात् उसने भी विचार किया—'मुझ पति-परित्यक्ता के जीवन को धिक्कार है। अत: मेरा भी प्रव्रजित होना उचित है।' इसके बाद कृत-निश्चया धृतिमती राजीमती ने भी अपने सुवासित बालों को अपने हाथों से उखाड़ दिया और स्वयं प्रव्रजित होकर अन्य बहुत से स्वजनों को भी प्रव्रजित किया। यह देख वासुदेव ने बहुश्रुता राजीमती को भी अभीष्टसिद्धि का शुभाशीर्वाद दिया।

प्रव्रजित होने के बाद जब राजीमती एक दिन रैवतक पर्वत पर जा रही थी कि मार्ग में अचानक वर्षा होने से वह भीग गई। वर्षा व घोर अन्धकार देख राजीमती ने समीपस्थ गुफा में जाकर वस्त्रों को उतारा और उन्हे सुखाने लगी। इसी बीच पहले से वहाँ वर्तमान रथनेमि ने राजीमती को यथाजात (नग्न) रूप में देख लिया। उसे देख रथनेमि अस्थिर चित्त वाला हो गया। राजीमती भी वहाँ रथनेमि को देख भयभीत हो गई और कांपती हुई उसने अपने गुह्याङ्गों को छिपा लिया। पश्चात् भयभीत राजीमती से रथनेमि ने सान्त्वना भरे शब्दों मे प्रणय निवेदन किया। इस तरह रथनेमि को संयम से च्युत होते हुए देख राजीमती अपने शरीर को वस्त्रों से ढकती हुई दृढतापूर्वक बोली—'यदि तू रूप में वैश्रवण और लालित्य में नलकूबर है या साक्षात् इन्द्र ही है तो भी मैं तुझे नहीं चाहती हूँ। हे यश:कामिन् ! तुझे धिक्कार है जो तू वमन की हुई वस्तु को पीने की अभिलाषा रखता है। इससे तो मरना अच्छा है।' इसके बाद उसने दोनो के कुलों की श्रेष्ठता आदि को बतलाते हुए पुन: कहा—'यदि तू स्त्रियों को देखकर रागभाव करेगा तो अस्थिरात्मा (चञ्चल चित्तवृत्तिवाला) होकर श्रमण बनने के फल को प्राप्त न कर सकेगा।'

इस तरह संयमिनी राजीमती के सुभाषित वचनों को सुनकर रथनेमि संयम में उसी प्रकार दृढ़ हो गया जिस प्रकार अकुश से मदोन्मत्त हाथी। इसके बाद दोनो ने निश्चलभाव से आजीवन दृढ़ संयम का पालन करके मुक्ति प्राप्त की।

इस प्रभावोत्पादक आख्यान से निम्नोक्त विषयों पर प्रकाश पड़ता है :

१. विभिन्न परिस्थितियों में नारी का कर्त्तव्य व शीलरक्षा ।
२. राजीमती, रथनेमि और अरिष्टनेमि का उदात्त-चरित्र ।
३. रीति-रिवाज एव राज्य-व्यवस्था आदि का चित्र ।
४. पशु-हिंसा में निमित्तमात्र बनने का परिणाम ।
५ कृष्ण आदि ऐतिहासिक महापुरुषों का प्रथमतः उल्लेख ।

संजय आख्यान :[1]

एक समय देवलोक से च्युत होकर राजा संजय ने कांपिल्य नगर में जन्म लिया। एक बार वह घोड़े पर बैठकर चतुरंगिणी सेना के साथ 'केशर' उद्यान में शिकार के लिए गया। वहाँ उसने संत्रस्त मृगों को मारा। उसी उद्यान के अप्फोव-मण्डप (लता-मण्डप) में तपस्वी गर्दभाली मुनि ध्यानमग्न थे। इधर-उधर घूमने के बाद राजा संजय ने उसी लतामण्डप के पास पहले तो मरे हुए मृगों को और बाद में ध्यानस्थ मुनि को देखा। मुनि को देखकर राजा डर गया। उसने सोचा कि रसलोलुपी मैंने यहाँ के मृगो को मारकर मुनि का अपराध किया है। अतः मुनि के कोप से भयभीत राजा शीघ्र ही घोड़े पर से उतरा और विनयपूर्वक बोला—'हे भगवन् ! मुझे इस विषय में क्षमा करें।' मुनि उस समय ध्यानमग्न थे। अतः उन्होंने कोई प्रत्युत्तर नही दिया। इससे राजा और भी अधिक भयभीत हो गया। पश्चात् राजा ने अपना परिचय देते हुए पुनः विनती की। ध्यानस्थ मुनि ने मौन भंग करते हुए कहा—'हे राजन् ! तुझे अभय है। तू भी दूसरों को अभय करने वाला बन। तू हिंसावृत्ति क्यों करता है ? यह संसार असार एवं अनित्य है। एक दिन तुझे भी सब कुछ यहीं छोड़कर परलोक जाना होगा।

इस तरह विविध प्रकार से मुनि के द्वारा समझाया गया राजा संजय राज्य छोड़कर उनके समीप ही जिनशासन में दीक्षित हो

---

१. उ० अध्ययन १८.

गया। एक दिन संजय मुनि के सौम्य रूप को देखकर किसी क्षत्रिय मुनि ने पूछा—

क्षत्रिय मुनि—तुम्हारा नाम और गोत्र क्या है? तुम मुनि किसलिए बने हो? आचार्य की सेवा कैसे करते हो और विनीत कैसे कहलाते हो?

संजय मुनि—नाम से मैं संजय हूं। मेरा गोत्र गौतम है। गर्दभालि मुनि मेरे आचार्य हैं। मुक्ति के लिए मुनि बना हूँ और आचार्य के उपदेशानुसार सेवा करता हूँ। अतः विनीत हूँ।

संजय मुनि के इस उत्तर से आकृष्ट होकर क्षत्रिय मुनि ने बिना पूछे ही कई बातें बतलाई और प्रसंगवश भरत, सगर आदि बहुत से महापुरुषों के दृष्टान्त दिए जिन्होंने अपनी विपुल सम्पत्ति त्यागकर जिनदीक्षा ली तथा मोक्ष प्राप्त किया।

इस तरह इस आख्यान से निम्नोक्त विषयों पर प्रकाश पड़ता है:

१. दीक्षा लेने का परिणाम—मुक्ति।
२. संसार की असारता।
३. हिंसावृत्ति का त्याग।
४. अभयदाता होना।

समुद्रपाल आख्यान :[1]

चम्पा नगरी में भगवान महावीर का शिष्य पालित नाम का वणिक् रहता था। वह निर्ग्रन्थ-प्रवचन में विशारद था। एक बार जल-पोत से वह व्यापार के लिए 'पिहुण्ड' नगर गया। वहाँ किसी सेठ ने अपनी कन्या का पाणिग्रहण उसके साथ कर दिया। कुछ समय वहाँ रहने के बाद वह अपनी गर्भवती पत्नी को लेकर स्वदेश लौटा। रास्ते में उसकी पत्नी ने पुत्र का प्रसव किया। समुद्र में पैदा होने के कारण उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया। धीरे-धीरे युवा होने पर उसने बहत्तर कलाओं तथा नीतिशास्त्र में पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। एक दिन उसके पिता ने उसकी शादी रूपिणी

---

१. उ० अध्ययन २१.

नाम की कन्या के साथ कर दी। उसके साथ वह सुरम्य महलों में देवसदृश भोग भोगने लगा।

एक दिन जब वह झरोखे में बैठा हुआ था तो उसकी दृष्टि अचानक एक ऐसे व्यक्ति पर पड़ी जो वधभूमि की ओर ले जाया जा रहा था। उसे देख समुद्रपाल का हृदय वैराग्य से भर गया। वह सोचने लगा—'अहो! अशुभ कर्मों का फल बुरा होता है।' इसके बाद उसने माता-पिता से अनुमति लेकर श्रमणधर्म अङ्गीकार किया। श्रमणधर्म का सम्यक् पालन करके उसने सभी प्रकार के कर्मों को नष्ट कर दिया और विशाल संसाररूपी समुद्र को पार करके मोक्ष चला गया।

इस आख्यान से निम्नोक्त विषयों पर प्रकाश पड़ता है :

१. श्रमणधर्म पालन करने का फल—मुक्ति।
२. व्यापार व दण्ड-व्यवस्था।
३. कर्मों का फल।

इस तरह सभी कथात्मक सवादों में मुख्यरूप से धार्मिक चर्चा की गई है। इनसे मिलते-जुलते कथानक व संवाद आदि महाभारत व बौद्धग्रन्थों में भी मिलते हैं।[1]

★

१. देखिए—प्रास्ताविक, पृ० ४५-४६; उ० मर्मी० अध्ययन, खण्ड २, प्रकरण १.

परिशिष्ट २

विशिष्ट व्यक्तियों का परिचय

ग्रन्थ में उल्लिखित निम्नोक्त सभी व्यक्ति ऐतिहासिक तो नहीं हैं फिर भी विषय को रोचक एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए संवाद एवं कथाओं के रूप में इन्हें जोड़ा गया है। जैसे :

अनाथी मुनि :[1]

प्रभूतधनसंचय इनके पिता थे। ये जीवन की प्रथम अवस्था में ही चक्षुरोग से पीड़ित हो गये थे। अनेक प्रयत्न करने पर भी जब रोग ठीक न हुआ तो जैन-श्रमण बन गए। इनका राजा श्रेणिक के साथ वार्तालाप हुआ जिसमें इन्होंने धर्महीन को 'अनाथ' और धार्मिक आचरणवाले को 'सनाथ' बतलाया। इनका रूप और तेज आश्चर्यकारी था। इन्होंने अनाथता का वर्णन किया। अत ये 'अनाथी मुनि' के नाम से कहे गए।

अर (अरहनाथ) :[2]

ये सातवें चक्रवर्ती[3] राजा और अठारहवे तीर्थङ्कर[4] हुए।

---

१. देखिए—परि० १, पृ० ४५६.

२ उ० १८.४०.

३. बारह चक्रवर्ती राजा इस प्रकार हैं : १. भरत, २. सगर, ३. मघवा, ४. सनत्कुमार, ५. शान्ति, ६. कुथु, ७. अरह, ८. सुभूम, ९. महापद्म, १०. हरिषेण, ११. जय और १२. ब्रह्मदत्त।

४. जैनधर्म में चौबीस तीर्थङ्कर इस प्रकार है : १. ऋषभ, २. अजित, ३. संभव, ४. अभिनन्दन, ५. सुमति, ६. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्व, ८. चन्द्रप्रभ, ९. पुष्पदन्त (सुविधि), १०. शीतल, ११. श्रेयांस, १२. वासुपूज्य, १३. विमल, १४. अनन्त, १५. धर्म, १६. शान्ति, १७. कुन्थु, १८. अर (अरह), १९. मल्लि, २०. मुनिसुव्रत, २१. नमि, २२. नेमि, २३. पार्श्व और २४. महावीर।

अन्धकवृष्णि :[१]

ये समुद्रविजय, वसुदेव, अरिष्टनेमि, कृष्ण आदि के पूर्वज हैं। इन्हीं के नाम से आगे इनके कुल का नाम अन्धकवृष्णि पड़ा।

अरिष्टनेमि :[२]

ये बाईसवें तीर्थङ्कर हैं। ये शौर्यपुर के राजा समुद्रविजय की पत्नी शिवा के पुत्र थे। ये कृष्ण वर्ण के थे। महापुरुषोचित १००८ लक्षणों से युक्त थे। इनके शरीर की अस्थियों आदि का गठन एक विशेष प्रकार का था। जब ये राजीमती के साथ विवाह करने के लिए बारात के साथ जा रहे थे तभी वैराग्य हो जाने से जिन-दीक्षा ले ली। इन्हें वृष्णिपुंगव (यादववंशी राजाओं में प्रधान) कहा गया है।

इषुकार :[३]

यह इषुकार नगर (कुरु जनपद) का राजा था। इसने अपनी पत्नी कमलावती के द्वारा प्रबोधित किए जाने पर जिनदीक्षा ली और कर्मों को नष्ट करके मोक्ष प्राप्त किया। बृहद्वृत्ति में इसका मौलिक नाम 'सीमधर' आया है तथा बौद्ध-ग्रन्थों में 'एषुकारी' नाम से इसका उल्लेख हुआ है।[४]

इन्द्र :[५]

यह देवो का शासक है। इसे शक्र और पुरन्दर के नाम से भी कहा गया है। इसने ब्राह्मण के वेश मे राजा नमि की दीक्षा के अवसर पर राजा के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए उनके सयम की दृढ़ता की परीक्षार्थ कुछ प्रश्न पूछे। पश्चात् नमि के सयुक्तिक उत्तरों को सुनकर उनकी स्तुति की।

---

१. देखिए – उ० समी० अध्ययन, पृ० ३६६.
२. देखिए—राजीमती आख्यान, परि० १.
३. उ० १४. ३, ४८.
४. उ० बृहद्वृत्ति, पत्र ३९४; हस्तिपाल जातक, ५०९.
५. उ० अध्ययन ६.

उदायन :[1]

यह सौवीर (सिन्धु) देश का राजा था। इसने महावीर से दीक्षा धारण करके मुक्ति प्राप्त की।

ऋषभ :[2]

ये जैनधर्म के प्रथम तीर्थङ्कर हैं। इनका गोत्र काश्यप था। इन्हें धर्मों का मुख कहा गया है। इन्द्रादि देव इनकी पूजा करते हैं। इनका धर्म भगवान् महावीर की तरह पञ्च महाव्रतरूप था।

कपिल :[3]

ये उत्तराध्ययन के आठवें अध्ययन के आख्याता कहे गए हैं। आप विशुद्ध प्राज्ञ थे। टीकाकारों ने लिखा है कि एक दासी के साथ प्रेम हो जाने पर ये उस दासी की अभिलाषा की पूर्ति के लिए राज-दरबार में याचना के लिए गए। संयोगवश राजा ने इनसे प्रसन्न होकर यथेच्छ धन मांगने को कहा। इसी समय इन्हें लोभ की असीमता का ज्ञान हुआ और सब कुछ छोड़कर जैनसाधु बन गए।

कमलावती :[4]

यह इषुकार देश के राजा की धर्मपत्नी थी। इसके उपदेश से ही राजा को बोध की प्राप्ति हुई और फिर दोनों जिन-दीक्षा लेकर व कर्मों का क्षय करके मोक्ष गए।

करकण्डू :[5]

ये कलिंग देश के राजा थे। ये प्रत्येक-बुद्धों[6] में गिने जाते हैं। इन्होंने पुत्र को राज्य-भार सौंपकर जिन-दीक्षा ली और मोक्ष पाया।

---

१. उ० १८. ४८. २. उ० २५. ११, १४, १६.; २३. ८७.

३. उ० ८. २० व टीकाएँ। ४. उ० १४. ३, ३७.

५. उ० १८. ४६-४७

६. बोधि प्राप्त करने वाले मुनि तीन प्रकार के होते हैं . १. स्वयं-बुद्ध (जो स्वयं बोधि प्राप्त करते हैं), २. प्रत्येक-बुद्ध (जो किसी एक घटना के निमित्त से बोधि प्राप्त करते हैं) और ३. बुद्ध-बोधित (जो बोधिप्राप्त व्यक्तियों के उपदेश से बोधि प्राप्त करते हैं)।

—आचार्य तुलसी, उ० भाग १, पृ० १०५.

काशीराज :[1]

इन्हें टीकाओं में 'नन्दन' नामवाले सप्तम बलदेव[2] के नाम से कहा गया है। इन्होंने काम-भोगों को छोड़कर जिन-दीक्षा ली थी।

कुन्थु :[3]

ये छठे चक्रवर्ती तथा सत्रहवें जैन तीर्थङ्कर हैं। इक्ष्वाकु कुल में ये वृषभ के समान श्रेष्ठ और विख्यात कीर्तिवाले थे।

केशव :[4]

ये शौर्यपुर के राजा वसुदेव के पुत्र वासुदेव (कृष्ण) हैं। ये अंतिम (नौवें) वासुदेव[5] हैं। ये शंख, चक्र तथा गदा धारण करते थे। ये अप्रतिहत योद्धा भी थे। देवकी इनकी माता थी। इन्होंने ही अरिष्टनेमि की शादी के लिए भोगराज की पुत्री राजीमती की याचना की थी तथा इनके ही मदोन्मत्त हाथी पर आरूढ़ होकर अरिष्टनेमि विवाहार्थ गए थे। ज्येष्ठ होने के नाते इन्होंने अरिष्टनेमि को अभीष्ट फलप्राप्ति का आशीर्वाद

---

१. उ० १८ ४९.

२. नौ बलदेव ये हैं : १. अचल, २. विजय, ३ भद्र, ४. सुप्रभ, ५. सुदर्शन, ६. आनंद, ७. नंदन, ८. पद्म (रामचन्द्र)और ९. राम (बलराम).

३. उ० १८. ३९.

४. उ० २२.२, ६, ८, १०, २७; ११. २१.

५. वासुदेव बलदेव के छोटे भाई कहलाते हैं। वासुदेवों की संख्या नौ है तथा इनके शत्रु प्रतिवासुदेवों की संख्या भी नौ है। वासुदेव और प्रतिवासुदेव इस प्रकार हैं :

वासुदेव— १. त्रिपृष्ठ, २. द्विपृष्ठ, ३. स्वयम्भू, ४. पुरुषोत्तम, ५. पुरुषसिंह, ६. पुरुषपुण्डरीक, ७. दत्त, ८. नारायण (लक्ष्मण) और ९. कृष्ण (केशव)।

प्रतिवासुदेव— १. अश्वग्रीव, २. तारक, ३. मेरक, ४. मधुकैटभ, ५. निशुंभ, ६. बलि, ७. प्रह्लाद, ८. रावण और ९. जरासन्ध।

दिया तथा अरिष्टनेमि के दीक्षा ले लेने के बाद इन्होंने उन्हें स्वयं नमस्कार भी किया। संभवतः कृष्ण का चरित्र जैन-ग्रन्थों में सर्वप्रथम यहीं मिलता है। ये अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे।

केशिकुमार श्रमण :[1]

ये पार्श्वनाथ के महायशस्वी शिष्य (चौथे पट्टधर) थे। ये शिष्यों के साथ ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए श्रावस्ती के 'तिन्दुक' नाम के उद्यान में ठहरे और वहाँ इन्होंने भगवान् महावीर के शिष्य गौतम से धर्म-भेदविषयक शिष्यों की शंका को दूर करने के लिए कुछ प्रश्न पूछे। इन्हें अवधिज्ञान था।

कोशल राजा :[2]

ये कोशल देश के प्रसिद्ध राजा थे। इन्होने यक्ष देवता की प्रेरणा से अपनी कन्या 'भद्रा' हरिकेशिवल मुनि को देना चाही थी परन्तु उन्होंने स्वीकार नही की थी।

क्षत्रिय मुनि .[3]

इन्होंने राज-पाट त्यागकर जिन-दीक्षा ली थी। संजय ऋषि से इनका वार्तालाप हुआ जिसमें इन्होंने जिन-दीक्षा लेकर मुक्ति प्राप्त करने वाले कई धार्मिक महापुरुषों के दृष्टान्त दिए। आत्मारामजी ने इन्हे महावीर के सम-समयवर्ती लिखा है।[4]

गर्गाचार्य मुनि :[5]

इन्होंने अविनीत शिष्यों को समाधि में बाधक समझकर उनका त्याग किया और पृथिवी पर एकाकी विचरण किया।

गर्दभाली मुनि :[6]

ये उग्र तपस्वी थे। एक बार जब ये काम्पिल्य नगर के 'केशर' उद्यान में धर्मध्यान कर रहे थे तो उसी समय इनके समीप आए हुए मृगों को मारनेवाले राजा संजय ने इनसे क्षमा मांगी और जिनदीक्षा ली।

---

१. उ० अध्ययन २३.
२. उ० १२.२०, २२.
३. उ० १८.२०, २४.
४. वही, टीका, पृ० ७४२
५. उ० २७.१, १६-१७.
६. उ० १८.६, १९, २२.

गौतम :[1]

ये महावीर के प्रथम गणधर (प्रमुख शिष्य) थे।[2] इनका समय ई० पू० ६०७ के करीब है। एक बार ये अपने शिष्य-परिवार के साथ ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए श्रावस्ती के 'कोष्ठक' उद्यान में ठहरे। वहाँ केशिकुमार के साथ हुई धर्म-भेदविषयक तत्त्वचर्चा में इन्होंने समाधानात्मक उत्तर दिया और दोनों परम्पराओं में ऊपरीतौर पर दिखलाई पड़ने वाले मतभेद को दूर किया। पश्चात् केशिकुमार ने अपने शिष्य-परिवार के साथ इनके बतलाए हुए मार्ग का अनुसरण किया। दसवें अध्ययन में गौतम को लक्ष्य करके अप्रमत्त होने का उपदेश दिया गया है। इन्हें 'भगवान्' जैसे शब्दों से भी सम्बोधित किया गया है। अन्त में इन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

चित्तमुनि :[3]

ये पुरिमताल नगर के विशाल श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न हुए थे। बाद में जैन श्रमण बन गए। ये अपने पिछले पाँच जन्मों में क्रमश: दशार्ण देश में दासरूप से, कलिंजर पर्वत पर मृगरूप से, मृतगंगा के तीर पर हंसरूप से, काशी में चाण्डालरूप से और देवलोक में देवरूप से अपने भाई संभूत (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती) के साथ-साथ उत्पन्न हुए परन्तु छठे जन्म में दोनों भाई पृथक्-पृथक् हो गए। एक बार छठे जन्म में जब ये दोनों काम्पिल्य नगर में मिले तो दोनों ने अपने-अपने सुख-दु:ख का हाल एक दूसरे से कहा। ब्रह्मदत्त ने अपना वैभव चित्त मुनि को देना चाहा परन्तु चित्त मुनि ने उसे स्वीकार नहीं किया। इन्होंने ब्रह्मदत्त को धर्मोपदेश दिया परन्तु जब उस पर उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो फिर उसे उपदेश देना व्यर्थ समझकर वहाँ से चले गए। पश्चात् उग्र तप करके मोक्ष प्राप्त किया।

---

१. उ० अध्ययन १० व २३.

२. गौतम अपने शिष्य-परिवार के साथ महावीर के शिष्य कैसे बने ? देखिए—विशेषावश्यकभाष्य में गणधरवाद।

३. देखिए—चित्त-संभूत संवाद, परि० १.

चलनी रानी :[1]

यह ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की माता थी।

जय :[2]

यह ग्यारहवां चक्रवर्ती राजा था। इसने सैकड़ों राजाओं के साथ राज्य छोड़कर जिन-दीक्षा ली और मुक्ति प्राप्त की।

जयघोष :[3]

यह जाति से ब्राह्मण था परन्तु बाद में जैन मुनि बनकर इसने यमयज्ञ किए। एक बार जब यह अपने भाई विजयघोष के यज्ञ-मण्डप में पहुंचा तो ब्राह्मणों के साथ हुए संवाद में यज्ञ और ब्राह्मण का सच्चा स्वरूप बतलाया। इसके उपदेश के प्रभाव से विजयघोष भी जैन श्रमण बन गया। पश्चात् दोनों ने मुक्ति प्राप्त की।

दशार्णभद्र :[4]

दशार्ण देश का राजा था। इन्द्र की प्रेरणा से जिन-दीक्षा ली।

द्विमुख :[5]

पांचाल देश का राजा था। पुत्र को राज्य देकर जिन-दीक्षा ली।

देवकी :[6]

यह राजा वसुदेव की पत्नी तथा केशव की माता थी।

दोगुन्दुक देव :[7]

नित्य प्रसन्नचित्त व स्वर्ग के सुखों का अनुभव करनेवाला देव।

नग्गति :[8]

गान्धार देश का राजा था। पुत्र को राज्य सौंपकर जिन-दीक्षा ली।

नमि :[9]

ये विदेह के राजा थे। इनकी राजधानी मिथिला थी। दीक्षा के समय ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र से इनका संवाद हुआ जिसमें आपने

---

१. उ० १३.१.
२. उ० १८.४१.
३. उ० २५.१, ३६.
४. उ० १८.४४.
५. उ० १८.४६-४७.
६. उ० २२.२-३.
७. उ० १९.३.
८. उ० १८.४६-४७.
९. देखिए—इन्द्र-नमि संवाद, परि० १.

अपने दृढ संयम का परिचय दिया। अन्त में पुत्र को राज्य सौंपकर जिन-दीक्षा ली और मोक्ष प्राप्त किया।[१]

नलकूबर :[२]

लीला-विलास में प्रसिद्ध देव-विशेष।

पालित वणिक् :[३]

यह चम्पा नगरी में रहने वाला भगवान् महावीर का शिष्य था। एक बार जब यह पिहुण्डनगर व्यापार करने गया तो वहाँ के किसी सेठ ने इसे अपनी कन्या विवाह दी थी। उससे इसे एक पुत्र हुआ जिसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया।

पार्श्वनाथ :[४]

ये तेईसवें तीर्थङ्कर व ऐतिहासिक महापुरुष हैं। इनका समय महावीर से २५० वर्ष पहले ई० पूर्व ८वी शताब्दी माना जाता है। इनका धर्म चतुर्याम और सान्तरोत्तर था। 'केशि' इनका शिष्य था।

प्रभूतधनसंचय :[५]

ये कौशाम्बी में रहते थे। अनाथी मुनि इनके ही पुत्र थे।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती :[६]

यह पांचाल देश का राजा था। यह चित्त मुनि के पूर्व भव का भाई संभूत था जो पाँच भवों तक अपने भाई चित्त के साथ-साथ

---

१. विदेहदेश मे दो नमि राजा हुए हैं। उनमे से एक २१ वें तीर्थङ्कर हुए हैं और दूसरे प्रत्येकबुद्ध। यहाँ जो नमि राजा का उल्लेख है वे प्रत्येक-बुद्ध हैं, तीर्थङ्कर नही।
देखिए—आचार्य तुलसी, उ० भाग १, पृ० १०७.

२. उ० २२.४१.

३. उ० २१.१-४.

४. उ० २३.१, १२, २९, २६

५. उ० २०. १८.
प्रभूतधनसञ्चय नाम है या विशेषण इस विषय में मतभेद है। मालूम पड़ता है कि इनके पुत्र 'अनाथी' की तरह ही इनका भी नाम बहुत धन सञ्चय करने के कारण प्रभूतधनसञ्चय पड़ गया हो।

६. देखिए—चित्त-संभूत संवाद, परि० १.

उत्पन्न हुआ। पूर्वजन्म में निदान बांधने के कारण यह छठे भव में अपने भाई से पृथक् हो गया और चूलनी रानी की कुक्षि से उत्पन्न होकर आठवां चक्रवर्ती राजा हुआ। इसका चित्त मुनि से संवाद भी हुआ। धर्म का पालन न करने के कारण सातवें नरक में गया।

भद्रा :[१]

यह कोशल राजा की सुन्दर अंगों एवं तदनुरूप गुणोंवाली पुत्री थी। इसने हरिकेशिबल मुनि पर प्रहार करनेवाले ब्राह्मणों को उनके तपोबल का परिचय देकर पीटने से रोका था। पहले यह अपने पिता के द्वारा देवता की प्रेरणा से इन्हीं मुनि को दे दी गई थी परन्तु वीतरागी होने से मुनि ने इसे स्वीकार नहीं किया था। टीकाकारों ने इसे राजा सोमदेव की पत्नी बतलाया है।

भरत :[२]

ये भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पुत्र और प्रथम चक्रवर्ती राजा थे। इनके नाम से ही इस देश का नाम 'भारत' पड़ा। इन्होंने राज्य त्यागकर जिन-दीक्षा ली थी।

भृगु पुरोहित व पुत्रद्वय :[३]

ये तीनों पूर्वजन्म में देव थे। वहाँ से च्युत होकर इषुकार नगर में ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुए। भृगु पुरोहित के दोनों पुत्र जब जैन श्रमण बनने के लिए पिता से आज्ञा लेने आए तो पिता ने उन्हें भोगों से प्रलोभित करना चाहा परन्तु उन्होंने अपने प्रभाव से माता-पिता को भी भोगों से विरक्त करके सबके साथ दीक्षा ले ली। मूल ग्रन्थ में पुरोहित और उसके पुत्रों का नाम नहीं है। यहाँ पुरोहित का 'भृगु' नाम टीका-ग्रन्थों के आधार से दिया गया है।

भोगराज :[४]

ये राजीमती के पिता (उग्रसेन) थे। केशव ने अरिष्टनेमि के साथ विवाह के लिए इनसे ही राजीमती की याचना की थी।

मघवा :[५]

ये तृतीय चक्रवर्ती थे। इन्होंने राज्य छोड़कर जिन-दीक्षा ली थी।

---

१. उ० १२.२०, २२, २४-२५.
२. उ० १८.३४.
३. देखिए—इषुकार आख्यान, परि० १.
४. उ० २२.८, ४४.
५. उ० १८.३६.

मृगा :[1]

यह सुग्रीव नगर के राजा बलभद्र की पटरानी तथा मृगापुत्र की माता थी।

मृगापुत्र :[2]

इसका जन्म-नाम 'बलश्री' होने पर भी इसकी प्रसिद्धि 'मृगापुत्र' के नाम से हुई। यह माता-पिता को प्रिय था। प्रासाद में स्त्रियों के साथ क्रीड़ाएँ किया करता था। एक बार गवाक्ष से एक साधु को देखने पर जब इसे पूर्वजन्म का ज्ञान हुआ तो इसने अपने माता-पिता से जिन-दीक्षा लेने की अनुमति मांगी। पहले तो माता-पिता ने इसे संसार के भोगों से प्रलोभित करना चाहा परन्तु बाद में इसका दृढ़ संयम देखकर दीक्षार्थ अनुमति दे दी। अन्त में मोक्ष प्राप्त किया। माता-पिता के साथ हुए संवाद में इसने नरकों के कष्ट और साधुधर्म का वर्णन किया।

महावीर :[3]

ये अन्तिम (चौबीसवें) तीर्थङ्कर हैं। इनका समय आज से २५०० वर्ष पूर्व (ई० पूर्व छठी शताब्दी) था। इन्होंने पार्श्वनाथ के 'चतुर्याम' तथा 'सान्तरोत्तर' धर्म को देश-काल का विचार करके पंचयाम' तथा 'अचेलक' के रूप में परिवर्तित किया था। इनका गोत्र काश्यप था। इन्हें ग्रन्थों में वरदर्शी (प्रधानदर्शी), ज्ञातपुत्र, जिन, वर्धमान, वीर, बुद्ध आदि नामों से सम्बोधित किया गया है।[4] गौतम इनका प्रधान शिष्य था। इनके पिता का नाम 'सिद्धार्थ' और माता का नाम 'त्रिशला' था।

---

१. उ० १९.१-२.

२. देखिए—मृगापुत्र आख्यान, परि० १.

३. उ० २३. २३, २९; ३६ २६९ आदि।

४. काश्यप २.४६; ज्ञातपुत्र २६.२६९; बुद्ध १८.३२; २५.३४; ३५.१; वरदर्शी २८.२; वीर २०.४०; जिन २.६; १०.३२; १४.५२; १८.१६, ३२, ४३, ४७; २१.१२; २२.२८, ३८; २४.३; २८.१-२, १८-१९, २७, ३३; ३६.६०, २६१-२६२; वर्धमान २३.२९.

महापद्म :[1]

ये नौवें चक्रवर्ती राजा थे। इन्होंने राज्य त्यागकर जिन-दीक्षा ली और तपश्चरण किया।

महाबल राजा :[2]

इन्होंने उग्र तप करके मुक्ति प्राप्त की।

यशा (वासिष्ठी) :[3]

यह भृगु पुरोहित की धर्मपत्नी थी। पति और पुत्र के दीक्षा ले लेने पर यह भी साध्वी बन गई। वसिष्ठ कुल में उत्पन्न होने के कारण इसे 'वासिष्ठी' भी कहा गया है।

रथनेमि :[4]

ये अरिष्टनेमि के छोटे भाई तथा समुद्रविजय के पुत्र थे। इनका कुल अगन्धन था। समय पाकर इन्होंने दीक्षा ले ली। एक समय राजीमती को अन्धकारपूर्ण गुफा में नग्न देखकर इन्होंने उससे भोग भोगने के लिए प्रार्थना की। बाद में राजीमती के द्वारा प्रबोधित किए जाने पर संयम में दृढ़ होकर इन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

राजीमती :[5]

यह भोगराज (उग्रसेन) की सर्वगुणसम्पन्न कन्या थी। अरिष्टनेमि के लिए वासुदेव ने इसी की याचना की थी। होने वाले पति अरिष्टनेमि के दीक्षित हो जाने पर इसने भी जिन-दीक्षा ले ली और घुंघराले केशों को अपने हाथों से उखाड़ फेंका। पश्चात् अन्य स्त्रियों को भी दीक्षित किया। रथनेमि जैसे तपस्वी के द्वारा प्रार्थित होकर भी यह संयम में दृढ़ रही और उसे भी संयम में दृढ़ करके मोक्ष प्राप्त किया। इसके द्वारा प्रदर्शित पतिव्रता-धर्म तथा ब्रह्मचर्य व्रत एक उदात्त आदर्श है।

---

१. उ० १८.४१.

२. उ० १८.५१.

३. उ० १४.३, २६.

४. देखिए–राजीमती आख्यान, परि० १; जै० भा० स०, पृ० ५००-५०१.

५. वही।

राम (बलराम):[1]

ये यदुवंशी वसुदेव के पुत्र थे। इनकी माता का नाम रोहिणी था। केशव इनके बड़े भाई थे। ये नौवें बलदेव हैं।[2]

रूपिणी :[3]

यह समुद्रपाल वणिक् की रूपवती पत्नी थी।

रोहिणी :[4]

यह प्रसिद्ध यदुवंशी राजा वसुदेव की पत्नी थी। इसके पुत्र का नाम राम 'बलराम' था।

बलभद्र :[5]

यह सुग्रीव नगर का राजा था। 'मृगा' इसकी अग्रमहिषी (पटरानी) थी तथा 'मृगापुत्र' (बलश्री) इसका प्रिय पुत्र था।

वसुदेव :[6]

ये शौर्यपुर के यदुवंशी राजा थे। इनकी 'रोहिणी' और 'देवकी' ये दो रानियाँ थी जिनके क्रमशः 'राम' और 'केशव' ये दो पुत्र थे। समुद्रविजय इनका भाई था।[7]

वासुदेव :[8]

यह केशव (कृष्ण) का ही दूसरा नाम है।

विजय :[9]

यह दूसरा बलदेव है। यह कीर्तिशाली राजा था। इसने राज्य-वैभव छोड़कर जिन-दीक्षा ली थी।

विजयघोष :[10]

यह जयघोष ब्राह्मण का भाई था और बनारस में वैदिक यज्ञ किया करता था। बाद में जयघोष मुनि की प्रेरणा से दीक्षा लेकर इसने मुक्ति प्राप्त की थी।

---

१. उ० २२.२,२७.
२. देखिए—पृ० ४७६, पा० टि० २-५.
३. उ० २१.७.
४. उ० २२.२-३.
५. उ० १९.१-२.
६. उ० २२.१-३.
७. देखिए—जै०भा०स०,पृ० ५००-५०१.
८. उ० २२.८.
९. उ० १८.५०.
१०. उ० २५.४-५,३६,४५.

वैश्रवण देव :[1]

यह सौन्दर्यशाली देव-विशेष है। राजीमती ने अपने संयम की दृढ़ता बतलाते समय इसका उल्लेख किया था।

शान्ति :[2]

ये शान्ति को देने वाले पाँचवें चक्रवर्ती राजा तथा सोलहवें प्रसिद्ध जैन तीर्थङ्कर हैं।

शिवा :[3]

यह राजा समुद्रविजय की पत्नी तथा अरिष्टनेमि की माता थी।

श्रेणिक :[4]

यह (महावीर का समकालीन) मगध जनपद का राजा था। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं में इस राजा का सविशेष उल्लेख मिलता है। यह किस धर्म को मानने वाला था इस विषय मे विद्वानों में मतभेद है। जैन-ग्रन्थों मे इसे भावी तीर्थङ्कर माना गया है तथा इसका सविशेष उल्लेख भी किया गया है। इस राजा के तीनों परम्पराओ में कई नाम मिलते हैं। जैसे: जैन-परम्परा में–श्रेणिक और भभसार, बौद्ध-परम्परा में–श्रेणिक और बिम्बिसार; पुराणों में अजातशत्रु और विधिसार।[5] मण्डिकुक्षि उद्यान में इसका अनाथी मुनि से 'अनाथ' विषय पर संलाप हुआ जिसके प्रभाव से इसने धर्म को स्वीकार किया था।

सगर :[6]

ये द्वितीय चक्रवर्ती राजा थे। इन्होने राज्य के वैभव को छोड़कर जिन-दीक्षा ली और मुक्ति को प्राप्त किया।

सनत्कुमार :[7]

यह चतुर्थ चक्रवर्ती राजा था। इसने भी पुत्र को राज्य सौंपकर जिन-दीक्षा ली और तप किया।

---

१. उ० २२.४१.
२. उ० १८.३८.
३. उ० २२.४.
४. उ० २०.२,१०,१४-१५,५४.
५. विशेष—उ० समी० अध्ययन, पृ० ३९२-३९६.
६. उ० १८.३५.
७. उ० १८.३७.

संजय :[1]

यह काम्पिल्य नगर का राजा था। आत्मारामजी ने इसे महावीर का समसामयिक लिखा है। एक बार यह चतुरंगिणी सेना के साथ मृगया के लिए गया। वहाँ अज्ञानवश मुनि की शरण में आए हुए मृगों को मारने के कारण मुनि से क्षमा मांगी। मुनि के उत्तर न देने पर यह डर गया। पश्चात् उन्ही गर्दभालि मुनि से दीक्षा ले ली। बाद में इनका क्षत्रिय मुनि से समागम हुआ जिससे ये और अधिक संयम में दृढ़ हो गए। क्षत्रिय मुनि भी इनसे प्रभावित हुए थे।

समुद्रपाल :[2]

यह पालित वणिक् का पुत्र था। इसकी माता पिहुण्डनगर की थी। समुद्रयात्रा करते समय जन्म होने के कारण इसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया था। पिता के द्वारा कहीं से लाई गई रूपवती 'रूपिणी' स्त्री के साथ यह देवसदृश भोग भोगा करता था। एक बार वध स्थान को ले जाए जाने वाले वध-योग्य वस्त्रों से विभूषित वध्य (चोर) को देखकर वैराग्य हो गया। पश्चात् माता-पिता से आज्ञा लेकर जिनदीक्षा ली और अन्त में मुक्ति को प्राप्त किया।

समुद्रविजय :[3]

ये शौर्यपुर के राजा थे। इनकी पत्नी 'शिवा' और पुत्र 'अरिष्टनेमि' था। 'रथनेमि' भी इन्हीं का पुत्र था। ये 'अन्धकवृष्णि' कुल के नेता थे। यह कुल श्रेष्ठकुल माना जाता था। इसीलिए राजीमती रथनेमि को संयम से च्युत होते देखकर उसे उसके इसी कुल की याद दिलाती है।

हरिकेशिबल मुनि :[4]

यह श्वपाक (चाण्डाल) कुलोत्पन्न उग्र तपस्वी जैन मुनि था। एक यक्ष इसकी सेवा किया करता था। इसने यक्ष देवता की प्रेरणा से कोशल राजा के द्वारा दी गई सुन्दरी 'यशा' कन्या को स्वीकार नहीं किया था। एक बार जब यह भिक्षार्थ यज्ञ-मण्डप में गया

---

१. देखिए—संजय आख्यान, परि० १.

२. देखिए—समुद्रपाल, परि० १.   ३. उ० २२.३, ३६, ४३-४४.

४. उ० १२.१, ३, ४, ६, १७, २१-२३, ३७, ४०.

तो ब्राह्मणों ने इसके कुत्सित रूप को देखकर इसकी निन्दा की और पीटा। यह देख यक्ष ने रक्षा की। बाद में ब्राह्मणपत्नी यशा के द्वारा सपरिवार क्षमा मांगने पर इस मुनि ने यज्ञान्न को ग्रहण किया और भावयज्ञ का प्रतिपादन किया।

हरिषेण:[1]

यह मनुष्यों मे इन्द्र के समान शत्रुओं का मानमर्दन करने वाला तथा पृथिवी पर एक छत्र राज्य करनेवाला दसवां चक्रवर्ती राजा था। इसने दीक्षा लेकर मुक्ति प्राप्त की।

इस तरह इन महापुरुषों में कुछ तो क्षत्रिय राजा हैं, कुछ जैन मुनि हैं, कुछ ब्राह्मण हैं, कुछ देव व तीर्थङ्कर हैं। ऋषभ, पार्श्व, महावीर, श्रेणिक, उदायन आदि ऐतिहासिक महापुरुष हैं।[2]

★

---

१. उ० १८.४२. २. देखिए—जै० आ० स०, परि० २.

परिशिष्ट ३

साध्वाचार के कुछ अन्य ज्ञातव्य तथ्य

उत्तराध्ययन के चरणविधि नामक इकतीसवें अध्ययन में साधु को कुछ विषयों में विवेकवान् होने का उल्लेख किया गया है तथा उसका फल मुक्ति बतलाया गया है। मूल ग्रन्थ में उन विषयों की सिर्फ संख्या गिनाई गई है। टीका-ग्रन्थों में उनका विस्तार किया गया है। साध्वाचार के प्रसङ्ग में जिन विषयों का उल्लेख किया जा चुका है उन्हें छोड़कर शेष को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : १. त्याज्य संज्ञादि दोष तथा २ अध्ययनीय गाथादि ग्रन्थाध्ययन।

त्याज्य :

त्याज्य संज्ञादि दोष इस प्रकार हैं :

संज्ञाएं[1] (Expressions of the emotions)—संवेदनात्मक चित्तवृत्ति या भावना-विशेष का नाम संज्ञा है। इसके आहार, भय, मैथुन तथा परिग्रह के भेद से चार भेद किए गए हैं। सांसारिक सभी विषयों की अभिलाषारूप चित्तवृत्ति से विरक्त होने के कारण साधु को इन सब से भी विरक्त होना आवश्यक है।

क्रियाएं[2] (Actions)—व्यापार-विशेष का नाम क्रिया है। इसके पाँच प्रकार गिनाए गए हैं : १. कायचेष्टारूप सामान्य क्रिया (कायिकी), २. खड्गादि साधन के साथ की गई क्रिया (आधिकरणिकी), ३. द्वेषभावजन्य क्रिया (प्राद्वेषिकी), ४. कष्ट देनेवाली क्रिया (पारितापनिकी) और ५. प्राणविनाशक क्रिया (प्राणातिपातिकी)। साधु को अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिए इन सब क्रियाओं का त्याग करना आवश्यक है।

---

१. उ० ३१.६; समवा०, समवाय ४.

२. उ० ३१.७; समवा०, समवाय ५.

भयस्थान[1] (Causes of danger)—चित्तोद्वेग का नाम भय है। इसके सात प्रकार गिनाए गए हैं : १. स्वजातीय जीव को स्वजातीय जीव से होनेवाला भय (इहलोक भय), २. परलोक भय, ३. धन के विनाश का भय, ४. अकस्मात् अपने आप सशंक होना (अकस्मात् भय), ५. आजीविका का भय, ६ अपयश का भय और ७. मृत्यु का भय। भयवाला व्यक्ति सदाचार में प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। अतः साधु को सब प्रकार के भय का त्याग करना आवश्यक है।

क्रियास्थान[2] (Actions-Productive of Karman)—जिस प्रवृत्ति से कर्मों का आस्रव हो उसे क्रियास्थान शब्द से कहा गया है। इसके तेरह भेद गिनाए गए हैं : १ प्रयोजनपूर्वक की गई हिंसादि में प्रवृत्ति, २. प्रयोजन के बिना की गई हिंसादि में प्रवृत्ति, ३. प्रतिपक्षी को मारने के लिए की गई प्रवृत्ति, ४. अनजाने में हुई प्रवृत्ति (अकस्मात् क्रिया), ५. मतिभ्रम से की गई हिंसादि में प्रवृत्ति (दृष्टिविपर्यास क्रिया), ६. झूठ बोलना, ७ चोरी करना, ८. बाह्य निमित्त के अभाव में शोकादि करना (आध्यात्मिक क्रिया), ९ मान क्रिया, १०. प्रियजनों को कष्ट देना, ११. माया क्रिया, १२. लोभ क्रिया और १३. संयम-पूर्वक गमन। इनमें आदि के १२ क्रियास्थान हिंसादिरूप होने से सर्वथा त्याज्य हैं और अन्तिम क्रियास्थान समितिरूप होने से उपादेय है परन्तु सदाचार की चरमावस्था (अयोग केवली की अवस्था) में वह भी हेय ही है क्योंकि प्रत्येक क्रिया से शुभ अथवा अशुभ कर्मों का आस्रव तो होता ही है। इसीलिए ध्यान तप की चरमावस्था में श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध बतलाया गया है।

असंयम[3] (Neglect of self-control)—संयम का अर्थ है—सावधानी (नियन्त्रण) तथा असंयम का अर्थ है—असावधानी

---

१. उ० ३१.९; समवा०, समवाय ७.

२. उ० ३१.१२; समवा०, समवाय १३.

३. उ० ३१.१३; समवा०, समवाय १७.

(अनियन्त्रण)। असावधानी होने पर 'समिति' का पालन नहीं हो सकता और समिति का पालन न करने पर पाँच महाव्रतों की रक्षा नहीं हो सकती। अतः सब प्रकार के असंयम का त्याग आवश्यक है। इसके १७ प्रकार गिनाए गए हैं : १-६. पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियकाय के जीवों की रक्षा में असावधानी, १०. अचेतन वस्तुओं के ग्रहण करने मे असावधानी, ११. ठीक से न देखना, १२. उपेक्षापूर्वक वस्त्रादि की प्रतिलेखना करना, १३. अविधिपूर्वक मूत्रादि का त्याग करना, १४. पात्रादि का ठीक से प्रमार्जन न करना, १५-१७ मन, वचन और काय को वश में न रखकर हिंसादि में प्रवृत्त होना।

असमाधिस्थान[1] (Causes of not concentrating)—चित्त की एकाग्रता को समाधि (ध्यान) कहा जाता है। अतः असमाधिस्थान का अर्थ है—जिससे चित्त में एकाग्रता की प्राप्ति न हो। इसके २० स्थान गिनाए गए हैं : १. जल्दी-जल्दी चलना २ रजोहरण से मार्ग को बिना प्रमार्जित किए चलना, ३. दुष्प्रमार्जना करके चलना, ४. अधिक शयन करना, ५. गुरु आदि से विवाद करना, ६. गुरु आदि को मारने का विचार करना, ७. प्राणियों के घात के भाव करना, ८. प्रतिक्षण क्रोध करना, ९. (सामान्य) क्रोध करना, १०. पिशुनता करना, ११. पुनः पुनः निश्चयात्मक भाषा बोलना, १२. नवीन-नवीन क्रोधादि को उत्पन्न करना, १३. शान्त हुए क्रोधादि को पुनः जाग्रत करना, १४. सचित्त धूलि आदि से हाथ-पैर के भरे हुए होने पर भी अयत्नपूर्वक शय्या पर जाना, १५ निश्चित समय पर स्वाध्याय न करना, १६. व्यर्थ शब्द करना, १७. क्लेश करना, १८. संघभेद करना, १९. रात्रिभोजन करना और २०. एषणासमिति का पालन न करना।

शबलदोष[2] (Forbidden actions)—सदाचार को मलिन करने में कारण होने से इन्हें शबल दोष कहा गया है। यद्यपि

---

१. उ० ३१.१४; समवा०, समवाय २०.
२. उ० ३१.१५.

क्रोधादि कषाय व असमाधिस्थान आदि भी सदाचार को मलिन करने वाले हैं परन्तु यहां पर निम्नोक्त २१ दोषों को रूढ़ि से शबल दोष कहा गया है : १. हस्तमैथुन, २. स्त्रीस्पर्शपूर्वक मैथुन, ३. रात्रिभोजन, ४. साधु को निमित्त करके बनाए गए भोजन का ग्रहण, ५ राजपिण्ड लेना, ६. मोल लिया हुआ आहार लेना, ७. उधार लिया हुआ आहार लेना, ८. बाहर से उपाश्रय में लाया हुआ आहार लेना, ९ निर्बल से छीनकर लाया हुआ आहार लेना, १०. त्यागी हुई वस्तु को व्रत भंग करके बार-बार खाना, ११. छः माह के भीतर एक गण छोड़कर दूसरे गण में जाना, १२. एक माह में तीन बार जलप्रवेश तथा तीन बार मायास्थानों का सेवन, १३. हिंसा करना, १४ झूठ बोलना, १५. अदत्त का ग्रहण, १६. सचित्त भूमि पर बैठना, १७. सचित्त रज या घुनवाले काष्ठ आदि पर बैठना, १८. अण्डे आदि से युक्त स्थान पर बैठना, १९. कन्दमूलादि हरित वनस्पतियों को खाना, २०. एक वर्ष में दस बार जलप्रवेश व दस बार मायास्थानो का सेवन करना और २१. सचित्त जल आदि से भीगे हुए हस्तादि के द्वारा दिए गए भोजन-पान का ग्रहण करना।

मोहस्थान[1] (Causes of delusion)—मोह के ३० स्थान गिनाए गए हैं : १. त्रसादि जीवों को पानी में डुबाकर मारना, २ हाथ आदि से मुखादि बन्द करके मारना, ३. मस्तक को बाधकर मारना, ४. शस्त्र से प्रहार करके मारना, ५ श्रेष्ठ नेता को मारना, ६ स्वाश्रित रोगी का इलाज न करना, ७. भिक्षादि के लिए आए हुए साधु को मारना, ८. मुक्ति के मार्ग में स्थित साधक को पथभ्रष्ट करना, ९. धर्मादि की निन्दा करना, १०. आचार्य आदि के प्रति क्रोध करना, ११. आचार्य आदि की समुचित सेवादि न करना, १२. पुन: पुन: विकथाओं का प्रयोग करना, १३. जादूटोना आदि की विद्याओं का प्रयोग करना, १४. विषय-भोगो का त्याग करके पुन: उनकी प्राप्ति की प्रार्थना करना, १५. अबहुश्रुत होने पर भी बार-बार अपने को बहुश्रुत कहना, १६. तपस्वी न होने पर भी स्वयं को तपस्वी कहना, १७. अग्नि के धुएँ

१. उ० ३१.१६; श्रमणसूत्र, पृ० १६४.

में दम घोटकर मारना, १८. स्वयं पाप करके दूसरे के मत्थे मढ़ना, १९. छलादिपूर्वक ठगना, २०. दूसरे को असत्यवक्ता कहना, २१. दूसरे को क्लेश देना, २२. मार्ग में लोगों के धन को लूटना, २३. परस्त्री को विश्वास देकर गुप्तरीति से अनाचार का सेवन करना, २४. बालब्रह्मचारी न होने पर भी बालब्रह्मचारी कहना, २५. ब्रह्मचारी न होने पर भी ब्रह्मचारी कहना, २६. आश्रयदाता का धन चुराना, २७. जिसके प्रभाव से ऊपर उठा हो उसके प्रभाव में विघ्न उपस्थित करना, २८ नायक व श्रेष्ठि आदि की हत्या करना, २९. देवदर्शन न करने पर भी कहना कि देवदर्शन करता हूँ और ३०. देवो की निन्दा करना।

इस तरह इन संज्ञादि सभी दोषों की संख्या का विभाजन वैज्ञानिक नही कहा जा सकता है क्योंकि इनमें हीनाधिकता संभव है। पहले बतलाए गए साध्वाचार-सम्बन्धी दोषों से इन्हे सर्वथा पृथक् भी नही कहा जा सकता है क्योकि ये अहिंसादि व्रतों के ही घातक है।

अध्ययनीय :

अध्ययनीय गाथादि ग्रन्थाध्ययन इस प्रकार हैं :

गाथा-षोडशक[1] –'सूत्रकृताङ्ग' के प्रथम भाग (श्रुतस्कन्ध) के गाथा-अध्ययन पर्यन्त १६ अध्ययन यहाँ गाथा-षोडशक शब्द से कहे गए हैं। यह उत्तराध्ययन से भी प्राचीन ग्रन्थ है। याकोबी ने उत्तराध्ययन के साथ इसका भी अनुवाद किया है।[2]

ज्ञाताध्ययन[3] —यहाँ ज्ञानाध्ययन से ज्ञातृधर्मकथा के प्रथम भाग के १९ अध्ययन अभिप्रेत हैं। इनमें नीतिप्रद कथाओ के द्वारा धर्मोपदेश दिया गया है।

---

१. 'गाथाभिधानमध्ययनं षोडशं येषां तानि गाथाषोडशकानि' सूत्रकृताङ्ग-प्रथमश्रुतस्कन्धाध्ययनानि तेषु।

—उ० ३१.१३ भावविजय-टीका।

गाहाए सह सोलस अज्झयणा तेसु सुत्तगडपढमसुतक्खंध अज्झयणेसु इत्यर्थः।

—उद्धृत, श्रमणसूत्र, पृ० १८०.

२. देखिए—से० बु० ई०, भाग ४५.

३. उ० ३१.१४; समवा०, समवाय १९.

सूत्रकृताङ्ग के तेईस अध्ययन[1] —यहाँ सूत्रकृताङ्ग के दोनों भागों के २३ अध्ययन अभीष्ट हैं। इनमें गाथाषोडशक-सम्बन्धी सोलह अध्ययन भी सम्मिलित हैं।

दशादि उद्देश[2] —दशाश्रुतस्कन्ध के १० उद्देश, बृहत्कल्प के ६ उद्देश और व्यवहारसूत्र के १० उद्देश यहाँ 'दशादि' शब्द से कहे गए हैं।

प्रकल्प[3] —साधु के आचार का प्रतिपादक आचाराङ्गसूत्र यहाँ 'प्रकल्प' शब्द से कहा गया है। इतना विशेष है कि यहां आचाराङ्ग-सूत्र में 'निशीथ' को भी मिला लिया गया है जो कि आचाराङ्ग के परिशिष्ट (चूलिका) के रूप में लिखा गया है। इसका कारण यह है कि 'प्रकल्प' शब्द का उल्लेख २८ संख्या के क्रम में आया है जबकि आचाराङ्ग में कुल २५ ही अध्ययन हैं। अतः इस सख्या की पूर्ति के लिए निशीथसूत्र को भी ले लिया गया है। यद्यपि यह निशीथसूत्र बहुत विशाल है और कई भागों में विभक्त है फिर भी सम्पूर्ण निशीथ को तीन भागो में विभक्त करके २८ की संख्या पूर्ण की गई है। समवायाङ्गसूत्र में 'आचार-प्रकल्प' शब्द आया है और वहाँ उसके अन्य प्रकार से भेद किए गए हैं।[4]

इन सभी ग्रन्थों में साधु के ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्बन्धित धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों का ही विशेषरूप से वर्णन किया गया है। दशाश्रुतस्कन्ध आदि छेदसूत्रों में मुख्यरूप से आचारादि

---

१. उ० ३१.१६; समवा०, समवाय २३.

२. उ० ३१.१७; समवा०, समवाय २६.

३. 'प्रकृष्टः कल्पो' यतिव्यवहारो यत्र स प्रकल्पः, स चेहाचाराङ्गमेव शास्त्रपरिज्ञाद्यष्टाविंशत्यध्ययनात्मकम् ।

—उ० ३१.१८ भावविजय-टीका

आचार प्रथमाङ्ग तस्य प्रकल्पः अध्ययनविशेष निशीथमित्यपराभिधानम् । आचारस्य वा साध्वाचारस्य ज्ञानादिविषयस्य प्रकल्पो व्यवस्थापनमिति आचारप्रकल्पः ।

—उद्धृत, श्रमणसूत्र, पृ० १८९.

४. समवा०,समवाय २८.

में लगे हुए दोषों की प्रायश्चित्त-विधि का वर्णन है। इस तरह इन ग्रन्थों के अध्ययन में यत्नवान् होने से उपर्युक्त चारित्र मलिन नहीं होता है। अतः ग्रन्थ में साधु को इनके विषय में भी यत्नवान् रहने को कहा गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इनका ही अध्ययन करना चाहिए, अन्य का नहीं अपितु एतत्सदृश अन्य ग्रन्थों का भी अध्ययन करना चाहिए और तदनुकूल प्रवृत्ति भी करनी चाहिए।

★

परिशिष्ट ४

देश तथा नगर

उत्तराध्ययन के विभिन्न स्थलों में कुछ देशों तथा नगरों का उल्लेख हुआ है। ये देश तथा नगर भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथा विचारणीय भी हैं। अधिकांश देश व नगर जो उस समय बड़े समृद्ध थे आज खण्डहर मात्र रह गए हैं। कुछ के नामों में परिवर्तन हो गया है और कुछ की ठीक-ठीक स्थिति अभी भी संदिग्ध है। कुछ अपनी प्राचीन गरिमा को आज भी किसी न किसी रूप में लिए हुए हैं। उत्तराध्ययन में आए हुए देशों व नगरों का परिचय अकारादि क्रम से इस प्रकार है :

इषुकार नगर :[1]

यहां के राजा का नाम था 'इषुकार'। इसका प्राकृत नाम 'उसुयार' है। निर्युक्तिकार ने इसे 'कुरु' जनपद का एक नगर माना है।[2] राजतरंगिणी में भी 'हुशकपुर' का उल्लेख हुआ है।[3] संभवतः कश्मीर की घाटी में वीहट नदी के पूर्वी किनारे पर स्थित 'हुशकार' (उसकार) नगर ही उस समय का इषुकार (उसुयार) रहा हो।[4]

---

१. उ० १४,१.

२. उ० नि०, गाथा ३६५.

३. उद्धृत—उ० समी०, पृ० ३७७-३७८.

४. उत्तराध्ययन के इषुकार आख्यान से साम्य रखने वाली बौद्ध-जातक (५०९) की एषुकार कथा में एषुकार राजा को वाराणसी का राजा बतलाया गया है जिससे प्रतीत होता है कि वाराणसी या उसके आसपास का प्रदेश इषुकार रहा है। परन्तु ऐसी धारणा भ्रान्त है क्योंकि इषुकार और वाराणसी एक नहीं हैं। इषुकार कोई समृद्ध नगर रहा है।

कम्बोज :[1]

उत्तराध्ययन में कम्बोज (काम्बोज) देश के 'कन्थक' घोड़े से 'बहुश्रुत' की प्रशंसा की गई है। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ के घोड़े उस समय प्रसिद्ध रहे हैं। आचार्य बुद्धघोष ने इसे 'घोड़ों का घर' कहा है।[2] महाभारत में भी इसी तरह का उल्लेख मिलता है।[3] यह अफगानिस्तान के आस-पास (कश्मीर में) हिमालय और सिन्धु नदी के बीच (गान्धार के पश्चिम प्रदेश) का जनपद था। इस तरह यह पश्चिमोत्तर भारतखण्ड का एक जनपद रहा है। बौद्ध साहित्य के सोलह महाजनपदों में इसका उल्लेख है तथा इसकी राजधानी द्वारका बतलाई गई है परन्तु जैन-सूत्रो में उल्लिखित सोलह जनपदों में इसका उल्लेख नही है।[4]

कलिङ्ग :[5]

करकण्डू यहां का राजा था। वर्तमान उड़ीसा का दक्षिणी भाग कलिङ्ग कहा गया है। जैन ग्रन्थो में उल्लिखित

---

१. उ० ११.१९.

२. सुमंगलविलासिनी, भाग १, पृ० १२४.

३. देखिए—महाभारत नामानुक्रमणिका, पृ० ६३.

४. बौद्ध साहित्य में उल्लिखित सोलह महाजनपद ये हैं : १. अंग, २ मगध, ३. कासी, ४. कोसल, ५. वज्जि, ६. मल्ल, ७. चेति, ८. वस, ९. कुरु, १०. पंचाल, ११. मच्छ, १२. सूरसेन, १३. अस्सक, १४. अवंति, १५. गंधार और १६ कम्बोज।

जैन-सूत्रों में उल्लिखित सोलह जनपद ये हैं : १. मगध, २. अंग, ३. बंग, ४. मलय, ५. मालवय, ६. अच्छ, ७. वच्छ, ८. कोच्छ, ९. पाढ, १०. लाढ, ११. वज्जि, १२ मोलि (मल्ल), १३. कासी, १४. कोसल, १५. अवाह, १६. संभुत्तर (सुह्योत्तर)।

देखिए—जै० भा० स०, पृ० ४६०, फुटनोट १; बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १७, २१.

५. उ० १८.४५.

साढ़े पच्चीस आर्य-देशों[1] में इसकी गणना की जाती है परन्तु बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित सोलह महाजनपदों में इसका उल्लेख नहीं हुआ है। जैन-सूत्रों के अनुसार इसकी राजधानी काचनपुर (भुवनेश्वर) थी। इस जनपद का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान 'पुरी' (जगन्नाथपुरी) था।[2]

काम्पिल्य नगर :

यहां का राजा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती था।[4] संजय राजा ने भी यही पर शासन किया था। उत्तर प्रदेश के फर्रूखाबाद जिले में कायमगंज स्टेशन (हाथरस के पास) से ८ मील दूर गंगा के

१. साढे पच्चीस आर्यदेश व उनकी राजधानियां इस प्रकार हैं :

जनपद	राजधानी	जनपद	राजधानी
अंग	चम्पा	पांचाल	कांपिल्यपुर
कलिङ्ग	कांचनपुर	वंग	ताम्रलिप्त
काशी	वाराणसी	भंगि	पापा (पावापुरी)
कुणाल (उत्तर कोशल)	श्रावस्ती	मगध	राजगृह
		मत्स्य	वैराट
कुशार्त	सोरिय (शौर्यपुर)	मलय	भद्रिलपुर
कुरु	गजपुर (हस्तिनापुर)	लाढ	कोटिवर्ष
केकय (अर्ध) (श्रावस्ती से पूर्व—नेपाल की तराई में)	श्वेतिका	वत्स	कौशाम्बी
		वट्टा	मासपुरी
		वरणा	अच्छा
		विदेह	मिथिला
कोशल	साकेत	शाण्डिल्य	नन्दिपुर
चेदि	शुक्तिमती	शूरसेन	मथुरा
जांगल	अहिच्छत्रा	सिंधु-सौवीर	वीतिभयपट्टन
दशार्ण	मृत्तिकावती	सौराष्ट्र	द्वारवती (द्वारका)

उद्धृत—जैं० भा० स०, पृ० ४५९.

२. जैं० भा० स०, पृ० ४६६. ३. उ० १३.२; १८.१.

४. महाभारत के शान्तिपर्व (१३९.५) में भी ऐसा उल्लेख मिलता है। देखिए—महा० ना०, पृ० ६३.

समीप स्थित 'कांपिल' गांव से इसकी पहचान की जाती है। यह दक्षिण पाञ्चाल की राजधानी थी। महाभारत के अनुसार यहाँ के राजा द्रुपद थे।[1] यह जैनियों का तीर्थक्षेत्र है क्योंकि यहां पर १३वें तीर्थङ्कर 'विमलनाथ' के चार कल्याणक[2] (अतिशय) हुए थे।

काशी :[3]

यहां की भूमि में ही चित्त और संभूत नाम के दो चाण्डाल हुए थे। यहां के राजा काशीराज का भी उत्तराध्ययन में उल्लेख मिलता है। इस जनपद की राजधानी वाराणसी थी। जैन-बौद्ध दोनों के साहित्य में इसका समानरूप से उल्लेख मिलता है। इसमें वाराणसी, मिर्जापुर, गाजीपुर, जौनपुर और आजमगढ़ जिले का भूभाग आता था। इसके पूर्व में मगध, पश्चिम में वत्स, उत्तर में कोशल और दक्षिण में सोन नदी का भूभाग था। काशी और कोशल जनपद की सीमाओं में यदाकदा हेरफेर भी होता रहता था।[4]

कोशल :[5]

इसका प्राचीन नाम 'विनीता' था। विविध विद्याओं में कुशलता प्राप्त करने के कारण इसे 'कुशला' (कोशल) कहने लगे थे।[6] उत्तराध्ययन में कोशलराज की पुत्री 'भद्रा' का उल्लेख आया है। बौद्ध साहित्य के अनुसार इस जनपद की राजधानी श्रावस्ती थी। इसमें लखनऊ, अयोध्या आदि नगर आते थे। जैन साहित्य के अनुसार कोशल (कोशलपुर-अवध) की राजधानी 'साकेत' (अयोध्या) थी। कनिंघम ने आयुपुराण और रत्नावली के आधार से इसकी स्थिति दक्षिण भारत में नागपुर के आसपास मानी है।[7]

---

१. वही।
२. जैन तीर्थङ्करों के पाँच कल्याणक माने जाते हैं। उनके क्रमशः नाम ये हैं : १. गर्भ, २. जन्म, ३. तप, ४. ज्ञान और ५. मोक्ष।
३. उ० १३.६; १८४८.
४. उ० समी०, पृ० ३७६.
५. उ० १२.२०,२२.
६. जै० भा० स०, पृ०, ४६८-६९.
७. Ancient Geography of India, p. 438.

कौशाम्बी :[1]

यह जैनों का प्रमुख केन्द्र था। उत्तराध्ययन में इसे 'पुराणपुर-भेदिनी' कहा गया है। 'अनाथी' मुनि के पिता 'प्रभूतधनसञ्चय' यहीं पर रहते थे। उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद-कानपुर रेलवे लाइन पर 'भरवारी' स्टेशन से २०-२५ मील दूर (प्रयाग से ३२ मील दूर) 'फफोसा' गांव है। यहां से ४ मील दूर 'कुशंवा' (कोसम) गांव है। इससे कौशाम्बी की पहिचान की जाती है। इसे छठे तीर्थङ्कर पद्मप्रभ का जन्मस्थान भी माना जाता है। कनिंघम ने इसे बौद्ध और ब्राह्मणों का केन्द्र माना है।[2] यह 'वत्स' जनपद की राजधानी थी।[3]

गान्धार :[4]

यहां के राजा का नाम था 'नग्गति'। इसमें पश्चिमी पंजाब और पूर्वी अफगानिस्तान सम्मिलित था। स्वात से झेलम नदी के मध्य का प्रदेश इस जनपद मे आता था। महाभारत की नामानुक्रमणिका में इसकी सीमा सिन्धु और कुनर नदी से लेकर काबुल नदी तक तथा पेशावर व मुल्तान प्रदेश तक बतलाई है।[5] जैन साहित्य में इसकी राजधानी 'पुण्ड्रवर्धन' (पूर्वीय बंगाल) बतलाई गई है और बौद्धसाहित्य में 'तक्षशिला'। आचार्य तुलसी ने लिखा है कि उत्तरापथ का यह प्रथम जनपद था।[6]

चम्पा :[7]

यह बनिज व्यापार का बड़ा केन्द्र था। यहां के व्यापारी मिथिला, पिहुण्ड आदि स्थानों पर व्यापारार्थ जाते थे।[8] पालित वणिक् और उसका पुत्र समुद्रपाल यहीं रहते थे। यह अंग जनपद (जिला भागलपुर) की राजधानी थी। इसकी पहचान बिहार-

---

१. उ० २०.१८.

२. Ancient Geography of India, p. 330.

३. जै० भा० स०, पृ० ४७५.

४. उ० १८.४५.

५. महा० भा०, पृ० १०१.

६. उ० समी०, पृ० ३७८.

७. उ० २१.१,५.

८. जै० भा० स०, पृ० ४६५.

प्रान्त में भागलपुर स्टेशन से २४ मील पूर्व में स्थित चम्पापुर (चम्पानगर) के आसपास के प्रदेश से की जाती है। यह जैनियों का तीर्थस्थान भी है क्योंकि यहां से बारहवें तीर्थङ्कर वासुपूज्य मोक्ष गए थे।

दशार्ण :[1]

यहां का राजा 'दशार्णभद्र' था। चित्त और सम्भूत नाम के जीव पूर्वभव में दासरूप में यहीं पैदा हुए थे। कालिदास ने दशार्ण जनपद की राजधानी 'विदिशा' (भेलसा) बतलाई है।[2] जैन और बौद्ध दोनों के साहित्य में इस जनपद का उल्लेख मिलता है। इसकी पहचान मध्यप्रदेश की धसान नदी के .आस-पास के प्रदेश से की जाती है। दशार्ण नाम के दो जनपद मिलते हैं : १. पूर्व दशार्ण (मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ जिले में) और २. पश्चिम दशार्ण (भोपाल व पूर्वमालव का प्रदेश)।[3] जैन ग्रन्थों के अनुसार इसकी राजधानी मृत्तिकावती (मालवा में बनास नदी के पास) थी। दशार्णपुर और दशपुर (मंदसौर) इस जनपद के प्रमुख नगर थे।

द्वारका :[4]

भोगराज (उग्रसेन) यहां के राजा थे। यहां से रैवतक पर्वत पास में ही था। इसीलिए अरिष्टनेमि ने दीक्षा लेकर रैवतक पर्वत पर केशलुञ्चन किया था। यह सौराष्ट्र (काठियावाड़) जनपद की राजधानी मानी जाती है। आर० डेविड्स ने इसे कम्बोज जनपद की राजधानी बतलाया है।[5] उत्तराध्ययन के राजीमती-नेमि आख्यान से प्रतीत होता है कि अन्धकवृष्णि, कृष्ण, दशार्ह आदि इसी के आस-पास रहने वाले थे।

पाञ्चाल :

उत्तराध्ययन में यहा के दो राजाओं का उल्लेख मिलता है— १. ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और २. द्विमुख। यह जनपद कुरुक्षेत्र

---

१. उ० १३.६; १८.४४.
२. मेघदूत, श्लोक २३-२४.
३. उ० समी०, पृ० ३७६.
४. उ० २२.२२,२७.
५. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २१.
६. उ० १३.२६; १८.४५.

के पश्चिम व उत्तर में था। इसकी सीमा में बदायूं, एटा, मैनपुरी, फर्रुखाबाद और उसके आस-पास के प्रदेश आते थे। गंगा नदी के कारण पांचाल दो भागों में विभक्त था—दक्षिण और उत्तर। महाभारत के अनुसार दक्षिण पांचाल की राजधानी काम्पिल्य थी और उत्तर पांचाल की अहिच्छत्रा।[१] महाभारत में पांचाल का कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है। पांचाल में उत्पन्न होने के कारण राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी 'पांचाली' कहलाती थी।

पिहुण्ड नगर :[२]

चम्पा नगरी का पालित वणिक् जलपोत से समुद्र पार करके इस नगर में व्यापार के लिए आया था और यहां शादी करके अपने देश लौट गया था। इससे प्रतीत होता है कि यह भारत के समीपवर्ती समुद्र के किनारे का कोई प्रदेश रहा है। शार्पेन्टियर ने इसे बर्मा का कोई तटवर्ती प्रदेश माना है।[३] इस नगर की स्थिति के बारे में विद्वानों में मतभेद है।[४] डा० जगदीशचन्द्र जैन ने इसे चिकाकोल और कलिंगपट्टम का एक प्रदेश माना है।[५]

पुरिमताल नगर :

चित्त मुनि इसी नगर में पैदा हुए थे। हेमचन्द्र ने इसे अयोध्या का श्रेष्ठ शाखानगर माना है।[७] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इसकी स्थिति काशी-कोशल के बीच मानी है।[८]

मगध :[९]

राजा श्रेणिक यहां का राजा था। दक्षिण बिहार अर्थात् बिहार प्रान्त के गया और पटना जिलों के भूभाग को मगध जनपद कहा गया है। इसके उत्तर में गंगा, पश्चिम में सोन नदी, दक्षिण में

---

१. जै० भा० स०, पृ० ४७०.   २. उ० २१.६.
३. उ० शा०, पृ० ३५७.   ४. देखिए—उ० समी०, पृ० ३८१.
५. जै० भा० स०, ४६५.   ६. उ० १३.२.
७. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १.३.३८६.
८. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ८६-६०.
९. उ० २०.१.

विन्ध्याचल पर्वत तथा पूर्व में चम्पा नदी थी। आर० डेविड्स ने लिखा है कि भगवान् बुद्ध के समय इस जनपद में ८० हजार गांव थे और क्षेत्रफल करीब २३०० मील था।[१] ई० पू० ६ ठी शताब्दी में यह जनपद जैनियों और बौद्धों का प्रमुख केन्द्र था। इसकी राजधानी राजगृह (राजगिर) थी। मगध की दूसरी राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) थी।[२]

मिथिला :[३]

यहां पर ही राजर्षि नमि की प्रव्रज्या के समय इन्द्र के साथ संवाद हुआ था। यह एक समृद्ध एवं खुशहाल नगरी थी। अतः इन्द्र ने मिथिला में कुहराम देखकर राजर्षि नमि से इसका कारण पूछा था। यह विदेह जनपद की राजधानी थी। यहां १९ वें मल्लिनाथ और २१ वें नमिनाथ तीर्थङ्कर का जन्म हुआ था। बिहार प्रान्त में मुजफ्फरपुर और दरभंगा जिले की नेपाल सीमा के पास स्थित जनकपुर को मिथिला कहा जाता है। आर० डेविड्स ने इसकी पहचान 'तिरहुत' (तीरहुत) से की है।[४] इसका कारण है कि मिथिला शब्द का प्रयोग जनपद और राजधानी दोनों के लिए हुआ है। इसीलिए विदेहराज की पुत्री वैदेही (सीता) 'मैथिली' कहलाती थी।[५]

बाणारसी (वाराणसी) :[६]

यहां जयघोष और विजयघोष का संवाद हुआ था। यह काशी जनपद की राजधानी थी। आज भी इसे काशी, बनारस और वाराणसी कहते हैं। यहां ७ वें सुपार्श्वनाथ और २३ वे पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर का जन्म हुआ था। 'वरुणा' और 'असि' नाम की दो नदियों के बीच अवस्थित होने के कारण इसका नाम वाराणसी पड़ा। वाराणसी गंगा नदी के वाम तटभाग में धनुषाकार रूप से अवस्थित है। जैन, बौद्ध और हिन्दुओं का यह पवित्र तीर्थस्थल है। महाभारत के अनुसार यहां प्राणोत्सर्ग करने वाले को मोक्ष मिलता

---

१. जै० भा० स०, पृ० ४६२.
२. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १७.
३. उ० ९.४-१४.
४. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. २७.
५. महा० ना०, पृ० २५६.
६. उ० २५. २-३.

है। राजा दिवोदास ने इन्द्र की आज्ञा से इसका निर्माण किया था और भगवान् श्रीकृष्ण ने इसे जलाया था।[1]

विदेह :[2]

इस जनपद का राजा नमि था। इसकी राजधानी मिथिला थी। भगवान् महावीर की जन्मभूमि विदेह ही थी। इसकी पहचान 'तिरहुत' है। यह पूर्वोत्तर भारत का एक समृद्ध जनपद था। इसकी सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में गंगा, पश्चिम में गंडकी और पूर्व में मही नदी तक थी।[3] वैशाली (जिला मुजफ्फरपुर) विदेह की दूसरी महत्त्वपूर्ण राजधानी थी।[4]

शौर्यपुर :[5]

यहां वसुदेव और समुद्रविजय राज्य करते थे। उत्तर प्रदेश में आगरा के पास (मैनपुरी जिले में) शिकोहाबाद नामक स्थान से १०-१२ मील दूर यमुना नदी के किनारे बटेश्वर गांव है। इस बटेश्वर गांव के पास ही एक 'सूर्यपुर' गांव है जिससे इस 'शौर्यपुर' की पहचान की जाती है। यह कुशार्त जनपद की राजधानी थी। यहां आज भी विशाल मंदिर है। कृष्ण और उनके चचेरे भाई अरिष्टनेमि (२२ वें तीर्थङ्कर) की यह जन्मभूमि थी।

श्रावस्ती :[6]

यहां केशि-गौतम संवाद हुआ था। यहां उस समय दो बड़े-बड़े उद्यान थे जिनके नाम थे : १. कोष्ठक और तिन्दुक। उत्तरप्रदेश में बहराइच से २६ मील दूर (फैजाबाद से गोंडा रोड पर २१ मील दूर बलरामपुर है और बलरामपुर से १० मील दूर) पर एक 'सहेट-महेट' (सेट मेंट) गांव है। उससे श्रावस्ती की पहचान की जाती है। आज भी यहा उस समय के खण्डहर मौजूद हैं। इसे तीसरे तीर्थङ्कर संभवनाथ की जन्मभूमि माना जाता है। जैन ग्रन्थों के अनुसार कुणाल (उत्तर कोशल) जनपद की यह राजधानी थी।

---

१. महा० ना०, पृ० ३०४.
२. उ० १८.४५.
३. उ० समी०, पृ० ३७१.
४. जै० भा० स०, पृ० ४७४.
५. उ० २२.१.
६. उ० २३.३.

सुग्रीव नगर :[1]

इसके विषय में निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। राजा बलभद्र और उसका पुत्र 'बलश्री' (मृगापुत्र) यहीं रहते थे। यह नगर रमणीक तथा वन व उपवनों (उद्यानों) से सुशोभित भी था।

सौवीर :[2]

प्राचीन समय में सिन्धु-सौवीर एक प्रसिद्ध जनपद था। यहां का राजा उदायन था। 'सिन्धु-सौवीर' यह संयुक्त नाम ही प्रचलित है। आदिपुराण में भी इसका उल्लेख मिलता है।[3] सौवीर जनपद सिन्धु नदी और झेलम नदी के मध्य का भूभाग रहा है। अभयदेव के अनुसार सिन्धु नदी के पास होने के कारण सौवीर (सिन्ध) को सिन्धु-सौवीर कहा जाता था। इसकी राजधानी जैन ग्रन्थों के अनुसार वीतिभयपट्टन थी। बौद्धग्रन्थों में सिन्धु और सौवीर को अलग-अलग मानकर सौवीर की राजधानी 'रोरुक' बतलाई गई है।[4]

हस्तिनापुर :[5]

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के पूर्वभव के (संभूत के) जीव ने यही पर निदानबन्ध किया था जिसके प्रभाव से वह अगले भव में वस्तुस्थिति को जानकर भी विषयभोगो को नही त्याग सका था। मेरठ से २२ मील (उत्तर-पूर्व में) दूर स्थित हस्तिनापुर गाव से इसकी पहचान की जाती है। जैनियो का यह तीर्थक्षेत्र है। यह कुरु जनपद की प्रसिद्ध राजधानी थी। यहां १६वे, १७वें और १८वें तीर्थङ्कर के चार-चार कल्याणक हुए थे। आदिपुराण में इसे गजपुर कहा गया है।[6] महाभारत के अनुसार यह कौरवों की राजधानी थी और किसी समय यहाँ राजा शान्तनु राज्य करते थे। सुहोत्र के पुत्र राजा हस्ती ने इसे बसाया था। अतः इसका नाम हस्तिनापुर (हस्तिपुर) पड़ा।[7]

★

---

१. उ० १६.१. २. उ० १८.४८. ३. आदिपुराण, १६.१५५.
४. जै०भा०स०, पृ० ४८२. ५. उ० १३.१. ६. आदिपुराण, ४७.१२८.
७. महा० ना०, पृ० ४०४.

सहायक ग्रंथ-सूची

मूलग्रन्थ

अंगपण्णत्तिचूलिका—माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई.

अट्ठशालिनी—संपा० पी० व्ही० बाप्टे और आर० डी० वाडेकर—पूना, १९४२.

अभिधर्मकोश—आ० वसुबन्धु—विद्यापीठ संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, वि० सं० १९८८.

अर्थसंग्रह—लौगाक्षी भास्कर—बम्बई, १९३०.

अनुयोगद्वार (मलधारी हेमचन्द्रकृत वृत्ति सहित)—आगमोदय समिति, सूरत, १९२४.

आचाराङ्ग (आत्मारामकृत हिन्दी टीका सहित)—जैन स्थानक, लुधियाना, पंजाब, १९६३-६४.

आचाराङ्गवृत्ति—शीलाङ्काचार्य—सिद्धचक्र साहित्य समिति, बम्बई, वि० सं० १९९१.

आत्मानुशासन—गुणभद्र—जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, चिरगांव, बम्बई, वि० सं० १९८६.

आदिपुराण—पुष्पदन्त—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०००.

आवश्यकनिर्युक्ति—(दीपिका टीका सहित)—भद्रबाहु जैन ग्रन्थमाला, गोपीपुरा, सूरत, १९३९.

आवश्यकसूत्र (मलयगिरि टीका सहित)—आगमोदय समिति, बम्बई, १९२८-१९३६.

उत्तराध्ययनचूर्णि—जिनदासगणिमहत्तर—जैनबन्धु मुद्रणालय, १९३३.

उत्तराध्ययनसूत्र (आत्मारामकृत हिन्दी टीका सहित)—जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९३९-४२.

उत्तराध्ययनसूत्र (घासीलालकृत संस्कृत-हिन्दी-गुजराती टीका सहित) —जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९५९-६१.

उत्तराध्ययनसूत्र (नेमिचन्द्रकृत सुखबोधा वृत्ति सहित)—आत्मवल्लभ ग्रन्थावली, बलाद, अहमदाबाद, १९३७.
उत्तराध्ययनसूत्र—अनु० मुनि सौभाग्यचन्द्र सन्तबाल—श्वे० स्था० जैन कान्फरेन्स, बम्बई, वि० सं० १९९२.
उत्तराध्ययनसूत्र (भद्रबाहुकृत निर्युक्ति, शान्तिसूरिकृत शिष्यहिता-बृहद्वृत्ति टीका सहित)—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई १९१६-१७.
उत्तराध्ययनसूत्र (भावविजयगणिकृत वृत्ति सहित)—विनयभक्ति सुन्दर चरण ग्रन्थमाला, वेणप, वि० सं० १९९७.
उत्तराध्ययनसूत्र भाग १ (आचार्य तुलसीकृत हिन्दी टीका सहित)—जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६७.
उपासकदशाङ्ग—आगमोदय समिति, बम्बई, १९२०
ऋग्वेद—प्रका० श्रीपाद सातवलेकर—भारत मुद्रणालय, औन्धनगर, १९४०.
ओघनिर्युक्ति (द्रोणाचार्यकृत वृत्ति सहित)—आगमोदय समिति, मेहसाना, १९१९.
कर्मप्रकृति—नेमिचन्द्राचार्य—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६४.
कल्पसूत्र—जैनपुस्तकोद्धार फण्ड—सूरत, वि० सं० १९६७.
कषायपाहुड भाग १ (जयधवला टीका सहित)—आ० गुणधर—संपा० पं० फूलचन्द्र शास्त्री, भा० दि० जैनसंघ, मथुरा, १९४४.
गीता (भगवद्गीता)—संपा० कृष्णपंत शास्त्री अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, वि० सं० १९९८.
गोम्मटसार कर्मकाण्ड—नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, १९२८
गोम्मटसार जीवकाण्ड (संस्कृत टीका सहित)—प्रका० गांधी हरीभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता.
चन्द्रप्रज्ञप्ति (अमोलक ऋषिकृत हिन्दी अनुवाद सहित)—हैदराबाद, वी० नि० सं० २४४५.
छान्दोग्योपनिषद—आ० शंकर—गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१३.
जातक—सपा० भदन्त आनन्द कौसल्यायन—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, बुद्धाब्द २४८५.

जीवाभिगमसूत्र (अमोलक ऋषिकृत हिन्दी टीका सहित)— हैदराबाद, वी० नि० सं० २४४५.

जैनधर्मवरस्तोत्र—भावप्रभसूरि—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, १९३१

ज्ञाताधर्मकथा—अनु० अमोलक ऋषि—हैदराबाद, वी० नि० सं० २४४६.

तत्त्वार्थराजवार्तिक (तत्त्वार्थ वार्तिक)—अकलंक देव—मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५३, १९५७.

तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति—अनु० कैलाशचन्द्र, भा० दि० जैनसंघ, चौरासी, मथुरा, वी० नि० सं०, २४७७.

तत्त्वार्थसूत्र—अनु० सुखलाल संघवी—जैनसंस्कृति संशोधन मण्डल, वाराणसी, १९५२.

तर्क संग्रह—अन्नंभट्ट—हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्बा, वाराणसी १९४३.

त्रिलोकप्रज्ञप्ति—यतिवृषभाचार्य—जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९४३, १९५१.

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र—हेमचन्द्रसूरि—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, बंबई, वि० सं० १९६५.

द्रव्यसंग्रह—नेमिचन्द्र—गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी, १९६६.

दशवैकालिक (आत्मारामकृत हिन्दी टीका सहित)—महेन्द्रगढ़ वि० सं० १९८९.

दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन—संपा० आचार्य तुलसी—जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, वि० सं० २०२३.

दशवैकालिकनिर्युक्ति—भद्रबाहु—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार, बम्बई, १९१८.

दशाश्रुतस्कन्ध (आत्मारामकृत टीका सहित)—जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९३६.

धम्मपद—संपा० अवधकिशोर नारायण, महाबोधि ग्रन्थमाला, वि० सं० १९९५.

नन्दीसूत्र —घासीलाल—जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९५८.

न्यायकुमुदचन्द्र—प्रभाचन्द्र—संपा० महेन्द्रकुमार, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, गिरगांव, बम्बई. १९४१.

न्यायदीपिका—अभिनव धर्मभूषण यति—संपा० दरबारीलाल कोठिया, वीर सेवा मंदिर, दिल्ली, १९६८.

नवपदार्थ—आचार्य भिक्षु—अनु० श्रीचन्द्र रामपुरिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६१.

नियमसार—कुन्दकुन्द—जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९१६.

पंचास्तिकाय—कुन्दकुन्द—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, वी० नि० सं० २४४१.

पाइअसद्दमहण्णवो—प० हरगोविन्ददास त्रिकम चन्द सेठ—प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, १९६३.

पातञ्जल योगदर्शन (तत्त्ववैशारदी तथा व्यासभाष्य सहित)—सपा० रामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६३.

प्रज्ञापना सूत्र (वृत्ति सहित)—श्यामाचार्य—आगमोदय समिति, मेहसाना, १९१८.

प्रभावकचरित—चन्द्रप्रभसूरि—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०९.

प्रमाणमीमांसा—हेमचन्द्र—सिंघी जैनग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १९३९.

प्रमाणवार्तिक (सभाष्य)—सपा० राहुल साकृत्यायन, काशीप्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पाटलिपुत्र, वि० स० २०१०.

प्रवचनसार—कुन्दकुन्द—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १९३५.

प्रश्नव्याकरण—आगमोदय समिति, बम्बई, १९१९.

पिण्डनिर्युक्ति (मलयगिरिकृत वृत्ति सहित)—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, १९१८.

पुरुषार्थसिद्धयुपाय—अमृतचन्द्रसूरि—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, वी० नि० सं० २४३१.

बृहत्कल्पसूत्र—जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद, १९१५.

बुद्धचर्या—राहुल-सांकृत्यायन—भारतीय संस्कृति ग्रन्थमाला, काशी, वि० सं० १९८८.

भगवतीसूत्र—देखिए—व्याख्याप्रज्ञप्ति।

भर्तृहरिशतकत्रयम् (वैराग्यशतक)—भर्तृहरि—भारतीय विद्या-भवन, बम्बई, १९४६.

मनुस्मृति—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४६.
महाभारत (शान्ति पर्व)—महर्षि वेदव्यास—गीता प्रेस, गोरखपुर.
मूलाचार—वट्टकेर—माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७७.
मूलसूत्राणि—संपा० कन्हैयालाल 'कमल'—गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर, वि० सं० २०१०.
मेघदूत—कालिदास—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२९.
मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र)—अनु० पं० फूलचन्द्र शास्त्री—गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, वी० नि० सं० २४७६.
यशस्तिलकचम्पू—सोमदेवसूरि—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई,
योगशास्त्र (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)—एसियाटिक सोसायटी, बंगाल, १९२१.
लघु द्रव्यसंग्रह—देखिए—द्रव्यसंग्रह.
विशुद्धिमग्ग—आ० बुद्धघोष—महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५६-१९५७.
विशेषावश्यकभाष्य—जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण—जैन सोसायटी, अहमदाबाद, १९३७.
विशेषावश्यकभाष्य—टीका-मलधारी हेमचन्द्र—यशोविजय, जैन ग्रन्थमाला, वी० नि० सं० २४३९.
वेदान्तसार—सदानन्द—विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्बा, वाराणसी, १९५४.
व्यवहारसूत्र (निर्युक्ति तथा भाष्य सहित)—केशवलाल प्रेमचन्द्र, अहमदाबाद, वि० सं० १९८२-८५.
व्यवहारभाष्य—संशोधक मुनि माणक—प्रका० केशवलाल प्रेमचन्द्र, भावनगर, वि० सं० १९९४.
व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र—अभयदेवकृत वृत्ति सहित)—आगमोदय समिति, बम्बई, १९१८-१९२१.
श्वेताश्वतरोपनिषद्—हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थ-माला, १९०५.
षट्खण्डागम (पुस्तक १ धवलाटीका सहित)—पुष्पदंत भूतबलि—संपा० हीरालाल जैन, जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, बरार, १९३९.

षट्खण्डागम (पुस्तक ६)—वही, १९४६.
षड्दर्शनसमुच्चय (गुणरत्नसूरिकृत टीका सहित)—हरिभद्रसूरि—भावनगर, वि० सं० १९७४.
समवायाङ्ग—अनु० मुनि घासीलाल—अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६२.
समीचीन धर्मशास्त्र—समन्तभद्र—अनु० जुगल किशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली १९५५.
सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपाद देवनंदी—माणिकचन्द्र दि० जैन परीक्षालय, बम्बई, १९३९
सांख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण—प्रका० पं० नारायण मूलजी पुस्तकालय, बम्बई, १९२९.
सागारधर्मामृत—पं० आशाधार—अनु० मोहनलाल जैन शास्त्री, सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, जबलपुर, वी० नि० सं० २४८२-२४८६.
सुत्तनिपात—संपा० पी० व्ही० बाप्टे—विश्वभारती शान्तिनिकेतन, १९२४.
सूत्रकृताङ्ग (निर्युक्ति सहित)—आगमोदय समिति, बम्बई, १९१७.
स्थानाङ्ग (अभयदेवकृत वृत्ति सहित)—माणेकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद, १९३७.
स्याद्वादमञ्जरी—मल्लिषेण—विद्या विलास प्रेस, बनारस, १९००.
हरिवंशपुराण—जिनसेन—संपा० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२.

निबन्ध-ग्रन्थ (हिन्दी)

आदिपुराण में प्रतिपादित भारत—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री—गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६८.
उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन—आचार्य तुलसी—श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६८.
छहढाला—पं० दौलतराम—रत्नाकर कार्यालय, सागर, १९६५.
जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज—डा० जगदीशचन्द्र जैन—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६५.

जैन आचार—डा० मोहनलाल मेहता—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६६.

जैनदर्शन—महेन्द्रकुमार जैन—गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी, १९५६.

जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५९.

जैनधर्म—पं० कैलाशचन्द्र—भा० दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा, १९५५.

जैनभारती—मासिक पत्रिका, वर्ष ७, अंक १३.

जैन साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका—पं० कैलाशचन्द्र—गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी, वी० नि० सं० २४८९.

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १)—पं० बेचरदास दोशी—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६६.

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग २)—डा० जगदीशचन्द्र—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६६.

तत्त्वसमुच्चय—डा० हीरालाल जैन—भारत जैन महामण्डल, वर्धा, १९५२.

प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री—तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६६.

प्राकृत साहित्य का इतिहास-डा० जगदीशचन्द्र जैन—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१.

पाश्चात्य दर्शन—चन्द्रधर शर्मा—भार्गव बुक डिपो, बनारस, १९५४.

बुद्धचर्या—राहुल सांकृत्यायन—शिवप्रसाद गुप्त सेवा उपवन, काशी, वि० सं० १९८८.

बौद्धदर्शन—बलदेव उपाध्याय—शारदा मन्दिर प्रकाशन, काशी, १९४६.

भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय—शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६०.

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—डा० हीरालाल जैन—मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२.

महाभारत की नामानुक्रमणिका—गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१६.

श्रमण (मासिक पत्र)—संपा० कृष्णचन्द्राचार्य—पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी—५

श्रमण सूत्र—मुनि अमरचन्द्र—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, वि० सं० २००७.

निबन्ध ग्रन्थ (अंग्रेजी)

Ancient Geography of India—A. Cunningham—Indological Book House, Varanasi, 1963.

Buddhist India—T. W. R. Davids—Pub. Susil Gupta, Calcutta, 1950.

Corporate Life in Ancient India—R. C. Majumdar—Oriental Book Agency, Poona, 1922.

Doctrine of the Jainas—W. Schubring—Trans. W. G. Beurlen, Motilal Banarasidas, Delhi, 1962.

History of the Canonical Literature of the Jainas—H. R. Kapadia—Pub. Hiralal Rasikdas Kapadia, Gopipura, Surat, 1941.

History of Indian Literature (Vol-II)—M. Winternitz—University of Calcutta, 1933.

Indian Philosophy (Volume-I)—Dr. S. Radhakrishnan—1929.

Jaina Yoga—R. Williams—London Oriental Series, 1963.

Jinaratna Koṣa (Vol-I)—H. D. Velankar—Government Oriental Series, Poona, 1944.

Pali English Dictionary—R. Davids—Pali Text Society, London, 1921.

Sacred Books of the East (Vol. XLV—Uttarādhyayana Sūtra-Translation by Hermann Jacobi)—Ed. E. Maxmuller, Oxford, 1895.

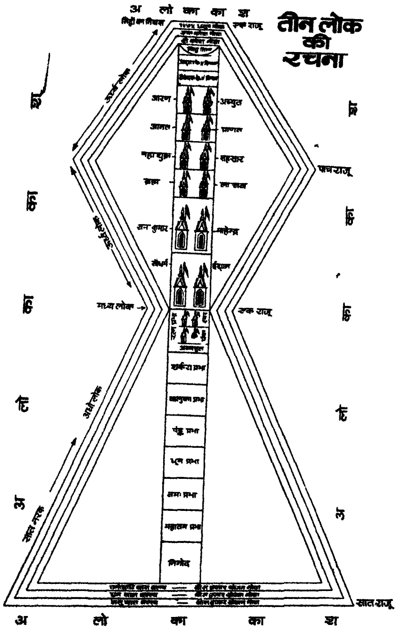
Sumaṅgalavilāsini (Part I—Buddhaghosa's Commentary on the Dighanikāya)—Ed. T.W. Rhys Davids and J. Estlin Carpenter, London 1886.

Uttarādhyayana-Sūtra—E. Jarl Charpentier—Uppsala, 1922.

★

अनुक्रमणिका

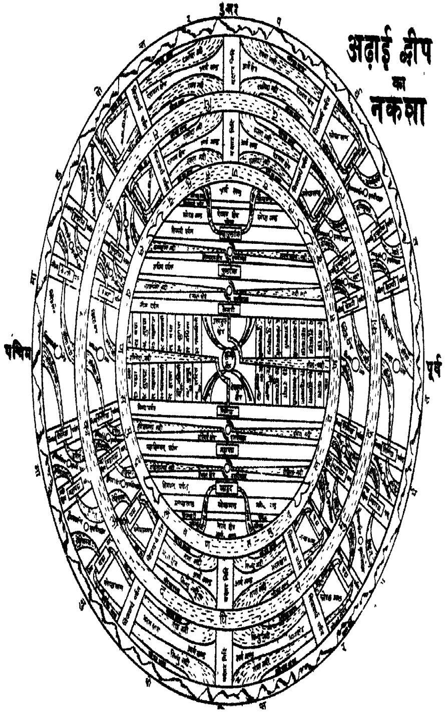
★



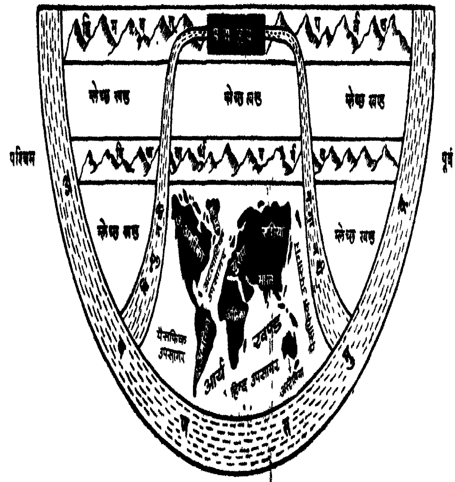
तीन लोक
की
रचना
अ लो क का श
सिद्धों का निवास
एक राजू
ऊर्ध्व लोक
आरण
अच्युत
आनत
प्राणत
महाशुक्र
सहस्रार
ब्रह्म
सनत्कुमार
माहेन्द्र
सौधर्म
ईशान
पांच राजू
मध्य लोक
एक राजू
अधोलोक
शर्करा प्रभा
बालुका प्रभा
पंक प्रभा
धूम प्रभा
तम प्रभा
महातम प्रभा
निगोद
सात नरक
सात राजू

मूलचित्र १

अढ़ाई द्वीप का नकशा



जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र की रचना



दृश्यचित्र १